महाभारत
में
धर्म

राजस्थान विश्व विद्यालय द्वारा
जनवरी सन् १९६५ में
पी-एच० डी० की उपाधि के लिए
स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

महाभारत में धर्म

(महाभारत के आधार पर धर्म के लक्षण एवं आचार का प्रामाणिक विवेचन)

लेखिका—

डा० शकुन्तला रानी तिवारी

एम०ए०; पी-एच० डी०

प्रचारक—

भारती पुस्तक मन्दिर

चौबुर्जा, भरतपुर (राजस्थान)

※ प्रकाशक—
पाटल प्रकाशन
४/२११ वालूगंज, आगरा।

※ प्रचारक—
भारती पुस्तक मन्दिर
(चौबुर्जा) भरतपुर (राजस्थान)

※ प्रथम प्रकाशन, १९७०

※ मूल्य ३५) पैंतीस रुपया।

※ श्री नेमीचन्द जैन द्वारा
मथुरा प्रिंटिंग प्रेस,
मथुरा में मुद्रित।

❀ समर्पण ❀

पूज्य माँ

और

आदरणीय पिताजी

को

श्रद्धा पूर्वक समर्पित



पूर्व वचन

अपनी सहधर्मिणी के इस शोध-प्रवन्ध के सम्वन्ध में कुछ भी कहना मेरे लिए कठिन ही नहीं, कदाचित् अधिक उचित भी नहीं है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्वन्ध में अपनी धारणा को पक्षपात से वचाना कठिन है। इसमें उनकी प्रशंसा के साथ-साथ आत्म-प्रशंसा की भी आशंका हो सकती है।

उनके अनुरोध से लिखे हुए ये दो शब्द हमारे दाम्पत्य सम्वन्ध के प्रकाशक वनें, मेरे मत में इस पूर्व वचन का इससे अधिक उद्देश्य नहीं है। मैं अपनी सहधर्मिणी की वाल्यकाल से संजोयी हुई उच्च शिक्षा की आकांक्षा को पूर्ण करने में सहायक हो सका, इसको मुझे प्रसन्नता है। अपने कार्य में अधिक व्यस्त रहने के कारण मैं उनके अध्ययन में अधिक सहयोग न दे सका, इसका मुझे खेद है। अपनी उच्च शिक्षा की भाँति उन्होंने इस अनुसन्धान कार्य को भी वहुत कुछ अपने परिश्रम और अध्यवसाय से ही पूर्ण किया है। श्रम और अध्यवसाय उनके विशेष गुण हैं। इन्हीं के द्वारा उन्होंने गृहस्थ धर्म के साथ समन्वय रखते हुए अपनी शिक्षा को पूर्ण किया है।

भारतीय पुरातत्व के विख्यात विद्वान् आदरणीय डा० फतहसिंह जी का आत्मीय सम्वन्ध हमारे परिवार की एक मूल्यवान उपलब्धि है। उनकी उदार अनुकम्पा से ही इस अनुसंधान कार्य में उनका अमूल्य पथ प्रदर्शन मिल सका। आदरणीय डा० फतहसिंहजी की प्रेरणा, उनके प्रोत्साहन तथा उनके निरन्तर निर्देशन से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका है।

आत्मीय सम्वन्ध के नाते मैं अपनी सहधर्मिणी को उनके श्रम और अध्यवसाय की सफलता के लिए वधाई दूँ तथा आदरणीय डा० फतहसिंहजी के प्रति उनके अपार अनुग्रह के लिए आभार प्रदर्शन करूँ, यही धर्म के इस अनुष्ठान और अनुसन्धान के प्रसंग में मेरा धर्म है।

महारानी श्रीजया कालिज
भरतपुर (राजस्थान)
२० जवनरी १९७०

रामानन्द तिवारी
"भारतीनन्दन"

भूमिका

१—विषय-निर्देश—

प्रस्तुत शोध प्रवन्ध में महाभारत के धर्म-सम्बन्धी तत्वों का अनुसंधान अध्ययन और विवेचन प्रस्तुत किया गया हैं। महाभारत भारतीय साहित्य का एक अनुपम रत्न है। आकार की विशालता की दृष्टि से वह विश्व के साहित्य में अतुलनीय है। विषय की दृष्टि से भी उसका महत्व अपार है। स्वयं महाभारत में ही कहा गया है कि जो अन्यत्र है वह इस महाभारत में भी है और जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं मिलेगा। इसी आधार पर 'यन्न भारते तन्न भारते' की उक्ति प्रचलित हुई। महाभारत के वर्तमान रूप में धर्म-सम्बन्धी तत्व, डा० सुकथनकर के मतानुसार, कथा-भाग से कई गुना अधिक है। पश्चिमी विद्वान् इसे प्रक्षिप्त मानते हैं और वे महाभारत के मूल कथा-काव्य की खोज करते रहे हैं। किन्तु २००० वर्ष से महाभारत का वर्तमान रूप ही मान्य है, जिसमें धर्मतत्व की प्रधानता है। डा० सुकथनकर इस धर्म तत्व को महाभारत का अभिन्न और आन्तरिक अङ्ग मानते हैं। भारतीय परम्परा में महाभारत धर्मशास्त्रों और स्मृतियों के समान एक धर्म ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध है। धर्मराज के नायकत्व और भगवान श्रीकृष्ण के निर्देशन ने महाभारत की कथा को भी धार्मिक तात्पर्य से युक्त बना दिया है। महाभारत में धर्म तत्व की प्रधानता मानकर ही प्रस्तुत शोध प्रवन्ध में 'महाभारत में धर्म' को अध्ययन और विवेचन का विषय बनाया गया है।

महाभारत की महिमा तथा महाभारत में धर्म के महत्त्व से प्रस्तुत विषय का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। महाभारत का भारतीय साहित्य में इतना मान है कि उसे 'पंचम वेद' कहा जाता है। 'धर्म' भारतीय संस्कृति और जीवन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है, जैसा कि आगे प्रस्तावना में तथा शोध-

प्रबन्ध के आरम्भिक अध्यायों में स्पष्ट किया गया है। 'धर्म' शब्द अंगरेजी के 'रिलीजन' का पर्याय नहीं है। धर्म-शास्त्रों और महाभारत में धर्म का अभिप्राय मुख्य रूप से उदात्त और मानवीय आचार से है। महाभारत में धर्म का यही रूप व्याप्त है। धर्म के इसी रूप को मुख्य मानकर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में महाभारत के धर्म तत्त्व का विवरण और विवेचन प्रस्तुत किया गया है। प्रबन्ध के आरम्भिक अध्यायों में महाभारत के संदर्भ में धर्म के स्वरूप का विवेचन किया गया है। उसके बाद बारह अध्यायों में धर्म के विविध पक्षों का विवरण और विवेचन महाभारत के आधार पर किया गया है। यह धर्म का प्रधानतः सामाजिक, नैतिक और मानवीय रूप है। अन्त में एक अध्याय में ईश्वर, अवतार, देवता आदि सम्बन्धी धर्म का विवरण 'दिव्य धर्म' के अन्तर्गत किया गया है। धर्म की सामाजिक, नैतिक और मानवीय धारणा को मुख्य मानकर उसके साथ दिव्य धर्म की संगति दिखाई गई है। उपसंहार में अनुसंधान के निष्कर्षों का आकलन है। महाभारत की महिमा और उसमें धर्म की महत्ता ही प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के शीर्षक, विषय और अध्ययन के महत्व का आधार है।

२—महाभारत सम्बन्धी शोध का इतिहास—

भारतीय परम्परा में प्राचीन साहित्य के मूल ग्रन्थों के अध्ययन और अनुशीलन की प्रथा प्रचलित थी। मूल ग्रन्थों के अध्ययन में सहायता देने के लिए व्याख्यायें और टीकायें तो लिखी जाती थीं, किन्तु ऐतिहासिक और वैज्ञानिक आलोचना के नाम पर आलोचना को मूल ग्रन्थ से अधिक महत्वपूर्ण बनाने की प्रथा प्राचीन भारत में प्रचलित न थी। इसी कारण प्राचीन भारत में इतने विशाल साहित्य की रचना हो सकी। आधुनिक युग में रचना से अधिक आलोचना हो रही है और आलोचना ही साहित्य का स्थान ले रही है। यह पश्चिम के आधुनिक वैज्ञानिक और आलोचनात्मक दृष्टिकोण का ही फल है। महाभारत की ऐतिहासिक और वैज्ञानिक आलोचना का प्रवर्त्तन भी पश्चिमी विद्वानों ने ही किया है। भारतीय परम्परा में तो मुख्यतः महाभारत की टीकायें मिलती हैं, जिनमें नीलकण्ठी टीका सबसे अधिक प्रसिद्ध और प्रामाणिक है। नीलकण्ठी टीका के अतिरिक्त महाभारत की अन्य धार्मिक और

आध्यात्मिक व्याख्याय भी मिलती हैं। इनमें आनन्दतीर्थ मध्वाचार्य का 'महाभारत तात्पर्य निर्णय' और अप्पय दीक्षित का महाभारत 'तात्पर्य संग्रह' विशेष उल्लेखनीय है। इनमें भक्ति और अध्यात्म के दृष्टिकोण से महाभारत की संक्षिप्त व्याख्या की गई है।

महाभारत की ऐतिहासिक और वैज्ञानिक आलोचना का प्रवर्तन आधुनिक काल में पश्चिमी विद्वानों ने किया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के दूसरे अध्याय में महाभारत की इस पश्चिमी आलोचना का संक्षिप्त विवरण दिया गया है और उसके दृष्टिकोण को भी स्पष्ट किया गया है। महाभारत के पश्चिमी आलोचकों में वीप, लासैन, सीरैनसन, हौप्किन्स, ओल्डनवर्ग, वेवर, लुडविग, मैकडोनल, विन्तरनित्स, वार्थ, होल्समान आदि विद्वानों का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें अधिकांश विद्वान् महाभारत के वर्तमान रूप को अनेक लेखकों की कृति मानकर उसके धार्मिक पक्षों को प्रक्षिप्त मानते रहे तथा महाभारत के मूलकथाकाव्य की खोज करते रहे। आधुनिक भारतीय विद्वान् भी पश्चिमी विद्वानों के इस दृष्टिकोण से प्रभावित हैं। रमेशचन्द्र दत्त जैसे भारतीय मनीषी भी इस दृष्टिकोण से प्रभावित होकर महाभारत के मूल-कथाकाव्य की खोज करते रहे और महाभारत के धार्मिक अंशों को प्रक्षिप्त मानते रहे। भारतीय विद्वानों में जिन्होंने पश्चिमी मतों का प्रतिवाद करने का साहस किया उनमें प्रिन्सीपल थडानी, चिन्तामणि विनायक वैद्य और डा० सुकथनकर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रिन्सीपल थडानी ने लगभग दो हजार पृष्ठों में महाभारत की व्याख्या उसे एक आध्यात्मिक रूपक मानकर की है। महाभारत के प्रत्येक पात्र और प्रत्येक घटना को रूपक मानकर प्रिन्सीपल थडानी ने सम्पूर्ण महाभारत के तात्पर्य को जिस सूक्ष्मता के साथ घटित किया है, वह अत्यन्त चमत्कारपूर्ण है। सूक्ष्म और विस्तृत होने के कारत प्रिन्सीपल थडानी की व्याख्या अत्यन्त जटिल बन गई है। उसका विश्लेषण एक सम्पूर्ण शोध ग्रन्थ में ही हो सकता है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में प्रसंगतः प्रिन्सीपल थडानी के अभिमत का इंगितमात्र किया गया है। श्री वैद्य द्वारा रचित 'महाभारत मीमांसा' में महाभारत के इतिहास, विषय आदि अनेक पक्षों का अत्यन्त संश्लिष्ट और समीचीन विवेचन है। सौभाग्य से उनके मूल मराठी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद हिन्दी के प्रसिद्ध मराठी

सेवक पंडित माधवराव सप्रे की कृपा से उपलब्ध है। श्री वैद्य ने अनेक पश्चिमी विद्वानों के मत का खण्डन करके भारतीय दृष्टिकोण से महाभारत का अध्ययन और विवेचन प्रस्तुत किया है।

आलोचना और दृष्टिकोण के विचार से डा० सुकथनकर के महाभारत सम्बन्धी भाषण सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। डा० सुकथनकर के भाषणों का संग्रह 'मीनिंग आव महाभारत' के नाम से बम्बई की एशियाटिक सोसाइटी की ओर से प्रकाशित हुआ है। चार भाषणों में से, पहले में डा० सुकथनकर ने महाभारत के पश्चिमी आलोचकों के मतों का विवरण देते हुये उनका खण्डन किया है तथा महाभारत के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण अपनाने का अनुरोध किया है। दूसरे भाषण में महाभारत की कथा और उसकी शिक्षा का विवरण है। तीसरे में महाभारत की नैतिक और धार्मिक व्याख्या है। चौथे भाषण में महाभारत में आध्यात्मिक तात्पर्य का उद्‌घाटन है। चार अध्यायों का यह लघु ग्रन्थ महाभारत के प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् डा० सुकथनकर का कीर्तिस्तम्भ है। उन्होंने भाण्डारकर-शोध-संस्थान की ओर से महाभारत के प्रामाणिक संस्करण का सम्पादन किया है। पाठ-शोधन की दृष्टि से उनका यह सम्पादन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। किन्तु महाभारत के तात्पर्य की व्याख्या की दृष्टि से उनके उक्त भाषण विशेष महत्व के अधिकारी हैं। इन भाषणों के दोनों ही पक्ष अद्वितीय हैं। डा० सुकथनकर ही एक ऐसे विद्वान् हैं जो महाभारत के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों की स्थापनाओं का प्रबल खण्डन करने का साहस कर सके हैं। दूसरी ओर महाभारत के तात्पर्य की जो व्याख्या उन्होंने की है, वह भी महाभारत के विद्यार्थियों के लिए एक प्रकाशस्तम्भ का काम करेगी।

डा० सुकथनकर के अभिमत का विशेष महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि महाभारत का जो वर्तमान रूप दो हजार वर्ष से मान्य है, उसमें धार्मिक अंश की ही प्रधानता है और यह धार्मिक अंश महाभारत के अभिन्न और आन्तरिक अंग बन गये हैं। इनको प्रक्षिप्त मानकर इनकी उपेक्षा करना अनुचित है। पश्चिमी विद्वानों ने एक विपरीत दृष्टिकोण ग्रहण करके महाभारत और भारतीय आस्था के साथ अन्याय किया है। डा० सुकथनकर ने यह निर्देश किया है कि भारतीय विद्वानों का कर्तव्य है कि वे महाभारत के वर्तमान रूप

को स्वीकार कर स्वतन्त्र भारतीय दृष्टिकोण से उसका अध्ययन करें। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में 'महाभारत में धर्म' का अध्ययन भारतीय दृष्टिकोण से ही किया गया है। इस अध्ययन का आधार मुख्यतः महाभारत का ग्रन्थ तथा धर्म की भारतीय आस्था है। मराठी उच्चारण के अनुसार कदाचित् उक्त विद्वान् का नाम 'सुकठणकर' होना चाहिये, किन्तु महाभारत के सम्बन्ध में उनके अभिमतों को 'सुन्दर कथन' मानकर मैंने उन्हें 'सुकथनकर' कहना ही उचित समझा है। ध्वनि साम्य के कारण उनका यह अभिधान मान्य हो सकता है।

२—अध्ययन के आधार

डा० सुकथनकर के उक्त मत के आधार पर स्वयं महाभारत के ग्रन्थ को ही प्रस्तुत अध्ययन का अवलम्ब बनाया गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध के बीस अध्यायों में पिछले पन्द्रह अध्याय महाभारत के धर्म-सम्बन्धी श्लोकों के आधार पर ही लिखे गये हैं। आरम्भ के पाँच अध्यायों में भी महाभारत का आधार बहुत है, किन्तु आरम्भिक आलोचना आदि के लिए महाभारत के सम्बन्ध में मिलने वाले विदेशी और भारतीय ग्रन्थों का अवलम्ब भी लिया गया है। महाभारत की रचना, सामग्री, तिथि आदि के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों के मत मैकडौनल, विन्तरनित्स आदि के प्रसिद्ध इतिहासों तथा डा० सुकथनकर के ग्रन्थ के आधार पर दिये गये हैं। पश्चिमी मतों की आलोचना कुछ डा० सुकथनकर के मत के आधार पर और कुछ स्वतन्त्र मत के आधार पर की गई है। प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य आधार महाभारत का मूल ग्रन्थ ही है। अतः नीलकण्ठी आदि टीकाओं का उपयोग प्रस्तुत अध्ययन में नहीं किया गया है। महाभारत का ग्रन्थ अपने आप में ही बहुत विशाल और एक जीवन-व्यापी अध्ययन के लिए पर्याप्त है। प्रस्तुत अध्ययन में धर्मशास्त्रों की धारणा के अनुकूल धर्म का मुख्यतः सामाजिक, नैतिक और मानवीय रूप ही प्रस्तुत किया गया है। रिलीजन अथवा अध्यात्म के अर्थ में 'धर्म' से हमारा अधिक प्रयोजन नहीं रहा है। अतः आनन्दतीर्थ मध्वाचार्य, अप्पय दीक्षित आदि की आध्यात्मिक व्याख्याओं का भी प्रस्तुत अध्ययन में उपयोग नहीं किया गया है। प्रिन्सीपल धडानी का आध्यात्मिक रूपक भी प्रस्तुत अध्ययन में उपयोगी

४— धर्म का स्वरूप—

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में जिस धारणा के अनुसार 'महाभारत में धर्म' का विवेचन किया गया है, उसका स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। धर्मशास्त्रों और महाभारत में जिस अर्थ में धर्म को ग्रहण किया गया है, वह धर्म सामान्य मानवीय और नैतिक धर्म है। यह धर्म अँगरेजी रिलीजन का पर्याय नहीं है। रिलीजन एक ओर अलौकिक और दूसरी ओर सीमित होता है। ईश्वर, पैगम्बर आदि से रिलीजन का सम्बन्ध उसे अलौकिक बना देता है। ईश्वर के विशेष रूप, विशेष पैगम्बर, विशेष विधि आदि से बँधकर यह रिलीजन एक सीमित सम्प्रदाय बन जाता है। पश्चिम के ईश्वरवादी सम्प्रदाय इसी प्रकार अपनी आस्थाओं में सीमित हुए हैं। उनमें भी मानवीय धर्म तत्व का सम्पुट है किन्तु वह उनकी विशेष रूढ़ियों में बँध गया है। छल-बल से विश्व में इन धर्मों का प्रचार किया गया है, किन्तु इन धर्मों की धारणायें मानवता की स्वतन्त्र विभूति नहीं बन सकतीं।

ईश्वर-सम्बन्धी आस्था के रूप में धार्मिक सम्प्रदाय भारतवर्ष में भी पाये जाते हैं, यद्यपि ये पश्चिमी सम्प्रदायों की भाँति संकुचित, असहिष्णु और प्रचारवादी नहीं हैं। इसके विपरीत ये उदार और सहिष्णु हैं। किन्तु प्रस्तुत अध्ययन में धर्म का अभिप्राय इन सम्प्रदायों से नहीं है। धर्म-शास्त्रों और महाभारत में धर्म को मुख्य रूप से मानवीय, सामाजिक और नैतिक माना गया है। महाभारत के अनुसार मनुष्य से श्रेष्ठतर कोई नहीं है। (न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्)। मनु ने भी अपने धर्म-शास्त्र में कहा है कि मनुष्य अत्यन्त मानवीय है, उसका अवमान कभी नहीं करना चाहिए (पुरुषं नावमन्येत्)। इस प्रकार धर्म-शास्त्र और महाभारत का धर्म सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यन्त मानवीय है। धर्म की इसी परिभाषा को यहाँ अपनाया गया है और इसी के अनुसार महाभारत के धर्म-सम्बन्धी तत्वों का विवेचन किया गया है। इस धारणा के अनुसार धर्म मनुष्य का श्रेष्ठ, उदार और मानवीय कर्तव्य बन जाता है। यह कर्तव्य मानवीय सम्बन्धों और परिस्थितियों के विविध रूपों में चरितार्थ होता है। धर्मशास्त्र की परम्परा में इन परिस्थितियों को वर्णों और आश्रमों का नाम दिया है तथा इन्हीं के अनुसार धार्मिक

४— धर्म का स्वरूप—

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में जिस धारणा के अनुसार 'महाभारत में धर्म' का विवेचन किया गया है, उसका स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। धर्मशास्त्रों और महाभारत में जिस अर्थ में धर्म को ग्रहण किया गया है, वह धर्म सामान्य मानवीय और नैतिक धर्म है। यह धर्म अँगरेजी रिलीजन का पर्याय नहीं है। रिलीजन एक ओर अलौकिक और दूसरी ओर सीमित होता है। ईश्वर, पैगम्बर आदि से रिलीजन का सम्बन्ध उसे अलौकिक बना देता है। ईश्वर के विशेष रूप, विशेष पैगम्बर, विशेष विधि आदि से बँधकर यह रिलीजन एक सीमित सम्प्रदाय बन जाता है। पश्चिम के ईश्वरवादी सम्प्रदाय इसी प्रकार अपनी आस्थाओं में सीमित हुए हैं। उनमें भी मानवीय धर्म तत्व का सम्पुट है किन्तु वह उनकी विशेष रूढ़ियों में बँध गया है। छल-बल से विश्व में इन धर्मों का प्रचार किया गया है, किन्तु इन धर्मों की धारणायें मानवता की स्वतन्त्र विभूति नहीं बन सकतीं।

ईश्वर-सम्बन्धी आस्था के रूप में धार्मिक सम्प्रदाय भारतवर्ष में भी पाये जाते हैं, यद्यपि ये पश्चिमी सम्प्रदायों की भाँति संकुचित, असहिष्णु और प्रचारवादी नहीं हैं। इसके विपरीत ये उदार और सहिष्णु हैं। किन्तु प्रस्तुत अध्ययन में धर्म का अभिप्राय इन सम्प्रदायों से नहीं है। धर्म-शास्त्रों और महाभारत में धर्म को मुख्य रूप से मानवीय, सामाजिक और नैतिक माना गया है। महाभारत के अनुसार मनुष्य से श्रेष्ठतर कोई नहीं है। (न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्)। मनु ने भी अपने धर्म-शास्त्र में कहा है कि मनुष्य अत्यन्त मानवीय है, उसका अवमान कभी नहीं करना चाहिए (पुरुषं नावमन्येत्)। इस प्रकार धर्म-शास्त्र और महाभारत का धर्म सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यन्त मानवीय है। धर्म की इसी परिभाषा को यहाँ अपनाया गया है और इसी के अनुसार महाभारत के धर्म-सम्बन्धी तत्वों का विवेचन किया गया है। इस धारणा के अनुसार धर्म मनुष्य का श्रेष्ठ, उदार और मानवीय कर्तव्य बन जाता है। यह कर्तव्य मानवीय सम्बन्धों और परिस्थितियों के विविध रूपों में चरितार्थ होता है। धर्मशास्त्र की परम्परा में इन परिस्थितियों को वर्णों और आश्रमों का नाम दिया है तथा इन्हीं के अनुसार धार्मिक

कर्तव्यों का विधान किया गया है। यह धर्म ईश्वर के प्रति मनुष्य की आस्था नहीं, वरन् मनुष्य के प्रति मनुष्य का उदार और मानवीय कर्तव्य है। यह सार्वभौम और सर्व मान्य मानव-धर्म है, जिसमें किसी रूढ़ि, विधि आदि का बन्धन नहीं है। अहिंसा, सत्य, समता, दया आदि के मानवीय गुण इस धर्म के उपलक्षण हैं। चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के विविध कर्तव्यों में यह धर्म चरितार्थ होता है। धर्म की यह सामाजिक और मानवीय धारणा महाभारत में भी व्याप्त है। प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध में इसी धारणा के अनुसार महाभारत के धर्म-सम्बन्धी तत्वों का विवरण और विवेचन किया गया है।

५—मौलिकता का संकेत—

विश्व विद्यालय के नियमों के अनुसार शोध-प्रवन्ध में विषय सामग्री, व्याख्या, सिद्धान्त आदि की दृष्टि से मौलिकता की अपेक्षा की जाती है। सिद्धान्तों की मौलिकता तो बहुत दुर्लभ है, किन्तु विषय, सामग्री और व्याख्या की नवीनता आवश्यक है। विषय की नवीनता ही उसकी मौलिकता बन जाती है। जिस विषय पर कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ है, उसे नवीन कहा जा सकता है। महाभारत और धर्म दोनों ही अत्यन्त प्राचीन विषय हैं, फिर भी आश्चर्य की बात है कि 'महाभारत में धर्म' के विषय पर कोई महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ है। महाभारत को मुख्यतः धार्मिक ग्रन्थ ही माना जाता है। उसके वर्तमान रूप में धार्मिक अंश कथा भाग की तुलना में कई गुना अधिक है। फिर भी 'महाभारत में धर्म' का व्यवस्थित अध्ययन अब तक उपेक्षित ही रहा। इस दृष्टि से प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध का विषय नवीन है और नवीनता की दृष्टि से वह मौलिकता का अधिकारी है।

महाभारत की कुछ धार्मिक उक्तियाँ प्रसिद्ध हैं। किन्तु महाभारत की धर्म सम्बन्धी प्रचुर सामग्री के विधिवत् विश्लेषण का सम्भवतः प्रथम प्रयास प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में किया गया है। महाभारत की धर्म-सम्बन्धी सामग्री के संकलन और विश्लेषण की दृष्टि से भी प्रस्तुत प्रयास कुछ मौलिकता का अधिकारी है।

धर्म की जिस धारणा को इस शोध-प्रबन्ध में प्रस्तुत किया गया है,

धर्म-शास्त्रों से सम्मत है और महाभारत में भी मान्य है। इस दृष्टि से यह धर्म सम्बन्धी धारणा मौलिक नहीं कही जा सकती। ऐसी मौलिक धारणा के लिए यहाँ अवकाश भी नहीं है। किन्तु अँगरेजी के रिलीजन की साम्प्रदायिक संकीर्णता की तुलना में धर्म सम्बन्धी उक्त धारणा को अधिक विशदता और प्रखरता के साथ इस शोध-प्रबन्ध में प्रस्तुत किया गया है। यही इसकी मौलिकता हो सकती है। धर्म की इस धारणा की मानवीयता, उदारता, सार्वभौमता आदि की गम्भीर और विस्तृत व्याख्या करने की चेष्टा इस प्रबन्ध में की गई है। इसी व्याख्या के प्रसंग में एकेश्वरवाद के आग्रह, आरोपण, प्रचार, धर्म-परिवर्तन आदि के सम्बन्ध में कुछ नवीन विचार प्रस्तुत किये गये हैं, जो सिद्धान्तों की दृष्टि से भी कुछ मौलिकता के अधिकारी हो सकते हैं। धर्म के स्वरूप और सिद्धान्तों का यह विवेचन प्रबन्ध के चौथे और पाँचवें अध्याय में किया गया है, जो किसी सीमा तक मौलिक कहा जा सकता है। प्रबन्ध के शेष भाग में महाभारत के धर्म सम्बन्धी तत्वों का विवेचन उन मौलिक स्थापनाओं के अनुसार किया गया है, जो उक्त दो अध्यायों में निर्धारित की गई हैं। आरम्भिक अध्यायों में पश्चिमी विद्वानों के महाभारत संबंधी अभिमतों के खण्डन के लिए भी कुछ मौलिक तर्क प्रस्तुत किये गये हैं।

६—अध्यायों का विषय संकेत—

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में बीस अध्याय हैं, इनमें आरंभ के छः अध्यायों में महाभारत और महाभारत में धर्म के स्वरूप एवं स्थान के सम्बन्ध में सामान्य विवेचन किया गया है। अगले बारह अध्यायों में वर्ण-आश्रम व्यवस्था के अनुसार धर्म का निरूपण है। अन्त में एक अध्याय में दिव्य धर्म का विवरण और एक अध्याय में उपसंहार है।

पहले अध्याय में महाभारत की महिमा का वर्णन किया गया है। 'महाभारत में धर्म' का अध्ययन करने से पहले उसकी महिमा का परिचय देना अत्यन्त समीचीन है। महाभारत संसार का सबसे बड़ा काव्य है। अपनी महिमा के कारण महाभारत पंचम वेद कहलाता है और भारतीय जनता में हजारों वर्षों से मान्य रहा है। प्राचीन काल में भी मन्दिरों में इसकी कथा होती थी, इसके प्रमाण मिलते हैं। वह वेद के समान ही एक पवित्र धर्म-ग्रन्थ

माना जाता है। स्वयं महाभारत में भी अनेक प्रकार से महाभारत की महिमा का वर्णन किया गया है। परम्परा और महाभारत दोनों के प्रमाण के आधार पर महाभारत की महिमा का प्रतिपादन इस अध्याय में किया गया है। महाभारत के गायक सौति के शब्दों में महाभारत तीनों लोकों में महान् ज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित है। वह सूर्य के समान अज्ञान के अन्धकार को दूर करने वाला है। महाभारत सम्पूर्ण श्रुतियों का समूह है। एक स्थान पर उसे संपूर्ण शास्त्रों और चारों वेदों से भी अधिक बताया गया है। उसमें धर्म, अर्थ और मोक्ष का परिपूर्ण वर्णन है। प्राचीन कथा के रूप में उसका ऐतिहासिक महत्व है। महाभारत साहित्य के अनेक ग्रन्थों का उपजीव्य बना है तथा उसका काव्य सुन्दर है। धर्म और संस्कृति का तो वह विश्वकोष ही है।

दूसरे अध्याय में महाभारत की आधुनिक आलोचना का परिचय दिया गया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में महाभारत के धर्म-सम्बन्धी तत्वों का विवेचन मुख्यतः मूल महभारत के ही आधार पर किया गया है। किन्तु आधुनिक अध्ययन में ऐतिहासिक आलोचना का परिचय देना भी अपेक्षित है। इसी दृष्टिकोण से धर्म के विविध पक्षों के विवेचन के पूर्व इस एक अध्याय में महाभारत की आधुनिक आलोचना का परिचय दिया गया है। यह परिचय विन्तरनित्स आदि के संस्कृत साहित्य के इतिहासों तथा डा० सुकथनकर के प्रथम भाषण के आधार पर दिया गया है। महाभारत की ऐतिहासिक खोज का आरंभ पश्चिमी विद्वानों ने किया। इन विद्वानों में वौप, लासैन, सौरैनसन, हौप्किन्स, ओल्डनबर्ग, होल्टसमान, विन्तरनित्स आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। महाभारत के भारतीय आलोचकों में प्रिन्सीपल थडानी, पंडित चिन्तामणि विनायक वैद्य, डा० सुकथनकर आदि के नाम स्मरणीय हैं। पश्चिमी विद्वानों के महाभारत सम्बन्धी मतों के साथ-साथ उक्त भारतीय विद्वानों का परिचय भी इस अध्याय में दिया गया है। महाभारत की इस आधुनिक आलोचना का सम्बन्ध मुख्यतः उसकी रचना, काल, उसके लेखकों, उसके संस्करणों आदि से है।

तीसरे अध्याय में महाभारत में धर्म के स्थान और महत्व का विस्तृत विवेचन किया गया है। महाभारत के वर्तमान रूप में धर्म-सम्बन्धी तत्व कथा भाग से कई गुना अधिक है। विषय तत्व की दृष्टि से भी यह धार्मिक

पक्ष बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें धर्म के विविध रूपों तथा इसके अतिरिक्त अर्थ और काम का भी उपदेश किया गया है। वर्ण, आश्रम आदि के विभाजन के अनुसार धर्म का यह निर्वचन महाभारत का मुख्य विषय है। महाभारत में धर्म तत्व की विपुलता और धर्म का महत्व ही प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के विषय और विवेचन को सार्थक बनाता है। महाभारत में धर्म के स्थान के विवेचन के प्रसग में परम्परा का प्रमाण दिया गया है तथा इसके साथ-साथ इस प्रसंग में महाभारत का अन्तःसाक्ष्य भी दिया गया है। स्वयं महाभारत में अनेक स्थानों पर महाभारत को एक महान् धर्मशास्त्र कहा गया है और धर्म को उसका मुख्य विषय बताया गया है। डा० सुकथनकर भी महाभारत में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान मानते हैं तथा धार्मिक तत्वों को महाभारत का अभिन्न अंग मानते हैं। उनका मत एक प्रकरण में दिया गया है। अन्त में दो प्रकरणों में धर्म के साथ अर्थ और मोक्ष के सम्बन्ध का विवेचन महाभारत के अनुसार किया गया है।

चौथे अध्याय में धर्म के विविध रूपों का विवरण और विवेचन किया गया है। संस्कृत भाषा का धर्म शब्द अर्थ में बहुत व्यापक है। धर्म का मूल अर्थ धारण करने वाला है। महाभारत में भी धर्म को प्रजाओं का धारण करने वाला बताया गया है। यह धर्म का सामान्य लक्षण है। किन्तु इसके अनेक रूप हैं। इनमें प्राकृतिक और मानवीय धर्मों का भेद विशेष रूप से विचारणीय है। प्राकृतिक धर्म प्राकृतिक तत्वों के अनिवार्य लक्षण हैं। मानवीय धर्म स्वतन्त्र संकल्प पर निर्भर होता है। स्वतन्त्रता मानवीय धर्म का मुख्य तत्व है। यही धर्म और सम्प्रदाय को भिन्न बना देता है। पैगम्बरों द्वारा प्रचलित धर्म प्रचार. आरोपण आदि के द्वारा स्वतन्त्रता का खण्डन करते हैं, अतः उनको सम्प्रदाय कहना अधिक उचित है। धर्म-शास्त्रों और महाभारत का धर्म मुख्यतः स्वतन्त्र, उदार, मानवीय और नैतिक गुणों का स्रोत है। उसका ईश्वर, पैगम्बर आदि से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।

पाँचवे अध्याय में महाभारत के मिलने वाले धर्म के स्वरूप का विवरण किया गया है। धर्म-शास्त्रों और महाभारत का 'धर्म' मानवीय शील तथा

आचार का वाचक है। अतः वह 'रिलीजन' से लक्षित धर्म-सम्प्रदायों से भिन्न है। इस धर्म के जो लक्षण धर्मशास्त्रों में बताये गये हैं, उनमें अहिंसा, सत्य, दया आदि मनुष्य के उदार और मानवीय गुण सम्मिलित हैं, जो सर्वकाल में मनुष्य के सार्वभौम धर्म बन सकते हैं। इसी प्रकार महाभारत में भी मनुष्य के सामान्य और सार्वभौम धर्म के अन्तर्गत उदार मानवीय गुणों की गणना की गई है। प्रस्तुत अध्याय में धर्म के इसी मानवीय, सामान्य और सार्वभौम स्वरूप का विवरण महाभारत के अनुसार किया गया है। समानता इस धर्म का मूल सूत्र है। 'आत्मौपम्येन' तथा 'आत्मनः प्रतिकूलानि' के अनुसार यह समानता धर्माचार का आधार बनती है। यह समता का धर्म समाज को धारण करता है और अपनी व्युत्पत्ति को सार्थक बनाता है। समानता के अनुसार अविरोध इस धर्म की कसौटी बन जाता है।

छठे अध्याय में महाभारत में मिलने वाले धर्म के तत्वों का वर्णन किया गया है। जिस मानवीय धर्म का निरूपण धर्मशास्त्रों और महाभारत में किया गया है, वह मानव जीवन के ही समान विशाल है। इस धर्म के अन्तर्गत मनुष्य के अनेक उदार और मानवीय गुण सम्मिलित हैं। महाभारत में धर्म के अनेक गुणों का वर्णन किया गया है। इन्हीं गुणों को धर्म के तत्वों की संज्ञा दी गई है। प्रस्तुत अध्याय में धर्म के नाम से इन्हीं गुणों का विवरण किया गया है। धर्म के ये तत्व धर्म के उस सामान्य और सार्वभौम स्वरूप को साकार बनाते हैं, जिसका निरूपण पिछले अध्याय में किया गया है। धर्म के ये तत्व धर्म के इस सामान्य और सार्वभौम स्वरूप को साकार बनाते हैं, जिसका निरूपण पिछले अध्याय में किया गया है। धर्म के ये तत्व धर्म के इस सामान्य और सार्वभौम स्वरूप को मानवीय शील और व्यवहार में चरितार्थ करते हैं। धर्म के इन तत्वों में अहिंसा, दम, क्षमा, सत्य, तप आदि अधिक महत्वपूर्ण हैं।

सातवें अध्याय में महाभारत के अनुसार वर्ण-धर्म का सामान्य विवेचन किया गया है। अगले अध्यायों में चारों वर्णों के धर्म का पृथक्-पृथक् विस्तृत विवरण किया गया हैं। प्रस्तुत अध्याय में वर्ण-विभाजज के सामान्य सिद्धान्त तथा महत्व का विवेचन है। वर्ण-व्यवस्था भारतीय समाज की एक अनुपम विशेषता है। इस रूप में समाज का विभाजन अन्य किसी देश में नहीं

मिलता। वर्ण-व्यवस्था का मूल सिद्धान्त समाज में कर्म का विभाजन है। विद्या, रक्षा, व्यवसाय और सेवा के चार मुख्य कर्मों के आधार पर चार वर्ण बने हैं। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्ण-विभाजन का संकेत मिलता है। एक ही पुरुष के अंगों की भाँति चारों वर्ण समाज के विराट पुरुष के अंग हैं। अंगों की भाँति वे समान रूप से महत्वपूर्ण हैं, यद्यपि उनके धर्म भिन्न-भिन्न हैं। महाभारत में कहा गया है कि पहले सभी ब्राह्मण थे। बाद में कर्म-भेद से अन्य वर्ण बन गये। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का कारण भारतीय समाज में विद्या और तप का मान है।

आठवें अध्याय में महाभारत के अनुसार ब्राह्मण धर्म का विस्तृत विवेचन किया गया है। पुरुष सूक्त के अनुसार ब्राह्मण समाज-पुरुष के मुख हैं। वे मुख के समान ही प्रमुख हैं। किन्तु ब्राह्मणों की यह प्रमुखता किसी पक्षपात के कारण नहीं थी। ब्राह्मणों ने अपने पास कोई शक्ति नहीं रखी थी जिसके द्वारा वे समाज पर शासन करते। उनका प्रभाव विद्या, तप, त्याग, साधना आदि के कारण था। उनकी श्रेष्ठता और उनके सम्मान का कारण भी विद्या, तप आदि का भारतीय समाज में मान था। अधिकारों तथा सुविधाओं की अपेक्षा धर्म-शास्त्रों में ब्राह्मणों के कर्तव्यों का विधान अधिक है। ये कर्तव्य त्यागमय अधिक हैं और लाभप्रद कम हैं। धर्मशास्त्रों के इसी दृष्टिकोण से धर्म और संस्कृति की रक्षा हुई है। ब्राह्मणों के जो छः कर्तव्य मनुस्मृति में बताये गये हैं वे ही छः कर्तव्य महाभारत में भी बताये गये हैं। अध्यापन और अध्ययन लेकर दान और प्रतिग्रह तक इनका क्रम विचारणीय है।

नवें अध्याय में महाभारत के अनुसार क्षत्रिय धर्म का विवेचन किया गया है। चार वर्णों में द्विज श्रेष्ठ हैं, द्विजों में ब्राह्मणों और क्षत्रियों को श्रेष्ठ माना गया है। भारतीय समाज में विद्या,तप आदि का आदर होने के कारण ब्राह्मण समाज के पूज्य बने। रक्षा का महत्व होने के कारण क्षत्रियों को राजपद का मान मिला। पुरुष सूक्त में क्षत्रियों को 'राजन्य' कहा गया है। वे विराट पुरुष के बाहु हैं। 'बाहु' बल के स्रोत और रक्षा के साधन हैं। रक्षा के बिना समाज में सांस्कृतिक मूल्यों का आधार नहीं रहता। अतः रक्षा का महत्व है। इसी कारण धर्मशास्त्रों में क्षत्रियों को प्रधानता दी गई है। भारतवर्ष

आचार का वाचक है। अतः वह 'रिलीजन' से लक्षित धर्म-सम्प्रदायों से भिन्न है। इस धर्म के जो लक्षण धर्मशास्त्रों में बताये गये हैं, उनमें अहिंसा, सत्य, दया आदि मनुष्य के उदार और मानवीय गुण सम्मिलित हैं, जो सर्वकाल में मनुष्य के सार्वभौम धर्म बन सकते हैं। इसी प्रकार महाभारत में भी मनुष्य के सामान्य और सार्वभौम धर्म के अन्तर्गत उदार मानवीय गुणों की गणना की गई है। प्रस्तुत अध्याय में धर्म के इसी मानवीय, सामान्य और सार्वभौम स्वरूप का विवरण महाभारत के अनुसार किया गया है। समानता इस धर्म का मूल सूत्र है। 'आत्मौपम्येन' तथा 'आत्मनः प्रतिकूलानि' के अनुसार यह समानता धर्माचार का आधार बनती है। यह समता का धर्म समाज को धारण करता है और अपनी व्युत्पत्ति को सार्थक बनाता है। समानता के अनुसार अविरोध इस धर्म की कसौटी बन जाता है।

छठे अध्याय में महाभारत में मिलने वाले धर्म के तत्वों का वर्णन किया गया है। जिस मानवीय धर्म का निरूपण धर्मशास्त्रों और महाभारत में किया गया है, वह मानव जीवन के ही समान विशाल है। इस धर्म के अन्तर्गत मनुष्य के अनेक उदार और मानवीय गुण सम्मिलित हैं। महाभारत में धर्म के अनेक गुणों का वर्णन किया गया है। इन्हीं गुणों को धर्म के तत्वों की संज्ञा दी गई है। प्रस्तुत अध्याय में धर्म के नाम से इन्हीं गुणों का विवरण किया गया है। धर्म के ये तत्व धर्म के उस सामान्य और सार्वभौम स्वरूप को साकार बनाते हैं, जिसका निरूपण पिछले अध्याय में किया गया है। धर्म के ये तत्व धर्म के इस सामान्य और सार्वभौम स्वरूप को साकार बनाते हैं, जिसका निरूपण पिछले अध्याय में किया गया है। धर्म के ये तत्व धर्म के इस सामान्य और सार्वभौम स्वरूप को मानवीय शील और व्यवहार में चरितार्थ करते हैं। धर्म के इन तत्वों में अहिंसा, दम, क्षमा, सत्य, तप आदि अधिक महत्वपूर्ण हैं।

सातवें अध्याय में महाभारत के अनुसार वर्ण-धर्म का सामान्य विवेचन किया गया है। अगले अध्यायों में चारों वर्णों के धर्म का पृथक्-पृथक् विस्तृत विवरण किया गया हैं। प्रस्तुत अध्याय में वर्ण-विभाजज के सामान्य सिद्धान्त तथा महत्व का विवेचन है। वर्ण-व्यवस्था भारतीय समाज की एक अनुपम विशेषता है। इस रूप में समाज का विभाजन अन्य किसी देश में नहीं

मिलता। वर्ण-व्यवस्था का मूल सिद्धान्त समाज में कर्म का विभाजन है। विद्या, रक्षा, व्यवसाय और सेवा के चार मुख्य कर्मों के आधार पर चार वर्ण बने हैं। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्ण-विभाजन का संकेत मिलता है। एक ही पुरुष के अंगों की भाँति चारों वर्ण समाज के विराट पुरुष के अंग हैं। अंगों की भाँति वे समान रूप से महत्वपूर्ण हैं, यद्यपि उनके धर्म भिन्न-भिन्न हैं। महाभारत में कहा गया है कि पहले सभी ब्राह्मण थे। बाद में कर्म-भेद से अन्य वर्ण बन गये। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का कारण भारतीय समाज में विद्या और तप का मान है।

आठवें अध्याय में महाभारत के अनुसार ब्राह्मण धर्म का विस्तृत विवेचन किया गया है। पुरुष सूक्त के अनुसार ब्राह्मण समाज-पुरुष के मुख हैं। वे मुख के समान ही प्रमुख हैं। किन्तु ब्राह्मणों की यह प्रमुखता किसी पक्षपात के कारण नहीं थी। ब्राह्मणों ने अपने पास कोई शक्ति नहीं रखी थी जिसके द्वारा वे समाज पर शासन करते। उनका प्रभाव विद्या, तप, त्याग, साधना आदि के कारण था। उनकी श्रेष्ठता और उनके सम्मान का कारण भी विद्या, तप आदि का भारतीय समाज में मान था। अधिकारों तथा सुविधाओं की अपेक्षा धर्म-शास्त्रों में ब्राह्मणों के कर्तव्यों का विधान अधिक है। ये कर्तव्य त्यागमय अधिक हैं और लाभप्रद कम हैं। धर्मशास्त्रों के इसी दृष्टिकोण से धर्म और संस्कृति की रक्षा हुई है। ब्राह्मणों के जो छः कर्तव्य मनुस्मृति में बताये गये हैं वे ही छः कर्तव्य महाभारत में भी बताये गये हैं। अध्यापन और अध्ययन लेकर दान और प्रतिग्रह तक इनका क्रम विचारणीय है।

नवें अध्याय में महाभारत के अनुसार क्षत्रिय धर्म का विवेचन किया गया है। चार वर्णों में द्विज श्रेष्ठ हैं, द्विजों में ब्राह्मणों और क्षत्रियों को श्रेष्ठ माना गया है। भारतीय समाज में विद्या,तप आदि का आदर होने के कारण ब्राह्मण समाज के पूज्य बने। रक्षा का महत्व होने के कारण क्षत्रियों को राजपद का मान मिला। पुरुष सूक्त में क्षत्रियों को 'राजन्य' कहा गया है। वे विराट पुरुष के बाहु हैं। 'बाहु' बल के स्रोत और रक्षा के साधन हैं। रक्षा के बिना समाज में सांस्कृतिक मूल्यों का आधार नहीं रहता। अतः रक्षा का महत्व है। इसी कारण धर्मशास्त्रों में क्षत्रियों को प्रधानता दी गई है। भारतवर्ष

के इतिहास में क्षत्रियों ने प्रजा तथा दुर्बलों की रक्षा में बड़ा पराक्रम दिखाया है। रक्षा के अतिरिक्त यज्ञ, दान, अध्ययन आदि भी क्षत्रियों के कर्तव्य हैं। रक्षा के कारण युद्ध उनका प्रमुख धर्म है। सत्य आदि गुण भी उनके भूषण हैं।

दसवें अध्याय में राज-धर्म का विवेचन है। राज धर्म का क्षत्रिय-धर्म से अधिक सम्बन्ध है, यद्यपि ब्राह्मण आदि भी राजा होते रहे हैं। पुरुष सूक्त में क्षत्रियों के लिए राजन्य शब्द का प्रयोग किया गया है, फिर भी ब्राह्मण आदि भी राजा होते थे। अतः राज-धर्म को पृथक मानना ही उचित है। धर्म-शास्त्रों में राज-धर्म का विस्तार से विधान किया गया है। महाभारत तो एक प्रकार से राज-धर्म का वेद है। उसमें राज-धर्म का विस्तृत विवरण हैं। भीष्म ने शरशय्या पर युधिष्ठिर को राध-धर्म का विशद उपदेश दिया है। राज-धर्म सब धर्मों में श्रेष्ठ है। राजा के द्वारा अपना धर्म पालन करने पर ही अन्य जन अपना धर्म पालन कर सकते है। राज-धर्म सब धर्मों का आश्रय और रक्षक है। प्रजा का रक्षण और पालन तथा दण्डनीति राजा के मुख्य धर्म हैं। इसके अतिरिक्त यज्ञ, स्वाध्याय, दान, न्याय आदि भी राजा के कर्तव्य हैं। सदाचारी, कुशल, नीतिज्ञ और धर्मात्मा राजा की प्रजा सुखी रहती है। अहंकार से रहित निर्मल बुद्धि, उद्यमशीलता, ईर्ष्या का त्याग, मधुर भाषिता, दानशीलता आदि राजा के महत्त्वपूर्ण गुण हैं। राजा चारों वर्णों का रक्षक है। इनकी रक्षा के लिए उसे न्यायी, नीतिप्रिय और युद्ध-कुशल होना चाहिए।

ग्यारहवें अध्याय में महाभारत के अनुसार वैश्य-धर्म का वर्णन किया किया गया है। धर्म-शास्त्रों की वर्ण-व्यवस्था में वैश्यों को भी द्विजों के अन्तर्गत माना जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन द्विज हैं। इनके उपनयन आदि संस्कार होते हैं। वैश्यों को धर्म-शास्त्रों में विशेष मान तो नहीं दिया गया है, फिर भी श्रेष्ठ मानकर ही उनकी गणना द्विजों में की गई है। वैश्यों का सम्बन्ध मुख्यतः आर्थिक जीवन से है। अर्थ-साधना के लिए कुछ उद्योग अपेक्षित हैं, किन्तु दूसरी ओर उसमें कुछ प्रलोभन भी होता है। अर्थ-साधक के लिए ब्राह्मणों के समान त्याग तथा क्षत्रियों के समान बलिदान का

तो विधान नहीं किया जा सकता, फिर भी वैश्य-धर्म के विधान में उद्यम को प्रधानता दी गई है। उद्यम और लाभ के विपरीत अनुपात में कृषि, गो-रक्षा और वाणिज्य को वैश्यों का कर्तव्य बतलाया गया है। यह क्रम उद्योग की महिमा के अनुकूल है। किन्तु अर्थ-शक्ति के प्रताप से कालान्तर में यह क्रम विपरीत हो गया और वाणिज्य वैश्यों का प्रमुख धर्म बन गया। महाभारत में वाणिज्य के अतिरिक्त स्वाध्याय, यज्ञ, सदाचार, दान आदि को वैश्यों का कर्तव्य बताया गया है।

बारहवें अध्याय में महाभारत के अनुसार शूद्र-धर्म का विवेचन किया गया है। शूद्रों को धर्म-शास्त्र में निम्न स्थान दिया गया है। इस प्रकार उनके साथ निःसन्देह कुछ अन्याय हुआ है। सभी शूद्र अछूत नहीं हैं, किन्तु उनमें कुछ अछूत भी हो गये हैं। शूद्रों में अछूतों की स्थिति अधिक शोचनीय और दयनीय है। धर्म-शास्त्रों में उच्च वर्णों की सेवा को ही शूद्रों का मुख्य कर्तव्य बताया है। शूद्रों के उपनयन आदि संस्कार नहीं होते और उनको वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है। शूद्रों के साथ इस अन्याय के कारण वर्ण-व्यवस्था की प्रायः आलोचना की जाती है। भारतीय संस्कृति में स्वच्छता का अत्यधिक महत्व सम्भवतः शूद्रों के तिरस्कार का एक कारण बना होगा। धर्मशास्त्रों की भांति महाभारत में भी सेवा को ही शूद्रों का मुख्य धर्म माना गया है। किन्तु दूसरी ओर शूद्रों का पालन करना स्वामी का कर्तव्य है। महाभारत में शूद्रों के लिए किसी सीमा तक यज्ञ, अध्ययन तथा अन्य धर्म कर्मों का विधान भी किया गया है। महाभारत में शूद्रों को गौरव देने वाले वचन भी मिलते हैं। एक स्थान पर कहा है कि कर्मों की पवित्रता से शूद्र भी ब्राह्मण के समान वन्दनीय बन जाता है। जो शूद्र शुभ कर्म करता है, वह द्विजातियों से भी श्रेष्ठ है। शुभ वृत्ति वाला शूद्र ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है।

तेरहवें अध्याय में महाभारत के अनुसार आश्रम-धर्म का विवेचन किया गया है। अगले अध्यायों में चारों आश्रमों के कर्तव्यों का पृथक-पृथक और विस्तार से वर्णन किया गया हैं। प्रस्तुत अध्याय में आश्रम-व्यवस्था के सामान्य स्वरूप और सिद्धान्त तथा महत्व का विवेचन है। आश्रम-व्यवस्था जीवन की एक अपूर्व योजना है, जो संसार के किसी देश में भी इस रूप में

नहीं मिलती । यह योजना काल के सत्य के अनुसार जीवन में परिवर्तन और सौन्दर्य का संचार करती है । इस व्यवस्था में तप, त्याग, संयम, कर्म, भोग, वैराग्य, मुक्ति आदि का एक सन्तुलित सामंजस्य है, जो समग्र जीवन को सफल और आनन्दयय बनाता है । जीवन की यह सुन्दर योजना भारतीय कल्पना की एक अद्‌भुत देन है । यह-वर्ण-व्यवस्था की अपेक्षा अधिक सार्वभौम है । प्रस्तुत अध्याय में आश्रम-व्यवस्था के सामान्य महत्व के अतिरिक्त चारों आश्रमों के धर्मों का संक्षिप्त परिचय भी महाभारत के अनुसार दिया गया है ।

चौदहवें अध्याय में महाभारत के अनुसार ब्रह्मचर्य-धर्म का विवेचन किया गया है । ब्रह्मचर्य-आश्रम पहला ही आश्रम है । यह जीवन का निर्माण काल है । स्वास्थ्य और चरित्र का गठन तथा विद्या का उपार्जन इसके मुख्य धर्म हैं । इन्हीं पर उसकी सफलता और जीवन का आनन्द निर्भर है । ब्रह्मचर्य की सामान्य अवधि पच्चीस वर्ष तक मानी जाती है, यद्यपि कोई भीष्म, हनुमान आदि के समान आजीवन ब्रह्मचारी भी रह सकता है । ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ आत्म-साधना है, किन्तु इसमें इन्द्रिय संयम की अधिक अपेक्षा होने के कारण ब्रह्मचर्य का सीमित अर्थ इन्द्रिय संयम ही हो गया है । प्रस्तुत अध्याय में महाभारत के अनुसार ब्रह्मचारी के लक्षण और कर्तव्यों का विवरण किया गया है । जटा, मेखला, दण्ड आदि प्राचीन काल में विद्यार्थियों के चिन्ह थे । किन्तु यह उनका बाह्य रूप था । जीवन की सरलता और सात्विकता इसके मुख्य लक्ष्य थे, जो सार्वभौम सत्य हैं । इन्द्रिय संयम से स्वास्थ्य और चरित्र सुदृढ़ होता है । अध्ययन और साधना का भी यही समय है । गुरु-सेवा इन दोनों में उपकारक है ।

पन्द्रहवें अध्याय में महाभारत के अनुसार गृहस्थ-धर्म का विवेचन किया गया है । गृहस्थ-आश्रम चारों आश्रमों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि वह भिक्षादान आदि के द्वारा अन्य तीनों आश्रमों का पोषण करता है । इसीलिए मनु ने उसे ज्येष्ठ आश्रम कहा है । ब्रह्मचर्य की साधना के बाद गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करके मनुष्य अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को सफल बनाता है । 'ब्रह्मचर्य' त्याग और तप का जीवन है । गृहस्थाश्रम

में जीवन के उपभोग के लिए भी अवकाश मिलता है, किन्तु धर्म और आचार की मर्यादा इस उपभोग को सीमित करके कल्याणकारी बनाती है। इस प्रकार गृहस्थाश्रम भोग और त्याग का समन्वय है। धर्म-शास्त्रों और महाभारत में गृहस्थ के कर्तव्यों और धर्म का ही अधिक वर्णन किया गया है। आतिथ्य गृहस्थ का सबसे बड़ा धर्म है। इसके अतिरिक्त पंचमहायज्ञ आदि गृहस्थ के अन्य कर्तव्य हैं। यज्ञ, अध्ययन, दान, दया आदि को गृहस्थों के लिए महत्वपूर्ण बताया गया है। पुत्र की उत्पत्ति और परिवार का पालन तथा अन्य सामाजिक कर्तव्यों के द्वारा गृहस्थ का जीवनपूर्ण होता है तथा वह वानप्रस्थ और संन्यास के योग्य बनता है।

सोलहवें अध्याय में महाभारत के अनुसार स्त्री-धर्म का विवेचन किया गया है। गृहस्थाश्रम में स्त्री का महत्वपूर्ण स्थान है। स्त्री के सहयोग से ही गृहस्थाश्रम के धर्म पूर्ण होते हैं। भारतीय संस्कृति और परम्परा में माता, पत्नी, पुत्री आदि के रूप में स्त्री को पर्याप्त आदर मिला है। महाभारत में कथानक की दृष्टि से भी स्त्री का महत्वपूर्ण स्थान है। शान्तिपर्व में भार्या को अनुपम बन्धु बताया गया है। महाभारत में स्त्री की महिमा और स्त्री के धर्म का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। पातिव्रत और पति-सेवा स्त्री का सबसे बड़ा धर्म है। परिवार का पालन और अतिथियों का सत्कार उसके मुख्य कर्तव्य हैं। पुरुषों का भी इस सम्बन्ध में बहुत दायित्व है। महाभारत और धर्म-शास्त्रों में पुरुष को भी एकपत्नीव्रत रहने का आदेश किया गया है। धर्म-शास्त्रों ने स्त्री को स्वतन्त्रता के योग्य नहीं माना है। मनु के प्रसिद्ध वाक्य के समान वचन महाभारत में विराट पर्व में मिलता है। धर्म-शास्त्रों के इस दृष्टिकोण का कारण स्त्री की रक्षणीयता है। धर्मशास्त्रों का उद्देश्य स्त्री को स्वतन्त्रता से वंचित करना नहीं, वरन् उसके शील और समाज की मर्यादा की रक्षा करना है।

सत्रहवें अध्याय में महाभारत के अनुसार वानप्रस्थ-धर्म का विवेचन किया गया है। वानप्रस्थ का अर्थ वन को प्रस्थान करना है। भारतीय धर्म-शास्त्र गृहस्थ जीवन के प्रपंचों में ही सम्पूर्ण जीवन को बिताना उचित नहीं समझता। वानप्रस्थ में मनुष्य घर को छोड़कर वन में सरल और सात्विक

जीवन व्यतीत करता है। वह सामाजिक जीवन से कृतकृत्य होकर शेप धार्मिक और सांस्कृतिक कर्तव्यों को पूर्ण करता है। उत्तरोत्तर विकासशील जीवन की यह भारतीय योजना अनुपम है। स्त्रियों के लिए वानप्रस्थ का विकल्प है, वे चाहें तो घर में पुत्रों के साथ भी रह सकती हैं। वानप्रस्थी का जीवन त्याग, संयम और ब्रह्मचर्य का जीवन होता है। गृहस्थों के पाँच यज्ञ वानप्रस्थी के लिए भी वताये हैं। वानप्रस्थ भिक्षा के द्वारा निर्वाह करता है। भिक्षा के सम्बन्ध में भी कुछ नियम हैं। वन्य अन्न, कन्दमूल फल आदि उपलब्ध न होने पर ही उन्हें सायंकाल में भिक्षा करनी चाहिए। उन्हें भी भोजन का संग्रह नहीं करना चाहिए। तप, योग, साधना, अध्ययन, अध्यापन आदि उनके मुख्य कर्तव्य हैं। अहिंसा, दया, शम, मौन आदि उनके गुण हैं।

अठारहवें अध्याय में महाभारत के अनुसार संन्यास-धर्म का विवेचन किया गया है। संन्यास जीवन का अन्तिम आश्रम है। उसमें आश्रम व्यवस्था पूर्ण होती है। वानप्रस्थ-आश्रम में वन में निवास करके तथा जीवन की शेष साधना पूर्ण करके मनुष्य को संन्यास ग्रहण करना चाहिए। संन्यास कृतकृत्यता की अवस्था है। संन्यासी का जीवन पूर्णतः मुक्त और स्वच्छन्द होता है। वह वानप्रस्थ की भांति एक स्थान पर नहीं रहता, वरन् संसार में स्वच्छन्द विचरण करता है, इसीलिए संन्यासी कोप रिव्राजक कहते हैं। वह भिक्षा के द्वारा अपना निर्वाह करता है। उसके कोई कर्तव्य शेष नहीं रहते हैं। संन्यास में वानप्रस्थ के समान स्त्री साथ नहीं रह सकती। जटा, कमण्डल, दण्ड आदि संन्यासी के वाह्य लक्षण हैं, किन्तु इनका अधिक महत्व नहीं है। एकान्त आत्म-साधना ही संन्यासी का एकमात्र कर्तव्य है। त्याग, सन्तोष, दम आदि संन्यासी के धर्म हैं। ये उसकी मुक्ति के साधक है। वस्तुतः सहज आत्मनिष्ठता संन्यास की पूर्णता है। पूर्णता कठिन होने के कारण संन्यासियों के लिए भी नियम वताये हैं तथा उनके भी भेद किये गये हैं।

उन्नीसवें अध्याय में महाभारत के अनुसार दिव्य-धर्म का विवेचन किया गया है। पिछले अठारह अध्यायों में महाभारत के अनुसार धर्म के सामाजिक और मानवीय रूप का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। किन्तु महाभारत में धर्म के दिव्य अथवा ईश्वरीय रूप का महत्व भी वहुत है।

सामाजिक और मानवीय धर्म से भेद करने के लिए हमने धर्म के उस रूप को दिव्य कहा है, जिसका सम्बन्ध ईश्वर से होता है, धर्म-शास्त्रों और महाभारत में सामाजिक और मानवीय धर्मों का ही विवरण अधिक है। धर्म-शास्त्रों में ईश्वर की चर्चा भी कम है, किन्तु महाभारत में श्रीकृष्ण को ईश्वर के रूप में ही माना गया है। ईश्वर के अवतारों और देवताओं की चर्चा महाभारत में मिलती है। देवताओं से सम्बन्ध रखने वाले तीर्थ, व्रत आदि का वर्णन भी महाभारत में मिलता है। यही धर्म का दिव्य रूप है, जिसका विवेचन इस अन्तिम अध्याय में किया गया है। धर्म का यह दिव्य रूप सामाजिक और मानवीय धर्म को एक अलौकिक आधार प्रदान करता है। सिद्धान्त की दृष्टि से यह दिव्य-धर्म भी सामाजिक और मानवीय धर्म की उदार भावना से युक्त है।

बीसवें अध्याय में प्रस्तुत अध्ययन और विवेचन का उपसंहार किया गया है। पिछले उन्नीस अध्यायों में जिन तथ्यों, विषयों और सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है, उनके मुख्य निष्कर्षों का सिंहावलोकन इस उपसंहार में निम्नलिखित प्रकरणों के अन्तर्गत किया गया है—

१—अध्ययन के निष्कर्ष।

२—महाभारत एक अनुपम ग्रन्थ है।

३—महाभारत की ऐतिहासिक आलोचना निष्प्रयोजन है।

४—महाभारत का वर्तमान रूप ही मान्य है।

५—धर्म ही महाभारत का मर्म है।

६—धर्म का मर्म मानवीयता है।

७—मानवीयता के मुख्य तत्व समानता और स्वतंत्रता है।

८—धर्म का आधार आध्यात्मिक है।

९—धर्म और रिलीजन में अन्तर है।

१०—धर्म और सम्प्रदाय में विरोध आवश्यक नहीं है।

११—धर्मशास्त्रों और महाभारत का धर्म मुख्यतः मानवीय और सामाजिक है।

१२—महाभारत के अनुसार अविरोध इस धर्म की कसौटी है।

१३—धर्म की आध्यात्मिकता और मानवीयता उदार नैतिक गुणों में व्यक्त होती है।

१४—वर्ण और आश्रम धर्म के विधान के भारतीय अवलम्ब हैं।

१५—वर्णों की व्यवस्था में कुछ सामाजिक विषमता अवश्य उत्पन्न हुई, किन्तु उसका मूल उद्देश्य विषमता नहीं वरन् समाज का सामंजस्य तथा कर्तव्य विभाजन है।

१६—द्विजों की श्रेष्ठता और शूद्रों की हीनता सामाजिक परिस्थिति के परिणाम हैं।

१७—ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का कारण प्राचीन समाज में विद्या, यज्ञ आदि के महत्व तथा तप, त्याग, पवित्रता, सरलता आदि का आदर था।

१८—क्षत्रियों की श्रेष्ठता का कारण रक्षा का महत्व।

१९—प्रजापालन और प्रजा की रक्षा राजा के मुख्य धर्म हैं।

२०—वैश्यों के आर्थिक व्यवसाय में भी दान आदि के द्वारा श्रेय का सामंजस्य किया गया है।

२१—शूद्रों के साथ वर्ण-व्यवस्था में निश्चित रूप से अन्याय हुआ है और उसका संशोधन आवश्यक है।

२२—आश्रम व्यवस्था जीवन की एक अत्यन्त सुन्दर योजना है।

२३—ब्रह्मचर्य सफल और पूर्ण जीवन की सुदृढ़ नींव है।

२४—गृहस्थाश्रम सब धर्मों का पोषक है तथा जीवन की प्राकृतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सफलता के द्वारा मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।

२५—स्त्री की रक्षा और स्त्री का आदर समाज का गौरव है, सेवा और पातिव्रत गृहस्थ जीवन को सुखी और शान्तिपूर्ण बनाते हैं।

२६—वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम-व्यवस्था को तथा जीवन को पूर्ण बनाते हैं।

२७—मानवीय और सामाजिक धर्म से दिव्य-धर्म का आवश्यक विरोध नहीं है।

२८ देवताओं, तीर्थों और व्रतों की त्रिवेणी धर्म के रूप को पूर्ण बनाती है।

२९—महाभारत भारतीयों के लिए सदा पठनीय है।

३०—महाभारत का साहित्यिक स्रोत काव्य के अनेक भगीरथों का आमंत्रण करता है।

३१—महाभारत हमारी धार्मिक एवं सांस्कृतिक आस्था का सुदृढ़ अवलम्ब बन सकता है।

८—आभार—

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की रचना राजस्थान के प्रसिद्ध विद्वान् डा० फतह सिंह के निर्देशन में हुई है। उनकी प्रेरणा और उनके अनुग्रह से ही यह कठिन कार्य पूर्ण हो सका है। विषय के अध्ययन, सामग्री संकलन आदि के सम्बन्ध में वे अपने अमूल्य परामर्श देते रहे हैं। ग्रन्थ के संशोधन में उन्होंने जो कष्ट उठाया है, वह उनकी उदारता का सूचक है। जिन विद्वानों के ग्रन्थों का इस शोध-प्रबन्ध में उपयोग किया गया है उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना भी मेरा धार्मिक कर्तव्य है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का प्रणयन तथा इसके आधार पर शिक्षा की एक उच्चतर उपाधि की प्राप्ति मेरी चिरकालीन कामना की पूर्ति है। एक मध्यवर्गीय पुराणपंथी परिवार में जन्म लेने के कारण मैं शिक्षा के आरम्भिक स्तरों से आगे नहीं बढ़ सकी। फिर भी उच्च शिक्षा की एक निभृत आकांक्षा मेरे मन में पलती रही और मैं विवाह-सूत्र के अवलम्ब से इस आकांक्षा क पूर्ति के सपने सँजोती रही। परम्परा के बन्धनों के कारण मेरे माता-पिता मेरी शिक्षा का उपक्रम तो नहीं कर सके, किन्तु मेरी शिक्षा सम्बन्धी आकांक्षाओं के प्रति उनकी सदा सहानुभूति रही। यह उनकी सहानुभूति का ही फल है कि मुझे एक ऐसा दाम्पत्य-सम्बन्ध प्राप्त हो सका, जिसमें मुझे गार्हस्थ्य के धर्मों के पुण्य लाभ के साथ-साथ शिक्षा की दिशा में भी अग्रसर होने का अवसर मिला। माता-पिता की प्रेरणा और पति के सहयोग से मैं विवाह के बाद गृहस्थ जीवन की कठिनाइयों में भी घर में ही रह कर अपनी उच्च शिक्षा

सम्पन्न कर सकी, यह मेरे सौभाग्य का एक उज्ज्वल पक्ष है।' साहित्यकारों का गृहस्थ जीवन प्रायः विडम्बना बन जाता है। मेरे पति साहित्यकार और दार्शनिक दोनों ही हैं। अतः मेरे लिए इस विडम्बना की आशंका दूनी हो सकती थी। किन्तु मेरे पति इस विडम्बना के विरोधी तथा जीवन के प्रमुख पक्षों के समन्वय के समर्थक हैं। इस नाते वे साहित्यकारों और दार्शनिकों में एक अपवाद माने जा सकते हैं। अपनी साहित्यिक और दार्शनिक साधना में लीन रहते हुये भी, परिवार की ही नहीं वरन् अन्य अनेक परिचितों की उन्नति में उनकी गहरी रुचि रही है। सामाजिक उन्नति एक प्रकार से उनका धर्म बन गई है। बाईस वर्ष के अध्यापन काल में अनेक छात्रों को उनके इस धर्म का प्रसाद मिला है। परिवार के जनों को भी इस प्रसाद का अंश मिलना स्वाभाविक था। इसी प्रसाद के पुण्य से मैं विवाह के बाद गृहस्थ जीवन की कठिनाइयों में भी घर में रह कर ही अपनी उच्च शिक्षा को सम्पन्न कर सकी। अपने इस सौभाग्य से मुझे प्रसन्नता मिली है और इस पर मुझे गर्व भी है। मेरे साथ-साथ बच्चों को भी अपने पिता के उन्नति-धर्म का प्रसाद मिला है। उनकी प्रेरणा से ही वे अपनी आरम्भिक शिक्षा घर में ही पूरी करके तथा आरम्भिक विद्यालय के विविध लाभों से वंचित रह कर भी विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में उत्तम फल प्राप्त कर रहे हैं। उनकी विद्या और प्रतिभा पिता की प्रेरणा का ही प्रसाद है।

डा० फतहसिंह के अनुसार मेरी यह उच्चशिक्षा "स्वान्तः सुखाय" ही कही जा सकती है। जीवन के सामंजस्य के सम्बन्ध में मेरे पति की धारणा में आर्थिक वैभव का अधिक महत्व नहीं है। वेदान्त के व्यावहारिक रूप के आराधक होने के नाते वे अर्थ से लेकर आत्मा तक जीवन की सभी भूमियों के समुचित सामंजस्य के पक्षपाती हैं। उनके इसी अनुरोध के कारण मैं अपनी उच्च शिक्षा को अर्थकरी बनाने का साहस न कर सकी। अध्यापिका बनने पर गृहस्थ जीवन का सन्तुलन भंग हो सकता है, ऐसी सम्भावना मुझे स्वयं भी सशंकित करती रही। बाल्यकाल के संस्कारों के प्रभाव से गृहस्थ जीवन के धर्मों में मेरी गहरी श्रद्धा है। अतः अपनी उच्च शिक्षा को "स्वान्तः सुखाय" मानकर भी मैं सन्तुष्ट हूँ। गार्हस्थ्य के धर्म को अखण्डित रखकर ही मैंने अपनी शिक्षा पूर्ण की है। मैं उच्चशिक्षा की अपनी मौलिक

आकांक्षा को पूर्ण देखकर अपने सौभाग्य पर प्रसन्न हूँ, किन्तु जिस गार्हस्थ में मेरी गहन श्रद्धा रही है, उसके सौन्दर्य और सन्तुलन में विक्षोभ की सम्भावना का खतरा मोल लेने का मैं साहस नहीं ले सकती। इसीलिए मैं शिक्षा से ज्ञान लाभ करके ही सन्तुष्ट हूँ तथा अपने पति और अपने बच्चों की विद्या-साधना में यथाशक्ति सहयोग देकर प्रसन्न हूँ। अर्थ का अधिक लाभ न पाकर भी धर्म के अधिक लाभ को ही मैं अपने जीवन की कृतार्थता मानती हूँ। अपने पति के व्यावहारिक वेदान्त की प्रेरणा से धर्म में अध्यात्म का समन्वय भी हमें अपने पारिवारिक जीवन में ही प्राप्त हुआ है। नारी के जीवन की इससे अधिक उपलब्धि और क्या हो सकती है।

बाल्य के संस्कार, अपनी आस्था और पति की प्रेरणा से धर्म में ही मेरी अधिक निष्ठा रही है। अतः अपनी निष्ठा के अनुकूल विषय को मैंने अनुसंधान के लिए चुना। इस अनुसंधान के प्रसंग में धर्मशास्त्रों और महाभारत के अध्ययन से धर्म के प्रति मेरी निष्ठा और दृढ़ हुई है। महाभारत के अध्ययन के कारण कोई महाभारत तो घर में नहीं हुआ, फिर भी इस कार्य में जिन दिनों मैं अधिक व्यस्त रही, उन दिनों मैं अवश्य ही परिवार की सेवा को उतना समय और ध्यान न दे सकी, जितना कि मै चाहती रही। अल्प-वयस्क बालकों को उन दिनों मेरा इतना वात्सल्य नहीं मिल सका, जितना कि अपेक्षित था। यह मेरा अपराध नहीं था, किन्तु यह मेरी विवशता थी। अनुसंधान काय को पूर्ण करने के बाद मैं इस त्रुटि का संशोधन करने का निरन्तर प्रयत्न करती रही हूँ। मुझे सन्तोष है कि मैंने पिछले पाँच वर्षों में परिवार की सेवा तथा पति की साहित्य-साधना और बालकों की शिक्षा में अधिकतम सहयोग देकर जीवन के सामंजस्य का वह खोया हुआ सूत्र पुनः पा लिया है, जो मेरे पति की सैद्धान्तिक निष्ठा रहा है और जो अब मेरी भी सहज श्रद्धा का आस्पद बन गया है।

भरतपुर
२० जनवरी १९७०

शकुन्तला रानी तिवारी

अध्याय-सूची

विषय-सूची

प्रस्तावना

अध्याय—१

महाभारत की महिमा

अध्याय—२

महाभारत की आधुनिक आलोचना

अध्याय— ३

महाभारत में धर्म

अध्याय— ४

धर्म के रूप

अध्याय— ५

महाभारत में धर्म का स्वरूप

अध्याय-६

महाभारत में धर्म के तत्व

अध्याय–७

महाभारत में वर्ण-धर्म

अध्याय—८

महाभारत में ब्राह्मण-धर्म

अध्याय—९

महाभारत में क्षत्रिय-धर्म

अध्याय-१०

महाभारत में राजधर्म

प्रकरण पृष्ठ

अध्याय-११

महाभारत में वैश्य-धर्म

अध्याय-१२

महाभारत में शूद्र-धर्म

अध्याय—१३

महाभारत में आश्रम-धर्म

अध्याय—१४

महाभारत में ब्रह्मचर्य-आश्रम-धर्म

अध्याय—१५

महाभारत में गृहस्थ-धर्म

अध्याय–१६

महाभारत में स्त्री-धर्म

अध्याय–१७

महाभारत में वानप्रस्थ-धर्म

अध्याय–१८

महाभारत में संन्यास-धर्म

अध्याय–१९

महाभारत में दिव्य-धर्म

अध्याय–२०

अध्याय—१

महाभारत की महिमा

१—संसार का सबसे बड़ा काव्य : भारतीय जनता का वेद :—

महाभारत भारतीय साहित्य का ही नहीं, विश्व साहित्य का एक अद्भुत ग्रन्थ है। आकार की विशालता, विषयों की व्यापकता, लोकप्रियता आदि की दृष्टि से वह विश्व साहित्य में अद्वितीय है। एक लाख श्लोकों की संख्या के कारण यह शतसाहस्री संहिता के नाम से प्रसिद्ध है। आकार की विशालता और विषयों के महत्त्व दोनों ने इसे 'महाभारत' का नाम दिया। लगभग दो हजार वर्ष से भारतीय जनता इसे वेद के समान पवित्र और धर्मशास्त्रों के समान प्रामाणिक मानती रही है। आकार की विशालता भी उसके गौरव का एक कारण है। विषयों की महत्ता उस विशालता को अधिक गौरवपूर्ण बना देती है। प्राचीन भारत में चन्द्रवंशी महावीरों के युद्ध की यह कथा भारतीय जनता के लिए बड़ी रोमांचकारी है। महाभारत के पात्र भारतीय जनता के लिए जीवन के अमर नायक बन गये हैं। अश्वत्थामा, कृपाचार्य आदि को तो भौतिक दृष्टि से अमर माना जाता है। किन्तु भौतिक दृष्टि से अमर न होते हुए भी भीष्म, द्रोणाचार्य, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम आदि भारतीय जन मानस में अमर हैं। वे कुछ आदर्शों एवं प्रवृत्तियों के प्रतीकों के रूप में भी अमर हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त वे इतिहास के जीवन्त पात्रों के रूप में भी भारतीय समाज के सजीव अंग बन गये हैं। भारतीय समाज में वेसदा चर्चा के सजीव विषय रहते हैं और जनमानस की कल्पना में आज भी मानों महाभारत की घटनायें वर्तमान के समान प्रत्यक्ष और सजीव प्रतीत होती हैं। घटना और पात्रों की शाश्वत सजीवता के अतिरिक्त उन पात्रों के चरित्र भारतीय आचार के आदर्श बन गये हैं। भीष्म का ब्रह्मचर्य और त्याग, युधिष्ठिर का सत्य, द्रौपदी का पातिव्रत, पाण्डवों का बन्धुभाव आदि भारतीय समाज के आदर्श हैं। कथा और घटनाओं के प्रसंग में महाभारत में धर्म की चर्चा भी बहुत है। युधिष्ठिर धर्मराज हैं। महाभारत का युद्ध भी धर्मयुद्ध है। वर्णाश्रमधर्म, राज-

धर्म आदि के रूप में धर्म की शिक्षा भी महाभारत में विस्तार से मिलती है। अतः गौरवमय इतिहास होने के साथ-साथ महाभारत एक महत्त्वपूर्ण धर्मशास्त्र भी बन गया है। इसके विशाल आकार में धर्म के लगभग सभी पक्ष समाहित हो गये हैं। इतिहास, काव्य और धर्मशास्त्र के त्रिविध रूप में उसका महत्त्व और मान तिगुना हो गया है।

महाभारत की सबसे पहली विशेषता उसका विशाल आकार है। वर्तमान रूप में महाभारत लगभग एक लाख श्लोकों का विशाल ग्रन्थ है। ईसा की पाँचवी शताब्दी के दानपत्रों में एक लाख श्लोकों के महाभारत का गौरवपूर्ण उल्लेख मिलता है।[१] इससे विदित होता है कि लगभग दो हजार वर्ष से एक लाख श्लोकों का महाभारत भारतवर्ष में प्रसिद्ध है। मैकडौनल का मत है कि इस रूप में महाभारत ग्रीक के 'इलियड' और 'ओडेसे' दोनों काव्यों को मिलाकर आकार में उनके आठ गुने के बराबर है और इस प्रकार वह संसार का सबसे बड़ा काव्य है।[२] संसार के साहित्य के इतिहास में कोई भी ऐसा काव्य नहीं है, जो आकार की विशालता में इसके निकट भी पहुंच सके। इसके विशाल आकार की तुलना में लैटिन कवि वर्जिल का 'एनीड' नामक महाकाव्य, जो लगभग १०,००० पंक्तियों का है, एक छोटी कविता के समान जान पड़ता है।[३] महाभारत की इसी विशालता के कारण व्यासजी के लिए उसके लेखन की समस्या उपस्थित हुई थी, जिसका उल्लेख महाभारत के आरम्भ में ही मिलता है।[४] गणेश जैसे लेखक के होते हुए भी व्यास जी ने तीन वर्ष में महाभारत की रचना पूर्ण की थी।[५] विदेशी इतिहासकार सम्पूर्ण महाभारत को एक लेखक की कृति नहीं मानते।[६] उनका मत है कि जय, भारत और महाभारत के तीन संस्करणों में इसका क्रम से विकास हुआ

१—मैकडौनल : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर-पृष्ठ २८६।
२—वही : ,, ,, पृष्ठ २८४।
३—चैनिंग आरनोल्ड : महाभारत —प्रिफेस-पृष्ठ ८।
४—महाभारत—आदि पर्व-अध्याय १ श्लोक ७०।
५— ,, —स्वर्गारोहण पर्व-अध्याय ५, श्लोक ४८
६—विन्तरनित्स :ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर-भाग १, पृष्ठ ३२६,४६२

है।[७] किन्तु ईसा के पाँचसौ वर्ष पूर्व आश्वालायन गृह्यसूत्र में महाभारत के नाम का उल्लेख मिलता है। स्वयं महाभारत के अनुसार आकार की विशालता के कारण इसे महाभारत कहा जाता है।[८] यदि सम्पूर्ण महाभारत एक व्यक्ति की रचना न हो, तो भी इतना विशाल ग्रन्थ भारतीय प्रतिभा का एक अद्‌भुत चमत्कार है। महाभारत के अतिरिक्त वेद, पुराण आदि अनेक विशाल ग्रन्थ भारतीय प्रतिभा से उत्पन्न हुए हैं। महाभारत भारतीय प्रतिभा के नन्दन वन का कल्पवृक्ष है।

कल्पवृक्ष के समान ही महाभारत में मनुष्य के सभी वाञ्छित विषय मिलते हैं। पश्चिमी विद्वानों ने महाभारत के विकास के सम्बन्ध में उसके विषय की व्यापकता का निर्देश किया है। मैकडौनल और विन्तरनित्स का मत है कि भरतवंशी वीरों की मूलकथा की विस्तृत परिधि में अनेक आख्यान तथा धर्म-कर्म के उपदेश समाहित हो गये हैं।[९] स्वयं महाभारत के आदि पर्व में वेदव्यास ने ब्रह्माजी से महाभारत के विषयों के विस्तार का वर्णन किया है। उनके अनुसार वेद और उपनिषदों का रहस्य, इतिहास, पुराणों के वर्णन, चातुर्वर्ण्य और आश्रमों के धर्मों का विवरण, न्याय शिक्षा, चिकित्सा आदि अनेक विषयों का वर्णन महाभारत में है।[१०] पश्चिमी विद्वानों के अनुसार ये अनेक विषय अनेक लेखकों द्वारा महाभारत में सन्निविष्ट किये गये हैं। उनके अनुसार ब्राह्मण-धर्म सम्बन्धी उपदेश और उपाख्यान पुरोहितों और ब्राह्मणों के द्वारा मूल कथा में जोड़े गये हैं।[११] वस्तुतः महाभारत की मूल कथा ही इतनी विशाल है कि उसकी विविध घटनाओं के प्रसंग में जीवन के अनेक पक्ष अनायास खुल जाते हैं। इन प्रसंगों के बीच में मिलने वाले उपाख्यान विषय के विस्तार को और बढ़ा देते हैं। इस प्रकार महाभारत भारतीय संस्कृति का एक विशाल विश्वकोष बन जाता है। महाभारत की

७—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग १ पृ० ४६५।

८—महाभारत—आदि पर्व—अध्याय—१, श्लोक ३००।

९—मैकडौनल : ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर—पृष्ठ २८५।
विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग १, पृष्ठ ३२१

१०—महाभारत—आदि पर्व अध्याय १, श्लो० ६१ से ७० तक।

११—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग १, पृष्ठ ३१९।

विशालता के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि जो महाभारत में नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है।[१२] स्वयं महाभारत में ही उसकी व्यापकता का निर्देश किया गया है कि जो यहाँ है वही अन्यत्र मिलेगा, जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा।[१३]

महाभारत के विषयों की यह व्यापकता उसके आकार की विशालता को सार्थक बनाती है। भारतीय जनता के लिए जो भी ज्ञान, शिक्षा आदि अपेक्षित है, वह सब महाभारत में मिल जाती है। महाभारत की विशाल कथा की घटनायें और अन्य उपाख्यान भी अनेक शिक्षाओं के स्रोत हैं। विद्वानों के लिए जो वेद का स्थान है, वही साधारण जनों के लिए महाभारत का महत्त्व है।[१४] वेद विद्वानों के लिए ज्ञान का भाण्डार है, उसी प्रकार महाभारत साधारण जनता के लिए ज्ञान का भाण्डार है। महाभारत के इस महासागर में कथा, शिक्षा, धर्म आदि की नदियाँ मिल गई हैं। इसी एक ग्रन्थ में साधारण जनों को सब कुछ मिल जाता है, इसीलिए महाभारत जनता में बहुत लोकप्रिय रहा है। वीर-काव्य होने के कारण यह जनता को प्रेरणा देता है। अर्वाचीन युग में जो स्थान आल्ह खण्ड का है, वही स्थान प्राचीन परम्परा में महाभारत का है। आल्ह खण्ड एक प्रकार से हिन्दी का अर्वाचीन महाभारत है। महाभारत की घटनाओं की नाटकीयता तथा गम्भीर यथार्थता और संवाद की शैली उसे अधिक रुचिकर बना देती है। धर्म, शिक्षा आदि की दृष्टि से विषयों की उपयोगिता इस रुचि का पोषण करती है। इसी लोकप्रियता के कारण प्राचीन काल से ही महाभारत की कथा जन समूहों में गाई जाती रही है।[१५] स्वयं महाभारत की रचना ही इसी गायन के रूप में हुई है। शौनक के द्वादशवर्षीय सत्र में महाभारत के गायन में इस परम्परा का प्रमाण मिलता है। महाभारत के विषयों की व्यापकता और जनता में उसके आदर एवं उपयोग के कारण उसे पंचम वेद मानना नितान्त उचित है।[१६]

१२—यन्नभारते तन्नभारते।

१३—महाभारत—आदि पर्व अध्याय ६२—श्लोक २६।

१४—कृष्ण चैतन्य : ए न्यूहिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृ० ३२१।

१५—मैकडोनल : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृष्ठ २६०।

१६—वरदाचारी : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृष्ठ ४६।

स्वयं व्यास ने महाभारत के विषयों में वेद रहस्य का प्रथम उल्लेख किया है।[१७] धर्मोपदेश, विषयों की व्यापकता, जीवन के ज्ञान आदि की दृष्टि से महाभारत वेद के समान है। प्राचीनता, पवित्रता और लोकप्रियता उसे जनता का वेद बना देती है।

महाभारत अपने आकार की विशालता के कारण ही संसार का महान ग्रन्थ नहीं है और न वह केवल अपने विषयों की व्यापकता के कारण भारतीय जनता का वेद बन गया है, वरन् वह मनुष्य-जीवन के गम्भीर तत्वों से परिपूर्ण होने के कारण भारतीय साहित्य की एक गौरवपूर्ण निधि बन गया है। आकार में महाभारत इलियड आदि यूरोपीय महाकाव्यों से बहुत अधिक बड़ा है। सर चार्ल्स इलियट ने उसे इलियड की तुलना में तत्व की दृष्टि से भी महान माना है।[१८] प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् श्री रमेशचन्द्रदत्त ने, जिन्होंने महाभारत का अंग्रेजी में संक्षिप्त पद्यानुवाद प्रस्तुत किया है, महाभारत को एशिया की प्रतिभा का सबसे महान् ग्रन्थ माना है।[१९] महाभारत के महान विद्वान् डा० सुकथनकर के अनुसार महाभारत भारतीय साहित्य का एक अत्यन्त मूल्यवान् ग्रन्थ है, जिसे भारतीय परम्परा ने अपार श्रम के द्वारा लगभग २००० वर्षों से सुरक्षित रक्खा है।[२०] पश्चिमी विद्वानों ने महाभारत के प्रबन्ध और इतिहास के सम्बन्ध में कुछ आलोचनात्मक खोज की है, जिसमें उन्होंने महाभारत के सम्बन्ध में अनेक अनर्गल ऊहायें प्रस्तुत की हैं। डा० सुकथनकर ने अपने गम्भीर ग्रन्थ[२१] में पश्चिमी विद्वानों की ऐतिहासिक खोजों की कड़ी आलोचना की है तथा उनके विचारों को काल्पनिक बताया है।[२२] ऐतिहासिक अध्ययन का महत्त्व मानते हुए भी डा० सुकथनकर महाभारत के

१७—महाभारत आदि पर्व–अध्याय १, श्लोक ६२

१८—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत–पृष्ठ ५६।

१९—वही ,, ,, पृष्ठ ४।

२०—वही ,, ,, पृष्ठ ६८।

२१—मीनिंग आव दी महाभारत।

२२—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत–पृष्ठ ६७

विशालता के सम्वन्ध में यह प्रसिद्ध है कि जो महाभारत में नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है।[१२] स्वयं महाभारत में ही उसकी व्यापकता का निर्देश किया गया है कि जो यहाँ है वही अन्यत्र मिलेगा, जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा।[१३]

महाभारत के विषयों की यह व्यापकता उसके आकार की विशालता को सार्थक बनाती है। भारतीय जनता के लिए जो भी ज्ञान, शिक्षा आदि अपेक्षित है, वह सब महाभारत में मिल जाती है। महाभारत की विशाल कथा की घटनायें और अन्य उपाख्यान भी अनेक शिक्षाओं के स्रोत हैं। विद्वानों के लिए जो वेद का स्थान है, वही साधारण जनों के लिए महाभारत का महत्त्व है।[१४] वेद विद्वानों के लिए ज्ञान का भाण्डार है, उसी प्रकार महाभारत साधारण जनता के लिए ज्ञान का भाण्डार है। महाभारत के इस महासागर में कथा, शिक्षा, धर्म आदि की नदियाँ मिल गई हैं। इसी एक ग्रन्थ में साधारण जनों को सब कुछ मिल जाता है, इसीलिए महाभारत जनता में बहुत लोकप्रिय रहा है। वीर-काव्य होने के कारण यह जनता को प्रेरणा देता है। अर्वाचीन युग में जो स्थान आल्ह खण्ड का है, वही स्थान प्राचीन परम्परा में महाभारत का है। आल्ह खण्ड एक प्रकार से हिन्दी का अर्वाचीन महाभारत है। महाभारत की घटनाओं की नाटकीयता तथा गम्भीर यथार्थता और संवाद की शैली उसे अधिक रुचिकर बना देती है। धर्म, शिक्षा आदि की दृष्टि से विषयों की उपयोगिता इस रुचि का पोषण करती है। इसी लोकप्रियता के कारण प्राचीन काल से ही महाभारत की कथा जन समूहों में गाई जाती रही है।[१५] स्वयं महाभारत की रचना ही इसी गायन के रूप में हुई है। शौनक के द्वादशवर्षीय सत्र में महाभारत के गायन में इस परम्परा का प्रमाण मिलता है। महाभारत के विषयों की व्यापकता और जनता में उसके आदर एवं उपयोग के कारण उसे पंचम वेद मानना नितान्त उचित है।[१६]

१२—यन्नभारते तन्नभारते।

१३—महाभारत—आदि पर्व अध्याय ६२—श्लोक २६।

१४—कृष्ण चैतन्य : ए न्यूहिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृ० ३२१।

१५—मैकडौनल : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृष्ठ २६०।

१६—वरदाचारी : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृष्ठ ४६।

स्वयं व्यास ने महाभारत के विषयों में वेद रहस्य का प्रथम उल्लेख किया है।[१७] धर्मोपदेश, विषयों की व्यापकता, जीवन के ज्ञान आदि की दृष्टि से महाभारत वेद के समान है। प्राचीनता, पवित्रता और लोकप्रियता उसे जनता का वेद बना देती है।

महाभारत अपने आकार की विशालता के कारण ही संसार का महान ग्रन्थ नहीं है और न वह केवल अपने विषयों की व्यापकता के कारण भारतीय जनता का वेद बन गया है, वरन् वह मनुष्य-जीवन के गम्भीर तत्वों से परिपूर्ण होने के कारण भारतीय साहित्य की एक गौरवपूर्ण निधि बन गया है। आकार में महाभारत इलियड आदि यूरोपीय महाकाव्यों से बहुत अधिक बड़ा है। सर चार्ल्स इलियट ने उसे इलियड की तुलना में तत्व की दृष्टि से भी महान माना है।[१८] प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् श्री रमेशचन्द्रदत्त ने, जिन्होंने महाभारत का अंग्रेजी में संक्षिप्त पद्यानुवाद प्रस्तुत किया है, महाभारत को एशिया की प्रतिभा का सबसे महान् ग्रन्थ माना है।[१९] महाभारत के महान विद्वान् डा० सुकथनकर के अनुसार महाभारत भारतीय साहित्य का एक अत्यन्त मूल्यवान् ग्रन्थ है, जिसे भारतीय परम्परा ने अपार श्रम के द्वारा लगभग २००० वर्षों से सुरक्षित रक्खा है।[२०] पश्चिमी विद्वानों ने महाभारत के प्रबन्ध और इतिहास के सम्बन्ध में कुछ आलोचनात्मक खोज की है, जिसमें उन्होंने महाभारत के सम्बन्ध में अनेक अनर्गल ऊहायें प्रस्तुत की हैं। डा० सुकथनकर ने अपने गम्भीर ग्रन्थ[२१] में पश्चिमी विद्वानों की ऐतिहासिक खोजों की कड़ी आलोचना की है तथा उनके विचारों को काल्पनिक बताया है।[२२] ऐतिहासिक अध्ययन का महत्त्व मानते हुए भी डा० सुकथनकर महाभारत के

१७—महाभारत आदि पर्व—अध्याय १, श्लोक ६२

१८—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ५६।

१९—वही ,, ,, पृष्ठ ४।

२०—वही ,, ,, पृष्ठ ६८।

२१—मीनिंग आव दी महाभारत।

२२—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ६७

महत्त्व को सार्वभौम और सार्वकालिक मानते हैं।[२३] उनके अनुसार महाभारत एक अकाल और अमर काव्य है। वह साहित्य की उस दिव्य प्रेरणा से प्रसूत एक महान काव्य है, जिसमें कोई भी मानवीय प्रयास उसके साथ स्पर्धा नहीं कर सकता।[२४] डा० सुकथनकर के मत में ऐतिहासिक खोज महाभारत के आन्तरिक तत्व एवं महत्त्व को भूल कर उसके बाहरी पक्षों में भटकती रही है।[२५] डा० सुकथनकर के अनुसार महाभारत भारतीय परम्परा के सर्वोत्तम आदर्शों का रत्नाकर है।[२६] उनके मत में ऐतिहासिक खोजों की मरीचिकाओं को छोड़कर स्वयं महाभारत के युगों से सुरक्षित और युगों से प्रसिद्ध रूप के आधार पर महाभारत के तत्व और महत्त्व का अनुसंधान करना अधिक उचित है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में डा० सुकथनकर के इसी निर्देश के अनुसार महाभारत के मूल पाठ के आधार पर महाभारत में प्राप्त धर्म-सम्बन्धी तत्वों का विवरण प्रस्तुत किया है।

२—महाभारत की श्रेष्ठता और उसका माहात्म्य—

महाभारत की विशालता, व्यापकता और ज्ञानपूर्णता के कारण उसकी महिमा भारतीय समाज में चिरकाल से प्रतिष्ठित है। विद्वानों और साधारण जनों में महाभारत अखिल ज्ञान का भाण्डार माना जाता है। महाभारत का गायन और श्रवण महान् पुण्य का कारक समझा जाता है। इसीलिए प्राचीनकाल से महाभारत की कथा की परम्परा चली आती है।

महाभारत की इस महिमा के अनेक प्रमाण स्वयं महाभारत में ही मिलते हैं। महाभारत के आरम्भ में ऋषियों ने महाभारत को आख्यानों में सर्वश्रेष्ठ तथा वेदार्थ से भूषित और पवित्र बताया है।[२७] शौनक मुनि के यज्ञ में महाभारत का गायन करने वाले सौति ने महाभारत को सब प्रकार

२३—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत-पृष्ठ ६०
२४—वही „ „ पृष्ठ ३२
२५—वही „ „ पृष्ठ १८, १२४
२६—वही „ „ पृष्ठ ३०
२७—महाभारत-आदिपर्व-अध्याय १—श्लो० १८

के उत्तम ज्ञान से पूर्ण श्रेष्ठ इतिहास बताया है।[२८] महाभारत के आरम्भ में सौति ने कहा है कि यह महाभारत तीनों लोकों में एक महान् ज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित है।[२९] उन्हीं के शब्दों में महाभारत सूर्य, चन्द्रमा और दीपक के समान प्रकाशमान है। अज्ञान के तिमिर से अन्धे लोगों के लिए यह ज्ञानांजन की शलाका के समान आँख खोलने वाला है।[३०] यह महाभारत सूर्य के समान अन्धकार को नष्ट करने वाला है।[३१] यह महाभारत पूर्ण चन्द्रमा के समान है, जिससे श्रुतियों की चाँदनी छिटकती है और मनुष्यों की बुद्धि रूपी कुमुदनी विकसित हो जाती है।[३२] यह महाभारत एक जलते हुए दीपक के समान है, यह मोह का अन्धकार मिटाकर लोगों के अन्तःकरण को भली-भाँति ज्ञानालोक से प्रकाशित करता है।[३३]

महाभारत की इस महिमा का रहस्य उसकी शैली और उसके विषय में निहित है। शैली की दृष्टि से महाभारत एक सुन्दर काव्य है। महाभारत के आरम्भ में सौति ने इसे काव्य की संज्ञा दी है।[३४] आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में काव्यों में इसकी गणना की है।[३५] पश्चिमी इतिहासकारों ने भी यह स्वीकार किया है कि महाभारत के महासागर में अनेक सुन्दर काव्य-रत्न मिलते हैं।[३६] महाभारत में इस काव्य को सुन्दर और मंगलमय शब्दों से अलंकृत तथा विविध प्रकार के छन्दों से युक्त बताया है। इसकी उपमा एक वृक्ष से दी गई है। वृक्ष के रूपक का निर्वाह बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है और महाभारत की विभिन्न घटनाओं को इसका बीज, मूल, स्कन्ध,

---

२८—महाभारत—आदिपर्व—अध्याय २, श्लो० ३९,४०
२९—वही आदिपर्व अध्याय १—श्लो० २७
३०—महाभारत " अध्याय १—८४
३१— " " अध्याय १—८५
३२— " " " १—८६
३३— " " " १—८७
३४— " " " १—७२
३५—आनन्द वर्धन—ध्वन्यालोक
३६—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर भाग १—पृ० ३२६

है।[४७] इसमें सम्पूर्ण धर्म और अर्थ का उपदेश है।[४८] यह एक पवित्र धर्म-शास्त्र, एक उत्तम अर्थशास्त्र और एक श्रेष्ठ मोक्ष-शास्त्र है।[४९] धर्म, अर्थ और मोक्ष का परिपूर्ण विवरण होने के कारण महाभारत सम्पूर्ण वेद और शास्त्रों के बराबर है। स्वयं व्यासजी के शब्दों में एक ओर अठारहपुराण, सम्पूर्ण धर्मशास्त्र और चारों वेद हैं तथा दूसरी ओर अकेला महाभारत है; यह अकेला ही उन सबके बराबर है।[५०] धर्म के साथ महाभारत में अध्यात्म का भी वर्णन है।[५१] ऐसे उत्तम विषयों से युक्त महाभारत पवित्र और शीलवर्धन है।[५२] सौति के शब्दों में जिस प्रकार दही में नवनीत, मनुष्यों में ब्राह्मण, वेदों में उपनिषद्, औषधियों में अमृत, सरोवरों में समुद्र और चतुष्पदों में गाय सबसे श्रेष्ठ है, उसी प्रकार इतिहासों में महाभारत सबसे श्रेष्ठ है।[५३] महाभारत की इसी महिमा के कारण यह कहा गया है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में जो महाभारत में नहीं है; वह अन्यत्र कहीं नहीं है[५४] अर्थात् महाभारत सम्पूर्ण ज्ञान का निधान है, उसको पंचमवेद का पद उचित ही दिया गया है।

महाभारत वेदों के समान महत्त्वपूर्ण और पवित्र ग्रन्थ है। उसके श्रवण और गायन से अनेक प्रकार के पाप नष्ट होते हैं तथा उत्तम फलों की प्राप्ति होती है। महाभारत में उसके श्रवण और गायन के फल की महिमा अनेक स्थानों पर बताई गई है। महाभारत के आरम्भ में सौति ने कहा है कि महाभारत का अध्ययन पुण्यकारक है। श्रद्धापूर्वक इसका अध्ययन करने वालों के सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं।[५५] महाभारत में कुरुओं का प्रथित चरित्र और

४७—महाभारत—आदिपर्व—अध्याय ६२–१६
४८— " " " ६२–१७
४९— " " " ६२–२३
५०—महाभारत-स्वर्गारोहणपर्व—अध्याय ५–४०
५१—महाभारत—आदिपर्व—अध्याय १–२५६
५२— " आदिपर्व—अध्याय ६२–४६
५३— " आदिपर्व—अध्याय १–२६५; २६६
५४— " आदिपर्व—अध्याय १–२७
५५—महाभारत—आदिपर्व—अध्याय ६२–५३

श्री कृष्ण का पवित्र चरित्र वर्णित है।[५७] धर्मबुद्धि वालों को इसका श्रवण करना चाहिए।[५८] जो धर्मपरायण पुरुष श्रद्धा के सहित प्रतिदिन इसके प्रथम अध्याय का भी पाठ करता है, वह पाप से मुक्त हो जाता है।[५९] जो इस प्रथम अध्याय का श्रवण करता है, वह संकटकाल में भी दुःख से अभिभूत नहीं होता।[६०] पाप नाश के अतिरिक्त महाभारत के अध्ययन और श्रवण से अन्य फलों की प्राप्ति होती है। महाभारत पाण्डवों की विजय का काव्य है, इसीलिए उसका नाम 'जय काव्य' है। विजय की कामना करने वाले राजाओं को इसका श्रवण करना चाहिए।[६१] महाभारत का श्रवण करने वाला श्रद्धाशील मनुष्य राजसूय और अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त करता है।[६२] धर्म की इच्छा रखने वाले मनुष्य को सम्पूर्ण महाभारत का श्रवण करना चाहिये, ऐसा करने से उसे सिद्धि की प्राप्ति होती है।[६३] महाभारत का श्रवण करने वाला राजा पृथिवी पर विजय प्राप्त करता है और शत्रुओं को पराजित करता है।[६४] युवराज और युवरानी को यह बार-बार सुनना चाहिए, इससे वीर-पुत्र अथवा राज्यभागिनी कन्या का जन्म होता है।[६५] इसका पाठ और श्रवण करने वालों को सेवा-परायण पुत्र और प्रियकारक सेवक प्राप्त होते हैं।[६६] महाभारत का श्रवण करने वाले धन, यश, आयु, पुण्य और स्वर्ग को प्राप्त करते हैं।[६७] उनको विपुल वंश की प्राप्ति होती है

५७—महाभारत आदिपर्व— अध्याय ६२।श्लो० ३०-३३
५८— " " " ६२।श्लो० ३५
५९— " " अध्याय १।श्लो० २६१
६०— " " " श्लो० २६२
६१— " उद्योगपर्व— अध्या० १३६।श्लो० १८
६२— " आदिपर्व— अध्याय ६२ श्लो० ४७
६३— " " " ६२ श्लो० ४५
६४— " " " " श्लो० २१
६५— " " " "श्लो० २२
६६— " " " " श्लो० २४
६७— " " " " श्लो० २७

और वे लोक में मान को प्राप्त करते हैं।[६८] जो श्रद्धापूर्वक महाभारत का श्रवण करता है, वह दीर्घ आयु, कीर्ति और स्वर्ग को प्राप्त करता है।[६९] धर्मशास्त्र होने के साथ-साथ महाभारत अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र भी है।[७०] मोक्षकामी के द्वारा यह श्रवण करने योग्य है।[७१] भक्तिपूर्वक जय नामक महाभारत का श्रवण करने वाले को श्री, कीर्ति और विद्या प्राप्त होती है।[७२]

महाभारत का श्रवण करना और श्रवण कराना दोनों ही पुण्यकारक हैं। जो विद्वान् पर्वों के अवसर पर महाभारत का श्रवण कराता है, वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है और स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है तथा ब्रह्म-भाव की प्राप्ति के योग्य बन जाता है।[७३] जो विद्वान् पाण्डवों के इस प्रथित इतिहास को सुनाता है, उसे शाश्वत धर्म की प्राप्ति होती है।[७४] जो सत्यवादी, दानशील, उदार और आस्तिक लोगों को महाभारत का श्रवण कराता है, उसे अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है।[७५] श्राद्ध के समय जो महाभारत सुनाता है, उसका श्राद्ध अक्षय होकर पितरों को प्राप्त होता है।[७६] श्राद्ध में भोजन करने वाले ब्राह्मणों को महाभारत सुनाने से पितरों को अक्षय अन्न-जल की प्राप्ति होती है।[७७] महाभारत का श्रवण कराने वाले पुण्यात्मा मनुष्य को राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है।[७८] जो ब्राह्मण इसका श्रवण कराते हैं तथा जो मनुष्य इसका श्रवण करते हैं, उनके कर्माकर्म

६८—महाभारत-आदिपर्व अध्या० ६२ श्लो० ३१
६९—महाभारत आदिपर्व १—अध्याय १।श्लो० २७१
७०— " " १ " ६२—२३
७१— " स्वर्गारोहणपर्व १८—अध्याय ५—५१
७२— " " १८—अध्याय ५—४९
७३— " " १८—अध्या० ५—४०
७४— " आदिपर्व १—अध्याय ६२—३०
७५— " " १—अध्याय ६२—१८
७६— " " १—अ० ६२—३७
७७— " " १—अ० १—२६७
७८— " " १—अ० ६२—४७

अशोच्य हो जाते हैं।[७९] महाभारत के सुनने और सुनाने से तो पुण्य होता ही है, जो वाचक के लिए महाभारत के ग्रन्थ का दान करता है, उसे सम्पूर्ण पृथिवी के दान का फल मिलता है।[८०]

३—महाभारत का ऐतिहासिक महत्त्व—

भारतीय परम्परा में महाभारत को एक इतिहास माना जाता है। शैली की दृष्टि से वह काव्य है, किन्तु विषय-वस्तु और घटनाओं की दृष्टि से वह एक इतिहास है। प्राचीन भारत की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना का बहुत कुछ यथार्थ वर्णन इसमें मिलता है। पश्चिमी विद्वान् प्राचीन भारत-वासियों के ऐतिहासिक बोध पर आक्षेप करते हैं। पार्जीटर का मत है कि प्राचीन भारतीयों ने कोई ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं लिखे।[८१] मैकडौनल ने कहा है कि इतिहास भारतीय साहित्य की एक कमजोरी है। ऐतिहासिक बोध का अभाव एक ऐसी विशेषता है, जिसके कारण संस्कृत साहित्य के इतिहास में ठीक कालक्रम नहीं मिलता।[८२] पश्चिमी विद्वानों की मुख्य आपत्ति इतिहास के कालक्रम को लेकर है। कालक्रम और घटनायें ये इतिहास के दो मुख्य तत्त्व हैं। प्राचीन भारत के इतिहास में कालक्रम के सम्बन्ध में कुछ कठिनाई अवश्य है, इसका एक कारण तो भारतीय इतिहास और साहित्य की प्राचीनता है। विक्रम् सम्वत् से पूर्व का कोई संवत् भी संसार में नहीं मिलता। दूसरे कालक्रम की अपेक्षा प्राचीन भारतीयों का ध्यान घटनाओं तथा उनसे लक्षित होने वाले जीवन के सत्यों की ओर अधिक रहा। घटनाओं में कुछ कल्पना की अतिरंजना तथा कुछ अलौकिकता का पुट अवश्य है, फिर भी प्राचीन इतिहास में विशेषतः महाभारत में प्राचीन घटनाओं का बहुत कुछ यथार्थ रूप मिलता है। घटनाओं के इस रूप को इतिहास ही कहा जायेगा। इसी आधार पर महाभारत को इतिहास मानना उचित है।

७९—महाभारत आदिपर्व १—अ० ६२–४४
८०— " " १—अध्या० ६२–५०
८१—एन्शियन्ट इण्डियन हिस्टौरीकल ट्रेडीशन-पृष्ठ—२
८२ —मैकडोनल : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर–पृष्ठ—१०

इस रूप में इतिहास का उल्लेख वैदिक काल से ही मिलता है।[८३] ऐसे इतिहासों में महाभारत अत्यन्त विशाल और प्रमुख है। स्वयं महाभारत में अनेक स्थानों पर महाभारत को इतिहास कहा गया है।[८४] महाभारत के युद्ध की घटना और महाभारत के ग्रन्थ की रचना के तिथि-काल का निर्णय चाहे कितना ही कठिन अथवा अनिश्चयपूर्ण हो, किन्तु प्राचीन तथ्यों और घटनाओं की दृष्टि से महाभारत की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। प्राचीन भारतीय इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना इसका आधार है। यह घटना अपने आप में महान् और विशाल है। एक प्राचीन और महान् राजवंश की उत्पत्ति से लेकर उसके संघर्ष और विनाश तक की महान् और विशाल कथा महाभारत में वर्णित है। इस कथा की घटनायें बड़ी गम्भीर कठोर तथा दारुण एवं भयंकर हैं, यह भी इन घटनाओं की ऐतिहासिकता का प्रमाण है। महाभारत में इन प्राचीन घटनाओं का वर्णन बड़ी यथार्थता के साथ किया गया है। वरदाचारी ने महाभारत की इस यथार्थता की सराहना की है।[८५] नियोग के द्वारा धृतराष्ट्र-पाण्डु आदि की उत्पत्ति, द्यूत-क्रीड़ा, अज्ञातवास, युद्ध की कूटनीति आदि अनेक प्रसंगों में महाभारत की कठोर यथार्थता के दर्शन होते हैं। एक महान् कृति, एक महान् घटना, घटनाओं की यथार्थता, लोक-परम्परा में मान्यता आदि कई अर्थों में महाभारत का ऐतिहासिक महत्त्व है। काल निर्णय सम्बन्धी कठिनाई से महाभारत का यह ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं होता।

८३—नलिनविलोचन शर्मा : साहित्य का इतिहास दर्शन—पृष्ठ-२

८४—जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा ॥

महाभारत-आदिपर्व १—अध्याय ६२,श्लोक० २०

इतिहासमिमं चक्रे पुण्यं सत्यवती सुतः

आदिपर्व १—अध्याय १, श्लो० ५४

इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना।

आदिपर्व १—अध्याय १ श्लो० ८६

८५—वरदाचारी : हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृ० ५३

महाभारत की घटना और महाभारत का ग्रन्थ दोनों ही महान् हैं। इसीलिए महाभारत शब्द का प्रयोग दोनों के अर्थ में होता है। महान् होने के कारण ही इनको 'महान्' का विशेषण मिला है। महत्ता के अर्थ में महाभारत महान् युद्ध और महान् ग्रन्थ के सामान्य अर्थ का वाचक बन गया है। पिछले यूरोपीय युद्ध को यूरोपीय-महाभारत कहा जाता है। व्यंग्य प्रयोग में आपस की लड़ाई को भी हम महाभारत कह देते हैं। किसी विशाल और महान् कृति को भी व्यंग्य से महाभारत कहा जाता है। इस प्रकार 'महाभारत' शब्द युद्ध और रचना दोनों के सामान्य भाव का व्यंजक बन गया है। वस्तुतः महाभारत का युद्ध प्राचीन भारत की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस महायुद्ध में प्राचीन भारत के एक महान् राजवंश का सर्वनाश हो गया। इस युद्ध के उपसंहार में श्रीकृष्ण का यादव कुल भी गृहयुद्ध में नष्ट हो गया। इसके अतिरिक्त राज्य के लिए होने वाले संघर्ष के प्रसंग में द्यूत-क्रीड़ा, लाक्षा-गृह, अज्ञातवास आदि की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनायें महाभारत में वर्णित हैं। द्रौपदी-स्वयंवर, वक-संहार आदि की घटनायें मुख्य घटनाओं के महत्त्व को बढ़ाती हैं। इस प्रकार प्राचीन भारत की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना के अर्थ में महाभारत को एक विशेष अर्थ में ऐतिहासिक कहा जा सकता है, जिस अर्थ में कि अतीत की अधिक महत्त्वपूर्ण घटनाओं को ऐतिहासिक कहा जाता है। यह ऐतिहासिक घटनायें ऐसी होती हैं, जो भविष्य के इतिहास को मोड़ देती हैं, महाभारत की घटना भी एक ऐसी ही घटना है। इस घटना ने भारतवर्ष के इतिहास को असाधारण रूप से प्रभावित किया है। महाभारत की इस महान् घटना के पात्र भी अपने महान् व्यक्तित्व, बल, कृतित्व आदि के कारण भारतीय इतिहास में अमर हो गये हैं, आबालवृद्ध भारतीय जनता उनके गीत गाती है। महाभारत का यह इतिहास चिरकाल से भारत में विख्यात है।

महाभारत की घटना के समान महाभारत का ग्रन्थ भी महान् है। वह महाभारत के कथा-प्रसंग के समान ही विशाल और महत्त्वपूर्ण है। विशालता और महत्त्वपूर्णता दोनों के ही अर्थ में महान् है।[८६] यदि ऐतिहा-

---

८६—महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते।
आदिपर्व—१—अध्याय १—श्लो० २७३½

सिक का अर्थ महत्त्वपूर्ण मानें, तो प्राचीन भारत की एक महान् और महत्त्वपूर्ण घटना का विशाल और महत्त्वपूर्ण वृत्त होने के नाते महाभारत का ग्रन्थ भी ऐतिहासिक है। इस महान् घटना के यथार्थ विवरण के अर्थ में भी यह ऐतिहासिक है। कुछ कल्पना का पुट होते हुए भी महाभारत में घटनाओं का वर्णन मुख्यतः यथार्थ रूप में ही मिलता है। इस दृष्टि से काव्य होते हुए भी महाभारत एक इतिहास है और उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। हमें उससे तत्कालीन भारतवर्ष के इतिहास और वृत्त के सम्बन्ध में अनेक बातें विदित होती हैं। इतिहास का यही महत्त्व है और महाभारत में यह महत्त्व अपने आकार के अनुपात में वर्तमान् है। भरतवंशी वीरों की मूल कथा के प्रसंग में भारतवर्ष के अनेक देशों के राजाओं का वर्णन महाभारत में किया गया है, इन राजाओं ने महाभारत के युद्ध में भाग लिया था। इन अनेक देशों और राजाओं के वर्णन से महाभारत एक प्रकार से प्राचीन भारत का इतिहास बन गया है तथा उसकी ऐतिहासिकता और उसका ऐतिहासिक महत्त्व अधिक बढ़ गया है। मूल कथा के अतिरिक्त मिलने वाली अन्य अनेक कथायें इसकी ऐतिहासिकता और इसके ऐतिहासिक महत्त्व को बढ़ाती हैं। मूल कथा के समान इनसे भी भारत की तत्कालीन स्थिति के सम्बन्ध में अनेक बातें विदित होती हैं। प्राचीन भारत के वृत्तों और उसकी स्थितियों का परिचय महाभारत की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक देन है।

वैज्ञानिक अर्थ में इतिहास को केवल प्राचीन घटनाओं का यथातथ्य वर्णन माना जाता है। किन्तु इतिहास की घटनाओं से मनुष्य को शिक्षा भी मिलती है। यह शिक्षा इतिहास के महत्त्व को बढ़ाती है। इस शिक्षा की दृष्टि से महाभारत का महत्त्व अन्य इतिहासों से भी अधिक है। महाभारत का गृहयुद्ध भावी भारत के लिए एक महान् संदेश है, वह राष्ट्रीय एकता का सबसे बड़ा प्रेरक बन सकता है। इसके अतिरिक्त द्यूत-क्रीड़ा, अज्ञातवास आदि अनेक घटनाओं से बड़ी शिक्षा मिलती है। महाभारत के पात्रों की नीतियाँ और उनके वचन भी जीवन के गम्भीर रहस्यों पर प्रकाश डालते हैं। महाभारत की घटनाओं के समान महाभारत की शिक्षायें भी गम्भीर हैं। ये शिक्षायें महाभारत के ऐतिहासिक महत्त्व को बढ़ाती हैं। घटनाओं की गम्भीरता और उनके महत्त्व के कारण ही महाभारत भारतीय लोक-परम्परा का एक अभिन्न अंग बन गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से महाभारत के इतिहास में काल आदि सम्बन्धी कठिनाइयाँ भले ही हों, किन्तु घटनाओं की गम्भीरता

तथा शिक्षा के महत्त्व और परम्परा का अंग बन जाने की दृष्टि से यह अन्य वैज्ञानिक इतिहासों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। स्वयं महाभारत में इसे इतिहासों में उत्तम माना गया है।[८७] महाभारत की अपने सम्बन्ध में यह धारणा उचित और आदरणीय है। उक्त अनेक दृष्टियों से महाभारत का ऐतिहासिक महत्त्व गौरवपूर्ण है।

४—महाभारत का साहित्यिक महत्त्व—

इतिहास के साथ-साथ महाभारत को एक काव्य भी माना जाता है। काव्य होने के नाते महाभारत का साहित्यिक महत्त्व भी विचारणीय है। ग्रन्थ के आरम्भ में वेदव्यास ने इसे काव्य ही बताया है।[८८] आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में भी महाभारत को काव्य के अन्तर्गत माना है।[८९] श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने कहा है कि— "महाभारत न केवल इतिहास और धर्म का ही ग्रन्थ है, किन्तु वह एक उत्ताम महाकाव्य भी है।[९०] महाभारत के अधिकारी विद्वान् डा० सुकथनकर ने उसके साहित्यिक सौन्दर्य की वहुत सराहना की है और अपने महाभारत सम्बन्धी ग्रन्थ में उसके काव्य-सौन्दर्य, चरित्र-चित्रण आदि के मर्मस्पर्शी उदाहरण दिये हैं।[९१] शैली की दृष्टि से यह स्पष्ट रूप से एक काव्य है। जिस अनुष्टुप के सुन्दर छन्द में वाल्मीकि रामायण की रचना हुई है, उसी अनुष्टुप छन्द में महाभारत का विशाल काव्य भी

८७—इतिहासोत्तमे यस्मिन्नर्पिता बुद्धिरुत्तमा।
आदिपर्व-अध्याय-२—श्लो० ३९

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः।
आदिपर्व-अध्या० २—श्लो० २८४

८८—कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम्।
आदिपर्व-अध्या० १—श्लो० ६१

८९—आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक-प्रथम उद्योत,कारिका-१

९०—सी०वी० वैद्य : महाभारत मीमांसा—पृष्ठ-२६

९१—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव दी महाभारत—पृष्ठ-३४-३७

रचा गया है। यद्यपि महाभारत में काव्य का सौन्दर्य वाल्मीकि रामायण के समान नहीं है, फिर भी अनेक स्थलों में पर्याप्त काव्य-सौन्दर्य मिलता है। वनपर्व में हिमालय पर्वत पर गन्धमादन पर्वत के सुन्दर वर्णन मिलते हैं। युद्ध, शोक आदि के वर्णन बड़े सजीव और प्रभावशाली हैं। द्रौपदी–स्वयंवर, अज्ञातवास,स्वर्गारोहण आदि के स्थल बड़े मार्मिक हैं। इस विशाल काव्य में शब्दों और अलंकारों का सौन्दर्य भी यथेष्ट मात्रा में मिलता है। ग्रन्थ के उपक्रम में महाभारत को सौति ने सुन्दर शब्दों और विविध छन्दों से अलंकृत काव्य बताया है।[९२] वरदाचारी ने महाभारत की भाषा को सरल, गम्भीर और प्रभावशाली बताया है।[९३] डा० सुकथनकर ने महाभारत में प्रयुक्त संस्कृत भाषा और अनुष्टुप छन्द को महाकाव्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त बताया है। शब्दों की विविधता और छन्द की सरल गति उनकी दृष्टि में ऐसे विशाल महाकाव्य के सौन्दर्य के अनुरूप हैं।[९४] विन्तरनित्स ने भी अनुष्टुप छन्द को सर्वोत्तम छन्द माना है।[९५] सरल, गम्भीर और सजीव शैली में लिखित विशाल महाभारत विश्व का एक अद्भुत महाकाव्य है। एक महान् प्रबन्ध के आधार ने इसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली बना दिया है। सम्वाद की शैली के योग से यह अधिक सजीव और रोचक बन गया है। भरतवंशी वीरों के संघर्ष और युद्ध की कथा विशाल होने के साथ-साथ अत्यन्त रोमहर्षक है। महाभारत के पात्रों के अद्भुत चरित्र और महाभारत की मार्मिक घटनायें प्रभावशाली काव्य का उपकरण बन गई हैं। इस विशाल प्रबन्ध काव्य में कथा की विशालता के कारण एक दीर्घ प्रवाह है, जो एक महान् प्रबन्धकाव्य के अनुरूप है। बीच में आने वाले उपाख्यानों से तथा प्रासंगिक धर्मोपदेशों से कथा और काव्य के सौन्दर्य में कुछ शिथिलता अवश्य आ जाती है, किन्तु यह विक्षेप भी महाभारत के विशाल प्रवाह में भ्रमरों के समान हैं। डा० सुकथनकर ने महाभारत के प्रबन्ध और लक्ष्य की कलात्मक एकता का समर्थन किया है।[९६] सामान्य रूप से महाभारत का

९२—महाभारत—आदिपर्व-अध्याय-१,श्लो० २८

९३—वरदाचारी : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर–पृष्ठ ४९

९४—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ४२

९५—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर–भाग-१ पृ० ४६१

९६—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृ०—२०

विशाल प्रवन्ध-काव्य छन्द, अलंकार, भाषा, वर्णन, चरित्र-चित्रण, मार्मिक भाव आदि अनेक काव्य गुणों से परिपूर्ण है। आलंकारिक काव्यों की तुलना में सरल और गम्भीर शैली के इस महान् काव्य को एक निसर्ग काव्य कहा जा सकता है। यदि आलंकारिक काव्यों की उपमा हम एक सुरचित उद्यान से दें, तो महाभारत को निसर्ग काव्य का एक विशाल वन कहना होगा। विन्तरनित्स ने प्रवन्ध की अस्तव्यस्तता की दृष्टि से इसे काव्य का वन कहा है।[९७] किन्तु उनके इस व्यंग्यपूर्ण आक्षेप को हम एक दूसरे अर्थ में महाभारत के निसर्ग काव्य का निर्देश मान सकते हैं। महाभारत के इस विशाल काव्य-वन में कुछ गहन वीथियाँ भी हैं, जो इसे कान्तार के निकट ले आती हैं। ये गहन वीथियाँ महाभारत के वे आठ हजार आठ सौ (८८००) कूट श्लोक हैं, जिनके सम्वन्ध में व्यास जी ने यह कहा है कि इनका अर्थ केवल मैं समझता हूँ और शुकदेव समझते हैं तथा जिनको समझने के लिए बुद्धिनिधान गणेश को भी क्षण भर ठहरना पड़ता था।[९८] यदि सरलता और सौन्दर्य में महाभारत वाल्मीकि रामायण के समान है, तो उसके यह कूट अंश गम्भीरता में 'नैषध' और 'शिशुपालवध' के निकट हैं। कथा की विशालता और चरित्रों की अद्भुतता की दृष्टि से महाभारत का काव्य अतुलनीय है। ब्रह्माजी का यह वरदान सत्य ही है कि इससे वढ़कर काव्य कोई भी कवि न लिख सकेंगे।[९९]

पश्चिमी विद्वानों ने यह स्वीकार करते हुए भी कि महाभारत में अनेक सुन्दर काव्य-स्थल मिलते हैं, प्रवन्ध की अस्त-व्यस्तता का आक्षेप करते हुए महाभारत की एकसूत्रता और उसके प्रबन्ध सौन्दर्य को अस्वीकृत किया है।[१००] विन्तरनित्स ने इसे काव्य के वन की उपमा दी है और इसे एक अनगढ़ काव्य कहा है। उन्होंने इसे एक साहित्यिक दानव भी कहा है।[१०१]

९७—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—भाग १—पृष्ठ—३२६

९८—महाभारत—आदि पर्व—१—अध्याय—१, श्लो० ८१-८३
　　　,,　　,,　　,,　　१, श्लो० ७३

९९—वही　　,,　　,, अध्याय २, श्लो० ३९०

१००—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर-भाग—१, पृष्ठ ३२६

१०१—वही　　,,　　,,　　पृ० ३२६

पश्चिमी विद्वानों के ये आक्षेप महाभारत की कथा और सामग्री की विशालता और विविधता तथा विचार तत्वों की बहुरूपता पर आश्रित हैं। वे इसमें प्राचीन कीर्ति-काव्य, ब्राह्मण-धर्म तथा परम्परागत उपाख्यानों का असंगत मिश्रण देखते हैं।[१०२] ये आक्षेप बौद्धिकता के आग्रह हैं। विशालता के कारण ये विद्वान् महाभारत को एक व्यक्ति की रचना नहीं मानते। किन्तु जैसी विविधता और असंगति ये महाभारत में देखते हैं, वैसी एक कवि की कृति में भी मिल सकती है। सभी काव्य-कृतियाँ आलोचकों की बुद्धि के अनुरूप संगत नहीं हो सकतीं। कवि-कल्पना को बुद्धि के अनुसार परखना उचित नहीं है। विषयों और कथाओं की विविधता महाभारत के विशाल काव्य के वन्य सौन्दर्य के अनुरूप है। कथा-प्रबन्ध की कुछ असंगतियाँ इतने विशाल काव्य में वही स्थान रखती हैं, जो चन्द्रमा में उसके लांछन का है। व्यापक दृष्टि से महाभारत का साहित्यिक-सौन्दर्य असंदिग्ध है।

कथा-प्रबन्ध, चरित्र-चित्रण, भावगरिमा, छन्द-अलंकार आदि अनेक काव्य गुणों से परिपूर्ण इस अद्‌भुत महाकाव्य का मौलिक साहित्यिक महत्त्व अतुलनीय है। एक महान् काव्य की दृष्टि से यह अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किन्तु इसके साथ-साथ अपने विषय और प्रबन्ध की विशालता के द्वारा महाभारत अनेक उत्तरकालीन काव्यों का आधार और स्रोत बन गया है। यह महाभारत के साहित्यिक महत्त्व का दूसरा पक्ष है। इस दृष्टि से महाभारत हिमालय के समान है। साहित्य के इस हिमालय से अनेक काव्यधारायें प्रवाहित हुई हैं। स्वयं महाभारत में ही यह भविष्यवाणी की गई है कि महाभारत काव्य सभी मुख्य कवियों का उपजीव्य होगा।[१०३] सौति ने महाभारत को काव्यों का स्वामी बताया है; जिस प्रकार उन्नति के अभिलाषी सेवक अभिजात स्वामी की सेवा करते हैं, उसी प्रकार संसार के श्रेष्ठ कवि महाभारत की सेवा करके काव्य की रचना करते हैं।[१०४] जिस प्रकार सेवक का वैभव स्वामी का अनुदान है, उसी प्रकार इन कवियों का काव्य-वैभव भी महाभारत का

१०२—मैकडोनल : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृ० २८५
विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—
भाग १, पृ० ३१६-४५८

१०३—महाभारत आदि पर्व—१—अध्याय १, श्लो० ८२

१०४— ,, आदि पर्व—१—अध्याय २, श्लो० ३८,३८९

अनुदान है। इस उत्तम काव्य से कवियों की बुद्धि इसी प्रकार प्रेरित होती है, जिस प्रकार पाँच भूतों से सृष्टि प्रकट होती है।[१०५] संस्कृत साहित्य के अनेक कवियों ने महाभारत से प्रेरित होकर तथा महाभारत के आख्यानों का आश्रय ग्रहण करके काव्यों और नाटकों की रचना की है। संस्कृत-साहित्य के विद्वान् इतिहासकार वरदाचारी ने अपने संस्कृत साहित्य के परिशिष्ट में ऐसे लगभग चालीस ग्रन्थों की सूची दी है, जिनके प्रबन्ध का स्रोत महाभारत में हैं।[१०६]

५—महाभारत का धार्मिक महत्त्व

एक प्राचीन इतिहास और एक विशाल महाकाव्य होने के साथ-साथ महाभारत एक धर्मशास्त्र भी है। भारतीय परम्परा में धर्म का अर्थ पश्चिमी परम्परा के समान किसी विशेष साम्प्रदायिक आग्रह के अर्थ में रूढ़ नहीं है। धर्म की भारतीय परिभाषा के लिए ईश्वर के किसी विशेष रूप, किसी विशेष पैगेम्बर, धर्म-ग्रन्थ आदि की मान्यता आवश्यक नहीं है। धर्म का यह भारतीय रूप अत्यन्त उदार और मानवीय है। इसमें एक उदार और मानवीय रूप में ईश्वर तथा देवता की उपासना भी सम्मिलित है। किन्तु मनुष्यता, स्वतन्त्रता, समानता आदि इस उपासना के आवश्यक अंग हैं। एक उदार मानवीय आचार इस धर्म का मुख्य तत्व है; इसलिए यही आचार अथवा कर्त्तव्य धर्मशास्त्रों का मुख्य विषय बन गया है। धर्मशास्त्रों में धर्म के इसी रूप का विवरण अधिक मिलता है। इसी अर्थ में महाभारत को भी धर्मशास्त्र माना जाता है। भारतीय धारणा के अनुसार जो बातें धर्म के अन्तर्गत मानी जाती हैं, उनका महाभारत में अनेक स्थानों पर विस्तृत वर्णन मिलता है। इसी कारण महाभारत को इतिहास एवं काव्य होने के साथ-साथ धर्मशास्त्र भी माना गया है। यह कहना अनुचित न होगा कि महाभारत में इतिहास की अपेक्षा काव्य अधिक है और काव्य की अपेक्षा धर्म का तत्त्व अधिक है। इसलिए आगे चलकर इसकी प्रतिष्ठा धर्मशास्त्र के ही रूप में अधिक हुई है।

१०५—महाभारत आदि पर्व　　अध्याय २, श्लो० ३८५

१०६—वरदाचारी : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृ० २६५
　　देखिए—परिशिष्ट—क

स्वयं महाभारत में ही महाभारत को इतिहास-काव्य कहने के साथ-साथ अनेक स्थानों पर धर्मशास्त्र ही अधिक कहा गया है। आदि पर्व में महाभारत को एक महान् धर्मशास्त्र कहा गया है।[१०७] पश्चिमी विद्वानों का मत है कि अपने मूल रूप में महाभारत एक कीर्ति-काव्य था, कालान्तर में ब्राह्मणों ने धार्मिक तत्वों का समावेश करके इसे धर्मशास्त्र बना दिया।[१०८] किन्तु वे यह स्वीकार करते हैं कि ईसवी सन् के आरम्भ में महाभारत का यह धार्मिक रूप स्थिर हो चुका था। डायोक्रिस्टोम नामक ग्रीक यात्री का प्रमाण इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण है। उसके समय में एक लाख श्लोकों का महाभारत धुर दक्षिण तक प्रचलित था। प्राचीनकाल से ही भारतीय जनता इसे धर्मशास्त्र के रूप में मानती रही है।[१०९] ईसा की पांचवी शताब्दी के दानपत्रों में धर्मशास्त्र के रूप में महाभारत का उल्लेख बड़े आदर के साथ मिलता है।[११०] सातवीं शताब्दी में कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य ने धर्मशास्त्र अथवा स्मृति के रूप में महाभारत को प्रमाण माना है।[१११] बाण भट्ट ने मन्दिरों में होने वाली महाभारत की कथा का उल्लेख किया है। मन्दिरों में पाठ के लिए महाभारत की प्रतियाँ दान की जाती थीं।[११२] इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि इतिहास और काव्य होते हुए भी अन्ततः धर्मशास्त्र के रूप में महाभारत की अधिक प्रतिष्ठा हुई। महाभारत के प्रसिद्ध विद्वान् श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य का मत है कि "महाभारत को धर्म-ग्रन्थ का पूरा स्वरूप प्राप्त हो गया है और उसके बाद बने हुये सब ग्रन्थ उसके वचनों को स्मृति के समान प्रमाण मानते हैं।" [११३] वरदाचारी के मत में भी महाभारत इतिहास और काव्यहोने के साथ-साथ एक धर्मशास्त्र भी है।[११४] डा० सुकथनकर महाभारत के धार्मिक तत्वों को प्राचीन तथा इस महान् ग्रन्थ का अन्तरंग तत्व मानते

१०७—महाभारत–आदिपर्व—१ अध्याय–२, श्लो० ३८३
१०८—विन्तरनित्सः ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर–भाग–१, पृ० ३१६
१०९—वही ,, ,, ,, पृ० ३२१
११०—मैकडौनल : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर पृ० २८६
१११—वही ,, ,, पृ० २६१
११२—मैकडौनल : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर–पृ० २६०
११३—सी० वी० वैद्य : महाभारत मीमांसा—पृष्ठ १८
११४—वरदाचारी : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृष्ठ ५४-५५

हैं।[११५] उनका विश्वास है कि इन तत्वों के निकाल देने पर महाभारत प्राणद अंगों से रहित शरीर के समान रह जायेगा।[११६] उनके मत में महाभारत के धार्मिक तत्वों को प्रक्षिप्त मानने वाले पश्चिमी विद्वानों की महाभारत के मूल काव्य की खोज मृगमरीचिका होने के साथ-साथ अनुचित भी है।[११७] उन्होंने महाभारत को मुख्यतः एक धर्म-ग्रन्थ मानकर उसके धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक तत्वों की गम्भीर व्याख्या की है। उनके अनुसार धर्म ही महाभारत की मूल धुरी है।[११८]

भारतीय धारणा के अनुसार धर्म के जो विषय हैं, उनका महाभारत में अनेक स्थानों पर विस्तार से वर्णन किया गया है। धर्म के इन विषयों का विपुल परिमाण में समावेश करने के कारण ही महाभारत धर्मशास्त्र बना है। वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्य इस धर्म के मुख्य तत्व हैं। चातुर्वर्ण्य और वर्णाश्रम के धर्मों का उल्लेख महाभारत के आरम्भ में उसके विषयों के अन्तर्गत किया गया है।[११९] इन धर्माचरणों का विधान महाभारत में अनेक स्थानों पर मिलता है। शान्तिपर्व में और अनुशासन पर्व में धर्म का उपदेश विशेष रूप से तथा विस्तार के साथ किया गया है। इन पर्वों की इस विशेषता का उल्लेख आदिपर्व के दूसरे अध्याय में महाभारत के विषय-विवरण के प्रसंग में किया गया है।[१२०] वर्णाश्रम—धर्म, राज-धर्म, स्त्री-धर्म आदि का वर्णन महाभारत में प्रामाणिक रूप से किया गया है। इससे महाभारत का धार्मिक महत्त्व असंदिग्ध रूप से सिद्ध हो जाता है।

वर्णो और आश्रमों के धर्म-विधान के अतिरिक्त ईश्वर तथा देवताओं की उपासना के अर्थ में भी महाभारत एक धर्म-ग्रन्थ है। महाभारत में कृष्ण का दिव्य चरित्र विशेष रूप से वर्णित है। आदिपर्व में कहा गया है कि

११५—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृ० ८६
११६—वही " " " पृ० ५
११७—वही " " " पृ० ५
११८—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ९०
११९—महाभारत—आदि पर्व—अध्याय १, श्लोक ६५
१२०— " " अध्याय २, श्लो० ३२६ से ३३७ तक।

"भगवान वासुदेव का चरित्र महाभारत का मुख्य विषय है, उन्हीं का इसमें संकीर्तन किया गया है। वे ही सत्य, ऋत, पवित्र एवं पुण्य हैं।[१२१] विन्तरनित्स का मत है कि महाभारत के धार्मिक स्थलों में कृष्ण के चरित्र की इतनी प्रधानता है कि ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत एक वैष्णव-धर्म का ग्रन्थ है।[१२२] किन्तु विष्णु और कृष्ण के अतिरिक्त अन्य देवताओं का वर्णन भी महाभारत में मिलता है। विन्तरनित्स का मत है कि शिव की महिमा के अंश बाद में जोड़े गये हैं, जब महाभारत का प्रचार भारत के उन भागों में हुआ, जिनमें शिव की पूजा प्रचलित थी।[१२३] श्री वैद्य का मत है कि वैष्णव और शैव धर्मों का समन्वय महाभारत में सौति ने किया है। इस समन्वय के लिए उन्होंने श्री कृष्ण को शिव का उपासक और शिव को श्री विष्णु का उपासक बनाया है। भीष्म पर्व में देवी की स्तुति भी है तथा दत्तात्रेय, स्कन्द आदि देवताओं का भी वर्णन है। इस प्रकार महाभारत उदार भारतीय धर्म के विविध रूपों का संगम बन गया है।[१२४] इसके अतिरिक्त स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, प्रायश्चित, संस्कार आदि भारतीय धर्म-तत्वों का विवरण भी महाभारत में किया गया है।[१२५] भारतीय धार्मिक धारणा के उक्त तत्वों का विस्तृत और महत्त्वपूर्ण वर्णन करने के कारण महाभारत मुख्यतः एक धर्म-ग्रन्थ बन गया है। एक पवित्र धर्मशास्त्र, के रूप में ही वह हजारों वर्षों से प्रतिष्ठित है। धर्म ग्रन्थ होने के कारण ही वह वेद के समान पवित्र माना जाता है। वेद अखिल धर्म का स्रोत है। धर्म की दृष्टि से ही महाभारत वेद के समान पवित्र और महत्त्वपूर्ण माना जाता है। स्वयं महाभारत में इसे कार्ष्ण वेद कहा गया है[१२६] और इसे वेद के समान माना गया है।[१२७]

१२१—महाभारत–आदिपर्व—अध्याय २, श्लो० २५६

१२२—विन्तरनित्सः ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर–भाग—१, पृ० ३२०

१२३—वही ,, ,, पृ० ३२०

१२४—सी० वी० वैद्य : महाभारत मीमांसा पृ० १७१६

१२५—सी० वी० वैद्यः महाभारत मीमांसा—पृष्ठ ४६६-४७२

१२६—कार्ष्णं वेदमिमं विद्वाञ्छ्रावयित्वार्थमश्नुते।
आदिपर्व अध्याय ६२, श्लो० १८

१२७—इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम्
महाभारत आदि पर्व—१, अध्याय ६२, श्लो० ४८½

एक स्थान पर तो इसे वेद से भी अधिक माना गया है[१२८] साधारण जनता के लिए वेद दुर्गम है, उनके लिए महाभारत सचमुच वेद से भी अधिक मूल्यवान है। इन सब प्रमाणों से महाभारत का धार्मिक महत्त्व सिद्ध होता है।

६—महाभारत का सांस्कृतिक महत्त्व—

प्राचीन इतिहास, महाकाव्य और धर्मशास्त्र होने के नाते महाभारत हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग बन गया है। महाभारत के ऐतिहासिक, साहित्यिक और धार्मिक महत्त्व के साथ-साथ उसका सांस्कृतिक महत्त्व भी विचारणीय है। संस्कृति मनुष्य की रचना है। प्रकृति के आधार पर अपने उद्योग से मनुष्य ने जो कुछ बनाया है, उसी को संस्कृति कहते हैं। व्यक्तिगत की अपेक्षा संस्कृति सामाजिक अधिक है। मनुष्य की जिन रचनाओं को संस्कृति में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है, वे प्रायः एक व्यक्ति की रचना न होकर अनेक मनुष्यों के उद्योग से बनी हैं। अजन्ता की गुफायें, ताजमहल आदि ऐसी ही कृतियाँ हैं। जो रचनायें एक व्यक्ति की कृति जान पड़ती हैं, उनमें भी वह व्यक्ति समाज की चेतना का माध्यम अथवा निमित्त बन गया है। सामाजिक भाव की प्रेरणा से ही ये व्यक्ति ऐसी महान् सांस्कृतिक रचनाएँ दे सके हैं। कालिदास, सूरदास, तुलसीदास आदि के काव्य उनकी व्यक्तिगत रचनाएँ अवश्य हैं, किन्तु जो सुन्दर और कल्याणमय रूप इन रचनाओं को मिला है, वह सामाजिक भावना की प्रेरणा से ही सम्भव हो सका है। व्यक्तिगत भाव से ऊपर उठकर कालिदास की कला भारतवर्ष की प्रकृति और उसके जीवन के साथ एकरस हो गई है। सूर और तुलसी की कला में उनका व्यक्तिगत भाव उनके भक्तिभाव में निमग्न हो गया है। रचना का यह सामाजिक भाव वेद, पुराण और महाभारत में भी मिलता है। वाइविल और कुरान की भाँति ये किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं हैं। वेदों के बनाने वाले ऋषियों की संख्या बहुत है। पुराणों और महाभारत को वेदव्यास की रचना माना जाता है। किंतु कदाचित् वे एक व्यक्ति की रचना नहीं हैं। संस्कृत साहित्य के इतिहासकार भी उन्हें अनेक व्यक्तियों की रचना मानते हैं। अपने दृष्टिकोण से वे इसे दोष मानते हैं, किंतु सांस्कृतिक

१२८—महाभारत—स्वर्गारोहण पर्व १८—अध्याय ५—श्लो० ४०

दृष्टिकोण से यह दोष नहीं है। अनेक व्यक्तियों के सहयोग से ये रचनायें अधिक सांस्कृतिक बन गई हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य का यह साहित्यिक गुण एक ऐसी विशेषता है, जिसका उदाहरण व्यक्तिवादी पश्चिम के साहित्य में मिलना कठिन है।

इतिहास, काव्य और धर्मशास्त्र की सब कृतियाँ रचनात्मक होने के नाते संस्कृति का अंग मानी जाती हैं। किन्तु महाभारत जैसी कृतियाँ, जो अनेक कर्त्ताओं के सहयोग से बनती हैं, अधिक सांस्कृतिक कही जायेंगी। व्यक्तिगत कृतियों में भी सामाजिक भाव और उद्देश्य, जिन कृतियों में जितना अधिक होता है, उन्हें संस्कृति के इतिहास में उतना ही अधिक महत्त्व दिया जाता है; महाभारत रचना, भाव और उद्देश्य तीनों ही दृष्टियों से अधिक सामाजिक है, अतएव अधिक सांस्कृतिक है। प्राचीन भारत में जो लोक-काव्य की परम्परा प्रचलित थी उसी का पूर्ण परिणाम महाभारत में प्रगट है। संस्कृत साहित्य के इतिहासकार भी यह मानते हैं कि सूत, चारण आदि जो कीर्ति कथायें गाया करते थे, उन्हीं की विशाल परम्परा का समाहार महाभारत में हुआ है। सामाजिक भावों और उद्देश्यों से भी महाभारत परिपूर्ण है। इस प्रकार संस्कृति के सामान्य दृष्टिकोण से महाभारत एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक रचना है।

भारतीय संस्कृति के विशेष भाव भी महाभारत में सुन्दर और प्रभावशाली रूप में साकार हुए हैं। भरतवंशी वीरों का चरित्र भारतीय इतिहास की एक ओजस्वी परम्परा है। रचना होने के साथ-साथ संस्कृति एक परम्परा भी है। इतिहास की घटनायें, इतिहास के पात्र, इतिहास के आदर्श आदि जब समाज की प्रतिष्ठित परम्परा बन जाते हैं, तो उनका सांस्कृतिक महत्त्व बढ़ जाता है। जिन काव्यों में ऐसी परम्परायें अंकित होती हैं तथा जो काव्य ऐसी परम्पराओं के वाहक बन जाते हैं,वे लोक की निधि बन जाते हैं। ये परम्परायें जन साधारण की सम्पत्ति बनजाती हैं। प्रत्येक मनुष्य इनसे परिचित होता है और इनको अपना मानता है तथा इनसे प्रेरणा लेता है। महाभारत के वीरों की कथायें तथा उसके अन्य उपाख्यान ऐसी ही परम्परायें हैं। भीष्म का ब्रह्मचर्य और राज्यत्याग, युधिष्ठिर का सत्य, भीम का बल, अर्जुन का पराक्रम, द्रोपदी का पातिव्रत, कुन्ती का धैर्य, कर्ण का दान, श्री कृष्ण की उदारता आदि भारतीय-समाज के आदर्श बन गये हैं। जन-जन इन आदर्शों को मान देता है और

एक स्थान पर तो इसे वेद से भी अधिक माना गया है[१२८] साधारण जनता के लिए वेद दुर्गम है, उनके लिए महाभारत सचमुच वेद से भी अधिक मूल्यवान है। इन सब प्रमाणों से महाभारत का धार्मिक महत्त्व सिद्ध होता है।

६—महाभारत का सांस्कृतिक महत्त्व—

प्राचीन इतिहास, महाकाव्य और धर्मशास्त्र होने के नाते महाभारत हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग बन गया है। महाभारत के ऐतिहासिक, साहित्यिक और धार्मिक महत्त्व के साथ-साथ उसका सांस्कृतिक महत्त्व भी विचारणीय है। संस्कृति मनुष्य की रचना है। प्रकृति के आधार पर अपने उद्योग से मनुष्य ने जो कुछ बनाया है, उसी को संस्कृति कहते हैं। व्यक्तिगत की अपेक्षा संस्कृति सामाजिक अधिक है। मनुष्य की जिन रचनाओं को संस्कृति में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है, वे प्रायः एक व्यक्ति की रचना न होकर अनेक मनुष्यों के उद्योग से बनी हैं। अजन्ता की गुफायें, ताजमहल आदि ऐसी ही कृतियाँ हैं। जो रचनायें एक व्यक्ति की कृति जान पड़ती हैं, उनमें भी वह व्यक्ति समाज की चेतना का माध्यम अथवा निमित्त बन गया है। सामाजिक भाव की प्रेरणा से ही ये व्यक्ति ऐसी महान् सांस्कृतिक रचनाएँ दे सके हैं। कालिदास, सूरदास, तुलसीदास आदि के काव्य उनकी व्यक्तिगत रचनाएँ अवश्य हैं, किन्तु जो सुन्दर और कल्याणमय रूप इन रचनाओं को मिला है, वह सामाजिक भावना की प्रेरणा से ही सम्भव हो सका है। व्यक्तिगत भाव से ऊपर उठकर कालिदास की कला भारतवर्ष की प्रकृति और उसके जीवन के साथ एकरस हो गई है। सूर और तुलसी की कला में उनका व्यक्तिगत भाव उनके भक्तिभाव में निमग्न हो गया है। रचना का यह सामाजिक भाव वेद, पुराण और महाभारत में भी मिलता है। बाइबिल और कुरान की भाँति ये किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं हैं। वेदों के बनाने वाले ऋषियों की संख्या बहुत है। पुराणों और महाभारत को वेदव्यास की रचना माना जाता है। किंतु कदाचित् वे एक व्यक्ति की रचना नहीं हैं। संस्कृत साहित्य के इतिहासकार भी उन्हें अनेक व्यक्तियों की रचना मानते हैं। अपने दृष्टिकोण से वे इसे दोष मानते हैं, किंतु सांस्कृतिक

१२८—महाभारत—स्वर्गारोहण पर्व १८–अध्याय ५–श्लो० ४०

दृष्टिकोण से यह दोष नहीं है। अनेक व्यक्तियों के सहयोग से ये रचनायें अधिक सांस्कृतिक बन गई हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य का यह साहित्यिक गुण एक ऐसी विशेषता है, जिसका उदाहरण व्यक्तिवादी पश्चिम के साहित्य में मिलना कठिन है।

इतिहास, काव्य और धर्मशास्त्र की सब कृतियाँ रचनात्मक होने के नाते संस्कृति का अंग मानी जाती हैं। किन्तु महाभारत जैसी कृतियाँ, जो अनेक कर्त्ताओं के सहयोग से बनती हैं, अधिक सांस्कृतिक कही जायेंगी। व्यक्तिगत कृतियों में भी सामाजिक भाव और उद्देश्य, जिन कृतियों में जितना अधिक होता है, उन्हें संस्कृति के इतिहास में उतना ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। महाभारत रचना, भाव और उद्देश्य तीनों ही दृष्टियों से अधिक सामाजिक है, अतएव अधिक सांस्कृतिक है। प्राचीन भारत में जो लोक-काव्य की परम्परा प्रचलित थी उसी का पूर्ण परिणाम महाभारत में प्रगट है। संस्कृत साहित्य के इतिहासकार भी यह मानते हैं कि सूत, चारण आदि जो कीर्ति कथायें गाया करते थे, उन्हीं की विशाल परम्परा का समाहार महाभारत में हुआ है। सामाजिक भावों और उद्देश्यों से भी महाभारत परिपूर्ण है। इस प्रकार संस्कृति के सामान्य दृष्टिकोण से महाभारत एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक रचना है।

भारतीय संस्कृति के विशेष भाव भी महाभारत में सुन्दर और प्रभावशाली रूप में साकार हुए हैं। भरतवंशी वीरों का चरित्र भारतीय इतिहास की एक ओजस्वी परम्परा है। रचना होने के साथ-साथ संस्कृति एक परम्परा भी है। इतिहास की घटनायें, इतिहास के पात्र, इतिहास के आदर्श आदि जब समाज की प्रतिष्ठित परम्परा बन जाते हैं, तो उनका सांस्कृतिक महत्त्व बढ़ जाता है। जिन काव्यों में ऐसी परम्परायें अंकित होती हैं तथा जो काव्य ऐसी परम्पराओं के वाहक बन जाते हैं,वे लोक की निधि बन जाते हैं। ये परम्परायें जन साधारण की सम्पत्ति बनजाती हैं। प्रत्येक मनुष्य इनसे परिचित होता है और इनको अपना मानता है तथा इनसे प्रेरणा लेता है। महाभारत के वीरों की कथायें तथा उसके अन्य उपाख्यान ऐसी ही परम्परायें हैं। भीष्म का ब्रह्मचर्य और राज्यत्याग, युधिष्ठिर का सत्य, भीम का बल, अर्जुन का पराक्रम, द्रोपदी का पातिव्रत, कुन्ती का धैर्य, कर्ण का दान, श्री कृष्ण की उदारता आदि भारतीय-समाज के आदर्श बन गये हैं। जन-जन इन आदर्शों को मान देता है और

अध्याय—२

महाभारत की आधुनिक आलोचना

१—आधुनिक आलोचना का दृष्टिकोण—

भारतीय परम्परा में महाभारत को एक सांस्कृतिक महाकाव्य और धर्मशास्त्र माना जाता है। उसे 'पंचम वेद' की पदवी दी गई है। वेद और धर्मशास्त्रों के समान ही उसे एक पवित्र ग्रन्थ माना जाता है। लगभग दो हजार वर्षों से महाभारत वर्तमान शतसाहस्री संहिता के रूप में प्रसिद्ध एवं प्रचलित है। पाँचवीं शताब्दी के दानपत्रों में महाभारत की इस प्रतिष्ठा के प्रमाण मिलते हैं।[1] ईसा की पहली शताब्दी के मध्य में दक्षिण आने वाले डायोक्रिस्टोम नामक यात्री ने लिखा है कि उसके समय में एक लाख श्लोकों का महाभारत (जिसे उसने भारत का इलियड कहा है) प्रसिद्ध एवं प्रचलित था।[2] इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं कि महाभारत की कथा मन्दिरों में गाई जाती थी और जनसमूह उसे श्रद्धा से सुनते थे।[3] भारतवर्ष में ही नहीं वरन् पूर्व एशिया के उन देशों में भी महाभारत का प्रचार था, जिनमें भारतीय संस्कृति का विस्तार हुआ था।[4] ईसा की पूर्व शताब्दियों में भी महाभारत के नाम का उल्लेख मिलता है।[5] किन्तु आधुनिक विद्वान् इसे महाभारत की शतसाहस्री संहिता का प्रमाण नहीं मानते। उनका सिद्धान्त विकासवादी है। उनके मतानुसार महाभारत के वर्तमान रूप का विकास कई चरणों में हुआ है। कई संस्करणों और अनेक प्रक्षेपों के द्वारा महाभारत की शतसाहस्री

१—मैकडोनल : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृष्ठ २८९
२—सी० वी० वैद्य : महाभारत मीमांसा—पृष्ठ ४३
३—मैकडोनल : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृष्ठ २९०
४—वही " " पृष्ठ २९०
५—वही " " पृष्ठ—२८७

को भारतीय दृष्टिकोण से महाभारत का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया है।[८] श्रद्धा और भावना से रहित होने के कारण महाभारत के प्रति पश्चिमी विद्वानों का दृष्टिकोण केवल ऐतिहासिक और वैज्ञानिक है। वे एक निष्पक्ष और तटस्थ दृष्टिकोण से महाभारत आदि भारतीय ग्रन्थों के अध्ययन का दावा करते हैं। उनकी आलोचनाओं में भारतीय साहित्य और संस्कृति के प्रति एक तिरस्कार का भाव दिखाई देता है, जो अत्यन्त शोचनीय है। यह भाव उनकी वैज्ञानिक आलोचनाओं को भी विकृत बना देता है। इसी भाव से प्रेरित होकर उन्होंने महाभारत आदि के सम्बन्ध में अनेक अनर्गल कल्पनायें की हैं। डा० सुकथनकर ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ[९] में इन आलोचनाओं का उल्लेख और खण्डन किया है।

पश्चिमी विद्वानों के ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार महाभारत किसी एक व्यक्ति और एक काल की रचना नहीं है।[१०] उनके अनुसार अनेक शताब्दियों में कई व्यक्तियों के द्वारा तथा अनेक प्रकार की सामग्री के सम्मिश्रण से महाभारत के वर्तमान रूप का निर्माण हुआ है। उन्होंने महाभारत के वैज्ञानिक अध्ययन में इस सामग्री के विभिन्न तत्वों के विश्लेषण और उनके काल निरूपण का प्रयत्न किया है। कई कारणों से प्राचीन भारतीय अध्ययन में ऐतिहासिक तिथियों का निर्णय कठिन हो जाता है। एक मुख्य कारण तो भारतीय इतिहास की प्राचीनता है। किन्तु पश्चिमी विद्वानों के अनुसार उसका मुख्य कारण यह है कि प्राचीन भारतवासियों की इतिहास के वैज्ञानिक रूप में रुचि नहीं थी। कुछ विद्वान् तो भारतीयों पर ऐतिहासिक वृत्ति के अभाव का दोष लगाते हैं।"[११] पश्चिमी विद्वानों के इस दोषारोपण का कारण यह हैकि प्राचीन भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में तिथियों का निर्णय करना कठिन है। कालक्रम के निश्चय की कठिनाई के कारण ही

८—मीनिंग आव महाभारत पृष्ठ ३१

९—मीनिंग आव महाभारत

१०–विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर भाग १, पृष्ठ ३२६
सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ९

११– मैकडौनल : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृष्ठ—१०

पश्चिमी विद्वान् भारतीय परम्परा में इतिहास का अभाव देखते हैं। ह्विटनी ने अपने संस्कृत व्याकरण की भूमिका में लिखा है कि भारतीय साहित्य के इतिहास की तिथियाँ उन कीलों के समान हैं, जिनको एक बार लगाने के बाद बार-बार उखाड़ना पड़ता है।[१२] विन्तरनित्स का मत है कि प्राचीन भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में कोई निश्चित तिथियाँ नहीं दी जा सकतीं।[१३] पार्जीटर का मत है कि भारतीयों ने कोई इतिहास-ग्रन्थ नहीं लिखे हैं।[१४] यह ठीक है कि प्राचीन भारतीय इतिहास में तिथियों का निर्णय करना कठिन है। इसका एक कारण तो भारतीय इतिहास की प्राचीनता है। इतने प्राचीन काल के सम्बन्ध में, जबकि कदाचित् कोई सम्वत् आदि भी प्रचलित नहीं थे, तिथियों और कालक्रम का निर्णय कठिन होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

अर्वाचीन देशों के इतिहास की स्थिति से एक प्राचीन देश की तुलना करना उचित नहीं है। प्राचीनता के अतिरिक्त ग्रीस, असीरिया, मिस्र आदि की तुलना में भारतवर्ष की विशालता और इतिहास की विपुलता भी उक्त कठिनाई को बढ़ाती है। दूसरी बात यह है कि पश्चिमी देशों के लौकिक और बहिर्मुख दृष्टिकोण की तुलना में भारतीयों का दृष्टिकोण आध्यात्मिक और आन्तरिक रहा है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण में ऐतिहासिक वृत्त शाश्वत अर्थ के वाहक बन जाते हैं। रामायण और महाभारत के वृत्त यथार्थ होते हुए भी शाश्वतभावों के वाहक बन गये हैं। इतिहास के इस रूप में काल का महत्त्व बहुत कम हो जाता है। इसी कारण प्राचीन भारतीय इतिहास में कालक्रम का महत्त्व बहुत कम हो गया है। प्राचीन ग्रन्थों के रचयिताओं ने भी अपने नाम, स्थान, समय आदि लौकिक तथ्यों को ध्यान नहीं दिया है। उनका यह दृष्टिकोण भी आध्यात्मिक प्रभाव को प्रमाणित करता है।

किन्तु प्राचीन वृत्तों की यथार्थता के प्रति भारतीयों का आदर रहा है। महाभारत में कौरव-पाण्डवों के जन्म, द्यूत, वनवास आदि अनेक संगों की

१२—ह्विटनी : संस्कृत ग्रामर—भूमिका
डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ—९

१३—विन्तरनित्स : हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—प्रथम भाग—पृ० २५—२६

१४—पार्जीटर : एन्शन्ट इण्डियन हिस्टोरीकल ट्रेडीशन पृष्ठ—२

कठोर यथार्थता महाभारत की ऐतिहासिकता का संकेत करती है। प्राचीन वृत्त के अर्थ में इतिहास की भारतीय परम्परा बहुत प्राचीन है। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद आदि प्राचीन ग्रन्थों में इतिहास शब्द का उल्लेख मिलता है।[१५] वैदिक यज्ञों के अवसर पर इतिहास की कथायें कही जाती थीं। महाभारत से ही विदित होता है कि जनमेजय के सर्पयज्ञ में वैशम्पायन ने तथा शौनक के द्वादशवर्षीय सत्र में उग्रश्रवा सौति ने महाभारत सुनाया था। महाभारत में इतिहास की जो परिभाषा मिलती है, उसमें भी कथावृत्त तथा उसके आध्यात्मिक प्रयोजन का ही महत्त्व माना गया है।[१६] इतिहास के आध्यात्मिक प्रयोजन के कारण ही उसमें धर्मशास्त्र के तत्त्वों का समावेश हो गया है। इसी दृष्टिकोण के कारण हमारे प्राचीन इतिहास काव्यमय हैं। भारतीय आत्मा के आध्यात्मिक स्रोत से ही धर्म, दर्शन, इतिहास आदि के क्षेत्र में काव्य की सहस्रधारायें प्रवाहित हुई हैं। रामायण और महाभारत के इतिहास भी काव्यमय हैं। भारतीय परम्परा में जहाँ एक ओर इनकी गणना इतिहास के अन्तर्गत की जाती है, वहाँ दूसरी ओर इन्हें काव्य भी माना जाता है। वाल्मीकि की रामायण तो आदिकाव्य कही जाती है। महाभारत भी छन्द, शैली, सौन्दर्य अलंकार आदि अनेक दृष्टियों से काव्य के गुणों से परिपूर्ण है। रामायण और महाभारत दोनों को ही इतिहास के साथ-साथ महाकाव्य भी माना जाता है। वस्तुतः इसमें काव्य के अनेक गुण वर्तमान हैं, किंतु उनका ऐतिहासिक महत्त्व भी कम नहीं है।

सामान्यरूप से भारतीय साहित्य तथा विशेषतः महाभारत के प्रति पश्चिमी विद्वानों का दृष्टिकोण भारतीय चेतना के ऐतिहासिक बोध के प्रति संदेह से भरा है। उनकी आलोचना का दृष्टिकोण ऐतिहासिक है। किन्तु उनके निर्णय भारतीय साहित्य में ऐतिहासिकता की दृष्टि से दोष ही अधिक देखते हैं। महाभारत के युद्ध की घटना और महाभारत के ग्रन्थ की रचना के

१५—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग १—पृ० ३१३

१६—धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।

पूर्ववृत्त कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥

नलिन विलोचन शर्मा : साहित्य का इतिहास-दर्शन—पृष्ठ—२

सम्बन्ध में विभिन्न पश्चिमी विद्वानों ने विभिन्न अनुमान लगाये हैं। विरोधी होने के साथ-साथ ये अनुमान अनिश्चयपूर्ण भी हैं, यद्यपि इस अनिश्चय का दोषारोपण वे भारतीय साहित्य में ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव पर करते हैं। ऐतिहासिक होने के साथ-साथ महाभारत के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों का दृष्टिकोण विकासवादी है। वे वैदिक आख्यानों और प्राचीन वीरगाथाओं में महाभारत का बीज खोजते हैं। उनके अनुसार महाभारत का मूल रूप कौरव-पाण्डवों के युद्ध का कोई छोटा-सा महाकाव्य है। कई विद्वानों ने वर्तमान महाभारत के प्रक्षिप्त अंशों को अलग करके इस मूल महाभारत का रूप स्थिर करने का प्रयत्न भी किया है। इनका मत है कि कालान्तर में अन्य अनेक उपाख्यान महाभारत में सम्मिलित हो गये तथा ब्राह्मणों ने ब्राह्मण-धर्म का सन्निवेश करके महाभारत को वर्तमान विशाल रूप दिया। इन विद्वानों के अनुसार जय, भारत और महाभारत के तीन रूपों में महाभारत के तीन संस्करण हुए हैं और इन तीन संस्करणों में उत्तरोत्तर महाभारत की श्लोक संख्या बढ़ती गई है तथा अपने अन्तिम रूप में महाभारत एक लाख श्लोकों का ग्रन्थ बना है।

पश्चिमी विद्वानों के प्रभाव से अधिकांश भारतीय विद्वान् भी महाभारत के इस विकासवादी सिद्धांत को मानते हैं। संस्कृत साहित्य के भारतीय इतिहासों में पश्चिमी विद्वानों के इसी मत का समर्थन मिलता है। पश्चिमी आलोचना के महाभारत सम्बन्धी इस विकासवादी मत का दृष्टिकोण काव्य की दृष्टि से महाभारत के प्रबन्ध तथा महाभारत के वर्तमान रूप में मिलने वाले विपुल धार्मिक तत्व के प्रति अन्यायपूर्ण है। पश्चिम के छोटे महाकाव्यों के आधार पर वे विषय की एकसूत्रता तथा विचारों की एकता को महाकाव्य का आवश्यक लक्षण मानते हैं। महाभारत के विशाल प्रबन्ध में उन्हें एकसूत्रता नहीं मिलती; विचारों की दृष्टि से भी वे इसमें विरोध देखते हैं। महाभारत के धार्मिक तत्व उनके मत में ब्राह्मणों के द्वारा पीछे से जोड़े गये हैं तथा वे महाभारत की सम्पूर्ण योजना के साथ संगत नहीं हैं। कई व्यक्तियों और कई कालों की रचना होने के कारण महाभारत अनेक विषम तत्वों का एक विशाल संकलन बन गया है। महाभारत के इस वर्तमान विशाल रूप में उसका प्राचीन रूप सदा के लिए लुप्त हो गया है। पश्चिमी विद्वानों के प्रभाव में प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् श्री रमेशचन्द्र दत्त ने भी इस मूल महाकाव्य की हानि पर खेद प्रकट किया

है।[१७] भारतीय विद्वानों में महाभारत के महान् अधिकारी डा० सुकथनकर ने पश्चिमी विद्वानों के इस दृष्टिकोण का प्रतिवाद किया है। डा० सुकथनकर के मत में महाभारत सम्बन्धी ऐतिहासिक खोज लक्ष्य से दूर चली जाती है, वह महाभारत के मुख्य तात्पर्य को भूल जाती हैं।[१८] उनके मत में महाभारत का प्रबन्ध बहुत कुछ सुगठित है। उसमें ऐसी विशृंखलता नहीं है, जैसी कि पश्चिमी विद्वान् देखते हैं।[१९] पश्चिमी विद्वान् महाभारत के धार्मिक अंशों को एक अवान्तर तत्त्व मानते हैं, वे उन्हें प्रक्षेप कहते हैं। किन्तु डा० सुकथनकर ने यह धारणा प्रकट की है कि धार्मिक अंश महाभारत के मूल लक्ष्य के अनुकूल हैं और वे उसके अभिन्न अंग है।[२०] उन्होंने यह निर्देश किया है कि ऐतिहासिक खोज को छोड़कर हमें महाभारत के उस वर्तमान रूप को महत्त्व देना चाहिए, जो भारतवर्ष में युगों से लोकप्रिय रहा है।[२१] पश्चिमी विद्वानों में केवल एक दाल्हमान का मत डा० सुकथनकर के अनुकूल है। दाल्हमान भी महाभारत को एक सुगठित प्रबन्ध मानते हैं तथा उनके अनुसार महाभारत के धार्मिक अंश उसके अभिन्न अंग हैं। किन्तु अधिकांश पश्चिमी विद्वान् दाल्हमान के इस मत से सहमत नहीं हैं तथा वे उसी ऐतिहासिक और विकासवादी दृष्टिकोण के पोषक हैं, जिसका निर्देश ऊपर के विवरण में किया गया है।

२ पश्चिमी आलोचकों के मत—

डा० सुकथनकर ने अपने महाभारत सम्बन्धी भाषण माला के पहले भाषण में महाभारत के पश्चिमी आलोचकों के मतों का विवरण दिया है। उनके इस अमूल्य ग्रन्थ के आधार पर ही प्रस्तुत प्रकरण में इन पश्चिमी आलोचकों के मतों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। आनन्दतीर्थ श्री मध्वाचार्य ने अपने 'महाभारत–तात्पर्य–निर्णय' में लिखा है कि महाभारत देवताओं के

---

१७ – डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ४
१८—वही ,, : ,, ,, ,, पृष्ठ १८
१९—वही ,, : ,, ,, ,, पृष्ठ १२४
२०—वही ,, : ,, ,, ,, पृष्ठ ६६
२१—वही ,, : ,, ,, ,, पृष्ठ ३१

सम्बन्ध में विभिन्न पश्चिमी विद्वानों ने विभिन्न अनुमान लगाये हैं। विरोधी होने के साथ-साथ ये अनुमान अनिश्चयपूर्ण भी हैं, यद्यपि इस अनिश्चय का दोषारोपण वे भारतीय साहित्य में ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव पर करते हैं। ऐतिहासिक होने के साथ-साथ महाभारत के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों का दृष्टिकोण विकासवादी है। वे वैदिक आख्यानों और प्राचीन वीरगाथाओं में महाभारत का वीज खोजते हैं। उनके अनुसार महाभारत का मूल रूप कौरव-पाण्डवों के युद्ध का कोई छोटा-सा महाकाव्य है। कई विद्वानों ने वर्तमान महाभारत के प्रक्षिप्त अंशों को अलग करके इस मूल महाभारत का रूप स्थिर करने का प्रयत्न भी किया है। इनका मत है कि कालान्तर में अन्य अनेक उपाख्यान महाभारत में सम्मिलित हो गये तथा ब्राह्मणों ने ब्राह्मण-धर्म का सन्निवेश करके महाभारत को वर्तमान विशाल रूप दिया। इन विद्वानों के अनुसार जय, भारत और महाभारत के तीन रूपों में महाभारत के तीन संस्करण हुए हैं और इन तीन संस्करणों में उत्तरोत्तर महाभारत की श्लोक संख्या बढ़ती गई है तथा अपने अन्तिम रूप में महाभारत एक लाख श्लोकों का ग्रन्थ बना है।

पश्चिमी विद्वानों के प्रभाव से अधिकांश भारतीय विद्वान् भी महाभारत के इस विकासवादी सिद्धांत को मानते हैं। संस्कृत साहित्य के भारतीय इतिहासों में पश्चिमी विद्वानों के इसी मत का समर्थन मिलता है। पश्चिमी आलोचना के महाभारत सम्बन्धी इस विकासवादी मत का दृष्टिकोण काव्य की दृष्टि से महाभारत के प्रबन्ध तथा महाभारत के वर्तमान रूप में मिलने वाले विपुल धार्मिक तत्व के प्रति अन्यायपूर्ण है। पश्चिम के छोटे महाकाव्यों के आधार पर वे विषय की एकसूत्रता तथा विचारों की एकता को महाकाव्य का आवश्यक लक्षण मानते हैं। महाभारत के विशाल प्रबन्ध में उन्हें एकसूत्रता नहीं मिलती; विचारों की दृष्टि से भी वे इसमें विरोध देखते हैं। महाभारत के धार्मिक तत्व उनके मत में ब्राह्मणों के द्वारा पीछे से जोड़े गये हैं तथा वे महाभारत की सम्पूर्ण योजना के साथ संगत नहीं हैं। कई व्यक्तियों और कई कालों की रचना होने के कारण महाभारत अनेक विषम तत्वों का एक विशाल संकलन बन गया है। महाभारत के इस वर्तमान विशाल रूप में उसका प्राचीन रूप सदा के लिए लुप्त हो गया है। पश्चिमी विद्वानों के प्रभाव में प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् श्री रमेशचन्द्र दत्त ने भी इस मूल महाकाव्य की हानि पर खेद प्रकट किया

है।[१७] भारतीय विद्वानों में महाभारत के महान् अधिकारी डा० सुकथनकर ने पश्चिमी विद्वानों के इस दृष्टिकोण का प्रतिवाद किया है। डा० सुकथनकर के मत में महाभारत सम्बन्धी ऐतिहासिक खोज लक्ष्य से दूर चली जाती है, वह महाभारत के मुख्य तात्पर्य को भूल जाती हैं।[१८] उनके मत में महाभारत का प्रबन्ध बहुत कुछ सुगठित है। उसमें ऐसी विशृंखलता नहीं है, जैसी कि पश्चिमी विद्वान् देखते हैं।[१९] पश्चिमी विद्वान् महाभारत के धार्मिक अंशों को एक अवान्तर तत्व मानते हैं, वे उन्हें प्रक्षेप कहते हैं। किन्तु डा० सुकथनकर ने यह धारणा प्रकट की है कि धार्मिक अंश महाभारत के मूल लक्ष्य के अनुकूल हैं और वे उसके अभिन्न अंग है।[२०] उन्होंने यह निर्देश किया है कि ऐतिहासिक खोज को छोड़कर हमें महाभारत के उस वर्तमान रूप को महत्त्व देना चाहिए, जो भारतवर्ष में युगों से लोकप्रिय रहा है।[२१] पश्चिमी विद्वानों में केवल एक दाल्हमान का मत डा० सुकथनकर के अनुकूल है। दाल्हमान भी महाभारत को एक सुगठित प्रवन्ध मानते हैं तथा उनके अनुसार महाभारत के धार्मिक अंश उसके अभिन्न अंग हैं। किन्तु अधिकांश पश्चिमी विद्वान् दाल्हमान के इस मत से सहमत नहीं हैं तथा वे उसी ऐतिहासिक और विकासवादी दृष्टिकोण के पोषक हैं, जिसका निर्देश ऊपर के विवरण में किया गया है।

२ पश्चिमी आलोचकों के मत—

डा० सुकथनकर ने अपने महाभारत सम्बन्धी भाषण माला के पहले भाषण में महाभारत के पश्चिमी आलोचकों के मतों का विवरण दिया है। उनके इस अमूल्य ग्रन्थ के आधार पर ही प्रस्तुत प्रकरण में इन पश्चिमी आलोचकों के मतों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। आनन्दतीर्थ श्री मध्वाचार्य ने अपने 'महाभारत–तात्पर्य–निर्णय' में लिखा है कि महाभारत देवताओं के

१७—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ४
१८—वही ,, : ,, ,, ,, पृष्ठ १८
१९—वही ,, : ,, ,, ,, पृष्ठ १२४
२०—वही ,, : ,, ,, ,, पृष्ठ ६६
२१—वही ,, : ,, ,, ,, पृष्ठ ३१

सम्बन्ध में विभिन्न पश्चिमी विद्वानों ने विभिन्न अनुमान लगाये हैं। विरोधी होने के साथ-साथ ये अनुमान अनिश्चयपूर्ण भी हैं, यद्यपि इस अनिश्चय का दोषारोपण वे भारतीय साहित्य में ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव पर करते हैं। ऐतिहासिक होने के साथ-साथ महाभारत के सम्वन्ध में पश्चिमी विद्वानों का दृष्टिकोण विकासवादी है। वे वैदिक आख्यानों और प्राचीन वीरगाथाओं में महाभारत का बीज खोजते हैं। उनके अनुसार महाभारत का मूल रूप कौरव-पाण्डवों के युद्ध का कोई छोटा-सा महाकाव्य है। कई विद्वानों ने वर्तमान महाभारत के प्रक्षिप्त अंशों को अलग करके इस मूल महाभारत का रूप स्थिर करने का प्रयत्न भी किया है। इनका मत है कि कालान्तर में अन्य अनेक उपाख्यान महाभारत में सम्मिलित हो गये तथा ब्राह्मणों ने ब्राह्मण-धर्म का सन्निवेश करके महाभारत को वर्तमान विशाल रूप दिया। इन विद्वानों के अनुसार जय, भारत और महाभारत के तीन रूपों में महाभारत के तीन संस्करण हुए हैं और इन तीन संस्करणों में उत्तारोत्तर महाभारत की श्लोक संख्या बढ़ती गई है तथा अपने अन्तिम रूप में महाभारत एक लाख श्लोकों का ग्रन्थ बना है।

पश्चिमी विद्वानों के प्रभाव से अधिकांश भारतीय विद्वान् भी महाभारत के इस विकासवादी सिद्धांत को मानते हैं। संस्कृत साहित्य के भारतीय इतिहासों में पश्चिमी विद्वानों के इसी मत का समर्थन मिलता है। पश्चिमी आलोचना के महाभारत सम्बन्धी इस विकासवादी मत का दृष्टिकोण काव्य की दृष्टि से महाभारत के प्रबन्ध तथा महाभारत के वर्तमान रूप में मिलने वाले विपुल धार्मिक तत्व के प्रति अन्यायपूर्ण है। पश्चिम के छोटे महाकाव्यों के आधार पर वे विषय की एकसूत्रता तथा विचारों की एकता को महाकाव्य का आवश्यक लक्षण मानते हैं। महाभारत के विशाल प्रबन्ध में उन्हें एकसूत्रता नहीं मिलती; विचारों की दृष्टि से भी वे इसमें विरोध देखते हैं। महाभारत के धार्मिक तत्व उनके मत में ब्राह्मणों के द्वारा पीछे से जोड़े गये हैं तथा वे महाभारत की सम्पूर्ण योजना के साथ संगत नहीं हैं। कई व्यक्तियों और कई कालों की रचना होने के कारण महाभारत अनेक विषम तत्वों का एक विशाल संकलन वन गया है। महाभारत के इस वर्तमान विशाल रूप में उसका प्राचीन रूप सदा के लिए लुप्त हो गया है। पश्चिमी विद्वानों के प्रभाव में प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् श्री रमेशचन्द्र दत्त ने भी इस मूल महाकाव्य की हानि पर खेद प्रकट किया

है।[१७] भारतीय विद्वानों में महाभारत के महान् अधिकारी डा० सुकथनकर ने पश्चिमी विद्वानों के इस दृष्टिकोण का प्रतिवाद किया है। डा० सुकथनकर के मत में महाभारत सम्बन्धी ऐतिहासिक खोज लक्ष्य से दूर चली जाती है, वह महाभारत के मुख्य तात्पर्य को भूल जाती हैं।[१८] उनके मत में महाभारत का प्रबन्ध बहुत कुछ सुगठित है। उसमें ऐसी विशृंखलता नहीं है, जैसी कि पश्चिमी विद्वान् देखते हैं।[१९] पश्चिमी विद्वान् महाभारत के धार्मिक अंशों को एक अवान्तर तत्व मानते हैं, वे उन्हें प्रक्षेप कहते हैं। किन्तु डा० सुकथनकर ने यह धारणा प्रकट की है कि धार्मिक अंश महाभारत के मूल लक्ष्य के अनुकूल हैं और वे उसके अभिन्न अंग है।[२०] उन्होंने यह निर्देश किया है कि ऐतिहासिक खोज को छोड़कर हमें महाभारत के उस वर्तमान रूप को महत्त्व देना चाहिए, जो भारतवर्ष में युगों से लोकप्रिय रहा है।[२१] पश्चिमी विद्वानों में केवल एक दाल्हमान का मत डा० सुकथनकर के अनुकूल है। दाल्हमान भी महाभारत को एक सुगठित प्रबन्ध मानते हैं तथा उनके अनुसार महाभारत के धार्मिक अंश उसके अभिन्न अंग हैं। किन्तु अधिकांश पश्चिमी विद्वान् दाल्हमान के इस मत से सहमत नहीं हैं तथा वे उसी ऐतिहासिक और विकासवादी दृष्टिकोण के पोषक हैं, जिसका निर्देश ऊपर के विवरण में किया गया है।

२ पश्चिमी आलोचकों के मत—

डा० सुकथनकर ने अपने महाभारत सम्बन्धी भाषण माला के पहले भाषण में महाभारत के पश्चिमी आलोचकों के मतों का विवरण दिया है। उनके इस अमूल्य ग्रन्थ के आधार पर ही प्रस्तुत प्रकरण में इन पश्चिमी आलोचकों के मतों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। आनन्दतीर्थ श्री मध्वाचार्य ने अपने 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय' में लिखा है कि महाभारत देवताओं के

---

१७ – डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ४
१८—वही ,, : ,, ,, ,, पृष्ठ १८
१९—वही ,, : ,, ,, ,, पृष्ठ १२४
२०—वही ,, : ,, ,, ,, पृष्ठ ६६
२१—वही ,, : ,, ,, ,, पृष्ठ ३१

द्वारा भी दुर्विज्ञेय है।[२२] आनन्दतीर्थ के इस वचन का अपने प्रथम भाषण के मंगलाचरण में उल्लेख कर डा० सुकथनकर ने महाभारत के प्रसिद्ध विद्वान् ओल्डनवर्ग के मत का सबसे पहले उल्लेख किया है। ओल्डनवर्ग के मत में महाभारत का आरम्भ एक सरल कथाकाव्य के रूप में हुआ था। किन्तु कालान्तर में वह असंख्य असंगतियों से पूर्ण एक विश्रृंखल संकलन बन गया।[२३] ओल्डनवर्ग का विश्वास था कि महाभारत के मूल रूप में छोटी-छोटी कीर्ति-कथायें गद्य के सूत्रों से जुड़ी हुई थीं। ओल्डनवर्ग के मत में महाभारत के धार्मिक अंश प्रक्षेप हैं। महाभारत के अध्ययन के आरम्भ से ही पश्चिमी विद्वानों के विचार और उनकी खोज इसी दिशा में अग्रसर रही है। पश्चिमी विद्वान् इस विशाल ग्रन्थ के स्वरूप को समझने में असमर्थ रहे हैं, जिसका धार्मिक अंश कथा भाग से चौगुना है।[२४] उनकी खोज के प्रयत्न महाभारत के मूल और प्रक्षिप्त अंशों को अलग करने में लगे रहे हैं।[२५]

महाभारत की पश्चिमी आलोचना की यह दिशा आरम्भ से ही रही है। सन् १८२६ में जर्मन विद्वान् वौप ने यह मत प्रकट किया था कि महाभारत के सभी अंश एक समय की रचना नहीं है। वौप के बाद लासैन ने वौप के मत का समर्थन किया और महाभारत के विभिन्न अंशों को अलग-अलग करने की चेष्टा की। लासैन के अनुसार शौनक के सत्र में जिस महाभारत का पाठ हुआ था वह उसका दूसरा संस्करण है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में उल्लिखित महाभारत का यही रूप था। इसके काल का अनुमान लासैन ने ईसा से ४०० वर्ष पूर्व लगाया है। लासैन का मत है कि कृष्ण के प्रभुत्व के अनुरूप अंश

२२—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ—१

दुर्विज्ञेयं अतः सर्वैः
भारतं तु सुरैरपि ॥

आनन्दतीर्थ मध्वाचार्य : महाभारत तात्पर्य निर्णय—२/१४९

२३—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ—१

२४—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ—४

२५—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ—४

महाभारत में इसके बाद जोड़े गये हैं।[२६] डा० सुकथनकर का मत है कि लासैन यह नहीं समझ सके कि कृष्ण के प्रभुत्व के अंश निकाल देने के बाद महाभारत एक निष्प्राण ग्रन्थ रह जायेगा।[२७]

लासैन के बाद सौरैनसन ने महाभारत के मूलग्रन्थ का उद्धार करने का प्रयत्न किया, जो ऊर पाठ के नाम से प्रसिद्ध है। बार्थ ने महाभारत के मूल पाठ के निर्धारण को एक ऐसी समस्या बताया है कि जो अब सुलझने योग्य नहीं है।[२८] सौरैनसन के बाद किसी ने ऐसा प्रयत्न नहीं किया, फिर भी पश्चिमी विद्वान् महाभारत के मूल रूप के सम्बन्ध में सिद्धान्तों की कल्पना और उस मूल रूप के निर्धारण की कसौटियों का विवेचन करते रहे। लुडविग ने असंगतियों, प्रयासों, आवृत्तियों आदि को इस कसौटी के महत्त्वपूर्ण तत्व बताया। डा० सुकथनकर का विश्वास है कि ये कसौटियाँ विश्वसनीय नहीं हैं तथा इनके अनुसार महाभारत की सामग्री का विश्लेपण एक प्रकार से व्यक्तिगत धारणा का आग्रह मात्र है।[२९]

महाभारत की सामग्री के विश्लेपण का यह प्रयास अमरीकन विद्वान् हौपकिंस के अध्ययन में अपनी चरमसीमा को पहुँचता है। हौपकिंस ने भी महाभारत में एकसूत्रता का अभाव पाया है तथा उसके विभिन्न अंशों को विभिन्न कालों की रचना बताया है। उन्होंने इन विभिन्न अंशों के विश्लेपण और काल निर्धारण का प्रयत्न किया।[३०] विन्तरनित्स आदि संस्कृत साहित्य के इतिहासकारों ने भी इसी मत का समर्थन और इसी प्रणाली का अवलम्बन किया है।

होल्त्समान नामक एक जर्मन विद्वान् ने महाभारत के सम्बन्ध में एक अद्भुत सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जिसे महाभारत की आलोचना के

२६—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ—५
२७—वही : " " —पृष्ठ—५
२८—वही : " " —पृष्ठ—७
२९—वही : " " —पृष्ठ—७
३०—वही : " " —पृष्ठ—९

इतिहास में 'विपर्यय का सिद्धान्त' कहा जाता है। विदेशी विद्वानों को महाभारत के अन्तर्गत अनेक विरोध दिखाई देते हैं। उनमें एक प्रमुख विरोध यह है कि एक ओर पाण्डवों के पक्ष को धर्म का पक्ष बताया गया है किन्तु दूसरी ओर महाभारत में यह स्पष्ट है कि पाण्डवों ने भीष्म, द्रोणाचार्य, कर्ण आदि महारथियों के वध के लिए अनीति और अधर्म का मार्ग अपनाया। इस विरोध का समाधान होल्त्जमान ने इस प्रकार किया है कि मूल महाभारत कौरवों की प्रशंसा का काव्य था किन्तु बाद में उसे पाण्डवों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। इस प्रकार महाभारत की रचना में विकास नहीं विपर्यय हुआ है।[३१] डा० सुकथनकर ने होल्त्जमान के विचारों को अनर्गल बताया है। होल्त्जमान के अनुसार महाभारत का वर्तमान रूप १२०० ईसवी से पहले उपलब्ध नहीं था। बूलर आदि विद्वानों ने ऐतिहासिक खोजों के आधार पर होल्त्जमान के इस मत का खण्डन किया है। पाँचवीं शताब्दी के दानपत्र महाभारत की शतसाहस्री संहिता को प्रमाणित करते हैं।[३२]

फिर भी श्रोयडर आदि विद्वानों ने होल्त्जमान के विपर्यय के सिद्धान्त का समर्थन किया। श्रौयडर ने जो इस सिद्धान्त को नवीन रूप दिया, उसके अनुसार मूल महाभारत की रचना कुरुदेश के कवियों ने की और उसमें कुरु जाति की वीरता का वर्णन था। कुरुजाति को पाण्डवों ने, जो पांचाल देश के थे, अधर्म से पराजित किया। मूल महाभारत में पाण्डवों का पक्ष अधर्म का पक्ष था। बाद में जब कृष्ण भगवान् बन गये तो विजयी पांचालों के समर्थन से ब्राह्मण पुरोहितों ने महाभारत को पाण्डवों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया।[३३] होल्त्जमान ने अपने मत का समर्थन करने के लिए पाण्डवों की उन अनीतियों की ओर संकेत किया है, जो उन्होंने भीष्म, द्रोण और कर्ण वध के लिए अपनाई। किन्तु आश्चर्य की बात है कि उन्होंने कौरवों की अनीति की ओर ध्यान नहीं दिया। डा० सुकथनकर ने बताया है कि कौरवों ने पाण्डवों के वध के लिए घोरतर अधर्म का अवलम्बन किया था, किन्तु उनके अधर्म के पीछे छल और कुशलता की चतुर नीति थी। उन्होंने पाण्डवों को

३१—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ—१४
३२—वही : " " —पृष्ठ—१५
३३—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ—१६

जीवित जलाने का आयोजन किया था। पाण्डवों के दूत श्रीकृष्ण को मारने का प्रयत्न किया; अर्जुन का हृदय दुर्बल बनाने के लिए उन्होंने छल से अभिमन्यु का वध किया। कौरवों के यह अधर्म पूर्वतर और घोरतर हैं। इनकी तुलना में पाण्डवों की अनीति कहीं अधिक सरल और क्षम्य है।[३४] डा० सुकथनकर का यह मत होल्ट्जमान के विपर्यय सिद्धांत का स्पष्ट खण्डन करता है। उनके मत में कौरव और पाण्डवों की नीति में जो अन्तर दिखाई देता है, वह मनुष्य के भीतरी और बाहरी रूप का अन्तर है। कौरव-पाण्डवों का युद्ध मनुष्य के व्यक्तित्व के दो पक्षों का संघर्ष है। यही संघर्ष महाभारत को एक अमर ग्रन्थ बनाता है।[३५]

महाभारत के विभिन्न अंशों के विश्लेपण के प्रयास निष्फल होने पर कुछ पश्चिमी विद्वानों ने महाभारत को समग्र रूप से देखने का प्रयत्न किया। इनमें दाल्हमान का प्रयत्न सबसे अधिक अभिनन्दनीय है। दाल्हमान को महाभारत के विशाल ग्रन्थ में लक्ष्य और प्रयोजन की एकता दिखाई दी। उनके सिद्धान्त को हौपकिंस ने 'संश्लेषण' का सिद्धान्त कहा है, जो अन्य विद्वानों के विश्लेपण के सिद्धान्त से विपरीत है। दाल्हमान के अनुसार महाभारत असंगत अंशों का संकलन नहीं है। उसके प्रबन्ध और लक्ष्य में एकसूत्रता है। दाल्हमान महाभारत को एक महाकाव्य के साथ-साथ धर्मशास्त्र भी मानते हैं। उसके धार्मिक अंश प्रक्षिप्त नहीं हैं, वरन् उसका आरम्भ से ही धार्मिक रूप है। दाल्हमान का यह मत अन्य पश्चिमी विद्वानों के विपरीत है, किन्तु वस्तुतः वे महाभारत के स्वरूप को दूसरों की अपेक्षा अधिक सही समझ सके हैं। इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत के प्रबन्ध की एकसूत्रता तथा उसके धार्मिक अंशों की प्रधानता के सम्बन्ध में दाल्हमान का मत कुछ अतिरंजित है, फिर भी दाल्हमान का मत अन्य पश्चिमी विद्वानों की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट है। डा० सुकथनकर ने दाल्हमान के मत का आदर किया है, यद्यपि उनके कुछ विचारों से वे असहमत भी हैं। दाल्हमान महाभारत को इतिहास नहीं मानते, वरन् भारतीय धर्मशास्त्र का एक प्रतीक मानते हैं। द्रौपदी का

३४—डा० सुकथनकर: मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ—१७

३५—वही : " " —पृष्ठ—१९

३—महाभारत की रचना—

परम्परागत विश्वास के अनुसार महाभारत को महर्षि व्यास की रचना माना जाता है। एक लाख श्लोकों के विशाल आकार के ग्रन्थ को एक ही व्यक्ति की रचना मानने में आधुनिक विद्वान् संकोच करते हैं। महाभारत की सामग्री की विविधता के आधार पर भी वे महाभारत में कई प्रकार की रचनात्मक परम्पराओं का सम्मिश्रण देखते हैं। दूसरी ओर भारतीय परम्परा महर्षि वेदव्यास को महाभारत का ही नहीं, वरन् अठारह पुराणों का भी कर्त्ता मानती हैं। परम्परा का आदर करते हुए भी महाभारत की सामग्री और महाभारत के रचयिता दोनों की दृष्टि से महाभारत की रचना का विचार करना आवश्यक है।

महाभारत की रचना का विचार संस्कृत-साहित्य के इतिहासकारों ने कुछ ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर तथा कुछ महाभारत के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर किया है। विन्तरनित्स आदि विद्वानों ने ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि ईसा के चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व महाभारत नाम का ग्रन्थ प्रसिद्ध और प्रचलित था। आश्वलायन गृह्यसूत्र में महाभारत के अस्तित्व का सर्वप्रथम प्रमाण मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र का समय ईसा से पाँच-सौ वर्ष पूर्व है।[३६] किन्तु आश्वलायन गृह्यसूत्र, पाणिनि आदि के प्रमाणों से महाभारत के आकार और सामग्री के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलता।[३७] उक्त प्रमाणों के आधार पर विन्तरनित्स का मत है कि ईसा की चौथी शताब्दी के पूर्व महाभारत नाम का ग्रन्थ प्रसिद्ध और वर्तमान था, चाहे वह एक लाख श्लोकों का न रहा हो।[३८] विन्तरनित्स का अनुमान है कि ईसा पूर्व चौथी शताब्दी और ईसा की चौथी शताब्दी के बीच में महाभारत के वर्तमान रूप का विकास हुआ।[३९]

३६—मैकडोनल : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृष्ठ २८७

३७—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग–१—पृष्ठ ४७१ पादटिप्पणी—२

३८—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग-१—पृष्ठ ४७३

३९—वही : " " " —पृष्ठ ४७५

पंच–पतित्व हिन्दू परिवार की एकता का प्रतीक है। महाभारत का युद्ध ऐतिहासिक नहीं वरन् धर्म और अधर्म के युद्ध का प्रतीक है। दाल्हमान से पहले लुडविग ने भी महाभारत को एक प्रतीक माना था। उनके अनुसार पाण्डव पाँच ऋतुओं के और द्रौपदी पृथिवी की प्रतीक हैं। दौपदी का चीर-हरण शिशिर की नग्न पृथिवी का प्रतीक है। लुडविग के पहले लासैन ने भी प्रतीक के रूप में महाभारत की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। भारतीय विद्वानों में प्रिन्सीपल थडानी ने महाभारत को विभिन्न भारतीय दर्शनों और सम्प्रदायों की प्रतीकात्मक व्याख्या माना है।

डा० सुकथनकर का मत है कि महाभारत एक ओर एक ऐतिहासिक काव्य भी है तथा दूसरी ओर एक धर्मशास्त्र भी है। ऐतिहासिक आधार के कारण ही यह भारतीय जनता में इतना लोकप्रिय रहा है। महाभारत के पात्र और उसकी घटनायें केवल प्रतीक नहीं हैं, वरन् वे वास्तविक तथ्य भी हैं। किन्तु इनके साथ-साथ वे जीवन के गम्भीर सिद्धान्तों के प्रतीक भी बन गये हैं। इस प्रकार महाभारत एक ऐतिहासिक काव्य होने के साथ-साथ मनुष्य-समाज के संघर्षों का एक अमर प्रतीक भी बन गया है। महाभारत के धार्मिक अंश उसके अभिन्न अंग हैं तथा उसका वर्तमान रूप बहुत प्राचीन है। पश्चिमी विद्वानों के विश्लेषण अथवा विपर्यय के सिद्धान्त तथा अन्य ऐतिहासिक खोजें, जो महाभारत के वर्तमान रूप की समग्रता का तिरस्कार करती हैं, अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। पश्चिमी विद्वानों की अनेक मान्यतायें अनर्गल और आपत्ति-जनक भी हैं। भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में ही ऐसी अनर्गल कल्पनायें पश्चिमी विद्वान् करते रहे हैं और भारतीय विद्वानों की ओर से इनके प्रतिवाद का बहुत कम प्रयत्न हुआ है। यह भारतवर्ष के लिए अत्यन्त शोचनीय बात है। डा० सुकथनकर के महाभारत सम्बन्धी भाषण इस सम्बन्ध में एक अपवाद के समान हैं। उनका यह निर्देश कि भारतीय साहित्य का अध्ययन भारतीय दृष्टिकोण से होना चाहिए तथा महाभारत के सम्बन्ध में उनका यह विचार कि हमें ऐतिहासिक खोज की अनर्गल कल्पनाओं को छोड़कर महाभारत का अध्ययन स्वयं महाभारत के आधार पर करना चाहिए, सामान्य रूपसे भारतीय साहित्य तथा विशेष रूप से महाभारत के अध्ययन के लिए मार्ग–दीप के समान है।

३—महाभारत की रचना—

परम्परागत विश्वास के अनुसार महाभारत को महर्षि व्यास की रचना माना जाता है। एक लाख श्लोकों के विशाल आकार के ग्रन्थ को एक ही व्यक्ति की रचना मानने में आधुनिक विद्वान् संकोच करते हैं। महाभारत की सामग्री की विविधता के आधार पर भी वे महाभारत में कई प्रकार की रचनात्मक परम्पराओं का सम्मिश्रण देखते हैं। दूसरी ओर भारतीय परम्परा महर्षि वेदव्यास को महाभारत का ही नहीं, वरन् अठारह पुराणों का भी कर्त्ता मानती हैं। परम्परा का आदर करते हुए भी महाभारत की सामग्री और महाभारत के रचयिता दोनों की दृष्टि से महाभारत की रचना का विचार करना आवश्यक है।

महाभारत की रचना का विचार संस्कृत-साहित्य के इतिहासकारों ने कुछ ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर तथा कुछ महाभारत के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर किया है। विन्तरनित्स आदि विद्वानों ने ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि ईसा के चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व महाभारत नाम का ग्रन्थ प्रसिद्ध और प्रचलित था। आश्वलायन गृह्यसूत्र में महाभारत के अस्तित्व का सर्वप्रथम प्रमाण मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र का समय ईसा से पाँच-सौ वर्ष पूर्व है।[३६] किन्तु आश्वलायन गृह्यसूत्र, पाणिनि आदि के प्रमाणों से महाभारत के आकार और सामग्री के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलता।[३७] उक्त प्रमाणों के आधार पर विन्तरनित्स का मत है कि ईसा की चौथी शताब्दी के पूर्व महाभारत नाम का ग्रन्थ प्रसिद्ध और वर्तमान था, चाहे वह एक लाख श्लोकों का न रहा हो।[३८] विन्तरनित्स का अनुमान है कि ईसा पूर्व चौथी शताब्दी और ईसा की चौथी शताब्दी के बीच में महाभारत के वर्तमान रूप का विकास हुआ।[३९]

३६—मैकडोनल : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृष्ठ २८७

३७—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग—१—पृष्ठ ४७१ पादटिप्पणी—३

३८—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग-१—पृष्ठ ४७३

३९—वही : " " " —पृष्ठ ४७५

महाभारत और उसके रचयिता व्यास का उल्लेख ईसवी पूर्व चौथी शताब्दी में मिलता है। किन्तु इतिहास का उल्लेख वैदिक काल से ही मिलता है। विद्वानों का मत है कि वैदिक यज्ञों के अवसर पर प्राचीन आख्यानों का गायन और वर्णन होता था।[४०] इन आख्यानों में प्राचीन वीरों की गौरव-गाथायें गाई जातीं थीं। इनके गाने वाले सूत, बन्दी, चारण आदि होते थे। वैदिककाल से ही वीरों और महापुरुषों की यह कीर्ति-गाथायें भारतवर्ष में प्रचलित थीं। ये वीर-गाथायें ही उस इतिहास के अंश हैं, जिसकी चर्चा ब्राह्मणों और उपनिषदों में मिलती हैं तथा जिसे वेद के उपबृंहण का साधन माना जाता है।[४१] महाभारत का विशाल काव्यमय इतिहास इन्हीं प्राचीन गाथाओं की परम्पराओं में है। महाभारत के अन्तर्गत भरतवंशी वीरों के गृह-युद्ध की मूलकथा के अतिरिक्त अन्य अनेक उपाख्यान मिलते हैं। विद्वानों का मत है कि ये उपाख्यान वर्तमान महाभारत की संहिता के संकलन के पूर्व भारतवर्ष की बिखरी हुई गाथा-परम्परा में प्रचलित थे। ये उपाख्यान और गाथायें किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं थे। इन्हें प्राचीन लोक-काव्य कहा जा सकता है। ये एक प्रकार से सार्वजनिक-साहित्यिक-सम्पत्ति के रूप में थे।[४२] महाभारत के युद्ध की घटना भी वर्तमान महाभारत संहिता के संकलन के पूर्व इन गाथाओं और गीतियों के रूप में वर्तमान रही होगी।[४३] विन्तर-नित्स के मत में यही प्राचीन वीर-गाथा वर्तमान महाभारत का आधार है। विन्तरनित्स तथा अन्य विद्वानों का मत है कि लोक-काव्य की परम्परा में महाभारत की मूलगाथा का विस्तार होता गया तथा अन्य अनेक उपाख्यानों का भी उसमें सम्मिश्रण होता गया।[४४] इस प्रकार महाभारत का आकार बढ़ता गया। विन्तरनित्स का यह भी मत है कि ब्राह्मणों और पुरोहितों ने

---

४० – विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग-१—पृष्ठ—३११

४१—इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥
नलिनविलोचन शर्मा : साहित्य का इतिहास-दर्शन-पृष्ठ-२

४२—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग-१—पृष्ठ ३१४

४३—वही : " " —पृष्ठ ३१४

४४—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर भाग-१—पृष्ठ ३१७-३२१

बाद में ब्राह्मण धर्म के अनुकूल कथाओं और नीतियों का भी इसमें सम्मिश्रण करदिया।[४५] इस प्रकार महाभारत एक काव्यमय इतिहास के साथ-साथ धर्मशास्त्र भी बन गया।[४६] इस सम्बन्ध में दाल्हमान और होल्त्समान के मत एक दूसरे के विपरीत हैं। दाल्हमान का मत है कि महाभारत आरम्भ से ही एक धर्मग्रन्थ था, यह मत अधिकांश विद्वानों को मान्य नहीं है।[४७] इसके विपरीत होल्त्समान का मत है कि ईसा की नवीं शताब्दी के बाद ब्राह्मणों ने इसे धर्मग्रन्थ बना दिया। किन्तु अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि ईसा की पाँचवी शताब्दी से पहले महाभारत अपने वर्तमान रूप में स्थिर हो चुका था।[४८]

इस प्रकार धीरे-धीरे महाभारत में वीर-गाथाओं तथा धर्म और नीति के उपदेशों का मिश्रण और विस्तार होता गया। पश्चिमी विद्वानों के मत में वर्तमान महाभारत एक दीर्घ परम्परा का पर्यवसान है।[४९] संस्कृत साहित्य के इतिहासकारों का प्रायः यह अनुमान है कि महाभारत के वर्तमान रूप का विस्तार तीन चरणों में तथा तीन संस्करणों के रूप में हुआ है। इस मत का आधार वे वर्तमान महाभारत के अन्तर्गत मिलने वाले जय, भारत, और महाभारत के तीन नामों तथा महाभारत के गायन के तीन आरम्भों में खोजते हैं। महाभारत के अन्तःसाक्ष्य से विदित होता है कि प्राचीनकाल में महाभारत को जय काव्य भी कहा जाता था। वर्तमान महाभारत के आरम्भ में ही उसे 'जय काव्य' कहा गया है।[५०] एक अन्य स्थान पर भी विजिगीषुओं के लिए

४५—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग १ पृष्ठ ३१९

४६—मैकडोनल : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर पृष्ठ २८८

४७—वही : " " पृष्ठ २८८

४८—वही : " " पृष्ठ २८९

४९—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर भाग १—पृष्ठ ३१४-३१८

५०—नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् -
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्।
—मंगल श्लोक महाभारत

'जय' नामेतिहासोऽयम्।

जय नामक इतिहास सुनने का आदेश दिया गया है। कई स्थानों पर भारत और अन्यत्र महाभारत नाम भी मिलते हैं। महाभारत के इन तीन नामों के साथ उनके तीन आरम्भ मिल जाते हैं। महाभारत के अन्तःसाक्ष्य से ही विदित होता है कि पहले व्यास ने अपने शिष्य वैशम्पायन को महाभारत सुनाया। वैशम्पायन ने जनमेजय के नागयज्ञ के अवसर पर महाभारत सुनाया। वैशम्पायन से महाभारत सुनकर उग्रश्रवा सौति ने उसे नैमिषारण्य में शौनक ऋषि के द्वादश वर्षीय सत्र में सुनाया। इन तीन आरम्भों से पश्चिमी विद्वान् इन तीन रचयिताओं के द्वारा महाभारत के तीन संस्करणों की कल्पना करते हैं। महाभारत में मिलने वाले महाभारत की श्लोक संख्या के विभिन्न संकेतों से वे इस मत की पुष्टि करते हैं। उग्रश्रवा सौति का कथन है कि वे आठहजार आठ सौ श्लोकों का महाभारत जानते थे। व्यास का कथन है कि उन्होंने चौबीस हजार श्लोकों का महाभारत बनाया। महाभारत में यह भी कहा गया है, कि व्यास ने साठ हजार श्लोकों का महाभारत बनाया।[५१] इन प्रमाणों से पश्चिमी विद्वान् महाभारत के तीन संस्करणों में ग्रन्थ के विस्तार का अनुमान लगाते हैं। सामग्री की विविधता और इन अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर वे इस मत को प्रमाणित करते हैं।

पश्चिमी विद्वानों में दाल्हमान और लैवी महाभारत को एक ही व्यक्ति की रचना मानते हैं।[५२] किन्तु विन्तरनित्स उनके निर्णय से सहमत नहीं है। उनका मत है कि महाभारत के आदिपर्व में ही इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि महाभारत आरम्भ से ही अपने वर्तमान रूप में नहीं था तथा वह एक व्यक्ति और एक काल की रचना नहीं है। विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा विभिन्न युगों में इसका परिवर्धन होता रहा है।[५३] पश्चिमी परम्परा में दीक्षित अधिकांश भारतीय विद्वान् विन्तरनित्स के इस मत को ही मानते हैं। भारतीय परम्परा के विद्वानों में पण्डित इन्द्रनारायण द्विवेदी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सम्पूर्ण महाभारत वेदव्यास की ही रचना है तथा उसके तीन संस्करण नहीं हुए। उनके अनुसार जय, भारत और महाभारत, महा-

---

५१—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर पृ० ३२४-३२५
५२—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेटर—भाग-१ पृ० ४५६
५३—वही ” ” पृ० ४६२

भारत के तीन संस्करणों के नाम नहीं, वरन् उनके तीन पर्यायवाची नाम हैं। उनके अनुसार चौबीस हजार की श्लोक संख्या उपाख्यानों से रहित महाभारत की है तथा छियत्तर हजार श्लोकों में उपाख्यान हैं।[५४]

ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टि से विन्तरनित्स आदि पश्चिमी विद्वानों के अभिमत के आधार बहुत कुछ संगत प्रतीत होते हैं। फिर भी यह विचारणीय है कि भारतीय परम्परा में अत्यन्त प्राचीनकाल से महाभारत सतसाहस्री संहिता के नाम से विख्यात है तथा महर्षि वेदव्यास की कृति मानी जाती है। महाभारत में ही वैशम्पायन और सौति को उसका कर्त्ता नहीं, वरन् अनुगायक माना गया है। मुख्यरूप से महाभारत को वेदव्यास की कृति मानना ही उचित है। भारतीय मुनियों और विद्वानों ने अकेले ही विशाल आकार के ग्रन्थ रचे हैं। एक लाख श्लोकों के महाभारत की रचना भी उनके लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं। प्राचीन वीर-गीतियाँ महाभारत की पूर्ववर्ती हो सकती हैं, किन्तु महाभारत उनका संकलन मात्र नहीं है। अपने मूल रूप में महाभारत सम्भवतः महर्षि वेदव्यास की ही रचना है। मौखिक गायन के इस लोक-काव्य में अनुगायकों के द्वारा कुछ परिवर्धन होना स्वाभाविक है। किन्तु इन परिवर्धनों को महाभारत के संस्करण मानना आवश्यक नहीं है। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के विरोध की कल्पना पश्चिमी विद्वानों का आग्रह मात्र है। इतिहास में इस विरोध के कोई प्रमाण नहीं मिलते। वीर-गाथा धर्म, नीति आदि के विविध विषयों का सम्मिश्रण भारतीय परम्परा में एक लेखक के द्वारा भी सम्भव है। विषय और शैली की विविधता भी आवश्यक रूप से महाभारत में कई लेखकों के योग को प्रमाणित नहीं करती। तार्किक दृष्टि से महाभारत के अनेक लेखकों की कल्पना उतनी ही संदिग्ध है, जितनी कि उसके एक लेखक की कृति होने की कल्पना है। महाभारत की परम्परा और उसकी सम्पूर्ण योजना को देखते हुए उसके मौलिक रूप और उसके अधिकतम अंश को वेदव्यास की कृति मानना नितान्त अनुचित नहीं है। व्यक्तियों, स्थानों, ग्रन्थों आदि के पर्याय भारतवर्ष में बहुत प्रचलित हैं। संस्कृत पर्याय-बहुल भाषा है। अतः जय, भारत और महाभारत के नाम भी आवश्यक रूप से उसके तीन संस्करणों के सूचक नहीं हैं, वे एक ही ग्रन्थ के पर्याय भी हो सकते हैं।

५४—गीता प्रेस का महाभारत : वर्ष ३—संख्या ११ पृष्ठ ११०

४--महाभारत का काल—

ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से महाभारत के काल का निर्णय भी अपेक्षित है। भारतीय परम्परा में महाभारत के युद्ध का समय द्वापर युग का अन्त और कलियुग का आरम्भ माना जाता है। भारतीय ज्योतिष की गणना के अनुसार कलियुग के आरम्भ का समय ईसा से इकत्तीस सौ दो वर्ष पूर्व माना जाता है। पं० इन्द्रनारायण द्विवेदी ने बड़े विस्तार के साथ महाभारत के युद्ध और कलियुग के आरम्भ के काल का निर्णय बड़े विस्तृत विवेचन के साथ किया है।[५५] पश्चिमी विद्वान् भारतीय ज्योतिष की इस गणना को आदर नहीं देते। युगों की भारतीय कल्पना तथा महाभारत का युगों के साथ सम्बन्ध उन्हें काल्पनिक और अमान्य प्रतीत होता है।[५६] भारत की संस्कृति और उसका साहित्य बहुत प्राचीन है अतः भारतीयों की रुचि अपने ग्रन्थों का समय अधिक प्राचीन मानने की ओर रहती है। यूरोप की संस्कृति और उसका इतिहास अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। अतः भारतीय संस्कृति और इतिहास की प्राचीनता के प्रति उनका उचित आदर नहीं है। वे भारतीय ग्रन्थों का समय यथा सम्भव ईसवी सन् के आरम्भ के निकट रखने का प्रयत्न करते हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास में कालगणना का कोई निश्चित आधार न होने के कारण भारतीय ग्रन्थों और व्यक्तियों की प्राचीनता प्रमाणित करने का पर्याप्त साधन नहीं मिलता। इस संदेह की स्थिति में उनको भारतीय ग्रन्थों और व्यक्तियों का समय ईसा के अधिक से अधिक निकट रखने का अवसर मिलता है। अनिश्चय की अवस्था में प्राचीन ग्रन्थों और व्यक्तियों के सम्भाव्य काल की अर्वाचीन सीमा के निर्धारण की दृष्टि से उनका यह दृष्टिकोण ठीक है। किन्तु दूसरी ओर यह दृष्टिकोण भारत के प्राचीन तथ्यों के सम्बन्ध में एक अनुचित धारणा का पोषण करता है। भारत के जिन प्राचीन तथ्यों के सम्बन्ध में काल-निर्धारण के लिए पर्याप्त आधार उपलब्ध नहीं है, उनकी प्राचीनता की आस्था को आधुनिक और वैज्ञानिक मानदण्डों के अनुरोध के द्वारा खण्डित करना कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय है।

५५—गीता प्रेस का महाभारत वर्ष—३, संख्या ११, पृ० १३५।

५६—विन्तरनित्स: ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—भाग १, पृ० ४७४।

प्राचीन भारतीय संस्कृति और साहित्य बहुत विशाल है तथा उसके अनेकरूप हैं। इतने विस्तृत और विशाल साहित्य का निर्माण और विकास इतने प्राचीन काल में बहुत समय में हुआ होगा। आधुनिक मानदण्डों से इस विकास की गति की कल्पना नहीं की जा सकती। वैज्ञानिक दृष्टि से केवल बुद्ध का समय निश्चित है। उसके पूर्व कम से कम शताब्दियों का अन्तर मानकर महाभारत पुराण, दर्शन, उपनिषद्, ब्राह्मण, वेद आदि के समय का अनुमान लगाया जाता है। कालक्रम की अर्वाचीन सीमा का निर्णय तो ठीक माना जा सकता है किन्तु इससे प्राचीन ग्रन्थों के वास्तविक काल पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, वरन् इसके विपरीत उनकी प्राचीनता आच्छादित हो जाती है। इस अर्वाचीन अवधि के अतिरिक्त प्राचीन इतिहास के आधुनिक काल निर्णय उतने ही संदिग्ध हैं, जितना संदिग्ध कि विश्वासी जनों की तत्सम्बन्धी आस्था को माना जाता है। प्राचीन भारत ग्रन्थों और व्यक्तियों की अर्वाचीन अवधि के वैज्ञानिक निर्धारण ने काल-निर्णय के सम्बन्ध में स्वयं अनिश्चित होते हुए भी भारतीय इतिहास के तथ्यों की प्राचीनता को बहुत आघात पहुँचाया है, यह प्राचीन भारतीय इतिहास और उसके अध्ययन की एक आधुनिक विडम्बना है।

वेद, उपनिषद् आदि के काल निर्णय की भाँति महाभारत का काल निर्णय भी पश्चिमी विद्वानों ने उक्त वैज्ञानिक प्रणाली के अनुसार किया है। यह वैज्ञानिक प्रणाली प्राचीन ग्रन्थों और तथ्योंकी अर्वाचीन अवधि निर्धारण करके केवल यह सिद्ध करती है कि कोई अमुक ग्रन्थ अथवा व्यक्ति इस अवधि के बाद का नहीं हो सकता। यह अवधि ठीक होते हुए भी इसके निर्धारण से इन ग्रन्थों और तथ्यों का वास्तविक समय निश्चित नहीं होता, वरन् इसके विपरीत इनकी प्राचीनता की आस्था विचलित होती है। महाभारत के काल निर्णय की आधुनिक वैज्ञानिक विधि के अनुसार काल की सीमा ईसवी सन् के आरम्भ से आरम्भ होती है। ईसा की पहली शताब्दी में डायोनक्राइसोस्टोम नाम का एक ग्रीक लेखक भारतवर्ष में आया था। उसने लिखा है कि भारतवर्ष में एक लाख श्लोकों का इलियड है। यह ग्रीक लेखक दक्षिण भारत में आया था, इससे सिद्ध होता है कि ईसा की पहली शताब्दी में दक्षिण भारत में महाभारत का प्रचार था।[५७] उक्त ग्रीक लेखक का संकेत निश्चित रूप से

५७—सी० वी० वैद्य : महाभारत मीमांसा—पृ०—४३।

महाभारत की ओर है; क्योंकि भारतवर्ष में एक लाख श्लोकों का एक यही ग्रन्थ प्रसिद्ध रहा है। डायोनक्राइसोस्टोम के प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि महाभारत के अस्तित्व की अर्वाचीन अवधि ईसा की पहली शताब्दी अथवा ईसवी सन् ५० है। होल्त्समान आदि विद्वानों का यह अभिमत कि महाभारत का वर्तमान रूप ईसा की नवीं—दसवीं शताब्दी के निकट बना होगा पूर्णतः असत्य है।[५८] ईसा की सातवीं शताब्दी में कुमारिल भट्ट ने तथा कवि सुबन्धु और बाण ने महाभारत का उल्लेख किया है। ईसा की पाँचवी शताब्दी के कई दानपत्रों में एक लाख श्लोकों के महाभारत और उसके रचयिता महर्षि व्यास का बड़े आदर के साथ उल्लेख किया गया है।[५९] इसके पूर्व भी महाभारत के उल्लेख मिलते हैं। किन्तु उनमें भारत अथवा महाभारत के नाम का ही निर्देश मिलता है, महाभारत के विषय और आकार का प्रमाण नहीं मिलता। उक्त दानपत्रों से यह प्रमाणित हो जाता है कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी के पूर्व एक लाख श्लोकों का महाभारत स्थिर रूप ग्रहण कर चुका था तथा भारत के सभी भागों में उसकी कथा का प्रचार था।[६०] यदि महाभारत की इस प्रतिष्ठा और उसके प्रचार के लिए सौ दो सौ वर्ष का समय भी दिया जाय, तो यही निष्कर्ष होगा कि ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी तक एक लाख श्लोकों का महाभारत स्थिर रूप ग्रहण कर चुका था और प्रसिद्ध हो चुका था।

किन्तु इसके पूर्व महाभारत संहिता के जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे महाभारत के विषय और आकार के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं होता। उक्त दानपत्रों के पूर्व महाभारत के नाम का उल्लेख तो ईसवी पूर्व पाँचवीं शताब्दी से मिलता है। आश्वयातन गृह्यसूत्र में सबसे पहले महाभारत के नाम का उल्लेख मिलता है। साहित्य के इतिहासकार आश्वलायन गृह्यसूत्र का समय ईसवी पूर्व पाँचवीं शताब्दी मानते हैं।[६१] इसके पूर्व महाभारत के

५८—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर-भाग-१, पृ० ४६३।
मैकडोनल : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृ० २८६।
५९—वही : ,, ,, पृ० २८६।
६०—विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आवइण्डियन लिटरेचर-भाग-१, पृ० ४६३।
६१--मैकडोनल : ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर—पृ० २८७।
विन्तरनित्सः ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर भाग १, पृ० ४७१।

नाम का उल्लेख उपलब्ध साहित्य में नहीं मिलता, इसी से पश्चिमी विद्वान् ई० पूर्व पाँचवीं शताब्दी को महाभारत की रचना की प्राचीनतम अवधि मानते हैं। विन्तरनित्स का मत हैं कि ईसवी पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर ईसा की चौथी शताब्दी तक महाभारत के वर्तमान रूप का विकास हुआ है।[६२] पाँचवी शताब्दी के दानपत्रों से पहले एक लाख श्लोकों के महाभारत का कोई प्रमाण नहीं मिलता, इससे विदेशी विद्वान् यही अनुमान लगाते हैं कि इससे पहले एक लाख श्लोकों का महाभारत विद्यमान नहीं था। वे तीन संस्करणों में महाभारत का विकास मानते हैं। ईसवी पूर्व पाँचवी शताब्दी में जिस महाभारत का उल्लेख मिलता है, वह व्यास का चौबीस हजार श्लोकों वाला महाभारत रहा होगा और उसके बाद ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक एक लाख श्लोकों में उसका विस्तार हुआ होगा।

किन्तु आश्वलायन गृह्यसूत्र में भारत और महाभारत दोनों नाम मिलते हैं। आकार की विशालता के कारण ही इसको 'महाभारत' का नाम मिला है। यदि एक लाख श्लोक संख्या के कारण इसे 'महाभारत' का नाम मिला हो, तब तो ईसा से पाँच शताब्दी पूर्व इसका अस्तित्व मानना होगा। महाभारत में चन्द्रगुप्त का कहीं उल्लेख नहीं है, इससे सम्पूर्ण महाभारत का ईसा की तीसरी शताब्दी से पहले होने का संकेत मिलता है। अनेक प्राचीन ग्रन्थों के परिवर्धित रूपों में अर्वाचीन प्रसंग मिलते हैं, इससे यह प्रमाणित होता है कि मूल रूप में प्राचीन होते हुए भी आगे चलकर इन ग्रन्थों का परिवर्धन उन कालों में हुआ है, जिनका संकेत अर्वाचीन संदर्भों से मिलता है। महाभारत के सम्बन्ध में बाह्य प्रमाणों का अनुसंधान बहुत हुआ है। महाभारत के तीन नामों और विभिन्न श्लोक संख्याओं के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर उसके परिवर्धन की कल्पना की गई है, किन्तु महाभारत में मिलने वाले तथ्यों के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह अनुसंधान करने का कदाचित् कोई प्रयत्न नहीं किया गया है कि इसमें किस शताब्दी के बाद के तथ्यों का उल्लेख नहीं मिलता। ऐसे अनुसंधान से इस शताब्दी के पूर्व महाभारत के वर्तमान रूप का अस्तित्व सिद्ध हो सकेगा। यदि द्विवेदी जी के मतानुसार चौबीस हजार श्लोक

६२–विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आवइण्डियन लिटरेचर, भाग-१, पृ० ४६५-४७५।

की संख्या को महाभारत के किसी संस्करण की श्लोक संख्या न मान कर उपाख्यान रहित श्लोकों की संख्या माना जाय, और आठ हजार आठ सौ कूट श्लोकों की संख्या मान ली जाये, तो सम्पूर्ण महाभारत व्यासकृत और मौलिक सिद्ध होता है। वैशम्पायन ने जनमेजय के नागयज्ञ में महाभारत सुनाया था और वे व्यास के शिष्य थे। अतः व्यास और वैशम्पायन के महाभारतों में आकार और काल का अधिक अन्तर न रहा होगा। अनुगायन में कुछ परिवर्धन होने की सम्भावना अवश्य हो सकती है। व्यास कौरव पाण्डवों के समकालीन थे। अतः इससे भी महाभारत की प्राचीनता का संकेत मिलता है। यदि वर्तमान महाभारत की एक लाख श्लोक संख्या का प्रमाण उक्त दानपत्रों से नहीं मिलता तो उसे असिद्ध करने का भी कोई प्रमाण इससे पहले की शताब्दियों में नहीं मिलता। महाभारत के तीन नामों और तीन वक्ताओं तथा विषयों की विभिन्नता के आधार पर महाभारत के परिवर्धन आदि के सम्बन्ध में जो मत उपस्थित किये गये हैं, वे केवल सम्भावनाओं का संकेत करते हैं, उन्हें भी पूर्णतः प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। यह भारतीय विद्या की विडम्बना है कि संदिग्ध अभिमतों को भी सिद्ध प्रमाणों का पद मिलता है और संदिग्ध सम्भावनायें भारतीय परम्पराओं की पवित्रता एवं प्राचीनता को खण्डित करने के लिए पर्याप्त मानी जाती हैं।

५ – महाभारत का सनातन महत्त्व

ऊपर के प्रकरणों में महाभारत के स्वरूप, उसकी सामग्री, उसकी रचना और उसके काल के सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक विवरण एवं विवेचन किया गया है। आधुनिक और वैज्ञानिक अध्ययन में प्राचीन ग्रन्थों के विवेचन के लिए भी यह भूमिका आवश्यक है। संस्कृत साहित्य के इतिहास के प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर महाभारत के अध्ययन की यह भूमिका प्रस्तुत की गई है। इनमें विशेष महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पश्चिमी विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं। इन विद्वानों का दृष्टिकोण वैज्ञानिक अवश्य है, किन्तु प्राचीन भारतीय साहित्य की ओर अधिक आदरपूर्ण नहीं। प्रायः पश्चिमी विद्वानों के इन अध्ययनों म भारतीय साहित्य के प्रति तिरस्कार का भाव पाया जाता है। पश्चिमी विद्वानों के अधिकांश अध्ययन ऐतिहासिक ही हैं। वे प्राचीन ग्रन्थों की सामग्री, संस्करण, समय आदि के विवेचन को ही अधिक महत्त्व देते हैं। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के विषय-तत्त्व के आदरपूर्ण अध्ययन की ओर उनकी अभिरुचि कम रही है। विदेशीयता, साम्राज्यवाद, ईसाई-धर्म आदि इन विद्वानों के लिए भारतीय विचार-तत्त्व के समुचित मूल्यांकन में बाधक रहे हैं। इन विदेशी विद्वानों ने

आधुनिक युग में प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया, यह भारत के प्रति उनका चिरन्तन उपकार है। इनके मार्ग-दर्शन ने ही भारतीय विद्वानों के लिए प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन की दिशा का निर्धारण किया। अधिकांश भारतीय विद्वान उन्हीं के द्वारा निर्धारित परिपाटी के अनुसार प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन करते रहे हैं। भारतीय साहित्य बहुत प्राचीन है, तथा प्राचीन होने के कारण उससे सम्बन्ध रखने वाले ऐतिहासिक तथ्यों के निर्णय कठिन हो जाते हैं। प्रायः यह निर्णय अनिश्चित, संदिग्ध और काल्पनिक रहते हैं। किन्तु यह संदिग्ध निर्णय भी पश्चिमी विद्वानों की प्रतिभा और उनके प्रभाव से इतने महत्त्वपूर्ण बन गये हैं कि लगभग एक शताब्दी से भारतीय विद्वान् और विद्यार्थी इन्हीं में उलझे रहे हैं। खेद की बात है कि अधिकांश भारतीय विद्वान् भी प्राचीन भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में ऐतिहासिक तथ्यों के विवेचन में ही लगे रहे हैं। भारतीय विचार तत्व के आदरपूर्ण मूल्यांकन की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया गया है। प्राचीन परिपाटी के भारतीय विद्वान् भारतीय विचारतत्वों की श्रेष्ठता की जो प्रशंसा करते रहे हैं, वह आधुनिक तर्क युग में अधिक आदर नहीं पा सकती। अतः प्राचीन भारतीय विचार-तत्वों का एक ऐसा सन्तुलित मूल्यांकन अपेक्षित है, जो एक ओर ऐतिहासिक अनिश्चियों के प्रभाव से आच्छादित न हो, तथा दूसरी ओर प्राचीन परिपाटी की प्रशंसा से भी मुक्त हो। प्राचीन ग्रन्थों के तथ्यों पर आश्रित तथा जीवन के मूल्यों से अन्वित होने पर ऐसा मूल्यांकन अधिक महत्वपूर्ण बन सकेगा तथा प्राचीन भारतीय साहित्य के स्थायी गौरव की रक्षा कर सकेगा।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में "महाभारत में धर्म" का ऐसा ही विवरण, विवेचन और मूल्यांकन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। ऊपर के प्रकरणों में भूमिका के रूप में महाभारत की रचना और उसके काल के सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक विवरण आवश्यक समझकर दिया गया है। ग्रन्थ के अधिकांश भाग में महाभारत की शतसाहस्री संहिता को मानकर उसी में प्राप्त सामग्री के आधार पर महाभारत के अनुसार धर्म के स्वरूप तथा उसके विविध पक्षों का विवरण एवं विवेचन किया गया है। ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से भी प्रमाणित हो चुका है कि एक लाख श्लोकों की संहिता के रूप में महाभारत का वर्तमान स्वरूप ईसा की पाँचवीं शताब्दी में स्थिर हो चुका था। जिन प्रमाणों के आधार पर उक्त निर्णय किया गया है, उन प्रमाणों

से भी शताब्दियों पहले महाभारत का यह रूप वर्तमान रहा हो, यह बहुत सम्भव है। इससे पहले कुछ शताब्दियों में कई प्रतिभाओं के योग से एक लाख श्लोकों के महाभारत का रूप विकसित हुआ हो, यह सम्भव है। यदि भारतीय परम्परा की इस मान्यता को कि एक लाख श्लोकों का सम्पूर्ण महाभारत व्यास जी द्वारा रचित है, प्रमाणित नहीं किया जा सकता, तो दूसरी ओर महाभारत के तीन संस्करणों तथा उनके क्रमिक विकास की कल्पना भी अनुमान मात्र कही जा सकती है।

महाभारत की सामग्री और उसके समय की ऐतिहासिक समस्याओं का महाभारत के विचार तत्वों के सनातन महत्त्व पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। महाभारत की शतसाहस्री संहिता का रूप भी ईसा की पाँचवी शताब्दी में सम्पन्न हो चुका था। उसके पहले यदि महाभारत के निर्माण में व्यास के अतिरिक्त अन्य प्रतिभाओं का योग रहा हो, तो इससे महाभारत के विचार तत्वों का महत्त्व कम नहीं होता। इन विचार तत्वों का महत्त्व सनातन है, रचना, काल आदि ऐतिहासिक तथ्यों

प्रस्तुत करने का अवसर मिला है। इनमें बहुत से अनुमान खण्डित भी हो चुके हैं। जो अनुमान प्रचलित हैं, उनका भी आधार बहुत अल्प और दुर्लभ है। भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में ही ऐसे अनुमानों को आदर मिला है। यह भारत की उदारता, उदासीनता और दुर्बलता का परिणाम है।

प्राचीन साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययनों का अपना महत्त्व है। भारतीय साहित्य की प्राचीनता और इस साहित्य में भारतीयों के शाश्वत दृष्टिकोण के कारण ऐतिहासिक तथ्यों की बहुत कमी है। अतः यह ऐतिहासिक अध्ययन बहुत संदिग्ध और अनिश्चित रह जाते हैं। ऐसी स्थिति में ऐतिहासिक अध्ययन को अधिक महत्त्व देना साहित्यिक और राष्ट्रीय दोनों दृष्टियों से अनुचित है। साहित्यिक दृष्टि से यह उस साहित्य की भावना के साथ अन्याय है, जो स्वयं ऐतिहासिक तथ्यों को अधिक महत्त्व नहीं देता। राष्ट्रीय दृष्टि से संदिग्ध और अनिश्चित ऐतिहासिक निर्णय हमारे प्राचीन साहित्य की प्राचीनता और पवित्रता को आघात पहुंचाते हैं। यह आघात हमारी राष्ट्रीय भावना को भी क्षति पहुंचाते हैं; इसकी ओर भारतीय विद्वानों और विचारकों ने समुचित ध्यान नहीं दिया है। इन ऐतिहासिक अनुमानों से प्राचीन भारतीय साहित्य के सनातन तत्वों का महत्त्व भी कम हो जाता है।

प्रस्तुत अध्ययन में महाभारत के इन सनातन तत्वों में धर्म-सम्बन्धी तत्वों का विवरण एवं विवेचन प्रस्तुत किया गया है। महाभारत के धार्मिक तत्व भारतीय संस्कृति की समान परम्परा में विकसित हुए हैं तथा अन्य धर्मशास्त्रों के बहुत कुछ अनुकूल हैं। विचारों की समानता के कारण इन तत्वों का सनातन महत्त्व ऐतिहासिक तथ्यों के कारण कम नहीं होता। कथा और इतिहास के रूप में भी भारतीय परम्परा में महाभारत का सनातन महत्त्व है। महाभारत के पात्र एक सनातन व्यक्तित्व से युक्त हो गये हैं तथा महाभारत की कथा रामायण की कथा की भांति एक सनातन कथा बन गई है। धर्म सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार के विचार तत्वों का महत्त्व कथा से भी स्वतन्त्र अपने शाश्वत मूल्यों के कारण है। पश्चिमी विद्वानों ने महाभारत में मिलने वाली धार्मिक कथाओं तथा धर्मशास्त्र सम्बन्धी उपदेशों को ब्राह्मणों एवं पुरोहितों के द्वारा जोड़ी हुई बताया है। उनके मत में महाभारत का मौलिक रूप भरतवंशी क्षत्रियों का कीर्ति-काव्य है। वे क्षत्रियों और ब्राह्मणों के दृष्टिकोणों में विरोध देखते हैं। किन्तु सत्य यह है कि ऐसा विरोध भारतवर्ष में किसी

समय नहीं रहा। जातिवाद के विदेशी और भारतीय विरोधियों ने जातियों के पारस्परिक सम्बन्धों में जो विरोध का अभाव रहा है, उसकी ओर ध्यान नहीं दिया है। महाभारत में मिलने वाले धर्म-सम्बन्धी तत्व चाहे इतने विस्तृत रूप में महाभारत की मौलिक कीर्ति कथा के अन्तर्गत न रहे हों, किन्तु लगभग दो हज़ार वर्ष से मिलने वाली शतशाहस्री संहिता के वे अभिन्न अंग बन गये हैं। जिन कथा प्रसंगों के साथ यह धर्म सम्बन्धी तत्व मिलते हैं, उनके साथ उनकी बहुत कुछ सङ्गति है। इस प्रकार एक पुरातन कथा और धर्मशास्त्र दोनों ही रूपों में महाभारत का सनातन महत्त्व है। ऐतिहासिक तथ्यों की संक्षिप्त भूमिका देकर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में महाभारत के धर्म सम्बन्धी तत्वों का इसी दृष्टिकोण से विवरण और विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में महाभारत के अध्ययन के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण अपनाया गया है, उसकी प्रेरणा महाभारत के महान् और अधिकारी विद्वान् डा० सुकथनकर के विचारों से मिली है। उन्होंने अपने महाभारत सम्बन्धी ग्रन्थ में पश्चिमी विद्वानों की ऐतिहासिक खोज का विवरण देकर यह मत व्यक्त किया है कि पश्चिमी विद्वानों की ऐतिहासिक खोजें महाभारत के मुख्य लक्ष्य से दूर चली गई हैं।[६३] महाभारत के मूल और प्रक्षिप्त अंशों को पृथक् करके उसके मूल रूप के निर्धारण के प्रयास सम्भवतः सफल नहीं हो सकते।[६४] इस विश्लेषण से महाभारत के सामान्य रूप और लक्ष्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वे ज्यों के त्यों बने रहते हैं।[६५] महाभारत के जिन धर्म-सम्बन्धी अंशों को अधिकांश पश्चिमी विद्वान् बाद में जोड़ा हुआ मानते हैं, वे डा० सुकथनकर के अनुसार महाभारत के वर्तमान रूप के अभिन्न अंग बन गये हैं।[६६] अनेक प्रमाणों के साथ डा० सुकथनकर ने महाभारत में धर्म की प्रधानता का निर्देश किया है। अगले अध्याय में डा० सुकथनकर के निर्देश का विस्तृत विवरण दिया गया है। महाभारत के धार्मिक लक्ष्य और महत्त्व को ध्यान देने पर उसके विकास, काल आदि से सम्बन्ध रखने वाली ऐतिहासिक

६३—डा० सुकथनकर : मीनिंग ऑव महाभारत—पृ० १८
६४—वही „ „ पृ० ३०-३१
६५—वही „ „ पृ० २३
६६—वही „ „ पृ० ६६

आलोचना का महत्त्व बहुत कम हो जाता है।[६७] उनके मत में यह महाभारत का मुख्य लक्ष्य जीवन की धर्म सम्बन्धी समस्या है।[६८] यही महाभारत का सनातन महत्त्व है; जो ऐतिहासिक आलोचनाओं और खोजों से प्रभावित अथवा परिवर्तित नहीं होता।[६९] पश्चिमी आलोचकों ने अपने ऐतिहासिक खोज के दृष्टिकोण को प्रमुखता देकर महाभारत के इस सनातन धार्मिक महत्त्व को अत्यन्त गौण बना दिया है। ऐतिहासिक आलोचना के अरण्य में धर्म तत्त्व का यह तीर्थ लुप्त-सा हो गया है। डा० सुकथनकर महाभारत के उन विद्वानों में प्रमुख हैं जिन्होंने हमें साहस और विश्वास के साथ यह स्मरण दिलाया है कि हमारा मुख्य ध्येय महाभारत के धर्मतत्त्व की तीर्थयात्रा है। हमें ऐतिहासिक आलोचना के अरण्य में ही भटककर न रह जाना चाहिए। ऐतिहासिक आलोचना का अपना स्थान है किन्तु महाभारत के वर्तमान स्वरूप की रक्षा भारतीयों ने दो हजार वर्ष से की है।[७०] ऐतिहासिक आलोचना के निर्णयों की अपेक्षा उसका वर्तमान रूप अधिक माननीय है। जिस वर्तमान रूप में महाभारत युगों से प्रसिद्ध है, उसी रूप में प्रमाण मानकर हमें अध्ययन करना चाहिए।[७१] अपने पूर्वानुग्रह के कारण पश्चिमी विद्वान् महाभारत का सही मूल्यांकन करने में असमर्थ रहे हैं।[७२] आश्चर्य और खेद की बात यह है कि भारतीय विद्वानों का दृष्टिकोण भी पश्चिमी विद्वानों के विचारों से प्रभावित रहा है। डा० सुकथनकर ने भारतीय विद्वानों को एक महान् संदेश दिया है, उन्होंने कहा है कि अब समय आ गया है, जबकि हम अब अपने प्राचीन और पवित्र धर्मग्रन्थों का अध्ययन अपने भारतीय दृष्टिकोण से करें, जो युगों से भारतीय जनता के पथ-प्रदर्शक तथा आध्यात्मिक शान्ति के आश्रय रहे हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में डा० सुकथनकर के इसी महान् संदेश का यथाशक्ति पालन किया गया है तथा ऐतिहासिक आलोचना के अनिश्चयात्मक प्रपंच को अधिक प्रमुखता न देकर महाभारत के सनातन धर्मतत्त्व का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

६७—डा० सुकथनकर : मीनिंग अव महाभारत—पृष्ठ १२३
६८—वही " " " " पृ० १२४
६९—वही " " " " पृ० २३
७०—वही " " " " पृ० ६८
७१—वही " " " " पृ० ३१
७२—वही " " " " पृष्ठ ६५-६७

अध्याय—३

महाभारत में धर्म

१—महाभारत में धर्म का स्थान—

पश्चिमी विद्वानों ने महाभारत का अध्ययन और विवेचन मुख्यतः ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टि से किया है। विदेशी होने के नाते उनका यह दृष्टिकोण स्वाभाविक है। महाभारत के प्रति उनकी ऐसी श्रद्धा नहीं है जैसी कि भारतीय जनता की उसके प्रति रही है। अधिक से अधिक वे इतना कर सकते थे कि विद्वान् होने के नाते वे महाभारत के प्रति भारतीय श्रद्धा का आदर करते तथा इस आदर के प्रभाव से महाभारत के ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अध्ययन को आदर की मर्यादा के भीतर रखते। ऐसी स्थिति में उनको महाभारत की रचना तथा उसके पात्रों के बारे में ऐसी अनर्गल और अनादरपूर्ण कल्पनायें करने का अवसर न रहता, जैसी कल्पनायें उनकी ऐतिहासिक आलोचना में प्रायः मिल जाती हैं। इस सम्वन्ध में महाभारत के विषय में होल्त्समान, हौपकिन्स, श्रोयडर आदि विद्वानों की अनर्गल कल्पनायें स्मरणीय हैं। इनके अद्भुत मतों का उल्लेख डा० सुकथनकर ने अपने ग्रन्थ में किया है।[१] पश्चिमी विद्वानों की यह अनर्गल ऊहायें एक ओर महाभारत जैसे महान् ग्रन्थ का अनादर करती हैं, वहाँ दूसरी ओर वे इन विद्वानों के शील का भी अपमान करती हैं। केवल सम्भावनाओं और ऊहाओं के आधार पर ऐसे अनादरपूर्ण मत विद्वानों के द्वारा संसार के किसी भी महान और प्राचीन ग्रन्थ के प्रति प्रकट नहीं किये गये हैं। भारतीय अध्ययन के सम्वन्ध में ऐसे अनर्गल मत भारतवर्ष के गौरव और विद्वत्ता की मर्यादा दोनों के लिए अपमानजनक हैं।

महाभारत के सम्वन्ध में पश्चिमी विद्वानों की ऐतिहासिक और वैज्ञानिक

१—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ १४ से १८ तक

खोज का मुख्य निष्कर्ष यह है कि महाभारत के धार्मिक तत्व उसमें ब्राह्मणों के द्वारा पीछे से जोड़े गये हैं। अधिकांश पश्चिमी विद्वानों का मत यह है कि महाभारत का मूल प्राचीन सूतों के कीर्ति काव्य में है और आरम्भ में महाभारत की रचना भी ऐसे ही कीर्ति काव्य के रूप में हुई होगी। कई विदेशी विद्वान् महाभारत के इस मूल स्वरूप की खोज में भी रहे और उन्होंने अपनी दृष्टि से प्रक्षिप्त अंशों को निकालकर महाभारत के इस मूल काव्य के निर्धारण का प्रयत्न किया। भारतीय विद्वानों में श्री रमेशचन्द्र दत्त भी इसी पश्चिमी धारणा से प्रभावित रहे तथा वे महाभारत के मूल काव्य के लुप्त होने पर तथा उसमें धार्मिक तत्वों के मिश्रित हो जाने पर खेद करते रहे। उन्होंने भी अपने महाभारत के अनुवाद में महाभारत के मूल काव्य के उद्धार का प्रयत्न किया है। अधिकांश पश्चिमी विद्वान् महाभारत के धर्म सम्बन्धी अंशों को प्रक्षेप मानते हैं। किन्तु भारतीय परम्परा में महाभारत के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों की इस धारणा के विपरीत धारणा प्रचलित रही है। भारतीय परम्परा में महाभारत एक पवित्र धर्मशास्त्र के रूप में मान्य रहा है। चाहे किसी भी रूप में महाभारत का विकास हुआ हो किन्तु लगभग दो हजार वर्ष से वह अपने वर्तमान तथा धर्मप्रधान रूप में ही प्रतिष्ठित है। पाँचवीं शताब्दी के दानपत्रों में एक पवित्र धर्मग्रन्थ के रूप में ही उसका उल्लेख मिलता है। मन्दिरों में महाभारत के पाठ और गायन के प्रमाण भी मिलते हैं। धर्मराज युधिष्ठिर तथा धर्मयुद्ध के प्रसंग से जनसाधारण में धर्मशास्त्र के रूप में ही महाभारत का मान रहा है। महाभारत का इतिहास और काव्य उसके इस धार्मिक पक्ष का एक निमित्त अथवा आधार बन गया है। कथा प्रसंगों में ही धर्म के विस्तृत उद्देश्य नहीं मिलते वरन् महाभारत की कथा के मुख्य पात्र धर्म और अधर्म की विभिन्न प्रवृत्तियों के प्रतीक बन गये हैं तथा स्वयं महाभारत की मूल कथा भी इतिहास होने के साथ-साथ स्वरूपतः धार्मिक बन गई है। श्रीकृष्ण को महाभारत में सर्वत्र भगवान् का अवतार माना गया है तथा उनके नेतृत्व ने महाभारत की धार्मिकता को दिव्य एवं आध्यात्मिक बना दिया है। आकार और परिमाण की दृष्टि से भी महाभारत के धार्मिक अंश उसके मूल कथा भाग से कई गुने अधिक हैं। यह परिमाण की अधिकता भी महाभारत के धार्मिक पक्ष को प्रमुख बना देती है। पात्रों के चरित्रों में प्रतीकों के लक्षण निखरने के कारण तथा कथा के स्वरूपतः शिक्षामय बन जाने के कारण महाभारत के धार्मिक अंश उसके कथा और काव्य से समन्वित होकर

एकरस हो गये हैं। इस समन्वय के द्वारा सम्पूर्ण महाभारत का रूप धार्मिक बन गया है।

विषय की दृष्टि से भी महाभारत में धर्म की प्रधानता है। महाभारत की मूल कथा के प्रसंग में स्थान-स्थान पर महत्त्वपूर्ण धार्मिक शिक्षा दी गई है। शान्तिपर्व और अनुशासन पर्व में धर्म और नीति की शिक्षा अधिक विस्तार के साथ मिलती है। विस्तार के कारण विदेशी विद्वान् इन अंशों को पीछे से जोड़ा हुआ मानते हैं। किन्तु भीष्मपितामह के छः मास तक शरशय्या पर पड़े रहने के कारण महाभारत की कथा में एक स्वाभाविक अवकाश बन गया है तथा विस्तृत धर्मोपदेश के लिए इस अवकाश का उपयोग उचित ही किया गया है। डा० सुकथनकर ने इस रूप में महाभारत के प्रबन्ध की एकता का समर्थन किया है। अधिकांश विदेशी विद्वान् ऐसे अवकाशों और इनमें दिये गये धर्म-उपदेशों को प्रक्षिप्त मानते हैं। किन्तु लुडविग और दाल्हमान महाभारत के सम्पूर्ण प्रबन्ध की एकता को मानते हैं। इनमें एक दाल्हमान महाभारत के धार्मिक उद्देश्य को भी स्वीकार करते हैं। शान्ति पर्व और अनुशासन पर्व के अतिरिक्त अन्य अनेक कथा प्रसंगों में धार्मिक उपदेश बिखरे हुए हैं। मूलकथा के प्रसंगों के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रासंगिक उपाख्यानों में धर्म की शिक्षा दी गई है। इस प्रकार सम्पूर्ण महाभारत का रूप प्रधानतः धार्मिक बन गया है। महाभारत के काव्य को धर्म-काव्य कहना अनुचित न

शाखायें और धर्म के अनेक फल-फूल काव्य के इस कल्पवृक्ष पर विकसित हुए हैं। वर्णों और आश्रमों के धर्म तथा अन्य अनेक धार्मिक आचार इनमें विशेष रूप से गिनाये जा सकते हैं।

इस प्रकार लक्ष्य और विषय दोनों की दृष्टि से महाभारत में धर्म की ही प्रधानता है। इसी कारण दो हजार (२०००) वर्ष से महाभारत एक धर्म ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित रहा है। प्राचीन राजवंशों के युद्ध का इतिहास होते हुए भी भारतीय जनता की महाभारत के प्रति भावना धार्मिक ही रही है। ऐतिहासिक घटना होते हुए भी राम-रावण के युद्ध की भाँति कौरव-पाण्डवों का युद्ध भी एक धर्म-युद्ध बन गया है। कौरवों की अनीति और उनके अत्याचारों ने उनके पक्ष को अधर्म का पक्ष बना दिया है। युधिष्ठिर को द्यूत के लिए विवश करना, लाक्षागृह में पाण्डवों को जीवित जलाने का षड्यन्त्र, द्रौपदी का चीरहरण, अभिमन्यु का वध, द्रौपदी के पाँच पुत्रों का वध आदि कौरवों की अनीति के भीषण उदाहरण हैं। धृतराष्ट्र, भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य जैसे वृद्ध और कर्ण जैसे उदात्त चरित्र इस अनीति के साक्षी ही नहीं, वरन् साझीदार हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण कौरवपक्ष अनीति और अधर्म का पक्ष बन गया है। भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि के वध के प्रसंग में किये गये पाण्डवों के छल कौरवों की उक्त भीषण अनीतियों के सामने तुच्छ हैं। युधिष्ठिर के धैर्य तथा भीम, अर्जुन, द्रौपदी आदि के संयम ने पाण्डवों के पक्ष को धर्म का दृढ़ आधार दिया है। इतिहास होते हुए भी महाभारत के पात्र धर्म और अधर्म की वृत्तियों के प्रतीक बन गये हैं। घटनाओं के प्रसंग में भी धर्म के अनेक पक्ष प्रकट हुए हैं। कथा प्रसंगों में भी धर्म के नैतिकशील की शिक्षा तथा वर्णों और आश्रमों के आचार का विवरण महाभारत में विपुलता से मिलते हैं। इस प्रकार लक्ष्य के साथ-साथ विषय के रूप में भी महाभारत में धर्म की प्रधानता है। प्राचीन इतिहास का सुन्दर काव्य होते हुए भी प्रधान रूप से महाभारत धर्म सम्बन्धी विषयों का विश्वकोष तथा एक धर्मग्रन्थ बन गया है।

२—महाभारत का अन्तःसाक्ष्य—

भारतीय परम्परा में महाभारत को एक धर्मग्रन्थ की दृष्टि से देखा जाता है। इस परम्परा की आस्था का आधार स्वयं महाभारत में मिलता है।

यह भी सम्भव हो सकता है कि लोक-परम्परा को महाभारत के उन वचनों से प्रेरणा मिली हो जिनमें महाभारत को एक धर्मशास्त्र बताया गया है। महाभारत के आरम्भ में ही सौति ने कहा है कि महाभारत एक महान् धर्मशास्त्र है।[२] महाभारत के महात्म्य में भी महाभारत को पवित्र धर्मशास्त्र कहा गया है।[३] अपने आकार की विशालता और विषयों की प्रचुरता के कारण महाभारत भारतीय जीवन और संस्कृति का एक विश्वकोष बन गया है। उसमें धर्म के अतिरिक्त अर्थ, मोक्ष आदि के विवरण भी विपुलता से मिलते हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि महाभारत केवल एक धर्मशास्त्र है, उसमें अर्थ, काम और मोक्ष का भी समुचित वर्णन मिलता है। स्वयं महाभारत में जहाँ उसे धर्मशास्त्र कहा गया है, वहाँ इसके साथ-साथ अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र भी कहा गया है।[४] महाभारत के माहात्म्य में इसे मोक्षशास्त्र भी कहा गया है।[५] धर्मशास्त्रों में भी चारों पुरुषार्थों का वर्णन मिलता है। किन्तु धर्मशास्त्र और महाभारत दोनों में ही अर्थ तथा काम को परम साध्य नहीं माना गया है। यह दोनों धर्म के साधन हैं। धर्म के अनुकूल अर्थ और काम के उपभोग को ही मनुष्य के लिए उचित माना गया है। अर्थ और काम की मर्यादा भी धर्म से निर्धारित होती है। धर्म ही उनके औचित्य का मानदण्ड है। अतः धर्म, अर्थ और काम के त्रिवर्ग में धर्म ही प्रमुख बन जाता है। मोक्ष को जीवन का परम पुरुषार्थ माना जाता है और इस प्रकार धर्म मोक्ष का साधन बन जाता है। किन्तु मोक्ष तो अन्तिम लक्ष्य है, वह अन्त में ही प्राप्त होता है। उसके लिए जीवन भर धर्म का पालन ही प्रमुख बन जाता है। इस प्रकार मोक्ष का साधन होते हुए भी धर्म की प्रमुखता सिद्ध होती है। मोक्ष ही जीवन का साध्य है, इस दृष्टि से महाभारत में अनेक बार उसे भी धर्म कहा गया है। महाभारत के विषयों की गणना के प्रसंग में मोक्ष धर्म का उल्लेख किया गया है।[६] मोक्ष को धर्म कहने पर धर्म का अर्थ व्यापक हो जाता है और महाभारत में धर्म का महत्त्व भी बढ़ जाता है।

२—धर्मशास्त्रमिदं महत्—महाभारत आदिपर्व—अध्याय २, श्लोक ३८३।

३—धर्मशास्त्रमिदं पुण्यं—महाभारत—महात्म्य

४—धर्मशास्त्रमिदं—आदिपर्व—अध्याय ६२, श्लोक २३।

५—मोक्ष शास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनाऽमितबुद्धिना। महाभारत-माहात्म्य।

६—मोक्षधर्माश्चकथिताः विचित्राः बहुविस्तराः।
आदि पर्व—अध्याय २, श्लो० ३२८।

महाभारत को जहाँ सम्पूर्ण ज्ञान का भाण्डार कहा गया है, वहाँ भी महाभारत के विषयों के अन्तर्गत धर्म की गणना सबसे पहले की गई है। आदि पर्व में वैशम्पायन ने कहा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में जो महाभारत में है, वही अन्यत्र मिल सकता है, जो महाभारत में नहीं है, वह कहीं अन्यत्र नहीं मिल सकता।[७] इससे यही प्रमाणित होता है कि धर्म महाभारत का मुख्य विषय है। महाभारत के विषयों की गणना के प्रसंग में अनेक बार उनमें धर्म का स्मरण किया गया है। एक स्थान पर कहा गया है कि इसमें अर्थ के अतिरिक्त सम्पूर्ण धर्म का उपदेश किया गया है।[८] महाभारत के आदि पर्व में सौति ने कहा है कि महाभारत में धर्मों का रहस्य देशकाल के सहित बताया गया है।[९] शान्तिपर्व और अनुशासन पर्व में धर्म का वर्णन विशेष रूप से मिलता है। शान्तिपर्व में शरशय्या पर शयन करने वाले भीष्म के द्वारा उपदेश किये गये धर्मों का वर्णन है।[१०] इन धर्मों में राज-धर्म और आपद्धर्म के अतिरिक्त मोक्ष-धर्म भी सम्मिलित हैं।[११] तेरहवाँ पर्व अनुशासन पर्व है, उसे भी धर्म का निश्चय

७—धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥
आदिपर्व—अध्याय ६२, श्लो० ५३

८—अस्मिन्नर्थश्च धर्मश्च निखिलेनोपदिश्यते
आदिपर्व—अध्याय ६१, श्लो० १६½।

९—रहस्यं चैव धर्माणां देशकालोपसंहितम्।
आदिपर्व—अध्याय २, श्लो० ३३५।

१०—शान्तिपर्वणि धर्माश्च व्याख्याताः शारतल्पिकाः।
अआदिपर्व—अध्याय २, श्लो० ३२६।

११—राजभिर्वेदितव्यास्ते सम्यग्ज्ञानबुभुत्सुभिः।
आपद्धर्माश्च तत्रैव कालहेतुप्रदर्शिताः॥
यान् बुद्ध्वा पुरुषः सम्यक् सर्वज्ञत्वमवाप्नुयात्।
मोक्षधर्माश्च कथिताः विचित्राः बहुविस्तराः॥
आदिपर्व—अध्याय १, श्लो० ३२७, ३२८।

करने वाला बताया गया हैं।[१२] महाभारत में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का संक्षेप और विस्तार दोनों प्रकार से वर्णन है। इनके ज्ञान से दीपित महाभारत रूपी सूर्य मनुष्यों का अन्धकार दूर करता है।[१३] अनुशासन पर्व के सम्बन्ध में आदि पर्व में कहा गया है कि इसमें धर्म से सम्बन्ध रखने वाले आचार-व्यवहार का पूर्णरूप से निरूपण किया गया गया है तथा विविध प्रकार के दानों का फल, दान के विशेष पात्र, दान की उत्तम विधि, आचार का विधान, सत्य की गति आदि धर्म के रहस्य वर्णित किये गये हैं।[१४] ये सब धर्म के ही विषय हैं। इन विषयों को देखने से महाभारत में धर्म की प्रधानता प्रमाणित होती है। धर्मशास्त्रों के अनुसार धर्म का सम्बन्ध वर्णों और आश्रमों से है। धर्मशास्त्रों में वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्य अथवा धर्म बता येगये हैं। उसी प्रकार महाभारत में भी चारों वर्णों के कर्त्तव्य का विधान किया गया है। अनेक स्थानों पर वर्णों और आश्रमों के धर्मों का विवरण महाभारत में मिलता है। अनुक्रमणिका पर्व में वर्णाश्रम-धर्म को महाभारत का विषय

१२—एतत् त्रयोदशं पर्व धर्मनिश्चय कारकम्।

आदिपर्व—अध्याय १, श्लो० ३३६½

१३—धर्मार्थकाममोक्षार्थैः समासव्यासकीर्तनैः।
तथा भारतसूर्येण नृणां विनिहतं तमः॥

आदिपर्व—अध्याय १, श्लोक ८५।

१४—व्यवहारोऽत्र कात्स्न्र्येन धर्मार्थो यः प्रकीर्तितः।
विविधानां च दानानां फलयोगाः प्रकीर्तिताः॥
तथा पात्रविशेषाश्च दानानां च परो विधिः।
आचारविधि योगश्च सत्यस्य च परागतिः॥
महाभाग्यं गवां चैव ब्राह्मणानां तथैव च।
रहस्यं चैव धर्माणां देशकालोपसंहितम्॥

आदिपर्व—अध्याय २, श्लोक ३३३, ३३४, ३३५

बताया गया है।[१५] अनुक्रमणिका पर्व में विशेष रूप से ब्रह्मचर्य का उल्लेख किया गया है।[१६] किन्तु महाभारत में गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमों के धर्मों का वर्णन भी किया गया है। अनुक्रमणिका पर्व में आश्रमों के विविध धर्मों का उल्लेख महाभारत के विषयों में किया गया है।[१७] महाभारत में धर्म के अनेक रूपों का वर्णन है।[१८]

युधिष्ठिर के नायकत्व को भी महाभारत में धर्म का आधार माना जा सकता है। आदि पर्व में ही युधिष्ठिर को धर्ममय महाद्रुम कहा गया है।[१९] युधिष्ठिर धर्मपुत्र थे[२०] और धर्मराज[२१] कहलाते थे। सत्य धर्म के प्रति उनकी निष्ठा एक उदाहरण बन गई है। युधिष्ठिर के समान ही राजा शान्तनु को भी धर्ममय स्थिर और धर्मात्माओं में श्रेष्ठ बताया है[२२] राजा शान्तनु का धर्म-पूर्ण सदाचार प्रजा के लिए आदर्श था और उनके सदाचार से ही प्रजा के लोग इस निर्णय पर पहुंचे थे कि काम और अर्थ की अपेक्षा धर्म श्रेष्ठ है।[२३]

१५–चातुर्वर्ण्यविधानं च पुराणानां च कृत्स्नशः।
तपसो ब्रह्मचर्यस्य पृथिव्याश्चन्द्रसूर्ययोः॥
आदिपर्व—अध्याय १, श्लोक ६५।

१६–वही।

१७–विविधस्य च धर्मस्य ह्याश्रमाणां च लक्षणम्॥
आदिपर्व—अध्याय १, श्लो० ६४।

१८–इह मन्त्रपदं युक्तं धर्मं चानेकदर्शनम्।
आदिपर्व—अध्याय ६२, श्लो० ३६-४७ के मध्य का

१९–युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः,
आदिपर्व—अध्याय १, श्लो० १११

२० धर्माद् युधिष्ठिरो जज्ञे, आदिपर्व—अध्याय ६३, श्लो० ११५½

२१–एवं धर्मभृतां श्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः॥
आश्रमवासिक पर्व—अध्याय २, श्लोक १३

२२–वर्तमानं हि धर्मेषु सर्वधर्मभृतां वरम्।
आदिपर्व—अध्याय १००, श्लो० ६½।

२३–धर्म एव परः कामादर्थाच्चेति व्यवस्थितः।
आदिपर्व—अध्याय १००, श्लोक–५।

महाराज शान्तनु के इस आदर्श में महाभारत के अभिमत का भी संकेत मिलता है। महाभारत के अनुसार धर्म ही प्रमुख है, वही अर्थ और काम को सार्थक बनाता है, वही मोक्ष का परम साधन है। धर्म के ही विविध पक्षों का महाभारत में प्रधानता से वर्णन किया गया है। इसीलिए महाभारत के पाठ को भी एक धर्म-कृत्य माना गया है। महाभारत सम्पूर्ण श्रुतियों का समूह है। धर्मबुद्धि पुरुषों को इसका श्रवण करना चाहिए।[२४] महाभारत का श्रवण एक श्रेष्ठ धर्म है।[२५] अतः धर्मकामी मनुष्यों को महाभारत का श्रवण करना चाहिए।[२६] आदिपर्व में सौति ने ऋषियों को तथा उनके निमित्तसे महाभारत के श्रोताओं को यह आशीर्वाद दिया है कि तुम्हारी सदा धर्ममय मति हो। सौति के अनुसार धर्म ही परलोक में एकमात्र बन्धु है।[२७] युधिष्ठिर के साथ श्वान रूप में स्वर्ग जाने वाले धर्म के प्रसंग से महाभारत की यह धर्मनिष्ठा प्रमाणित होती है। महाभारत के विपुल धर्म-प्रसंगों से तथा महाभारत के उक्त अन्तःसाक्ष्यों से यह सिद्ध होता है कि मुख्य रूप से महाभारत एक धर्मशास्त्र ही है तथा धर्म का निरूपण ही उसका मुख्य लक्ष्य है। महाभारत की इसी मान्यता को आधार मानकर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में 'महाभारत में धर्म' का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अगले अध्यायों में महाभारत के धर्म प्रसंगों का विस्तृत विवरण दिया गया है। महाभारत में इन धर्म सम्बन्धी विषयों की विपुलता इस बात को प्रमाणित करती है कि महाभारत को धर्मशास्त्र मानना उचित ही है।

२४-सर्वश्रुतिसमूहोऽयं श्रोतव्यो धर्मबुद्धिभिः।
आदिपर्व—अध्याय ६२, श्लो० ३५।

२५–एष धर्मःपुरा दृष्टः सर्वधर्मेषु भारत।
आदिपर्व—अध्याय-६२, श्लोक ३६ और ३७ के मध्य का

२६–नरेण धर्मकामेन सर्वः श्रोतव्य इत्यपि।
आदि पर्व—अध्याय ६२, श्लोक ४४½।

२७-धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां
स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
आदिपर्व—अध्याय २, श्लोक ३९१।

३–डा० सुकथनकर का मत—

महाभारत के आधुनिक आलोचकों का ध्यान उसके मूल कथाकाव्य पर केन्द्रित रहा है। उनकी आलोचना का दृष्टिकोण ऐतिहासिक है। वे यह मानते हैं कि प्राचीन कीर्तिकाव्यों से महाभारत का विकास हुआ है। महाभारत की रचना किसी एक व्यक्ति ने एक काल में नहीं की, वरन् कई व्यक्तियों के द्वारा कई युगों में उसका विस्तार हुआ है। महाभारत का वर्तमान रूप इस विकास क्रम का पर्यवसान है। इस विकासक्रम में महाभारत की मूलकथा के अतिरिक्त अन्य अनेक उपाख्यान महाभारत में सम्मिलित हो गये हैं। विदेशी आलोचकों का मत है कि धार्मिक अंश महाभारत में ब्राह्मणों के द्वारा बहुत बाद में जोड़े गये हैं। होल्त्समान तो इस समय को दशवीं-बारहवीं शताब्दी तक मानते हैं।[२८] किन्तु कुमारिल, सुबन्धु और बाण तथा पाँचवीं शताब्दी के कुछ शिलालेखों से यह प्रमाणित होता है कि महाभारत का वर्तमान रूप पाँचवीं शताब्दी से पहले ही स्थिर हो चुका था। डायोक्रसोस्टोम नामक ग्रीक यात्री ने ईसा की पहली शताब्दी में लिखा है कि उसके समय में एक लाख श्लोकों का महाभारत दक्षिण भारत तक प्रचलित था। इससे प्रमाणित होता है कि ईसा के पूर्व की शताब्दियों में महाभारत का वर्तमान रूप स्थिर हो चुका था।

फिर भी अधिकांश विदेशी विद्वान् महाभारत के प्रासंगिक उपाख्यानों और उसके धार्मिक अंशों को मूल महाभारत का अंग नहीं मानते, वरन् उन्हें बाद में जोड़ा हुआ मानते हैं। उनके अनुसार महाभारत मूलरूप में एक ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्य है। अतः वे महाभारत के धार्मिक अंशों को विशेष रूप से प्रक्षिप्त मानते हैं। रमेशचन्द्रदत्त ने भी महाभारत के इस धार्मिक रूप पर खेद प्रकट किया है। विदेशी विद्वानों में एक दाल्हमान ही ऐसे हैं जिन्होंने महाभारत को काव्य होने के साथ-साथ धर्मशास्त्र भी माना है वे महाभारत के लक्ष्य को धा मक मानते हैं तथा उनके अनुसार महाभारत के धार्मिक अंश मौलिक हैं और उसके आवश्यक अंग हैं। वे

---

२८ विन्तरनित्स : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—
भाग—१, पृ० ४६३

महाभारत को एक ही व्यक्ति की रचना भी मानते हैं।[२९] दाल्हमान इस बात से वहुत प्रभावित थे कि प्राचीन काल से ही महाभारत एक धर्मग्रन्थ माना जाता था। धर्मपुत्र और धर्मराज युधिष्ठिर के नायक होने तथा कुरुक्षेत्र के धर्मक्षेत्र कहलाने से उन्हें अपनी मान्यता में बल मिलता था।[३०]

डा० सुकथनकर ने दाल्हमान की कुछ मान्यताओं का खण्डन किया है किन्तु वे दाल्हमान के इस मत का समर्थन करते हैं कि महाभारत काव्य होने के साथ-साथ धर्मशास्त्र भी है और उसका धार्मिक तत्व कथा में इस प्रकार गुथा हुआ है कि दोनों मिलकर इसे एक समन्वित रचना बनाते हैं।[३१] महाभारत का धार्मिक रूप उनके मत में प्रक्षेप नहीं है, वरन् वह वड़ी गहनता के साथ महाभारत के सम्पूर्ण रूप में समाहित हो गया है।[३२] उनके मत में नैतिक तथा धार्मिक तत्व महाभारत का प्राण है, प्रक्षेप नहीं।[३३] यह सम्भव है कि यह धार्मिक तत्व महाभारत के मूल रूप में न रहे हों, किन्तु डा० सुकथनकर का विश्वास है कि वे प्राचीनकाल में ही महाभारत में इतनी घनिष्ठता के साथ समाहित हो गये थे कि उन्हें महाभारत से अलग नहीं किया जा सकता और उनके विना महाभारत की कल्पना नहीं की जा सकती।[३४] अतः उन्होंने यह प्रस्ताव किया है कि हमें महाभारत के वर्तमान रूप को ही स्वीकार करना चाहिए, जिस रूप में कि वह युगों से लोकप्रिय है।[३५] महाभारत के इस वर्तमान रूप में उसका धार्मिक रूप ही प्रधान है। परिमाण की दृष्टि से भी यह उसके कथाभाग से कई गुना अधिक है।

डा० सुकथनकर ने अपने महाभारत सम्बन्धी भाषणों में वड़ी गम्भी-

२९—सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ—२०-२१।

३०—वही ,, पृष्ठ—२३।

३१—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ८७।

३२—वही पृष्ठ ६६।

३३—वही पृष्ठ ८५।

३४—वही पृष्ठ ६६।

३५—वही पृष्ठ ३१।

रता और बड़े विस्तार के साथ महाभारत के नैतिक तथा धार्मिक महत्त्व का प्रतिपादन किया है। उन्होंने दाल्हमान के मत का समर्थन किया है कि महाभारत महाकाव्य होने के साथ-साथ धर्मशास्त्र भी है।[३६] उनके अनुसार महाभारत की कथा का एक महान् नैतिक लक्ष्य है[३७] तथा धर्म की धुरी पर ही सम्पूर्ण कथानक घूमता है।[३८] अपने दूसरे भाषण में डा० सुकथनकर ने यह संकेत किया है कि कथा की दृष्टि से भी महाभारत का एक निश्चित लक्ष्य दिखाई देता है, उस लक्ष्य की ओर यह कथा मन्थर गति से बढ़ती जाती है।[३९] धर्म और नीति की शिक्षा के बड़े-बड़े प्रसंग कथा के बीच में मिलते हैं। आरण्यक, शान्ति और अनुशासन पर्व इसके उदाहरण हैं। किन्तु धर्म के यह प्रसंग प्रबन्ध के सौन्दर्य और गठन को भंग नहीं करते। डा० सुकथनकर ने पिसानी के इस मत का समर्थन किया है कि यह प्रसंग काल के शिथिल अन्तरालों में मिलते हैं।[४०] आरण्यक पर्व पाण्डवों के बारह वर्ष के वनवास के प्रसंग में धर्म की शिक्षा देता है। शान्ति और अनुशासन पर्व युद्ध के अन्त और महाप्रस्थान के बीच में आते हैं।[४१] काल के अन्तरालों के प्रसंग में धर्म-शिक्षा के ये तीनों ही पर्व महाभारत के अभिन्न अंग हैं। कथा के प्रबन्ध के साथ भी इनकी संगति ठीक बैठती है।[४२]

धर्म के विशेष और विस्तृत प्रसंगों के अतिरिक्त महाभारत की मुख्य कथा भी धर्म और नीति की शिक्षा से परिपूर्ण है। महाभारत का युद्ध धर्म और अधर्म का युद्ध बन गया है।[४३] पाण्डवों का पक्ष धर्म का पक्ष है और कौरवों का पक्ष अधर्म का पक्ष है। धर्म और अधर्म का यह संघर्ष देवासुर संग्राम की याद दिलाता है। महाभारत के मुख्य नायक युधिष्ठिर धर्मराज और धर्म के पुत्र हैं।[४४] आरण्यक पर्व, शान्तिपर्व और अनुशासन पर्व के

३६—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ५६।
३७—वही पृष्ठ ८९।
३८—वही पृष्ठ ९०।
३९—वही पृष्ठ ३३।
४०—वही पृष्ठ ३३-८७।
४१—वही पृष्ठ ८७।
४२—वही पृष्ठ ८६।
४३—वही पृष्ठ ६२-६३।
४४—वही पृष्ठ १३।

अतिरिक्त महाभारत की कथा के अनेक प्रसंग जीवन की गम्भीर शिक्षा देते हैं। डा० सुकथनकर के मत में महाभारत भारतीय आदर्शों का भाण्डार बन गया है।[४५] महाभारत का अन्त तो निःसन्देह एक भयंकर शिक्षा है, जिसकी ओर मनुष्य जाति को प्रत्येक महायुद्ध के बाद ध्यान देना होगा।[४६]

युद्ध होते हुए भी महाभारत का युद्ध धर्म का युद्ध है। कुरुक्षेत्र के जिस मैदान में महाभारत का युद्ध हुआ, उसे गीता के आरम्भ में धर्मक्षेत्र कहा गया है।[४७] धर्म का पालन कर पाण्डवों और द्रौपदी ने अनेक कष्ट उठाये हैं। युधिष्ठिर तो स्वभाव से ही धर्म में आरूढ़ हैं। वे द्रौपदी से कहते हैं कि मेरा मन स्वभाव से ही धर्म में स्थिर है।[४८] यक्ष के रूप में धर्म ने जो प्रश्न किये उसका उत्तर केवल युधिष्ठिर ही दे सके। धर्म रूपी श्वान के बिना युधिष्ठिर स्वर्ग में भी प्रवेश करने के लिए तैयार नहीं हुए। महाभारत के युधिष्ठिर धर्म की मूर्ति हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।[४९] वे धर्म को स्वर्ग से भी बढ़कर मानते हैं।[५०] धर्म के कारण उन्होंने कष्ट भी स्वीकार किये। धर्म का फल चाहने वाले को वह धर्म-वाणिज्यक कहते हैं।[५१] अनेक उत्तेजनाओं के होने पर भी युधिष्ठिर धर्म से विचलित नहीं होते। युधिष्ठिर के चरित्र की दृढ़ता धर्म को महाभारत का मुख्य लक्ष्य बना देती है।[५२] श्रीकृष्ण का योग धर्म के पक्ष को दिव्य बना देता है। महाभारत में सर्वत्र श्रीकृष्ण को ईश्वर का अवतार माना गया है।[५३] डा० सुकथनकर ने बड़ी

४५—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत— ,, ३०।
४६—वही ,, ६१।
४७—वही ,, ६६।
४८—धर्म एव मनः कृष्णे स्वभावात् चैव मे धृतम्।
डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत पृ० ६३
४९—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत। पृष्ठ ६४
५०—वही ,, ७४
५१—वही ,, ७३
५२—वही ,, ७७
५३—वही ,, ६३।

दृढ़ता के साथ यह विचार प्रकट किया है कि महाभारत में कोई भी ऐसा श्लोक नहीं है, जो श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व को स्वीकार न करता हो।[५४] धर्म का तत्त्व बड़ा सूक्ष्म है।[५५] तथा धर्म का रूप बड़ा जटिल है।[५६] महाभारत में राज-धर्म, कुलधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, दानधर्म, आपद्धर्म, मोक्षधर्म, स्त्रीधर्म आदि अनेक रूपों में धर्म का वर्णन किया गया है।[५७]

इस प्रकार अनेक रूपों में महाभारत में धर्म की प्रमुखता है। डा० सुकथनकर के इन्हीं निर्देशों के आधार पर प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में महाभारत में धर्म के विविध पक्षों का विवरण और विवेचन किया गया है।

४–महाभारत में धर्म और त्रिवर्ग—

भारतीय धर्मशास्त्र में मनुष्य जीवन के चार पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्मशास्त्रों में मुख्यतः धर्म का ही वर्णन है। अर्थ और काम को गौण माना गया है तथा धर्म के अनुकूल होने पर ही यह मनुष्य के योग्य बनते हैं। दर्शनों का मुख्य ध्येय मोक्ष का निरूपण है। महा-भारत में भी धर्म की प्रधानता देती है। पिछले प्रकरणों में हमने महाभारत के अन्तःसाक्ष्य और डा० सुकथनकर के मत के आधार पर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि महाभारत का प्रमुख लक्ष्य धर्म ही है। किन्तु स्वयं महाभारत में ही इस बात का प्रमाण मिलता है कि महाभारत में अर्थ, काम और मोक्ष का भी वर्णन है। धर्मशास्त्र होने के साथ-साथ महाभारत को अर्थ-शास्त्र और मोक्षशास्त्र भी कहा गया है।[५८] जिस प्रकार महाभारत धार्मिक

५४—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत—पृष्ठ ६७

५५—वही — " ८३

५६—वही — " ८३

५७—वही — " २

५८—धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥

कहना है कि,"बुद्धिमान पुरुष त्रिवर्ग को लक्ष्य मान कर कर्म करते हैं, परन्तु यदि तीनों की प्राप्ति नहीं होती है तो वे धर्म तथा अर्थ के लिए प्रयत्न करते हैं, और यदि उनमें से एक को ग्रहण करना होता है, तो केवल धर्म को ग्रहण करते हैं। मध्यम प्रकार के लोग काम और धर्म की अपेक्षा अर्थ को श्रेष्ठ मानते हैं और मूर्ख केवल काम को ही चरम लक्ष्य मानते हैं।"[६३] परन्तु वास्तविकता यह है कि धर्म से ही अर्थ और काम प्राप्त होता है और इसलिए धर्म को ही त्रिवर्ग का स्रोत कहा गया है।[६४] शान्तिपर्व में भी बतलाया गया है कि धर्म उत्तम, अर्थ मध्यम तथा काम निकृष्ट है और मनुष्य को इस तरह से आचरण करना चाहिए कि धर्म को प्रमुखता प्राप्त हो।[६५] (तस्मात् धर्म प्रधानेन भवितव्यं यतात्मना) इतना कह कर भी महाभारतकार इस बात को भली-भाँति जानते हुये प्रतीत होते हैं कि धर्म के प्रति लोगों की रुचि बहुत कम होती है। अतएव वे कहते हैं कि–

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥[६६]

"मैं ऊँचा हाथ उठाकर चिल्ला रहा हूँ, परन्तु कोई सुनता ही नहीं कि धर्म से अर्थ और काम की प्राप्ति होती है; उस धर्म का सेवन क्यों नहीं किया जाता।"

आदर्शवादी महाभारतकार का यह उपालम्भ जीवन की उस व्यावहारिक यथार्थता को सामने ला देता है, जिसमें अर्थ तथा काम सर्वत्र छाये हुए दिखाई देते हैं। इसी यथार्थता को ध्यान में रखकर कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है कि,"किसी को सुख हीन जीवन नहीं बिताना चाहिए; धर्म एवं अर्थ के अविरोधी काम का सेवन करना चाहिए........ अर्थ ही

६३—उद्योगपर्व—अध्याय १२४,श्लो० ३४-४७

६४—उद्योगपर्व—अध्याय १२४,श्लो० ३८

६५—उद्योगपर्व—अध्याय १६७,श्लो० ८-९

६६—स्वर्गारोहण पर्व-अध्याय ५,श्लो० ६२; शल्यपर्व–अध्याय ६०।श्लो०२२; द्रोणपर्व—अध्याय १५१,श्लो० ३८

प्रधान है—अर्थ पर ही धर्म और काम अवलम्बित हैं।"[६७] महाभारत में भी लौकिक जीवन की इस आवश्यकता को अनुभव करते हुए कहा गया है कि अर्थ से ही धर्म, काम और स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि अर्थ के बिना तो लोगों की जीवन यात्रा भी सम्भव नहीं। अर्थ के महत्त्व का सबसे अच्छा प्रतिपादन शांतिपर्व में अर्जुन ने इस प्रकार किया—"एक कर्मभूमि है, यहाँ वार्ता की प्रधानता है और कृषि, व्यापार, गो-पालन, तथा विविध शिल्प की प्रशंसा है। अर्थ ही समस्त कर्मों का आधार है; अर्थ के बिना धर्म और काम भी सिद्ध नहीं होते, ऐसा श्रुति का कथन है। अर्थवान् व्यक्ति भोग्य विषयों के द्वारा उत्तम धर्माचरण भी कर सकता है और दुष्प्राप्य काम की भी पूर्ति कर सकता है। श्रुति का कथन है कि धर्म और काम अर्थ के ही दो अवयव हैं और अर्थ-सिद्धि से उन दोनों की भी पूर्ति हो जाती है। इसलिए अर्थयुक्त पुरुष की सभी उपासना करते हैं।[६८] जटा और मृगचर्म धारण करने वाले, जितेन्द्रिय, संयमशील, पंकधारी, मुण्डित-मस्तक तथा वस्त्रहीन रहने वाले विरक्त व्यक्ति भी अर्थ की अभिलाषा करते हुए रहते हैं। सब प्रकार से परिग्रह-रहित, काषाय-वस्त्रधारी, दाढ़ी-मूँछ बढ़ाये, लज्जाशील, शान्त तथा मुक्त विद्वान् से लेकर स्वर्गकामी अथवा वंशपरम्परागत निज-निज धर्म का पालन करने वाले व्यक्ति भी अर्थ की अपेक्षा रखते हैं। आस्तिक, नास्तिक तथा उच्चतम संयम से युक्त व्यक्ति भी अर्थ चाहते हैं; इसलिए अर्थ की प्रधानता को न मानना तमोमय अज्ञान है और उसको स्वीकार करना ही प्रकाश तथा प्रज्ञान है। मुझे तो यही ठीक जँचता है कि जो भृत्यों को भोग तथा शत्रुओं को दण्ड दे सकता है, वही अर्थवान् है।"[६९]

त्रिवर्ग में काम के महत्त्व की सबसे बड़ी स्वीकृति इस बात से हो जाती है कि श्रीमद्भगवद्गीता में धर्माविरुद्ध काम को भगवान् का रूप कहा

६७—१,७ "धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत। न निःसुखः स्यात्... अर्थ एव प्रधान .....अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति। कौटिल्य का अर्थशास्त्र—अध्याय १,श्लो० ७

६८—शान्तिपर्व—अध्याय १६७, श्लो० ११ से १५ तक

६९—शान्तिपर्व—अध्याय १६७,श्लोक ११ से २० तक

७०—भगवद्गीता—अध्याय—७, श्लो० ११

गया है (धर्माविरुद्धो कामोऽहम्), परन्तु काम की सबसे अच्छी वकालत का श्रेय भीमसेन को है। उनका कहना है कि—"जिसमें काम नहीं, वह न तो अर्थ की कामना कर सकता है, न धर्म की और न स्वयं काम की ही; अतः काम ही सर्वश्रेष्ठ है। काम से युक्त होकर ही पत्ते, फल, मूल तथा वायु-मात्र सेवन करने वाले सुसंयत ऋषि भी तप मे समाहित होते हैं। वेदों और उपवेदों के स्वाध्याय में पारंगत व्यक्ति श्राद्ध, यज्ञ तथा दान या प्रतिग्रह में, वाणिज्य, कृषि, गो-पालन, कारीगरी, शिल्प, देवकर्म आदि सभी में जो व्यक्ति लगे हुए हैं, वे सभी काम से युक्त हैं। काम विविध रूप है और काम से सब कुछ व्याप्त है। काम ही सबका सार है और काम से रहित न कोई है, न कभी था और न कभी होगा। अर्थात् धर्म और अर्थ काम में ही स्थित हैं। जिस प्रकार दही से मक्खन निकलता है, उसी प्रकार अर्थ और धर्म से काम प्रसूत होता है; और जिस प्रकार खली से तेल, तक्र से घृत और काष्ठ से फूल और फल श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार काम, धर्म एवं अर्थ दोनों से श्रेष्ठ है। जैसे फूल से उसका रस रूप मधु श्रेष्ठ है,उसी प्रकार काम,धर्म और अर्थ से श्रेष्ठ है। काम धर्म और अर्थ की योनि है। अतः धर्म और अर्थ दोनों ही काम-रूप हैं। काम रहित होकर ब्राह्मण न अच्छे अन्न का भोजन कर सकते हैं और न कामहीन व्यक्ति ब्राह्मणों को दान ही कर सकता है। विना काम के लोक में पाई जाने वाली विविध चेष्टायें असम्भव हैं। अतः त्रिवर्ग में काम सर्वप्रथम है। मेरा यह मत बहुत गहराई में पैठ कर स्थिर किया गया है। मेरे इस कथन में आप कोई अन्यथा विचार न करें, मेरा यह वचन उत्तम, अनृशंस, तुच्छता रहित तथा श्रेष्ठ है।"[७१]

अर्थ और काम की इस जोरदार वकालत के पश्चात् धर्म के महत्त्व की स्थापना का कार्य नकुल और सहदेव ने बड़ी बुद्धिमानी से किया—"मनुष्य चाहे बैठा हो, लेटा हो, खड़ा हो अथवा इधर-उधर विचरण कर रहा हो, उसे अवश्य ही विविध उपायों द्वारा अर्थयोग को दृढ़ करना चाहिए। क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित है और इस विषय में कोई संशय नहीं हो सकता कि परमप्रिय, दुर्लभ तथा अनिवार्यतः आवश्यक होने के कारण अर्थ को प्राप्त करके ही सभी कामनाओं की प्राप्ति की जा सकती है, परन्तु जो

७१—शान्तिपर्व—अध्याय १६७,श्लो० २९ से २७ तक

अर्थ धर्म से युक्त हो और जो धर्म अर्थ से युक्त हो, उसी को अमृत संयोग कहा जायेगा। जो अर्थहीन है, उसका काम व्यर्थ है और जो धर्महीन है उसका अर्थ व्यर्थ है। अतः धर्म युक्त अर्थ से वहिष्कृत होकर लोक उद्वेग को प्राप्त होता है। इसलिए संयमशील होकर धर्म की प्रधानता रखते हुए अर्थ की सिद्धि करनी चाहिए, क्योंकि इसी प्रकार मनुष्य विश्वास पात्र बन सकता है और विश्वासपात्र प्राणियों के ही सब काम सिद्ध होते हैं। इसलिए सबसे पहले धर्म का आचरण करे, फिर धर्म युक्त अर्थ की प्राप्ति करे और तब काम की पूर्ति करे। काम की पूर्ति करके अपने परम अर्थ को प्राप्त करके सिद्धार्थ हो जावे।[७२]

अतएव धर्मशास्त्रकारों ने काम और अर्थ के महत्त्व को बराबर स्वीकार किया है, परन्तु सुविकसित माननीय व्यक्तित्व के लिए इन आवश्यक तत्त्वों को धार्मिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों से निम्नकोटि का मान कर उन्हें धर्मानुकूल बनाने पर बल दिया है। मनु ने इस विषय में विविध मतों को उद्धृत करते हुए कहा है कि--"कोई धर्म और अर्थ को श्रेष्ठ मानते हैं, कोई काम एवं अर्थ को, कोई केवल धर्म को तथा कोई केवल अर्थ को ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं, परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि त्रिवर्ग में तीनों ही श्रेष्ठ हैं।"[७३] परन्तु आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि की कामनायें पशु-जीवन के समान मानव-जीवन में भी स्वाभाविक होने से उन पर जोर देने की आवश्यकता नहीं, अपितु उनके नियंत्रण एवं नियमन की आवश्यकता है।[७४] अतः आपस्तम्ब धर्मसूत्र का कथन है कि जो मनुष्य उन सभी भोगों को भोगता है, जो धर्म के विरुद्ध न हों, तो उसको दोनों लोकों की विजय श्री मिलती है।"[७५] इसी बात को दूसरे ढंग

७२—शान्तिपर्व—अध्याय १६७,श्लो० २२ से २७ तक

७३—धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च।
अर्थ एव तथा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः॥
मनुस्मृति—अध्याय २।श्लो० २२४

७४—मनुस्मृति अध्याय ५,श्लो० ५६

७५—भोक्ता च धर्माविरुद्धान् भोगान्। एवमुभौ लोकावभिजयति।
आपस्तम्ब धर्मसूत्र—अध्याय २,श्लो० ८,२०,२२,२३

से प्रस्तुत करते हुए गौतम का कहना है कि "मनुष्य को धर्म, अर्थ तथा काम की दृष्टि से प्रातः, मध्यान्ह तथा सायंकाल को निष्फल नहीं गँवाना चाहिए, परन्तु इन तीनों में धर्म को प्रमुखता देनी चाहिए।"[७६] कामसूत्र ने भी धर्म, अर्थ तथा काम में से प्रत्येक को परवर्ती की अपेक्षा क्रमानुसार अधिक महत्त्व-पूर्ण माना हैं।"[७७] इससे स्पष्ट है कि काम और अर्थ के महत्त्व को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हुए भी, इन दोनों का धर्म-सम्मत होना अत्यन्त आवश्यक माना गया। इसीलिए आदिपर्व में ही महाभारत के माहात्म्य को बतलाते हुए महाभारतकार ने धर्म को ही मानों एक विशेष लक्ष्य मानते हुए कहा है कि "सतत उत्थानशील होकर आप लोग अपनी मति धर्म में लगायें, क्योंकि यही एक ऐसा बन्धु है, जो परलोक में गये हुए जीव का भी साथ देता है और अर्थ आदि का सेवन कितना ही निपुणता के साथ क्यों न किया जाये, परन्तु उनकी स्थिरता तथा आप्तता पर विश्वास नहीं किया जा सकता।"[७८]

५--अध्यात्म और मोक्ष—

चार पुरुषार्थों में धर्म प्रथम है। धर्म मनुष्य का नैतिक शील और आचार है। उत्तम कर्त्तव्यों का पालन धर्म है, शील उसका आंतरिक पक्ष है। धर्म के संस्कार से संस्कृत होकर तथा धर्म के अनुकूल बनकर अर्थ और काम मनुष्य के योग्य बनते हैं। प्राकृतिक होते हुए भी ऐसी स्थिति में वे धार्मिक बन जाते हैं। इस प्रकार लौकिक जीवन में धर्मपूर्ण व्यवहार मनुष्य का आदर्श माना गया है। इसी धर्म से समन्वित रूप में अर्थ और काम को भी महाभारत में अपनाया गया है। इसी रूप में महाभारत धर्मशास्त्र होने

७६—गौतम सूत्र—अध्याय ९,श्लो० ४६-४७ (तुलना करो)
तुलना करो याज्ञवल्क्य स्मृति अध्याय १,श्लो० ११५

७७—कामसूत्र अध्याय १,२।श्लो० ७-१५

७८—धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां
स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना
नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥
आदिपर्व अध्याय २, श्लो० ३९१।

महाभारत के कथानक में भी प्रचण्ड युद्धाग्नि का प्रशमन शान्ति, संन्यास तथा स्वर्गारोपण में करके, इस जयनामक इतिहास को मुमुक्षुओं के लिये भी श्रोतव्य माना गया है।

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता ॥[८३]

क्योंकि इससे मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि "क्या केवल एक भौतिक विजयगाथा मात्र मोक्ष में किंचित सहायक हो सकती है ? अथवा यह जय नाम का इतिहास एक ऐतिहासिक एवं भौतिक युद्ध की आड़ में कुछ और भी छिपाये हुए है'[८४] इस प्रसंग में यह याद रखना है कि न तो हमें यहाँ पर उन मनीषियों का खण्डन करना अभीष्ट है, जो भारत-युद्ध की ऐतिहासिकता को प्रामाणित करने में प्रयत्नशील हैं, और न भारत-युद्ध को शुद्धरूपेण काल्पनिक मानने वाले पक्ष का ही समर्थन अभीष्ट है। परन्तु भारत-युद्ध की ऐतिहासिकता में तनिक भी सन्देह किये बिना यह तो निश्चित ही है कि इस जय, भारत या महाभारत को न केवल अर्थ, धर्म एवं मोक्ष का शास्त्र कहा गया है, अपितु इसे मुमुक्षुओं के लिए श्रोतव्य बताकर, 'मोक्ष' ही को इस ग्रन्थ का चरम लक्ष्य माना गया प्रतीत होता है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि इस इतिहास को एक अध्यात्म विद्या का माध्यम बनाने का भी प्रयत्न किया गया है।[८५]

यों तो मोक्ष-सहित समस्त चतुर्वर्ग की प्राप्ति, लक्षण-ग्रन्थों के अनुसार, सभी संस्कृत महाकाव्यों का लक्ष्य होना चाहिए, परन्तु इन चारों की मीमांसा तथा अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में जितने विस्तृत तथा व्यापक रूप में महाभारत में प्राप्त है, उतनी अन्यत्र कहीं भी देखने में नहीं आती। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि महाभारत-कार ने जय नामक इतिहास के कथानक को एक आध्यात्मिक रूपक बनाने और महाभारत कथा के द्वारा एक विशेष तात्पर्य प्रकट करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार के प्रयत्न सर्वप्रथम आदिपर्व के प्रथम श्लोक में ही प्राप्त होते हैं,

---

८३—स्वर्गारोहण पर्व—अध्याय ५, श्लोक ५१

८४—सी० वी० वैद्य : महाभारत मीमांसा

८५—प्रिन्सीपल थडानी : मिस्ट्रीज आव महाभारत

जिसमें नारायण और नर को नमस्कार किया गया है,[८६] क्योंकि जैसा आगे चलकर कहा गया है कि यह नारायण और नर महाभारत कथा के कृष्ण और अर्जुन ही हैं।[८७] इसके अतिरिक्त महाभारत की अनुक्रमणिका के लगभग प्रारम्भ में ही स्पष्ट बतलाया गया है कि महाभारत के कथानक की सृष्टि दो महाद्रुमों के मेल से हुई है, जिनमें से एक दुर्योधन नामक मन्युमय महावृक्ष है, जिसका स्कन्ध कर्ण है, शकुनि शाखा है, दुःशासन पुष्प-फल है तथा अज्ञानी धृष्टराष्ट्र मूल हैं,[८८] और दूसरा युधिष्ठिर नामक धर्ममय महावृक्ष है, जिसका स्कन्ध अर्जुन है, शाखा भीमसेन है, नकुल-सहदेव पुष्प-फल हैं तथा उसके मूल ब्रह्मरूप कृष्ण तथा ब्राह्मण हैं।[८९]"

आगे चलकर अंशावतरणपर्व[९०] में कथा के विभिन्न पात्रों का जो दिव्य जन्म बतलाया गया है, उसमें भी इसी प्रकार का तात्पर्य दिखाई पड़ता है। सबके सब पात्र किसी न किसी दिव्य शक्ति के अंशावतार मात्र हैं, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

महाभारत के पात्र	अंशी
भीष्म	वसु
विदुर, युधिष्ठिर	धर्म
कर्ण	सूर्य
कृष्ण, बलराम	विष्णु
धृष्टद्युम्न, द्रौपदी	यज्ञाग्नि
भीम	वायु
अर्जुन	इन्द्र
नकुल, सहदेव	अश्विनौ

८६—नारायणंनमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥
आदि पर्व—अध्याय १, श्लो० आरम्भ का

८७—आदिपर्व—अध्याय १, श्लो० १७४

८८—आदिपर्व अध्याय १, श्लो० ११०

८९—आदिपर्व अध्याय १, श्लो० १११

९०—देखिये अध्याय ६३, श्लो० ९१ से ११७

के साथ-साथ अर्थशास्त्र और कामशास्त्र भी हैं। धर्म, अर्थ और काम के त्रिवर्ग एक प्रकार से जीवन की त्रिवेणी हैं। किन्तु मोक्ष जीवन का गंगासागर है। त्रिवर्ग की त्रिवेणी इसी की ओर प्रवाहित होती है। मोक्ष जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। मोक्ष को हम आध्यात्मिक लक्ष्य कह सकते हैं। जीवन के आचार और व्यवहार में त्रिवर्ग का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी महाभारत में इस बात को नहीं भुलाया गया है कि त्रिवर्ग स्वयं में साध्य नहीं है, अपितु मनुष्य के उस परम पुरुषार्थ का साधन मात्र है; जिसको मोक्ष कहागया है। मोक्ष-धर्म-पर्व के अनेक अध्यायों में विविध प्रकारके मोक्ष और मोक्ष मार्गों का स्पष्ट तथा संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। परंतु थोड़े शब्दों में त्रिवर्ग के लक्ष्य-रूप मोक्ष के महत्त्व का निरूपण शान्तिपर्व में युधिष्ठिर ने अर्जुन, भीम, नकुल तथा सहदेव के उक्त वचनों को सुनने के पश्चात् इस प्रकार किया है—"आप सब लोग प्रमाणों को जानने वाले हैं और आपने निःसन्देह धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों पर कुछ निश्चित मत बना लिया हैं। मैं आप लोगों के विचारों को जानना चाहता था, इसलिए आपने अपने अपने जो निश्चित मत मेरे सामने व्यक्त किये, उसको मैंने सुना। अब आप से जो कुछ कह रहा हूँ उसको भी अनन्य भाव से सुनिये। जो मनुष्य न पाप में, न पुण्य में, और न अर्थ, धर्म या काम में लगा हुआ है, अपितु जो सब दोषों से मुक्त है और जिसके लिए लोष्ट और सोना (कांचन) दोनों ही बराबर हैं, वही सुख दुःख आदि देने वाली अर्थसिद्धियों से मुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति पूर्वजन्म की बातों का स्मरण करते हैं तथा विकारों से युक्त हैं, वे संसार के विविध दुःखों से प्रतिबोधित होकर पुनः पुनः मोक्ष की प्रशंसा करते है। परन्तु हम लोग उसको जानते भी नहीं। स्वयंभू का वचन है कि जो राग से युक्त है उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। बुद्धिमान लोग ही निर्वाण-परायण हो सकते हैं, अतः मनुष्य को प्रिय अथवा अप्रिय किसी से राग या द्वेप नहीं करना चाहिए, यही प्रमुख बात है, न कि काम-परायणता। जिस प्रकार मुझे नियुक्त किया गया है, उसी प्रकार मैं कार्य कर रहा हूँ। सभी प्राणियों को विधि भिन्न-भिन्न ढंग से कार्य में नियुक्त करता है, इसलिए सब लोग इस बात को समझ लें कि विधि ही सबसे बड़ा बलवान् है। कोई भी व्यक्ति, केवल कर्म के द्वारा, अप्राप्य अर्थ को नहीं प्राप्त कर सकता। जो होनहार होता है, वह होकर रहता है। इस बात को जान लो। इसी के अनुसार त्रिवर्गहीन मनुष्य भी लोक हित के

लिए गुह्य अर्थ को प्राप्त कर लेता है।"[७९] इसी प्रकार शान्ति पर्व में त्रिवर्ग सम्मत आश्रम-धर्म, वर्ण-धर्म, राज-धर्म आदि का उपदेश करने के पश्चात् युधिष्ठिर द्वारा पूछे जाने पर भीष्म ने त्रिवर्ग के साध्य मोक्ष की ओर इस रूप में संकेत किया है—"सर्वत्र स्वर्ग देने वाले धर्म तथा सत्य को प्राप्त कराने वाले तप का विधान है। धर्म के अनेक द्वार हैं, परन्तु धर्म की क्रिया फल-हीन नहीं है। जो-जो व्यक्ति जिस-जिस विषयमें विशेष निश्चय प्राप्त कर लेता है, वह केवल उसी को पहचानता है और किसी दूसरे को नहीं। परन्तु इसमें भी कोई संशय नहीं कि वह जैसे-जैसे इस सम्पूर्ण लोक-तन्त्र की असारता को समझता जाता है, वैसे ही वैसे वह उससे विरक्त होता जाता है। इसलिए अनेक दोषों से पूर्ण होने के कारण इस लोक में बुद्धिमान् मनुष्य को आत्ममोक्ष के निमित्त ही प्रयत्न करना चाहिए।"[८०]

अतः सौति उग्रश्रवा ने अपनी कृति की कल्पना "भारतद्रुम" के रूप में करते हुए, जब उसके अमृतरस के रूप में 'अश्वमेधपर्व' को ग्रहण किया और उसके पश्चात् आने वाले त्रिवर्ग सम्मत राजधर्म, वर्णधर्म, आश्रम-धर्म आदि को वृक्ष द्वारा प्रदत्त आश्रय-स्थान कह कर, उसके स्वादिष्ट, सुमेध्य, सरस, अच्छेद्य तथा शाश्वत 'पुष्पफलोदय' का वर्णन,[८१] तो सम्भवतः उनका उद्देश्य 'मोक्षमार्ग पर्व' के प्रतिपाद्य विषय 'मोक्ष' से ही है; क्योंकि उपर्युक्त रूपक में ग्रन्थगत पूर्वापर संबन्ध के अतिरिक्त, जैसा कि डा० फतहसिंह ने 'भारतीय समाज-शास्त्र[८२]' में कहा है। आश्रम धर्म का आधार जहाँ इच्छा-ज्ञान-क्रिया-संवलित त्रिविध श्रम है, वहाँ मोक्ष का आधार है शम—श्रम की परिणति 'रेफ' को खोकर जब 'शम' में हो जाती है, तभी आश्रम-धर्म के चरम लक्ष्य मोक्ष या ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति होती है। इसी का प्रतिपादन न केवल शान्ति पर्व में आश्रम धर्मों का अन्त मोक्ष धर्म में करके दिखाया गया है, अपितु समस्त

७९—शान्तिपर्व—अध्याय १६७, श्लो० ४१ से ४८ तक

८०—शान्तिपर्व—अध्याय १७४, श्लो० १ से ५ तक

८१—तस्य वृक्षस्य वक्ष्यामि शश्वत्पुष्पफलोदयम्।
स्वादुमेध्यरसोपेतमच्छेद्यममरैरपि॥
शान्ति पर्व—अध्याय १, श्लो० ६३

८२—विस्तार के लिए, देखिए 'भारतीय समाज शास्त्र' पृष्ठ ७५-८५

महाभारत के कथानक में भी प्रचण्ड युद्धाग्नि का प्रशमन शान्ति; संन्यास तथा स्वर्गारोपण में करके, इस जयनामक इतिहास को मुमुक्षुओं के लिये भी श्रोतव्य माना गया है।

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता ।।[८३]

क्योंकि इससे मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि "क्या केवल एक भौतिक विजयगाथा मात्र मोक्ष में किंचित सहायक हो सकती है ? अथवा यह जय नाम का इतिहास एक ऐतिहासिक एवं भौतिक युद्ध की आड़ में कुछ और भी छिपाये हुए है"[८४] इस प्रसंग में यह याद रखना है कि न तो हमें यहाँ पर उन मनीषियों का खण्डन करना अभीष्ट है, जो भारत-युद्ध की ऐतिहासिकता को प्रामाणित करने में प्रयत्नशील हैं, और न भारत-युद्ध को शुद्धरूपेण काल्पनिक मानने वाले पक्ष का ही समर्थन अभीष्ट है। परन्तु भारत-युद्ध की ऐतिहासिकता में तनिक भी सन्देह किये विना यह तो निश्चित ही है कि इस जय, भारत या महाभारत को न केवल अर्थ, धर्म एवं मोक्ष का शास्त्र कहा गया है, अपितु इसे मुमुक्षुओं के लिए श्रोतव्य वताकर, 'मोक्ष' ही को इस ग्रन्थ का चरम लक्ष्य माना गया प्रतीत होता है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि इस इतिहास को एक अध्यात्म विद्या का माध्यम वनाने का भी प्रयत्न किया गया है।[८५]

यों तो मोक्ष-सहित समस्त चतुर्वर्ग की प्राप्ति, लक्षण-ग्रन्थों के अनुसार, सभी संस्कृत महाकाव्यों का लक्ष्य होना चाहिए, परन्तु इन चारों की मीमांसा तथा अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में जितने विस्तृत तथा व्यापक रूप में महाभारत में प्राप्त है, उतनी अन्यत्र कहीं भी देखने में नहीं आती। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि महाभारत-कार ने जय नामक इतिहास के कथानक को एक आध्यात्मिक रूपक वनाने और महाभारत कथा के द्वारा एक विशेष तात्पर्य प्रकट करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार के प्रयत्न सर्वप्रथम आदिपर्व के प्रथम श्लोक में ही प्राप्त होते हैं,

---

८३—स्वर्गारोहण पर्व—अध्याय ५, श्लोक ५१
८४—सी० वी० वैद्य : महाभारत मीमांसा
८५—प्रिन्सीपल थडानी : मिस्ट्रीज आव महाभारत

जिसमें नारायण और नर को नमस्कार किया गया है,[८६] क्योंकि जैसा आगे चलकर कहा गया है कि यह नारायण और नर महाभारत कथा के कृष्ण और अर्जुन ही हैं।[८७] इसके अतिरिक्त महाभारत की अनुक्रमणिका के लगभग प्रारम्भ में ही स्पष्ट बतलाया गया है कि महाभारत के कथानक की सृष्टि दो महाद्रुमों के मेल से हुई है, जिनमें से एक दुर्योधन नामक मन्युमय महावृक्ष है, जिसका स्कन्ध कर्ण है, शकुनि शाखा है, दुःशासन पुष्प-फल है तथा अज्ञानी धृष्टराष्ट्र मूल हैं,[८८] और दूसरा युधिष्ठिर नामक धर्ममय महावृक्ष है, जिसका स्कन्ध अर्जुन है, शाखा भीमसेन है, नकुल-सहदेव पुष्प-फल हैं तथा उसके मूल ब्रह्मरूप कृष्ण तथा ब्राह्मण हैं।[८९]"

आगे चलकर अंशावतरणंपर्व[९०] में कथा के विभिन्न पात्रों का जो दिव्य जन्म बतलाया गया है, उसमें भी इसी प्रकार का तात्पर्य दिखाई पड़ता है। सबके सब पात्र किसी न किसी दिव्य शक्ति के अंशावतार मात्र हैं, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

महाभारत के पात्र	अंशी
भीष्म	वसु
विदुर, युधिष्ठिर	धर्म
कर्ण	सूर्य
कृष्ण, बलराम	विष्णु
धृष्टद्युम्न, द्रौपदी	यज्ञाग्नि
भीम	वायु
अर्जुन	इन्द्र
नकुल, सहदेव	अश्विनी

८६—नारायणंनमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥
आदि पर्व—अध्याय १, श्लो० आरम्भ का

८७—आदिपर्व—अध्याय १, श्लो० १७४

८८—आदिपर्व अध्याय १, श्लो० ११०

८९—आदिपर्व अध्याय १, श्लो० १११

९०—देखिये अध्याय ६३, श्लो० ९१ से ११७

सात्यिकी	सत्यक
कृतवर्मा	हृदिक
द्रोण	अग्निपुत्र भरद्वाज तथा द्रोणी
शकुनि	सुवल (असुरराज प्रह्लाद का शिष्य)

इसी प्रकार अन्त में स्वर्ग पहुंचकर ये सभी पात्र अपने-अपने पार्थिव शरीर को छोड़कर मूल दिव्यांश रूप को[९१] ग्रहण कर लेते हैं। स्वर्गारोहण पर्व में इसका वर्णन करते हुए, निम्नलिखित पात्रों को भी अपने-अपने अंशी में विलीन होते हुए दिखलाया गया है—

महभारत के पात्र	अंशी
धृतराष्ट्र, गान्धारी	कुबेर
विराट, द्रुपद आदि	विश्वेदेवा
शकुनि	द्वापर
अभिमन्यु	सोम
दुर्योधन तथा उसके सहायक	कुबेर, इन्द्र, वरुण

इन संकेतों के आधार पर अथवा इनसे ही संकेत या प्रेरणा पाकर ही सम्भवतः कई विद्वानों ने महाभारत में रहस्य, तात्पर्य अथवा गुह्य अर्थ ढूढ़ने का प्रयत्न किया है। इस सम्वन्ध में थडानी महोदय का प्रयत्न विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि उन्होंने लगभग दो हजार पृष्ठों में वहुत परिश्रमपूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि "हिन्दू विचारधारा की सभी पद्धतियाँ परस्पर सम्वन्ध रखती रहती हैं, और इन्हीं के पारस्परिक सम्वन्ध, सहयोग तथा विरोध के आधार पर ही पुराण, रामायण तथा महाभारत की विभिन्न कथाओं और आख्यानों का सृजन हुआ है। मन, वुद्धि, चित्त और पंच तन्मात्रा जीवन की आठ शक्तियाँ हैं तथा ये चतुर्विध जीव-वर्ग में व्यक्त हो रही हैं। कथाओं और आख्यानों के सृजन में इन्हीं शक्तियों आदि को स्त्री-पुरुषों का रूप दे दिया गया है। महाभारत में उन्हीं विभिन्न विचारधाराओं के संघर्ष का

९१—स्वर्गारोहण पर्व अध्याय ३, श्लो० ४२
,, अध्याय ४, श्लो० २ से लेकर २१ तक
,, अध्याय ५, श्लो० १० से लेकर २८ तक

चित्रण हुआ हैं, जो कि सबकी सब मनुष्य के मानस-क्षेत्र में समवेत होती हैं। मन का अधिष्ठात्री देव चन्द्रमा है, अतः महाभारत के कौरव, पाण्डव तथा कृष्ण को चन्द्रवंशी वतलाया गया है।"[९२] उनके मतानुसार कौरव न्याय-दर्शन के प्रतिनिधि हैं तथा पाण्डव वैशेषिक के। कौरव पक्ष में भीष्म दर्शन के ईश्वर हैं, जो दर्शन में अकर्त्ता होने के कारण भीष्म रूप में अविवाहित रहते हैं। धृतराष्ट्र, वैशेपिक में जन्म लेकर भी आँखें मूँदकर न्याय दर्शन का अनुगमन करते हैं, अतः अन्धे माने गये हैं। विदुर वैशेपिक में जन्म लेकर पाण्डवों के योग और कौरवों के न्याय दोनों से ही सम्बन्ध रखते हैं। अश्वत्थामा वैशेपिक दर्शन के मन हैं और ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों से सम्बन्ध रखते हैं। कृपाचार्य शुद्ध सांख्य मत के अनुसार कर्म के प्रतिनिधि हैं तथा शकुनि न्यायमत के होते हुए भी सांख्य मत की ओर झुके हुए हैं। इसी प्रकार पाण्डव पक्ष में युधिष्ठिर को वैशेपिक की बुद्धि, भीम को मन, अर्जुन को प्राण, नकुल-सहदेव को पाणि-पाद, कुन्ती को पृथिवी और द्रौपदी को यज्ञ-क्रिया वतलाया गया है। यह वहुत ही व्यौरेवार तथा विस्तार के साथ निरूपण किये जाने पर भी थडानी महोदय का प्रयत्न वहुत स्पष्ट तथा सुवोध नहीं प्रतीत होता, यद्यपि उपर्युक्त महाभारत वर्णित संकेतों के आधार पर इस वात को अस्वीकार करना सम्भव नहीं कि महाभारत का काव्य कोरा इतिहास मात्र ही नहीं, अपितु उससे कुछ अधिक भी है।

डा० सुकथनकर ने अपने चतुर्थ भाषण में महाभारत के आध्यात्मिक पक्ष का विवरण किया है। श्रीकृष्ण को परमात्मा मानकर उन्होंने जीवन के आध्यात्मिक लक्ष्य के साथ महाभारत की संगति दिखाने की चेष्टा की है। महाभारत धर्म और अधर्म का युद्ध है। परमात्मा इस द्वन्द्व से परे है। उसी की प्राप्ति मोक्ष है।[९३] आत्मा के रूपक का उन्होंने वड़ी सूक्ष्मता के साथ निर्वाह किया है। श्रीकृष्ण परमात्मा हैं, अर्जुन नरोत्तम हैं, अन्य पात्र जीवात्मा की अन्य अवस्थायें हैं। उदाहरण के लिए धृतराष्ट्र गीता की 'अहंकार-विमूढ़-आत्मा' (३.२७) हैं। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र जीव की विभिन्न आकांक्षाओं के रूप हैं। नरोत्तम अर्जुन धर्म का पक्षपाती है। इस प्रकार महाभारत सामाजिक

९२—थडानीकृत : "मिस्ट्रीज आव महाभारत", भाग १ भूमिका पृ० २२-२३
९३—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत-पृष्ठ ९२

अध्याय — ४

धर्म के रूप

१—'धर्म' शब्द का अर्थ—

'धर्म' शब्द का अर्थ बहुत विविध और व्यापक है। एक ही निश्चि और सीमित अर्थ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग नहीं होता। एक ही 'धर्म' श भाषा और विचार की परम्परा में अनेक अर्थों का वाचक बन गया है। इन कुछ अर्थ अधिक व्यापक हैं और कुछ कम, कुछ अर्थ सामान्य हैं और कु विशेष। 'धर्म' शब्द का सबसे व्यापक अर्थ उसके व्याकरणगत मूल धातु ' पर आश्रित है। 'धृ' का अर्थ धारण करना है।[1] 'धृ' धातु से निर्मित हो के कारण 'धर्म' का अर्थ 'धारण करने वाला' है। जो धारण करता है, व 'धर्म' है।[2] धर्म से अभिप्राय उन गुणों अथवा लक्षणों से है, जो किसी वस् के स्वरूप को धारण करते हैं। धारण करने का अर्थ अपनाना, पाल करना और बनाये रखना है। योग-दर्शन में एक ही विषय में चित्त क स्थिरता को 'धारणा' कहते हैं।[3] साधारण व्यवहार में किसी मनुष्य के ए निश्चित विचार अथवा विश्वास को 'धारणा' कहते हैं, यथा "यह मेरी धारण है।" 'धारणा' के सभी प्रयोगों में स्थिरता का भाव पाया जाता है। स्थिरत का अभिप्राय एक निश्चित रूप के बने रहने से है। स्वरूप की स्थिरता व निर्वहण अथवा संरक्षण 'धारणा' का मुख्य लक्षण है।

१—राधाकृष्णन् : हिन्दुओं का जीवन-दर्शन—पृष्ठ-७४

" रिलीजन एण्ड सोसाइटी—पृष्ठ-१०७

२—देशबन्धः चित्तस्य धारणा—योगसूत्र—३—१

३—धारणात् धर्ममित्याहुः

महाभारत-शान्तिपर्व—अध्याय १०६-११

है।"[७] महाभारत के उक्त श्लोक में धर्म का प्रयोग कर्त्ता के रूप में किया गया है। 'धर्म' प्रजा का धारण करने वाला है। अन्य धर्मशास्त्रों में धर्म का प्रयोग कर्म के रूप में किया गया है। अहिंसा, सत्य आदि धर्म के ऐसे लक्षण हैं, जिनको मनुष्य धारण करता है अथवा जिनका मनुष्य पालन करता है।

महाभारत में प्रजा अथवा मनुष्य का धारण करने वाले जिस 'धर्म' को मुख्य माना गया है वह मनुष्य का सामान्य धर्म है। इसे हम 'मानव-धर्म' कह सकते हैं। वह मनुष्य के स्वरूप का धारण करता है। वह मनुष्य के मनुष्यत्व का रक्षक है। मनुष्य का यह धर्म स्वतन्त्र है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा से इसे धारण करता है। दूसरी ओर वह 'धर्म' मनुष्य के मनुष्यत्व की रक्षा करता है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः'[८] केप्रसिद्ध धर्म सूत्र का यही अर्थ है। मनुष्य के द्वारा स्वतन्त्र-इच्छा-पूर्वक धारण किये जाने पर 'धर्म' उसके मनुष्यत्व और प्रजा अर्थात् समाज का धारण अथवा रक्षण करता है। धर्म का यह सामान्य मानवीय रूप ही लोक के कल्याण का मार्ग है, यही महाभारत के उक्त वचन का आशय है।

'धर्म' के उक्त अर्थ में 'धारण' की सकर्मक क्रिया के दोनों रूप घटित हो जाते हैं। प्रजा के धारण करने के अर्थ में 'धर्म' 'कर्त्ता' है। वह प्रजा का धारण करने वाला है। जब मनुष्य उस 'धर्म' का धारण अथवा पालन करता है, तो वह 'धर्म' 'कर्म' बन जाता है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' में 'धर्म' के कर्त्ता और कर्म दोनों रूपों का समाहार है। रक्षक के रूप में धर्म 'कर्त्ता' है तथा रक्षित के रूप में वह 'कर्म' है। धर्म के सामान्य मानवीय रूप के अतिरिक्त उसके अन्य रूपों में भी धर्म के कर्त्ता और कर्म भाव घटित होते हैं। धर्म के

७—धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यः स्योद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥

शान्तिपर्व—अध्याय १०६—११

८—मनुस्मृति ८—१५

ये अन्य रूप तीन प्रकार के हैं— (१) प्राकृतिक धर्म (२) विशेष धर्म और (३) सम्प्रदाय धर्म। प्राकृतिक धर्म भौतिक अवस्थाओं के सहज अथवा नैसर्गिक लक्षणों को कहते हैं। इनको 'स्वभाव कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए अग्नि जलती है। यह जलना अग्नि का 'धर्म'' है। यह अग्नि का सहज नैसर्गिक स्वभाव अथवा व्यवहार है। भारतीय विचार-धारा में इसे 'धर्म' कहा जाता है। इसमें 'धर्म' शब्द का मूल अर्थ घटित होता है। 'कर्म' के भाव में अग्नि इस 'ज्वलन धर्म'' को धारण करती है। कर्त्ता के भाव में यह 'ज्वलन धर्म'' अग्नि के स्वरूप की रक्षा करता है। न जलने वाली शीतल अग्नि को 'अग्नि' कहना भी उचित न होगा। इसी प्रकार प्राण रक्षा करना ओषधि का धर्म है, जो ओषधि प्राण-घात करे उसे 'विष' कहना ठीक होगा। व्यापक प्रकृति में यह धर्म एक नैसर्गिक नियम अथवा व्यवस्था बन जाता है। सूर्य का धर्म उदित होना, लोकों को प्रकाशित करना आदि है। यही प्राकृतिक धर्म वैदिक 'ऋत' का आधार है। इसी प्राकृतिक नियम के सूत्र में 'ऋत' मानवीय 'धर्म'' का मूल स्रोत बना है।

'विशेष धर्म'' मनुष्य की विशेष और विभिन्न सामाजिक परिस्थितिओं तथा उसके विशेष सामाजिक सम्बन्धों में उत्पन्न होते हैं। गुरु का धर्म शिष्य को पढ़ाना है, माता का धर्म सन्तान का पालन करना है, सैनिक का धर्म लड़ना है। जीवन की विशेष परिस्थितियों और विशेष सम्बन्धों में मनुष्य का जो उचित कर्तव्य है, वही उसका 'धर्म'' है। यह सामान्य-मानव-धर्म का ही विशेष रूप है। इसमें भी कर्त्ता और कर्म दोनों के भाव घटित होते हैं। 'कर्म' के रूप में मनुष्य धर्म-रूप विशेष कर्तव्य का पालन करता है। 'कर्त्ता' के रूप में यह धर्म मनुष्य के विशेष सम्बन्ध की रक्षा करता है। शिक्षा देने वाला गुरु ही सच्चा गुरु है, पालन करने वाली माता ही माता है, लड़ने वाला सैनिक ही सैनिक है। इन धर्मों का पालन न करने पर वे अपनी संज्ञाओं के अधिकारी नहीं रहते। ये धर्म ही उनके सम्बन्धगत स्वरूप की रक्षा करते हैं।

सम्प्रदायों के उदय होने के बाद ये सम्प्रदाय अथवा मत भी 'धर्म'' कहलाने लगे। भारतीय धारणा के अनुसार उन्हें सम्प्रदाय कहना ही अधिक उचित है। 'धर्म'' शब्द रिलीजन अथवा मजहब का पर्याय नहीं है। 'धर्म'' एक सामान्य मानवीय भाव है। रिलीजन अथवा मजहब ईश्वर, उपनास

आदि के सम्बन्ध में एक विशेष मान्यता का नाम है। 'धर्म' लौकिक, सामाजिक सामान्य और मानवीय है। रिलीजन अथवा मजहब, अलौकिक, ईश्वरीय, सीमिति तथा संकुचित है। धारण करने का भाव कुछ सीमा तक इनमें भी घटित होता है। इसलिए इनके लिए भी 'धर्म' शब्द का प्रयोग होने लगा। जो लोग इन सम्प्रदाय-धर्मों का पालन करते हैं, वे उनके अनुयायी बने रहते हैं। ईसाई धर्म का पालन करने वाला ईसाई और इस्लाम धर्म का पालन करने वाला मुसलमान बना रहता है। इस सीमित अर्थ में 'धर्म' का व्याकरण गत भाव चरितार्थ होता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि वह प्राकृतिक 'धर्म' के अर्थ में चरितार्थ होता है।

२—प्राकृतिक धर्म और मानवीय धर्म

संस्कृत भाषा का 'धर्म' शब्द बहुत व्यापक है। प्रकृति और मनुष्य दोनों की क्रियाओं के लिये इसका प्रयोग होता है। व्युत्पत्ति के अनुसार पदार्थ अथवा मनुष्य के स्वरूप का रक्षण करने वाली क्रियायें 'धर्म' कहलाती हैं। इनमें प्राकृतिक और मानवीय दोनों प्रकार की क्रियायें सम्मिलित हैं। प्राकृतिक पदार्थों के स्वरूप का रक्षण जो क्रियायें करती हैं, उन्हें 'प्राकृतिक धर्म' कह सकते हैं। प्रकृति में जो स्वाभाविक रूप से होता है, वह 'प्राकृतिक धर्म' है—जैसे पानी का धर्म नीचे की ओर बहना है, अग्नि का धर्म जलना है, आँख का धर्म देखना है। ये सब प्राकृतिक नियम और क्रियायें इस धर्म के अन्तर्गत हैं। मनुष्य के मनुष्य स्वरूप का रक्षण करने वाले लक्षण, गुण आचार आदि 'मानवीय धर्म' कहलायेंगे। भारतीय धर्म-शास्त्रों और महाभारत में 'धर्म' का अभिप्राय धर्म के इसी मानवीय रूप से है। मनुष्य के आचार अथवा कर्त्तव्य के अर्थ में यह धर्म मनुष्य की इच्छा अथवा उसके संकल्प पर निर्भर है। प्रकृति जड़ है। उसमें चेतना नहीं है। अतः प्रकृति के धर्म के सम्बन्ध में संकल्प का प्रश्न नहीं उठता। संकल्प चेतना का क्रियात्मक रूप है। वह मनुष्य में ही होता है। संकल्प से मनुष्य धर्म का वरण और आचरण करता है। संकल्प को स्वतन्त्र माना जाता है। संकल्प के द्वारा मनुष्य धर्म का आचरण करता है; अतः धर्म के कर्त्ता को स्वतन्त्र मानना उचित है। पाणिनि ने भी कर्त्ता को स्वतन्त्र माना है।[९] संकल्प की स्वतन्त्रता के आधार

९—स्वतन्त्र : कर्त्ता—पाणिनि—१-४-५४

पर ही मनुष्य का मानवीय धर्म स्वतन्त्र मानने योग्य है। इस धर्म को मानने के लिए कोई उसे विवश नहीं कर सकता। शास्त्र आदि केवल उसे आदेश दे सकते हैं। धर्म शास्त्रों के विधान ऐसे ही आदेश हैं। किन्तु मनुष्य उन आदेशों का पालन अपनी इच्छा से ही करता है। वह उनका पालन करने अथवा न करने में समर्थ है।[१०] करने अथवा न करने की स्वतन्त्रता इस माननीय धर्म का लक्षण है।

प्रकृति में चेतना और संकल्प नहीं होते। अतः प्राकृतिक धर्मों के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता का प्रश्न नहीं उठता। वे अनिवार्य और निश्चित होते हैं। पानी नीचे को अवश्य बहेगा, अग्नि अवश्य जलेगी। इनके न होने की कल्पना नहीं की जा सकती। प्राकृतिक धर्मों में 'अकर्त्तुम्' की संभावना नहीं होती। *ब्रह्मचर्य का पालन, अतिथि-सत्कार, दान, दया आदि मानवीय* धर्म मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर होते हैं। अतः मनुष्य इन्हें न भी करे, यह भी सम्भव हो सकता है। इनके लिये कोई मनुष्य को विवश नहीं कर सकता और न ये जल प्रवाह की भाँति अपने आप होते हैं। ये प्राकृतिक धर्मों के समान नैसर्गिक नियम नहीं है। यदि मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा से प्रयत्न-पूर्वक इन्हें करता है तो ये होते हैं अन्यथा नहीं होंगे। संकल्प में मनुष्य के प्रयत्न का भी भाव रहता है। सामान्यतः मनुष्य के धर्म प्रयत्न के द्वारा ही संभव होते हैं। प्राकृतिक धर्मों में यह प्रयत्न नहीं रहता। वे अपने आप होते हैं। यह प्राकृतिक और मानवीय धर्मों में अन्तर है। पदार्थ अथवा मनुष्य के स्वरूप की रक्षा अथवा उसके धारण के अर्थ में तो दोनों ही धर्म समान रूपसे 'धारक' हैं, किन्तु प्रयत्न की दृष्टि से उनमें अन्तर दिखाई देता है।

इस अन्तर का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है। जो कार्य मनुष्य प्रयत्न के द्वारा करता है उसे 'कर्म' कह सकते हैं। यह साधना की अवस्था है। प्रयत्न द्वारा भी कर्तव्य के पालन में सफल होना मनुष्य के लिये एक गौरव की बात है। अधिक अभ्यास और साधना के बाद मनुष्य को कर्म के लिये धीरे-धीरे कम प्रयत्न की आवश्यकता होती है और वह कर्म मनुष्य का

१०—कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म

ब्रह्म सूत्र भाष्य—१-१-२

सहज स्वभाव बनता जाता है। इस प्रक्रिया के पूर्ण होने पर कर्तव्य मनुष्य का सहज स्वभाव बन जाता है। तब उसे 'कर्म' न कह कर 'धर्म' कहना उचित है। वह प्रयत्न से नहीं वरन् सहज भाव से होता है। सचेतनता के अतिरिक्त उसमें प्राकृतिक धर्म से सहज भाव में बहुत समानता होती है। धर्म के इस रूप में 'धर्म' के प्राकृतिक रूप का सहज भाव मानवीय धर्म में भी चरितार्थ होता है तथा 'धर्म' का व्यापक प्रयोग सार्थक हो जाता है। धर्म' के इस रूप को 'शील' भी कहते हैं। 'शील' भी 'धर्म' के समान व्यापक है। अग्नि के ज्वलन धर्म को 'शील' भी कह सकते हैं। 'अग्नि' ज्वलन-शील है। 'जल' वहन-शील है। मानवीय प्रसंग में 'शील' धर्म के समान ही मनुष्य का लक्षण है। किन्तु 'धर्म' में जो प्रयत्न का भाव रहता है वह 'शील' में नहीं रहता। 'शील' मनुष्य का निश्चित स्वभाव अथवा लक्षण है। वह साधनावस्था का धर्म नहीं है, वरन् सिद्धावस्था का धर्म है। जिस प्रकार प्रकृति के धर्म अथवा शील का व्यवहार सहज भाव से, बिना प्रयत्न होता है तथा उसका अन्यथा--भाव नहीं होता, उसी प्रकार मनुष्य के शील रूप धर्म का व्यवहार भी सहज स्वभाव से, बिना प्रयत्न के होता है तथा हरिश्चन्द्र के सत्य, युधिष्ठिर के धैर्य, कर्ण के दान आदि की भाँति उसका भी अन्यथा—भाव नहीं होता। 'धारण' के अर्थ में 'धर्म' तथा सहजभाव के अर्थ में 'शील' की व्यापकता प्रकृति और मनुष्य के व्यवहारों में चरितार्थ होती है। दोनों में इतना अन्तर अवश्य है कि प्रकृति के धर्म अचेतन होने के कारण मनुष्य के लिये हानिकारक भी हो सकते हैं (यद्यपि प्रकृति के अधिकांश धर्म मनुष्य के लिये लाभकारक हैं), किन्तु मनुष्य के मानवीय धर्म मनुष्य समाज के लिये सदा कल्याण कारक होते हैं, वे हानिकारक नहीं हो सकते। समाज की हानि धर्म से नहीं, दूसरों के अधर्म से होती है। अतः माननीय धर्म मनुष्य समाज का मंगल सूचक भी है। वैशेषिक सूत्र के अनुसार हम उससे अभ्युदय और निःश्रेयस की भी आशा कर सकते हैं।

३—धर्म और सम्प्रदाय:—

मानवीय धर्म के हम दो विभाग कर सकते हैं। एक को हम सार्वभौम धर्म कह सकते हैं, दूसरे को उसकी सीमितता और संकुचितता की दृष्टि से सम्प्रदाय का कहना उचित होगा। सार्वभौम धर्म मानवीय धर्म का वह रूप

है जो देश, काल, जाति, वर्ण आति के वेद से परे सभी परिस्थितियों में प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। ये मनुष्य के सदाचार के वे गुण हैं जिन्हें भारतीय धर्म शास्त्रों में 'धर्म' के अन्तर्गत गिना गया है। मनुष्य की स्वतन्त्रता, समानता आदि का आदर करना इसी धर्म का लक्षण है। सत्य, अहिंसा आदि गुण इसी धर्म के अंग हैं। इस 'धर्म' में कोई वर्ग-विभाजन नहीं होता। यह मनुष्य मात्र का 'धर्म' है। भारतीय धर्म-शास्त्रों में तथा महाभारत में मुख्य रूप से इसी धर्म को महत्व दिया गया है।

किन्तु पश्चिमी परम्परा के सीमित धर्म-सम्प्रदायों के लिए 'रिलीजन' के पर्याय के रूप में भी 'धर्म' शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया है। प्रायः 'धर्म' का अभिप्राय ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म, हिन्दू धर्म आदि से समझा जाता है। मनुष्यों के समाज इनको धारण करते हैं तथा ये धर्म अपने अनुयायियों के ईसाई मुसलमान आदि रूप को सुरक्षित बनाते हैं, इस अर्थ में तो ये भी 'धर्म' की परिभाषा के अन्तर्गत आ जाते हैं। इन धर्मों के प्रचारक इस अर्थ में इनको सार्वभौभ मानवीय धर्म भी मानते हैं कि अपने धर्म-सम्प्रदायों को छोड़कर सभी वर्ग के लोग इन धर्मों में सम्मिलित हो सकते हैं। धर्म के प्रचार-प्रसार को इन धर्मों में एक पवित्र कर्त्तव्य माना जाता है। दूसरों को धर्म-परिवर्तन के लिए विवश करने के लिए इन धर्मों के अनुयायियों ने छल-बल का भी प्रयोग किया है। इनके धर्म-प्रचार में अनेक अनर्थ हुये हैं। तलवार के द्वारा भी धर्म का प्रचार हुआ है। इन धर्म-सम्प्रदायों के अनुयायी अपने धर्मों की श्रेष्ठता पर गर्व करते हैं तथा भिन्न धर्म वालों को अपवित्र समझते हैं और उन्हें 'काफिर' आदि नामों से पुकारते हैं। ये धर्माभिमानी धर्म-प्रचार और धर्म-परिवर्तन के अनर्थ एवं अधर्म पर गहराई से विचार नहीं करते।

'धर्म' का ऐसा रूप जिसका प्रचार करना पड़े अथवा जिसके प्रचार में अनर्थ उत्पन्न हों तथा जो समाज को विरुद्ध वर्गों में विभाजित कर दे, अपने को मानवीय मानते हुए भी अमानवीय वन जाता है। मनुष्यों के एक वर्ग के द्वारा वह धारण किया जाता है इस अर्थ में तो वह भी मानवीय है। उसे 'मानुषीय कहना अधिक उचित होगा। प्रचार के आग्रह के द्वारा वह मानवीयता का प्रतिघात करता है। धर्म के ये रूप मनुष्य के संकल्प से ही निर्मित हुये हैं, किन्तु इस संकल्प में आत्मा की स्वतन्त्रता के साथ-साथ संगठन, प्रचार आदि के प्राकृतिक भावों का प्रभाव अधिक है, जो संकल्प की स्वतन्त्रता को

सीमित और कलुषित कर देता है। कुछ विशेष सिद्धान्तों और मान्यताओं के अनुरोध के कारण ये धर्म अपनी सीमा में संकुचित होकर 'सम्प्रदाय' बन जाते हैं। प्रचार के द्वारा ये सार्वभौम बनने की आकांक्षा रखते हों किन्तु इनके विशेष सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं बन सकते। इनके सामान्य मानवीय सिद्धान्त भी इन विशेष सिद्धान्तों की सीमा में बँधे हुये हैं। इसके विपरीत धर्मशास्त्रों के सामान्य मानवीय सिद्धान्त स्वतन्त्र और सर्वमान्य हैं। वे इन सीमित धर्म-सम्प्रदायों में भी स्वीकृत हैं तथा धर्मशास्त्रों को न जानने और न मानने वाले भी अपनी स्वतन्त्र इच्छा और धारणा से उन मानवीय सिद्धान्तों को मानते हैं। यही मानवीय धर्म का वास्तविक रूप है। धर्मशास्त्रों में किन्हीं विशेष मान्यताओं की सीमा से मुक्त मानवीय धर्म का यह रूप सुरक्षित है। यही भारतीय धर्मशास्त्रों और हिन्दू धर्म का गौरव है।

हिन्दू धर्म की गणना भी ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म आदि के साथ धर्म-सम्प्रदायों में की जाती हैं। किन्तु ऐसी गणना करने वाले हिन्दू धर्म और पश्चिमी धर्मों के मुख्य अन्तर को भूल जाते हैं। हिन्दू धर्म में अनेक सम्प्रदाय हैं। जैन धर्म, बौद्ध धर्म, सिख धर्म, वैष्णव धर्म, शैव धर्म आदि इनके उदाहरण हैं। किन्तु इनमें कोई भी सम्प्रदाय अपने विशेष सिद्धान्तों का आरोपण अथवा प्रचार करने का प्रयत्न नहीं करता और न दूसरे सम्प्रदायों को अपवित्र मानता है। इसके विपरीत सभी धर्म-सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदायों का आदर करते हैं। ईसाई और इस्लाम के सम्प्रदायों में यह उदारता और सहिष्णुता नहीं मिलती। निष्कर्ष यह है कि भारतीय सम्प्रदायों के विशेष रूप और विशेष सिद्धान्त भी सामान्य मानवीय धर्म के अनुकूल हैं। इसीलिये ये आरोपणवादी तथा प्रचारवादी नहीं बन सके। सम्प्रदाय होते हुये भी ये सार्वभौम मानवीय धर्म की आत्मा से अनुप्राणित हैं। इसके विपरीत ईसाई और इस्लाम धर्मों के सामान्य मानवीय सिद्धान्त उनकी विशेष मान्यता के आग्रह तथा आरोपण के कारण कुंठित एवं निष्फल हो गये हैं।

हिन्दू धर्म के इसी उदार रूप का संकेत करते हुए डा० राधाकृष्णन ने कहा है कि 'हिन्दू धर्म कोई सम्प्रदाय नहीं है बल्कि उन सबों का भ्रातृमंडल है जो सत् नियमों को मानते हैं और निष्ठापूर्वक सत्य की खोज करते हैं।'[११]

११—हिन्दुओं का जीवन-दर्शन पृष्ठ ७२

हिन्दू धर्म सम्प्रदायों की विशेष मान्यताओं को सब पर आरोपित करने का प्रयत्न नहीं किया गया। ये मान्यतायें मनुष्य की स्वतन्त्रता का आदर करती हैं। हिन्दू धर्म के अनुसार कोई भी मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार किसी हिन्दू अथवा अ-हिन्दू सम्प्रदाय को ग्रहण कर सकता है। ईसाई और इस्लाम धर्मों में इस उदारता के लिए स्थान नहीं हैं।[१२] हिन्दू धर्म में विशेष मान्यताओं का आग्रह नहीं है। वह एक आत्मिक धर्म है।[१३] हिन्दू धर्म की आत्मिक उदारता के अनुरूप डा० राधाकृष्णन धर्म को एक आत्मिक अध्यवसाय मानते हैं।[१४] उनके अनुसार धर्म एक अनुशासन है।[१५] विशेष मान्यताओं तथा विधियों का नाम धर्म नहीं है।[१६] सम्प्रदाय सीमित होते हैं। उन्हें अन्तिम और सार्वभौम सत्य नहीं कहा जा सकता।[१७] अतः धार्मिक असहिष्णुता अनुचित है।[१८] रूसो ने दूसरों को अधर्मी मानने वाले सम्प्रदायों की निन्दा की है।[१९] डा० राधाकृष्णन् का मत है कि एक ईश्वर की मान्यता का आग्रह करने वालों ने सम्राटों की महत्वाकांक्षाओं से भी अधिक अनर्थ किया है।[२०] अपने नवीन ग्रन्थ 'पूर्व और पश्चिम' में उन्होंने कहा है कि 'हमारा धर्म ही सत्य का प्रतिनिधि है और इसे न मानने वाले काफिर हैं—यह दृष्टिकोण घातक है। केवल हमारा धर्म ग्रन्थ, या हमारी संस्था दोष रहित, निर्भ्रान्त और दैवी है तथा ईश्वरीय शिक्षा और अनुग्रह की व्याख्या करने व उन्हें प्रदान करने में समर्थ हैं—इस प्रकार के तर्क बहुत हद तक हठ पूर्ण है।[२१] पश्चिमी धर्म-सम्प्रदायों की यह अनुदारता यह संकेत करती है कि सम्प्रदाय का आग्रह

१२—राधाकृष्णन् : हिन्दुओं का जीवन दर्शन—पृष्ठ ३४
१३— ,, : रिलीजन एण्ड सोसाइटी—पृष्ठ ५३
१४—वही ,, पृष्ठ ४३
१५—वही ,, पृष्ठ ४३
१६—वही ,, पृष्ठ ४३
१७—वही ,, पृष्ठ ५२
१८—वही ,, पृष्ठ ५२
१९—वही ,, पृष्ठ ५१
२०—वही ,, पृष्ठ ५१
२१—वही ,, पृष्ठ ४२

सम्प्रदाय को मानवीय धर्म से कितना दूर ले जाता है।

४— वैदिक धर्म और वैशेषिक धर्म

भारतीय धर्मशास्त्रों और महाभारत में मानवीय आचार एवं गुणों को 'धर्म' माना गया है। वे मनुष्य के लिए पालनीय हैं और उसके मनुष्यत्व को धारण करते हैं। धर्म के इस रूप का स्रोत वेदों में माना जाता है। मनु के अनुसार वेद अखिल धर्म का मूल है।[२२] वर्णाश्रम व्यवस्था तथा वर्णों और आश्रमों के आचारों को भी वेद-विहित माना जाता है। इस प्रकार धर्मशास्त्रों का धर्म वेदानुकूल है। किन्तु धर्मशास्त्रों में वर्णाश्रम धर्म का विधान विशेष रूप से और विस्तार के साथ किया गया है। सामान्य मानवीय धर्म का निरूपण धर्मशास्त्रों की एक महती विशेषता है। धर्मशास्त्रों के 'धर्म' में सार्वभौम मानवीय गुणों तथा सामाजिक आचारों का विशेष महत्व है। ये आचार मनुष्य के सामाजिक कर्तव्य होते हैं। इस अर्थ में कर्म-रूप भी कहे जा सकते हैं। किन्तु इनमें क्रिया के साथ-साथ सामाजिक भाव की प्रेरणा भी रहती है। दया, दान, आतिथ्य आदि के कर्म भाव से भी ओत-प्रोत रहते हैं। शास्त्र का विधान होते हुये भी भाव ही इनका मुख्य स्रोत है।

वैदिक कर्म में वैदिक विधि की प्रेरणा प्रधान होती है। वैदिक धर्म में कर्म की प्रधानता होती है। इसीलिये वैदिक परम्परा में 'धर्म' की परिभाषा कर्म की प्रधानता के अनुसार की जाती है। पूर्व मीमांसा में विधि-रूप कर्म को ही धर्म कहा गया है।[२३] जो वेदों में विहित है वही 'धर्म' है। पूर्व मीमांसा के अनुसार वेद का अर्थ विधि-प्रधान ही है।[२४] जो वेद-वाक्य विधि-परक नहीं है उन्हें मीमांसादर्शन 'अर्थवाद' मानता है। वे पदार्थ, फल, देवता आदि की प्ररोचना द्वारा कर्म के उपकारक हैं। वेदों में मुख्यतः यज्ञ-कर्म का विधान है। ये यज्ञ ही धर्म के मुख्य आधार हैं। गीता[२५] तथा कुछ वैदिक

२२–वेदोऽखिलो धर्ममूलम्, मनुस्मृति २-६

२३–चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः–मीमांसा सूत्र–१-१-२

२४–आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदार्थानाम्, मीमांसासूत्र–१-२-१

२५–गीता–अध्याय ४

व्याख्याकारों ने सभी उत्तम कर्मों को यज्ञ का रूप देकर 'यज्ञ' की धारणा को विस्तृत बना दिया है। उनके अनुसार सभी सामाजिक कर्म यज्ञ है।[२६] यज्ञ की यह व्यापक व्याख्या वैदिक कर्म के साथ धर्मशास्त्रों के धर्म की संगति सम्भव बना देती है। इस संगति से धर्म-शास्त्रों और महाभारत की वेदानुकूलता भी सिद्ध हो जाती है।

वैशेषिक दर्शन में 'धर्म' को अभ्युदय और निःश्रेयस का कारण बताया गया है।[२७] लौकिक उन्नति का नाम अभ्युदय है। निःश्रेयस का अर्थ मोक्ष है। मोक्ष आत्मिक उन्नति की पराकाष्ठा है। प्रायः लौकिक और आत्मिक उन्नति में विरोध माना जाता है। इसीलिये कुछ दर्शनों में लौकिक एवं भौतिक मूल्यों से त्याग एवं संन्यास का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु वैशेषिक दर्शन में लौकिक और आत्मिक उन्नति के समन्वय की कल्पना की गई है। वैशेषिक दर्शन में आत्मा की परिभाषा भी इस प्रकार की गई है कि उसमें शारीरिक और आत्मिक दोनों प्रकार के गुणों का समाहार है।[२८] आगे चलकर वैशेषिक सम्प्रदाय में आत्मा को निर्गुण माना गया है और निःश्रेयस अथवा मोक्ष का अर्थ आत्मा के अखिल गुणों का ध्वंस किया गया है।[२९] इस मोक्ष के लिये त्याग और संन्यास को भी आवश्यक माना गया है। किन्तु मूल वैशेषिक सूत्र के अनुसार धर्म में लौकिक अभ्युदय और आत्मिक उन्नति दोनों की संगति को संभव माना गया है। अभ्युदय को सम्मिलित कर धर्म की धारणा वेद-विहित धर्म के भी अधिक अनुकूल बन जाती है। वेद में विहित बहुत से यज्ञ, कर्म आदि लौकिक अभ्युदय के लिए भी होते हैं। धर्मशास्त्रों में लौकिक अभ्युदय को धर्म का महत्वपूर्ण अंग नहीं माना गया है। धर्मशास्त्रों के धर्म में आत्मिक भाव और सामाजिक कर्त्तव्य ही प्रधान हैं। मोक्ष को भी महाभारत में 'धर्म'

२६—डा० फतहसिंह : भारतीय समाजशास्त्र—पृष्ठ ६६

२७—यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः

वैशेषिक सूत्र—१-१-२

२८—प्राणापान-निमेषोन्मेष-जीवन-मनोगतीन्द्रियान्तर-विकाराः

सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि।

वैशेषिक सूत्र—३-२-४

२९—निःश्रेयसमेककालीनसकलात्मविशेषगुण ध्वंसः।

वैशेषिक सूत्र—उपस्कार वृत्ति—१-१-२

माना गया है। धर्म के अनेक रूपों के साथ मोक्ष-धर्म भी महाभारत का लक्ष्य है।[30] धर्मशास्त्रों में धर्म को पुरुषार्थों में प्रथम और मोक्ष को अन्तिम माना गया है। वैशेषिक दर्शन की धर्म की परिभाषा सामाजिक धर्म को स्थान नहीं देती। निःश्रेयस के साधन के रूप में हम उसका अनुमान कर सकते हैं। सदाचार रूप धर्म मनुष्य के अभ्युदय का भी कारण बन सकता है। न्यायपूर्वक धन भी उपार्जित किया जा सकता है। यदि सदाचार रूप सामाजिक धर्म को अभ्युदय और मोक्ष का कारण मान लिया जाये, तो वैदिक, वैशेषिक और स्मार्त तीनों प्रकार के धर्मों का समन्वय हो जाता है तथा लौकिक, सामाजिक और आत्मिक मूल्यों का सामंजस्य हो जाता है।

धर्म के ये वैदिक और वैशेषिक रूप धर्म की मौलिक धारणा के अनुरूप हैं। वैदिक कर्म का शासन वेद की विधि में अवश्य है। उनमें नित्य कर्मों में मनुष्य की स्वतन्त्रता नहीं है। उनके न करने से प्रत्यवाय होता है। किन्तु काम्य कर्मों में मनुष्य को अधिक स्वतन्त्रता है। मनुष्य इनको करने अथवा न करने में स्वतन्त्र है। मनुष्य अपने संकल्प द्वारा उन कर्मों को करता है। संकल्प द्वारा वे उसके पालनीय धर्म बन जाते हैं। नित्य कर्म भी संकल्प के द्वारा धर्म बन जाते हैं। वैशेषिक के अभीष्ट कर्म, जो अभ्युदय और निःश्रेयस के साधन बनते हैं, वे भी संकल्प के द्वारा ही किये जाते हैं। निःश्रेयस के साधक होने के साथ-साथ वे अभ्युदय आदि श्रेयों के साधक भी होते हैं। इस प्रकार वैदिक और वैशेषिक धर्म भी धर्मशास्त्रों और महाभारत के धर्म की भाँति कल्याण कारक बन जाते हैं। वे मनुष्य के मनुष्यत्व और प्रजा अथवा समाज का धारण कर धारक के अर्थ में भी धर्म बनते हैं। धर्म के वैदिक और वैशेषिक रूप धर्मशास्त्रों के धर्म के समान सार्वभौम, स्वतन्त्र और मानवीय हैं तथा अनुदार सम्प्रदाय के वाचक धर्म से विवेचनीय हैं।

६—धर्मशास्त्रों का धर्म—

धर्मशास्त्रों और महाभारत में जिस धर्म का विवरण किया गया है,

३०—आदिपर्व अध्याय ६२, श्लोक २३
शान्तिपर्व अध्याय २७४, श्लोक १६

वह वेद-सम्मत अवश्य है, किन्तु वेद-विधियों के समान व्यक्तिगत और लौकिक नहीं है। उसमें मनुष्य के आत्मिक गुणों और श्रेष्ठ सामाजिक कर्त्तव्यों की प्रधानता है। ये गुण और कर्त्तव्य अत्यन्त उदार एवं मानवीय हैं। वर्णाश्रम के अनुकूल होते हुए भी धर्मशास्त्रों के धर्म का सामान्य रूप सार्वभौम और उदार है तथा इस दृष्टि से सम्प्रदाय रूप धर्म की अनुदारता से रहित है। यह आरोपण और आग्रह से रहित श्रेष्ठ एवं उदार मानवीय धर्म है।

धर्मशास्त्रों में इस धर्म का रूप या विवरण तीन प्रकार से मिलता है। मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में धर्म के कुछ लक्षण गिनाये गये हैं। वे मानव के नैतिक गुण हैं। इनमें अहिंसा, क्षमा, सत्य आदि गुण मुख्य हैं। ये नैतिक गुण धर्म का रूप हैं। ये गुण अनेक हैं। किन्तु अनेक गुणों के अतिरिक्त धर्मशास्त्राचार्यों ने धर्म का एक सामान्य रूप भी वतलाया है। याज्ञवल्क्य ने इस सामान्य धर्म को 'आत्म-दर्शन' कहा है।[३१] व्यास जी ने गीता और महाभारत में 'समता' को धर्म का सार माना है।[३२] यह धर्म का दूसरा रूप है। धर्म का तीसरा रूप विभिन्न आश्रमों और वर्णों के विशिष्ट कर्त्तव्यों के रूप में मिलता है। अपनी स्थिति के अनुसार ब्रह्मचारी, गृहस्थ, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का जो कर्त्तव्य है, वही उनका धर्म है। गीता की भाषा में हम इस कर्त्तव्य को 'स्व-धर्म' कह सकते हैं। ये प्रत्येक मनुष्य का अपनी स्थिति के अनुसार उचित कर्त्तव्य है। मनु ने अपने धर्मशास्त्र में धर्म के दश लक्षण वताये हैं—"धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, निग्रह, धी,विद्या, सत्य, अक्रोध।[३३] धृति का अर्थ धैर्य है। धैर्य का अर्थ कष्ट सहना और संकट में अपने धर्म से विचलित न होना है। दूसरों के दोष और अपराध के प्रसंग में उदारता का व्यवहार क्षमा है। दम का अर्थ इन्द्रियों को संयम में रखना है। स्तेय का अर्थ चोरी

३१—इज्याचार दमोऽहिंसा दान स्वाध्याय कर्मणाम्।
अयं तु परमोधर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥
याज्ञवल्क्य स्मृति–१–८

३२—गीता–अध्याय ६-३२

३३—धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥
मनुस्मृति अध्याय ६–श्लोक–६६

करना है। अतः अस्तेय चोरी न करने को कहेंगे। शौच का अर्थ शरीर और मन की पवित्रता रखना है। निग्रह उत्तेजना के पूर्व ही इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखना है। धी का अर्थ है बुद्धि। विद्या धर्म के सभी लक्षणों का आधार है। प्रकृति और भावना का वेग रोकने में बुद्धि सहायक होती हैं सत्य धर्म का एक महत्वपूर्ण रूप है। अक्रोध मनुष्य की बुद्धि को स्वच्छ रखता है। इसी कारण धर्म के लक्षणों में अन्य दोषों को छोड़कर अक्रोध को शामिल किया गया है।

याज्ञवल्क्य ने धर्म के नौ लक्षण बताये हैं। जिनको उन्होंने धर्म के साधन कहा है, उनमें कुछ लक्षण तो मनु के समान हैं। सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, दम आदि मनु और याज्ञवल्क्य दोनों में समान रूप से पाये जाते हैं। याज्ञवल्क्य ने "अहिंसा, दान आदि कुछ नवीन लक्षणों को स्थान दिया है।"[३४] इनमें अहिंसा सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, इसीलिए याज्ञवल्क्य ने इसको अपने लक्षणों में प्रथम स्थान दिया है। अहिंसा का अर्थ मन, वचन कर्म से किसी को कष्ट न पहुँचाना है। वस्तुतः अहिंसा का भाव इतना व्यापक है कि सत्य, अस्तेय, क्षमा आदि इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं। इनमें भी हम अपने को दूसरों को कष्ट पहुँचाने से रोकते हैं। यह अहिंसा का निषेधात्मक रूप है। भावात्मक रूप में अहिंसा का अभिप्राय प्रेम और उदारता से है। दान और सेवा उसके उदाहरण हैं।

मनु और याज्ञवल्क्य ने धर्म के जो लक्षण गिनाये हैं, उनमें कुछ महत्वपूर्ण नैतिक गुणों का ग्रहण किया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य महत्वपूर्ण गुणों की कल्पना की जा सकती है। इस सम्बन्ध में मतभेद भी हो सकता है, जैसा कि मनु और याज्ञवल्क्य में है। नैतिक गुणों का स्वरूप बड़ा व्यापक होता है। अतः अहिंसा, क्षमा शौच, इन्द्रियनिग्रह आदि में अनेक गुणों का समाहार सम्भव है। धर्म की धारणा के सम्बन्ध में गुणों की गणना को महत्व न देकर हमें धर्म की भावना को महत्व देना चाहिए। उस धर्म की भावना का मूल प्रत्येक गुण में खोजा जा सकता है। याज्ञवल्क्य ने 'आत्म-दर्शन' के रूप में धर्म के उस सामान्य भाव का संकेत किया है। 'आत्मदर्शन'

३४—अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
दानं, दमो, दया, क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥

याज्ञवल्क्य स्मृति-अध्याय १-१२२

का अभिप्राय 'आत्मदृष्टि' से है। मनुष्यों में अन्य प्रकार से अनेक भेद होते हैं। किन्तु आत्मा अथवा चेतना की दृष्टि से सब समान होते हैं। बल, बुद्धि, विद्या, धन आदि में अन्तर होते हुए भी सुख-दुख, हर्ष-शोकादि का अनुभव सबको समान रूप से होता है। इस प्रकार आत्मा मनुष्य की समता का आधार है। देवल ने इसी समता को धर्म का सर्वस्व माना है। उनके अनुसार धर्माचरण का रूप यह है कि "जिस व्यवहार को हम अपने प्रतिकूल मानते हैं, वह व्यवहार हमें दूसरों के प्रति भी नहीं करना चाहिए।"[३५] ऐसा व्यवहार करने से दूसरों को भी कष्ट होगा। धर्म का यह आचरण तभी सम्भव हो सकता है, जबकि दूसरों को हम समान मानें। भगवद्गीता में इसी आत्ममूलक समभाव को योगी का लक्षण बताया है कि "जो अपनी उपमा से अथवा अपनी समानता से सुख और दुःख में दूसरों को समभाव से देखता है, वह परमयोगी है।"[३६] धर्म की दृष्टि से ही नहीं योग और आध्यात्म की दृष्टि से भी समता का भाव ही सर्वश्रेष्ठ है। यह समता ही धर्म का मूल तत्व है। यह समता का भाव ही उन समस्त सद्गुणों का स्रोत है, जो मनु और याज्ञवल्क्य द्वारा धर्म के लक्षणों में गिनाये गये हैं। यह समता ही मानवीयता का मर्म भी है। यह समता ही धर्म का आधार है। व्यवहार में इसका पालन ही धर्म का सामान्य रूप है।

प्रेम, संयम और सदाचार इस समता की अभिव्यक्ति के तीन मुख्य रूप हैं। प्रेम समता का सामान्य भाव है। वह हमारे अतिचार की मर्यादा बनता है। मर्यादा को मानने पर संयम हमारा कर्त्तव्य बन जाता है। संयम का अर्थ आत्मानुशासन है। समता और प्रेम के अनुकूल दूसरों के प्रति व्यवहार सदाचार है। संयम को हम 'शील' कह सकते हैं। धृति, शौच, इन्द्रियनिग्रह, अक्रोध आदि संयम के अन्तर्गत हैं। क्षमा, अहिंसा, दान, दया आदि सदाचार

३५—श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
देवल

३६—आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
भगवद्गीता—अध्याय ६-३२

के अन्तर्गत हैं। समता और प्रेम के भाव इनकी प्रेरणा है। हिंसा, चोरी आदि सबको अपने प्रतिकूल लगते हैं। अतः दूसरों के प्रति भी उनका व्यवहार करना उचित नहीं है। अहिंसा, अस्तेय आदि सबको अपने अनुकूल लगते हैं, अतः वे धर्म के अनुकूल हैं। दान, दया, क्षमा, सत्य आदि अनुकूल और प्रिय आचरण के ऐसे रूप हैं, जिनमें किसी एक का अनुशीलन करने पर भी धर्म का सामान्य रूप सिद्ध हो जाता है। इनमें एक का पालन करने वाला भी स्वभावतः धर्म के अन्य लक्षणों का पालन करेगा। धर्म के इन लक्षणों की गणना में कुछ मतभेद मिलता है, इसका कारण यही है कि भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न सद्भावों और सत्कर्मों को महत्व दिया है। फिर भी उनके मतों में समानता अधिक है। इसका कारण सामान्य धर्म का आधार है। इसके अतिरिक्त और भी लक्षण गिनाये जा सकते हैं, किन्तु ये सभी लक्षण साम्य के सामान्य धर्म से घटित होते हैं। ये लक्षण साम्य के सामान्य धर्म के विशेष रूप हैं, जो व्यवहार में साकार होते हैं।

सामान्य धर्म और धर्म के लक्षणों के रूप में मानव-धर्म के जिस व्यापक रूप का विवरण धर्म-शास्त्रों में किया गया है वह सार्वभौम मानवीय धर्म है। धर्म की इस धारणा में मानवीय भावों और गुणों के उस रूप को ग्रहण किया गया है, जो मनुष्य होने के नाते प्रत्येक मनुष्य के लिए मानवीय हैं। धर्म का यह रूप मनुष्य के मनुपत्व की रक्षा करता है। जब तक मनुष्य इसका पालन करता है, तभी तक वह मनुष्य रहता है। अपने व्यवहार से धर्म के इस सार्वभौम रूप का खण्डन करने पर मनुष्य-मनुष्य नहीं रहता। दया से हीन हिंसा करने वाले मनुष्य को प्रायः हम मनुष्य नहीं मानते और उसे राक्षस की संज्ञा देते हैं। क्रोध में भी मनुष्य प्रायः राक्षस बन जाता है। ब्रह्मचर्य, अस्तेय आदि के उल्लंघन में भी वह राक्षस तुल्य नृशंस व्यवहार करता है, जो उसे मनुष्य पदवी से च्युत कर देता है। इसीलिए दया, अक्रोध, ब्रह्मचर्य, अस्तेय आदि नैतिक गुण धर्म के लक्षण माने गये हैं। इनका पालन मनुष्य को मनुष्य बनाये रहता है। मनुष्यता की रक्षा के लिए केवल नैतिक गुण ही नहीं वरन् बौद्धिक गुण भी अपेक्षित हैं। बुद्धि और विद्या से हीन मनुष्य को प्रायः हम मनुष्य नहीं मानते और उसे पशु की संज्ञा देते हैं। इसीलिए मनु ने अपने धर्म के लक्षणों में बुद्धि (धी) और विद्या की गणना की है। नैतिक और बौद्धिक गुणों के साथ-साथ पवित्र आचार भी मनुष्य का लक्षण है।

का अभिप्राय 'आत्मदृष्टि' से है। मनुष्यों में अन्य प्रकार से अनेक भेद होते हैं। किन्तु आत्मा अथवा चेतना की दृष्टि से सब समान होते हैं। बल, बुद्धि, विद्या, धन आदि में अन्तर होते हुए भी सुख-दुख, हर्ष-शोकादि का अनुभव सबको समान रूप से होता है। इस प्रकार आत्मा मनुष्य की समता का आधार है। देवल ने इसी समता को धर्म का सर्वस्व माना है। उनके अनुसार धर्माचरण का रूप यह है कि "जिस व्यवहार को हम अपने प्रतिकूल मानते हैं, वह व्यवहार हमें दूसरों के प्रति भी नहीं करना चाहिए।"[३५] ऐसा व्यवहार करने से दूसरों को भी कष्ट होगा। धर्म का यह आचरण तभी सम्भव हो सकता है, जबकि दूसरों को हम समान मानें। भगवद्गीता में इसी आत्ममूलक समभाव को योगी का लक्षण बताया है कि "जो अपनी उपमा से अथवा अपनी समानता से सुख और दुःख में दूसरों को समभाव से देखता है, वह परमयोगी है।"[३६] धर्म की दृष्टि से ही नहीं योग और आध्यात्म की दृष्टि से भी समता का भाव ही सर्वश्रेष्ठ है। यह समता ही धर्म का मूल तत्व है। यह समता का भाव ही उन समस्त सद्गुणों का स्रोत है, जो मनु और याज्ञवल्क्य द्वारा धर्म के लक्षणों में गिनाये गये हैं। यह समता ही मानवीयता का मर्म भी है। यह समता ही धर्म का आधार है। व्यवहार में इसका पालन ही धर्म का सामान्य रूप है।

प्रेम, संयम और सदाचार इस समता की अभिव्यक्ति के तीन मुख्य रूप हैं। प्रेम समता का सामान्य भाव है। वह हमारे अतिचार की मर्यादा बनता है। मर्यादा को मानने पर संयम हमारा कर्त्तव्य बन जाता है। संयम का अर्थ आत्मानुशासन है। समता और प्रेम के अनुकूल दूसरों के प्रति व्यवहार सदाचार है। संयम को हम 'शील' कह सकते हैं। धृति, शौच, इन्द्रियनिग्रह, अक्रोध आदि संयम के अन्तर्गत हैं। क्षमा, अहिंसा, दान, दया आदि सदाचार

३५—**श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।**
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
देवल

३६—**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।**
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
भगवद्गीता—अध्याय ६-३२

के अन्तर्गत हैं। ममता और प्रेम के भाव इनकी प्रेरणा है। हिंसा, चोरी आदि सबको अपने प्रतिकूल लगते हैं। अतः दूसरों के प्रति भी उनका व्यवहार करना उचित नहीं है। अहिंसा, अस्तेय आदि सबको अपने अनुकूल लगते हैं, अतः वे धर्म के अनुकूल हैं। दान, दया, क्षमा, सत्य आदि अनुकूल और प्रिय आचरण के ऐसे रूप हैं, जिनमें किसी एक का अनुशीलन करने पर भी धर्म का सामान्य रूप सिद्ध हो जाता है। इनमें एक का पालन करने वाला भी स्वभावतः धर्म के अन्य लक्षणों का पालन करेगा। धर्म के इन लक्षणों की गणना में कुछ मतभेद मिलता है, इसका कारण यही है कि भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न सद्भावों और सत्कर्मों को महत्व दिया है। फिर भी उनके मतों में समानता अधिक है। इसका कारण सामान्य धर्म का आधार है। इसके अतिरिक्त और भी लक्षण गिनाये जा सकते हैं, किन्तु ये सभी लक्षण साम्य के सामान्य धर्म से घटित होते हैं। ये लक्षण साम्य के सामान्य धर्म के विशेष रूप हैं, जो व्यवहार में साकार होते हैं।

सामान्य धर्म और धर्म के लक्षणों के रूप में मानव-धर्म के जिस व्यापक रूप का विवरण धर्म-शास्त्रों में किया गया है वह सार्वभौम मानवीय धर्म है। धर्म की इस धारणा में मानवीय भावों और गुणों के उस रूप को ग्रहण किया गया है, जो मनुष्य होने के नाते प्रत्येक मनुष्य के लिए मानवीय हैं। धर्म का यह रूप मनुष्य के मनुष्यत्व की रक्षा करता है। जब तक मनुष्य इसका पालन करता है, तभी तक वह मनुष्य रहता है। अपने व्यवहार से धर्म के इस सार्वभौम रूप का खण्डन करने पर मनुष्य-मनुष्य नहीं रहता। दया से हीन हिंसा करने वाले मनुष्य को प्रायः हम मनुष्य नहीं मानते और उसे राक्षस की संज्ञा देते हैं। क्रोध में भी मनुष्य प्रायः राक्षस बन जाता है। ब्रह्मचर्य, अस्तेय आदि के उल्लंघन में भी वह राक्षस तुल्य नृशंस व्यवहार करता है, जो उसे मनुष्य पदवी से च्युत कर देता है। इसीलिए दया, अक्रोध, ब्रह्मचर्य, अस्तेय आदि नैतिक गुण धर्म के लक्षण माने गये हैं। इनका पालन मनुष्य को मनुष्य बनाये रहता है। मनुष्यता की रक्षा के लिए केवल नैतिक गुण ही नहीं वरन् बौद्धिक गुण भी अपेक्षित हैं। बुद्धि और विद्या से हीन मनुष्य को प्रायः हम मनुष्य नहीं मानते और उसे पशु की संज्ञा देते हैं। इसीलिए मनु ने अपने धर्म के लक्षणों में बुद्धि (धी) और विद्या की गणना की है। नैतिक और बौद्धिक गुणों के साथ-साथ पवित्र आचार भी मनुष्य का लक्षण है।

इसीलिए धर्म के लक्षणों में शौच को स्थान दिया गया है। धर्म के ये लक्षण और साधन सार्वभौम और सार्वकालिक हैं। योग के महाव्रतों की भांति वे देश, काल और नियम से अनवच्छिन्न हैं। ये सभी देश, सभी कालों और सभी परिस्थितियों में पालनीय हैं। जाति, कुल, सम्प्रदाय आदि के भेदों के आधार पर भी इनमें भेद नहीं किया जा सकता।

धर्म के इन सामान्य और सार्वभौम रूपों के अतिरिक्त धर्मशास्त्रों में धर्म का एक और रूप भी मिलता है, जिसे हम 'विशेष धर्म' का नाम दे सकते हैं। ये विशेष धर्म देश, काल, जाति, परिस्थिति आदि की सीमाओं के अनुसार विहित होता है। अतः यह सबके लिए एक नहीं हो सकता। धर्म-शास्त्रों में वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म के रूप में जिन धर्मों का वर्णन किया गया है और गीता में जाति-धर्म, कुलधर्म आदि के रूप में जिन धर्मों का संकेत किया गया है, वे इस विशेष धर्म के ही विविध रूप हैं। गीता की भाषा में इसे स्वधर्म कह सकते हैं। यह विशेष काल, परिस्थिति, सम्बन्ध आदि के प्रसंग में एक वर्ग अथवा व्यक्ति का अपना धर्म है। इस अर्थ में यह विशेष धर्म, सामान्य धर्म और उसके लक्षणों के अनुकूल है। स्वधर्म के पालन के साथ-साथ सामान्य-धर्म का पालन भी प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति के लिए आवश्यक है। अतः दोनों का समन्वय अपेक्षित है। धर्म-शास्त्रों में जहाँ स्वधर्म के पालन के प्रसंग में राजधर्म आदि की भांति उनके धर्मानुकूल पालन का आदेश दिया गया है, वहाँ इस पिछले धर्म का अभिप्रायः सामान्य धर्म से ही है और दोनों का समन्वय वांछित है। मनुष्य समाज के देश काल, सम्बन्ध आदि के अनुसार उनके विभाजन हो सकते हैं। व्यक्ति भी अनन्त हैं। अतः इन विशेष धर्मों अथवा स्वधर्मों के अनेक रूप हो सकते हैं। धर्म-शास्त्रों में इस प्रसंग में चार वर्णों, चार आश्रमों, कुल, जाति तथा स्त्री, पुत्र, शिष्य, बन्धु आदि कुछ प्रमुख भेदों का ही विवरण किया गया है और उन्हीं के स्वधर्मों का उल्लेख है। जैसे ब्रह्मचारी का धर्म इन्द्रिय संयम, सुख का त्याग और विद्योपार्जन है। इसी प्रकार गृहस्थ और वानप्रस्थों के कर्त्तव्य उनके धर्म हैं। अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान, प्रतिग्रह आदि ब्राह्मणों के धर्म हैं। प्रजा की रक्षा, युद्ध आदि क्षत्रियों के धर्म हैं। कृषि, गो-पालन और व्यापार आदि वैश्यों के धर्म हैं। शूद्र का धर्म सेवा करना है। यह धर्म का विशेष रूप है, जो प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्थिति के अनुसार पालनीय हैं। धर्म के ये विशेष रूप भी

धर्म के उन नैतिक लक्षणों से सम्बन्ध रखते हैं, जिनको मनु और याज्ञवल्क्य ने गिनाया है। यह धर्मशास्त्रों की व्यावहारिक सीमा है। इनके अतिरिक्त सामान्य मानव-धर्म के आधार पर कोई भी वर्ग अथवा व्यक्ति किसी भी प्रसंग और परिस्थिति में अपने स्वधर्म का निर्णय कर सकता है।

धर्मशास्त्रों के सम्मत धर्म के ये रूप विविक्त होते हुए भी परस्पर विरोधी नहीं हैं, वरन् इसके विपरीत इन सबमें समन्वय अपेक्षित है। इस प्रकार धर्म की यह समृद्ध कल्पना मनुष्य-समाज की विशालता तथा जीवन और उसकी परिस्थितियों की विविधरूपता की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध और व्यावहारिक है। इसके अतिरिक्त धर्म की यह धारणा पूर्ण रूप से मानवीय और प्रमुखतः जनतान्त्रिक है। मनुष्य का आदर, स्वतन्त्रता और अविरोध धर्म की इस धारणा के प्रमुख लक्षण हैं। ये लक्षण इस धर्म को सार्वभौम बनाते हैं संकुचित धर्म सम्प्रदाय भी अपने को सार्वभौम कहते हैं। इन सम्प्रदायों को अंगीकार करके सम्पूर्ण मानवजाति इनमें से किसी एक धर्म की अनुगामी बन सकती है। किन्तु इन धर्म-सम्प्रदायों की अनेकता ही उनकी सार्वभौमता का खण्डन करती है। सम्पूर्ण मानव-जाति के द्वारा अंगीकृत होने पर अथवा सम्पूर्ण मानवजाति पर आरोपित होने पर कोई भी सिद्धान्त अथवा विश्वास सार्वभौम बन सकता है। यदि अपनी आकांक्षा के अनुसार इस्लाम धर्म विश्व विजयी बन जाता, तो वही सार्वभौम बन जाता। सम्पूर्ण विश्व-पर आरोपित होने पर साम्यवाद सार्वभौम बन सकता है, किन्तु यह धर्म की सार्वभौमता का वास्तविक रूप नहीं है। धर्म की सार्वभौमता मानव-समाज में उसकी व्यापक स्वीकृति पर निर्भर नहीं करती, वरन् उसके सिद्धान्तों की सार्वभौम स्वीकार्यता पर निर्भर करती है। यदि किसी धर्म के सिद्धान्त मानव मात्र के लिए माननीय हैं, तो वह वस्तुतः सार्वभौम हैं, चाहे उसके अनुयायी कितने ही अल्पसंख्यक क्यों न हों। इस अर्थ में ईसाई और इस्लाम धर्म तथा अन्य सभी सम्प्रदाय अंशतः सार्वभौम हैं। इन सबमें कुछ ऐसे मानवीय सिद्धांत हैं, जो मानव-मात्र के लिए माननीय हैं। इन धर्म सम्प्रदायों की सार्वभौमता वहीं खण्डित होती है, जहाँ ये प्रचार और आरोपण का अवलम्ब लेते हैं। सिद्धान्तों के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है, अतः उनकी सार्वभौमता का आग्रह उचित नहीं है। स्वतन्त्रता, समानता, अप्रचार, अनारोपण, दूसरों के मत का आदर आदि ही धर्म की सार्वभौमता के वास्तविक तत्त्व हो सकते हैं। मनुष्य की स्वतन्त्रता का आदर ही अन्तिम धर्म है। इसे मानने पर सभी

सम्प्रदाय सार्वभौम बन जाते हैं। भारतीय धर्म-परम्परा में इसी रूप में अनेक सम्प्रदाय पलते रहे हैं। सम्प्रदायों का यह रूप मानवीय धर्म के उक्त सभी रूपों के साथ संगत है।

अस्तु भारतीय संस्कृति का धर्म मनुष्यता का मर्म है। वह प्रेम और समता का सामान्य और सार्वभौम भाव है। वह किसी जाति, देश, पैगम्बर, ग्रन्थ आदि में सीमित मत नहीं है। ईश्वर के किसी विशेष रूप अथवा उपासना की किसी विशेप विधि से भी उसका सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त धर्म के उपर्युक्त सब रूपों का समन्वय मनुष्य-जीवन के उस परम लक्ष्य में होता है, जिसे वैशेपिक दर्शन में अभ्युदय और निःश्रेयस कहा गया है। अभ्युदय लौकिक उन्नति है, निःश्रेयस आध्यात्मिक उत्कर्ष की पराकाष्ठा है। धर्म नैतिक और सामाजिक आचार का वह रूप है, जिसमें जीवन के इन दोनों लक्ष्यों का संगम होता है। धर्म का सामान्य रूप और उसके विशेष लक्षण दोनों ही मनुष्य मात्र के लिए समान रूप से मान्य हैं। महाभारत तथा अन्य धर्म–शास्त्रों में धर्म के इसी मानवीय तथा सार्वभौम एवं उदार रूप के सामान्य और विशेप पक्षों का विस्तृत विवरण मिलता है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में धर्म के इन दोनों रूपों का महाभारत के अनुसार विवेचन किया गया है। धर्म के साम्प्रदायिक रूप का धर्मशास्त्रों तथा महाभारत में कोई स्थान नहीं है। ईश्वर तथा देवता-सम्बन्धी धर्म के रूप का कुछ विवरण महाभारत में मिलता है किन्तु वह संकुचित तथा दुराग्रहपूर्ण नहीं है, वरन् सामान्य धर्म के प्रभाव से उदार एवं विविध रूप हैं।

अध्याय— ५

महाभारत में धर्म का स्वरूप

१–धर्म का स्वरूप—

महाभारत में धर्म का स्वरूप बहुत कुछ धर्मशास्त्रों के अनुकूल है। पिछले अध्यायों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि धर्मशास्त्रों और महाभारत में जिसे धर्म कहा गया है, वह रिलीजन से भिन्न है। धर्मशास्त्रों का धर्म एक उदार, मानवीय और सार्वभौम धर्म है। इनकी तुलना में रिलीजन को धर्म-सम्प्रदाय कहना अधिक उचित है। धर्मशास्त्रों का धर्म मानवीय है। वह मानवीय व्यवहार का शील है। ईश्वर सम्बन्धी कोई मान्यता उसमें आवश्यक नहीं। रिलीजन के नाम से जो धर्म–सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं, उनमें ईश्वर-सम्बन्धी मान्यतायें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन मान्यताओं के आग्रह प्रायः मानवीय शील का खंडन भी करते रहे हैं। धर्म-प्रचार के सम्बन्ध में इन सम्प्रदायों के पैगम्बरों के वचन भी मानवीय शील के विपरीत हैं। वे मनुष्य की समता और स्वतन्त्रता का खण्डन करते हैं। धर्मशास्त्रों का धर्म ही एक ऐसा धर्म है, जिसमें ऐसा कोई आत्मविरोध नहीं है और जो अपनी उदारता एवं मानवीयता के कारण सार्वभौम धर्म बन सकता है। मनु, याज्ञवल्क्य आदि आचार्यों ने अपने धर्मशास्त्रों में धर्म के लक्षणों का विवरण किया है। मनु ने धर्म के दसलक्षण गिनाये हैं, जो इस प्रकार हैं—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध।[1] याज्ञवल्क्य ने धर्म के लक्षणों को धर्म के साधन कहा है। उनके अनुसार धर्म के यह साधन ६ हैं–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच,

---

१—धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
मनुस्मृति—अध्याय ६, श्लोक ६६

इन्द्रियनिग्रह, दान, दम, दया, क्षान्ति।[२] इसी प्रकार अन्य धर्मशास्त्रों में भी धर्म के लक्षण गिनाये गये हैं। ये लक्षण मनुष्य के शील और सदाचार के रूप में हैं। शील और सदाचार के ये लक्षण अनेक हो सकते हैं। इसीलिए धर्म-शास्त्रों में जो लक्षण गिनाये गये हैं, उनमें कुछ समानता होते हुए भी कुछ अन्तर भी हैं। गुणों की गणना की अपेक्षा धर्म की सामान्य भावना अधिक महत्त्वपूर्ण है। यही भावना धर्म का मूल है। धर्म का सामान्य सिद्धान्त ही धर्म का स्तम्भ है। धर्म के विविध लक्षण जो धर्मशास्त्रों में गिनाये गये हैं, वे धर्म वृक्ष की शाखाओं के समान हैं। मनुस्मृति में धर्म का कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं बताया गया है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि धर्म की सामान्य भावना मनु के धर्म-लक्षणों में भी ओतप्रोत है। याज्ञवल्क्य ने आत्म-दर्शन को परमधर्म कहा है।[३] याज्ञवल्क्य के अनुसार आत्मदर्शन को धर्म का सामान्य सिद्धान्त कह सकते हैं। याज्ञवल्क्य के इस आत्मदर्शन के अनुकूल ही अन्य धर्मशास्त्रों में भी आत्मभाव को ही धर्म के सामान्य सिद्धान्तों का आधार माना गया है। देवल ने इस आत्मभाव का निरूपण व्यवहार की प्रतिकूलता और अनुकूलता के द्वारा किया है। उनके अनुसार जो व्यवहार हमारे प्रतिकूल है, वह व्यवहार हमें दूसरे के प्रति नहीं करना चाहिए। देवल के अनुसार व्यवहार का यही रूप धर्म का सर्वस्व है।[४] सिद्धान्त की दृष्टि से हम इसे

२—अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥
याज्ञवल्क्यस्मृति—अध्याय १, श्लोक १२१

३—इज्याचार दमोऽहिंसा दान स्वाध्याय कर्मणाम्।
अयं तु परमोधर्मो यद्योगेनात्म दर्शनम्॥
याज्ञवल्क्यस्मृति—अध्याय १, श्लोक ८

४—श्रूयतांधर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
देवल

समानता का भाव कह सकते है । आत्मदर्शन अथवा आत्मभाव इस समता का तात्विक आधार है । महाभारत में भी देवल के समान शब्दों में धर्म के इस सिद्धान्त का निर्वचन किया गया है । अपने साथ समानता के भाव को इस सामान्य धर्म का प्रमाण बताया गया है ।[५] भगवद्गीता में भी इस आत्मौपम्य का संकेत मिलता है ।[६] यह आत्मौपम्य धर्म का मूल आधार है । धर्मशास्त्रों में गिनाये हुए धर्म के लक्षण इससे अनुगत होते हैं । यह उन लक्षणों में व्याप्त रहता है ।

इस रूप में धर्म एक ओर मनुष्य के आत्मिक कल्याण का साधन है तथा दूसरी ओर समाज में सामंजस्य का सूत्र बन जाता है । जो व्यवहार हमें अपने प्रतिकूल जान पड़ते हैं, वैसे व्यवहार जब हम दूसरों के प्रति करते हैं, तो हमारे व्यवहार से दूसरों को दुःख होता है तथा उनका अनिष्ट होता है ।

५—न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥

काणेः धर्मशास्त्र-खण्ड-२, भाग—१, पृष्ठ—७

६—आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

भगवद् गीता—अध्याय ६, श्लोक ३२

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पुरुषः ।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥

शान्तिपर्व—अध्याय २५९, श्लोक २०

प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ॥

अनुशासनपर्व—अध्याय-११३, श्लोक ९

इन्हें हम अधर्म भी कह सकते हैं। दूसरों के प्रतिकूल व्यवहार न करने से समाज में सामंजस्य और सद्भाव बढ़ता है। यह समाज की स्थिति को दृढ़ बनाते हैं। धर्म का यह रूप धर्म की उस परिभाषा को सार्थक बनाता है, जो धर्म शब्द की व्युत्पत्ति से घटित होती है। धर्म की परिभाषा महाभारत में भी मिलती है। महाभारत के ही प्रमाण से यह परिभाषा प्रायः दी जाती है। यह परिभाषा महाभारत में दो स्थानों पर लगभग समान शब्दों पर मिलती हैं। कर्णपर्व में कहा गया है कि धारण करने के कारण धर्म को धर्म कहा जाता है। धर्म ही समाज का धारण करता है। जो धारण युक्त है, वही निश्चित-रूप से धर्म है।[७] लगभग इन्हीं शब्दों में शान्तिपर्व में धर्म की व्याख्या की गई है।[८] धर्म शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार धर्म की जो परिभाषा महाभारत में दी गई है तथा देवल के वचन के समान दूसरों के प्रतिकूल व्यवहार के निषेध के रूप में धर्म का जो विधान महाभारत में किया गया है, वह स्पष्टरूप से सामाजिक और आध्यात्मिक है। 'आत्मौपम्येन' का आधार धर्म को आध्यात्मिक बनाता है। आत्मभाव से प्राप्त समता और एकता ही धर्म का मूल सूत्र है। आत्मभाव के अनुकूल व्यवहार किसी के प्रतिकूल नहीं होता। भावरूप में वह दूसरों के अनुकूल होता है। इस अनुकूलता से समाज में सामंजस्य पैदा होता है। यह सामंजस्य ही समाज का धारण अथवा उसकी रक्षा करता है। विरोध और संघर्ष से समाज नष्ट होता है। महाभारत का युद्ध स्वयं इसका एक भीषण उदाहरण है। धर्म का आन्तरिक शील मनुष्य को आदर्श व्यक्ति बनाता है। उक्त रूप में धर्म का व्यवहार समाज का धारण और उसकी रक्षा करता है। महाभारत के अनुसार यही धर्म का सामान्य स्वरूप अथवा सिद्धान्त है। दार्शनिक भाषा में इस सिद्धान्त को 'आत्मौपम्य' अथवा आत्मभाव कह सकते हैं। सामाजिक दृष्टि से इसे समता कहा जा

७—धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ।
कर्णपर्व—अध्याय ६९, श्लोक ५८

८—धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥
शान्तिपर्व—अध्याय १०९, श्लोक ११

सकता है। सामाजिक समता का भाव आत्मभाव से घटित होता है। सुख-दुःख आदि की दृष्टि से हम दूसरों को अपने समान समझें, यही धर्म का दृष्टिकोण है। यह धर्म की दृष्टि दो चक्षुओं के द्वारा सम्भव होती है। भौतिक विषयों की ओर से आत्मा की ओर अभिमुख होना धर्म दृष्टि का एक चक्षु है। सबमें एक ही आत्मा है और सबके सुख-दुःख हमारे समान हैं, यह जानकर समानता का व्यवहार करना तथा दूसरों के प्रतिकूल व्यवहार न करना यह धर्म दृष्टि का दूसरा चक्षु है। इन दोनों चक्षुओं के सन्तुलन से धर्म दृष्टि शुद्ध और स्वच्छ रहती है। इन दोनों दृष्टियों से धर्म के व्यक्तिगत और सामाजिक तथा आन्तरिक और व्यावहारिक दोनों पक्ष समन्वित होते हैं।

महाभारत में निर्धारित धर्म के स्वरूप का यह आत्मिक तथा समता और सामंजस्य से पूर्ण दृष्टिकोण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। धर्म का यही रूप माननीय होने के कारण सार्वभौम बन सकता है। धर्म के इस स्वरूप में मनुष्य समाज के कल्याण का सनातन सूत्र निहित है। यही धर्म का वास्तविक रूप है। रिलीजन के नाम से जो सम्प्रदाय संसार में प्रसिद्ध और प्रचलित हैं, वे धर्म की उक्त कसौटी पर खरे उतरने पर ही अपने नाम को सार्थक कर सकते हैं। इन सम्प्रदायों में कुछ नैतिक गुणों को महत्त्व अवश्य दिया गया है, किन्तु इनके संगठन और प्रचार में इन नैतिक गुणों तथा समता के उस सिद्धान्त का खण्डन किया गया है, जो महाभारत के अनुसार धर्म का मूल तत्व है। धर्म के मूल मानवीय सिद्धान्त का खण्डन करने के कारण अनेक धर्म-सम्प्रदाय एक प्रकार से आत्मविरोधी बन गये हैं। वे धर्म के उस मूल सिद्धान्त के अनुकूल नहीं हैं, जिसका निर्देश महाभारत में किया गया है तथा जो स्वतन्त्र विचार और विश्लेपण की कसौटी पर भी खरा उतरता है। प्रसिद्ध धर्म-सम्प्रदायों के प्रचार और विस्तार में धर्म के सिद्धान्त का जो खण्डन मिलता है, उसकी ओर ध्यान न देने के कारण ही इन सम्प्रदायों के अनुयायी अपने धर्म पर गर्व करते हैं। संसार के अन्य विचारकों ने भी इन धर्म-सम्प्रदायों के इस आत्म विरोध की ओर ध्यान नहीं दिया और उनमें किसी ने भी इन धर्म-सम्प्रदायों की अधार्मिकता को अनावृत करने का साहस नहीं किया। महाभारत में जिस प्रकार धर्म के निरूपण के आत्मभाव और समता को धर्म का मूल तत्व माना गया है तथा प्रतिकूल व्यवहार का निषेध किया गया है, उसी प्रकार अविरोध को भी धर्म का महत्त्वपूर्ण पक्ष माना गया हैं। अविरोध से युक्त होने पर ही धर्म

वास्तव में धर्म कहा जा सकता है। जो दूसरी ओर धर्म में ही बाधक होता है; वह वास्तव में धर्म नहीं है, वरन् वह कुधर्म है।[९] इस अविरोध का अभिप्राय व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार की संगतियों से है। वास्तविक धर्म का व्यवहार वही है, जो व्यक्ति के अन्य धर्माचरणों का खण्डन न करे। इसी प्रकार सामाजिक दृष्टि से सच्चा धर्माचरण वही है, जो दूसरों के विरुद्ध अथवा प्रतिकूल न हो तथा उनके अपने धर्माचरण का विरोधी न बने। मनुष्य का नैतिक और सामाजिक आचार तथा धर्म-सम्प्रदाय आदि सभी अर्थों में धर्म की परीक्षा में अविरोध की इस कसौटी का उपयोग आवश्यक है। इस कसौटी का उपयोग करने पर धार्मिक प्रतीत होने वाले अनेक सामाजिक आचार तथा अनेक प्रसिद्ध धर्म-सम्प्रदाय अधर्म की संज्ञा से लांछित होंगे।

२—धर्म के प्रमाण—

धर्म-शास्त्रों में धर्म का विधान प्राय: आदेश के रूप में किया गया है। आदेश के लिए प्रमाण की अपेक्षा होती है। प्रमाण का आधार होने पर ही आदेश मान्य होता है। उत्कृष्ट होने पर मनुष्य का अपना अनुभव और तर्क ही प्रमाण हो सकता है। किन्तु चेतना का इतना उत्कर्ष, अनुभव की इतनी समृद्धि और बुद्धि की इतनी स्वच्छता साधारण जनों के लिए सम्भव नहीं है। उनका अनुभव सीमित रहता है और उनकी बुद्धि भी विकसित नहीं होती। अत: साधारणजनों के लिए धर्म-सम्बन्धी आदेश अन्य प्रमाणों के आधार पर मान्य होते हैं। प्राचीन समाजों में प्राय: श्रुति का प्रमाण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। मनु ने वेद को धर्म का मूल माना है।[१०] उनके अनुसार धर्म का परम प्रमाण श्रुति है।[११] ईश्वरोक्त अथवा आप्त होने के कारण

९—धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधात् तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥
वनपर्व—अध्याय—१३१, श्लोक ११

१०—वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।
मनुस्मृति—अध्याय २, श्लोक ६

११—धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।
मनुस्मृति—अध्याय २, श्लोक १३

वेद को नित्य प्रमाण माना गया है। अत्यन्त प्राचीनकाल से भारतीय जनता और भारतीय विद्वान् वेद को प्रमाण मानते रहे हैं। वे वेदविहित कर्मों को धर्म मानकर पालते रहे हैं। महाभारत में वेदोक्त कर्म को परमधर्म माना गया है।[१२] स्मृति और धर्मशास्त्र भी वेद के अनुकूल ही धर्म का विधान करते हैं। मनु ने वेद के ज्ञाताओं की स्मृति को प्रमाण माना है।[१३] स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में धर्मकृत्यों का विस्तारपूर्वक विधान किया गया है। उनमें धर्म का सामाजिक पक्ष अधिक प्रमुख है। धर्म-शास्त्रों के इसी सामाजिक प्रभाव से वेद और स्मृति के साथ सदाचार भी धर्म का प्रमाण बना। धर्मशास्त्रों में जिस रूप में धर्म का विधान किया गया है, वह अत्यन्त मानवीय और सामाजिक है। 'आत्मनः प्रतिकूलानि' में तथा गीता और महाभारत के 'आत्मौपम्येन' में इस मानवीय भावना का मूल मिलता है। धर्म के जो विभिन्न लक्षण धर्मशास्त्रों में बताये गये हैं, उनमें यह मानवीय भावना ओतप्रोत है। व्यवहार और सम्बन्ध में वे धर्म सामाजिक हैं। धर्मशास्त्र की इसी मानवीयता और सामाजिकता के कारण स्मृति अथवा धर्म-शास्त्रों का प्रमाण माननीय है। यदि ऋषियों और मुनियों को वेदों और धर्मशास्त्रों का प्रणेता मानें, तो भी दोनों का प्रमाण अत्यन्त आदरणीय है। अन्य धर्म-प्रवर्त्तकों की भाँति वेदों और स्मृतियों के प्रणेता ऋषियों का उद्देश्य किसी धर्म-सम्प्रदाय की स्थापना, किसी धर्म-संगठन का निर्माण अथवा किसी धर्म-सम्प्रदाय का प्रचार नहीं था। ये ऋषि-मुनि सात्विक जीवन के अनुरागी तथा तप के द्वारा आत्मा के साधक थे। आत्मसाधक होने के कारण ही वे 'आत्मदर्शन' और 'आत्मौपम्य' में धर्म का मूल खोज सके। आत्मा की ज्योति से प्रकाशित होने के कारण ही उनका धर्मविधान इतना मानवीय है।

वेद और स्मृति के बाद सदाचार अथवा शिष्टाचार को धर्म का प्रमाण

१२—वेदोक्तः परमो धर्मः।

अनुशासनपर्व अध्याय १४१, श्लो० ६५

१३—स्मृतिशीले च तद्विदाम्।

मनुस्मृति—अध्याय २, श्लो० ६

कौरवों की सभा में जब दुःशासन ने द्रौपदी का चीरहरण किया, तो द्रौपदी ने धृतराष्ट्र, द्रोण, भीष्म आदि वृद्धों से धर्म के निर्णय की पुकार की। उस कठिन समय में वे वृद्ध धर्म की सूक्ष्मता और धर्म के निर्णय की कठिनता का प्रस्ताव रखकर निष्क्रिय बने रहते हैं। ऐसे समय में वह सदाचार जिसे मनुस्मृति और महाभारत दोनों में धर्म का प्रमाण माना गया है, धर्म का निर्णायक और निर्देशक बन सकता था। सदाचार का यह आदर्श कौरव-वृद्धों का मार्ग-दर्शन कर सकता था। सज्जनों के आचार में स्त्री के चीरहरण जैसे निन्दनीय कर्म का कोई उदाहरण नहीं मिल सकता है। द्रौपदी के चीरहरण के प्रसंग में वेद और स्मृति का प्रमाण भी निर्णायक बन सकता था। स्त्री के चीरहरण का औचित्य किसी भी वेद अथवा शास्त्र के द्वारा सम्मत नहीं है। द्यूत में जीत लेने पर भी कौरव किसी भी धर्म प्रमाण के अनुकूल द्रौपदी का चीरहरण नहीं कर सकते थे। वे उसे अपनी दासी तो बना सकते थे।

अस्तु वेद, स्मृति और सदाचार धर्म के तीन मुख्य प्रमाण हैं। इनसे प्रमाणित आचार ही धर्म है। वेदों में यज्ञादि का प्रमाण अधिक मिलता है। स्मृतियोंमें वर्णों और आश्रमोंके व्यक्तिगत और सामाजिक धर्म का वर्णन मिलता है। सदाचार धर्म का सजीव आदर्श है। महाभारत में धर्म के यही तीन प्रमाण माने गये हैं। अहिंसा, सत्य, दया आदि इन्हीं के अनुसार धर्म ठहरते हैं। स्मृतियों में इनका विधान है। सज्जनों ने अपने सदाचार के द्वारा इनका आदर्श उपस्थित किया है। मनु ने आत्मप्रियता अथवा आत्मतुष्टि को धर्म का एक चतुर्थ प्रमाण माना है।[१७] इसे स्वार्थ अथवा स्वैरता समझने का भ्रम हो सकता है। देवल और महाभारत के 'आत्मनः प्रतिकूलानि' की मर्यादा में यह आत्मप्रियता अधर्म नहीं हो सकती। इस मर्यादा के अन्तर्गत अपने प्रिय और अनुकूल कर्म भी धर्म हो सकते हैं। एक दृष्टि से यह आत्मप्रियता

१७—स्वस्य च प्रियमात्मनः।

मनुस्मृति—अध्याय २, श्लोक १२

आत्मनस्तुष्टिरेव च।

मनुस्मृति—अध्याय २, श्लोक ६

धर्म का महत्त्वपूर्ण तत्व है। धर्म केवल परोपकार ही नहीं है, वह आत्मोपकार भी है। दोनों के सन्तुलन से युक्त होने पर धर्म समाज का धारक बन सकता है तथा अपनी व्युत्पत्ति और परिभाषा को चरितार्थ करता है। 'आत्मौपम्येन', आत्मनः प्रतिकूलानि' तथा अविरोध के अनुसार आत्मप्रियता ही नहीं अन्य आचार भी धर्म बनते हैं। धर्मशास्त्रों और महाभारत में वेद, स्मृति आदि धर्म के प्रमाण अवश्य माने गये हैं किन्तु उनके अनुसार धर्म का मूल सिद्धान्त आत्मभाव और अविरोध ही है। ये धर्म के लक्षणों में समता और मानवीयता का संचार करके उन्हें उदार और सार्वभौम बनाते हैं। इन्हें हम धर्म का परम प्रमाण कह सकते है।

३—धर्म के लक्षण—

दुःशासन के द्वारा द्रौपदी के चीरहरण के समय द्रौपदी ने धर्म के सम्बन्ध में कई प्रश्न कौरव सभा के वृद्धों से किये। द्रौपदी के उस संकटकाल में पितामह भीष्म ने धर्म की सूक्ष्मता के कारण द्रौपदी के प्रश्न का विवेचन करने में अपनी असमर्थता प्रकट की।[१८] इसमें सन्देह नहीं कि धर्म का विषय बड़ा सूक्ष्म और कठिन है। किन्हीं परिस्थितियों में धर्म के विशेष और व्यावहारिक रूप का निर्णय करना कठिन हो जाता है। इस निर्णय के सम्बन्ध में मतभेद हो सकते हैं। नीतिकार इन मतभेदों की चर्चा करते रहे हैं और धर्म के तत्व की गहनता की घोषणा करते रहे हैं।[१९] किन्तु ऐसी स्थिति में भी वे महाजनों के मार्ग को धर्म का मार्ग मानते रहे हैं।[२०] धर्म का विचार निःसन्देह सूक्ष्म है और व्यवहार में उसका निर्णय प्रायः कठिन हो जाता है। फिर भी धर्मशास्त्रों में धर्म के स्वरूप और लक्षणों का बहुत कुछ विवरण मिलता है। व्यवहार के सम्बन्ध में भी धर्म के आदर्श समाज में मिलते हैं। धर्मशास्त्रों के मतों और समाज में प्राप्त आदर्शों के आधार पर धर्म के अधिकांश प्रश्नों का निर्णय किया जा सकता है। द्रौपदी के चीरहरण के प्रसंग

१८—न धर्मसौक्ष्म्यात् सुभगे विवेक्तुं
शक्नोमि ते प्रश्नमिमं यथावत्।
सभापर्व—अध्याय ६७, श्लोक ४६½

१९—धर्मस्य तत्व निहितं गुहायाम्।

२०—महाजनो येन गतः स पन्थाः।

में धर्म का निर्णय इतना कठिन नहीं था, जितना कि भीष्म पितामह ने बताया है। द्यूत में जीत लेने पर द्रौपदी को दासी बनाया जा सकता था; किन्तु स्त्री होने के नाते उसका केशकर्षण, चीरहरण, अपमान आदि किसी प्रकार भी उचित न था। स्त्री का आदर सभी धर्मशास्त्रों को अभीष्ट है। इस विषय में शास्त्र और व्यवहार दोनों एकमत हैं। स्त्री के अपमान का कोई भी आदर्श समाज में अभिनन्दित नहीं है। धर्मशास्त्रों का आदेश और महापुरुषों का आदर्श बहुत दूर तक धर्म के मार्ग को प्रकाशित कर सकता है।

धर्म के निर्णय की इन्हीं सम्भावनाओं के आधार पर धर्मशास्त्रों में धर्म के स्वरूप और सिद्धान्त का निर्धारण हुआ है तथा धर्म के लक्षणों एवं प्रमाणों का निरूपण किया गया है। 'आत्मौपम्येन', 'आत्मनः प्रतिकूलानि', 'अविरोधेन' आदि के अनुसार धर्मशास्त्रों और महाभारत में जो धर्म के स्वरूप एवं सिद्धान्त का निर्णय किया गया है वह बहुत कुछ समीचीन है। उससे धर्म की गुहा बहुत दूर तक प्रकाशित हो सकती है। इस कसौटी पर बहुत से धर्म-सम्प्रदायों और भ्रान्त आचारों की अधार्मिकता अनावृत की जा सकती है। धर्म के इस स्वरूप और सिद्धान्त का विवरण पिछले प्रकरण में किया जा चुका है। धर्म के इसी स्वरूप और सिद्धान्त के आधार पर धर्मशास्त्रों में धर्म के अनेक लक्षणों का वर्णन किया गया है। महाभारत में भी धर्म के लक्षणों का विवरण मिलता है। धर्म के इन लक्षणों की परीक्षा करने पर विदित होगा कि ये सभी लक्षण धर्म के सामान्य स्वरूप और सिद्धान्त से अनुगत होते हैं तथा उनके साथ संगत हैं। उदाहरण के लिए हम अहिंसा, सत्य, दया आदि किसी भी लक्षण को ले सकते हैं। ये सभी लक्षण 'आत्मौपम्येन' तथा 'आत्मनःप्रति कूलानि' के अनुरूप हैं। हम नहीं चाहते कि कोई हमारी हिंसा करे। हमारी हिंसा हमारे प्रतिकूल है। अपने दुःख के समान ही दूसरे के दुःख को मानकर 'आत्मौपम्येन' के अनुसार हमें हिंसा नहीं करनी चाहिये, जो हमारे ही समान दूसरों के भी प्रतिकूल है। इसी प्रकार धर्म के अन्य लक्षण भी धर्म के सामान्य सिद्धान्त के अनुकूल हैं। धर्म के इन लक्षणों को धर्म के सामान्य सिद्धान्त का विशेष और व्यावहारिक रूप कहा जा सकता है।

विभिन्न धर्मशास्त्रों में धर्म के जो लक्षण बताये गये हैं उनमें कुछ

ही महाभारत में भी धर्म के अनेक सामान्य लक्षण बताये गये हैं जो सबके लिए मान्य हैं।

युधिष्ठिर ने जब कृष्ण से कहा कि जनार्दन ! मनीषी पुरुष धर्म को अनेकों प्रकार का और बहुत से द्वारवाला बतलाते हैं। वास्तव में उसका लक्षण क्या है ? तब श्री कृष्ण ने धर्म का निश्चित लक्षण इस प्रकार बताया कि "राजन् ! अहिंसा, शौच, क्रोध का अभाव, क्रूरता का अभाव, दम, शम और सरलता—ये धर्म के निश्चित लक्षण हैं।"[23] मनुष्य के सनातन धर्म के लक्षण बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि "अहिंसा, सत्य, अक्रोध, तपस्या, दान, मन और इन्द्रियों का संयम, विशुद्धि बुद्धि, किसी के दोष न देखना, किसी से डाह और जलन न रखना तथा उत्तम शील-स्वभाव का परिचय देना—ये धर्म हैं, देवाधिदेव परमेष्ठी ब्रह्माजी ने इन्हीं को सनातन धर्म बतलाया है। जो मनुष्य इस सनातन धर्म में स्थित है, उसे ही कल्याण का दर्शन होता है।"[24] वेद में जिसका प्रतिपादन किया गया है, वही धर्म है। जो मनुष्य जिसके साथ जैसा बर्ताव करे, उसके साथ भी उसे वैसा ही बर्ताव करना चाहिए; यह धर्म (न्याय) है। चोरी करना, झूठ बोलना एवं हिंसा करना आदि अधर्म भी देश और काल के भेद से धर्म हो जाते हैं। झूठ बोलना अवस्थाविशेष में धर्म माना जाता है। हिंसा करना जैसे सर्पिणी के अण्डों का नाश कर देना श्रेष्ठ कर्म समझा जाता है। सर्पिणी के अण्डों के नाश से बहुत से मनुष्यों के जीवन का भला हो जाता है तथा इससे वह मनुष्य अधर्म के बजाय पुण्य का भागी होता है। इसीलिए अवस्था विशेष में जो अधर्म

२३—अहिंसा शौचमक्रोधमानृशंस्यं दमः शमः।
आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम् ॥
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ९२

२४—(अहिंसा सत्यमक्रोधस्तपो दानं दमो मतिः।
अनसूयाप्यमात्सर्यमनीर्ष्या शीलमेव च ॥
एष धर्मः कुरुश्रेष्ठ कथितः परमेष्ठिना।
ब्रह्मणा देवदेवेन अयं चैव सनातनः ॥
अस्मिन् धर्मे स्थितो राजन् नरो भद्राणि पश्यति।)
शान्तिपर्व—अध्याय १०९, श्लोक १२ और १३ के मध्य में

कहे जाते हैं, वे ही कार्य धर्म माने जाते हैं। धर्म के लक्षण बताते हुए व्यासजी ने युधिष्ठिर से कहा कि "बिना दी हुई वस्तु को न लेना, दान, अध्ययन और तप में तत्पर रहना, किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रोध त्याग देना, और यज्ञ करना—ये सब धर्म के लक्षण हैं।"[२५] किसी भी प्राणी से द्रोह न करके जिस धर्म का पालन किया जाता है, वही साधु पुरुषों की राय में उत्तम धर्म है। इस विषय को बताते हुए देवस्थान ने स्वायम्भुवमनु का कथन युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि "किसी से द्रोह न करना, सत्य बोलना, (बलिवैश्वदेव कर्म द्वारा) समस्त प्राणियों को यथायोग्य उनका भाग समर्पित करना, सबके प्रति दयाभाव बनाये रखना, मन और इन्द्रियों का संयम करना, अपनी ही पत्नी से सन्तान उत्पन्न करना तथा मृदुलता, लज्जा एवं अचंचलता आदि गुणों को अपनाना—ये श्रेष्ठ एवं अभीष्ट धर्म है।"[२६] अष्टक के पूछने पर ययाति ने उनकी श्रेष्ठता का कारण इस प्रकार बताया कि "दान, तपस्या, सत्य, धर्म, ह्री, श्री, क्षमा, सौम्यभाव और व्रत-पालन की अभिलाषा—राजा शिबि में ये सभी गुण अनुपम हैं तथा बुद्धि में भी उनकी समता करने वाला कोई नहीं है। राजशिबि ऐसे धर्मात्मा और सदाचार सम्पन्न तथा लज्जाशील थे कि उनकी तुलना करना किसी से भी कठिन है। वे हम सबसे आगे बढ़ गये थे।[२७]

२५—अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः ः
अहिंसा सत्यमक्रोध इज्या धर्मस्य लक्षणम् ।।१०
शान्तिपर्व—अध्याय ३६—श्लो० १०

२६—अद्रोहः सत्यवचनं संविभागो दया दमः ॥११
प्रजनं स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलम् ।
एवं धर्मप्रधानेष्टं मनुः स्वामम्भुवोऽब्रवीत् ॥१२
शान्तिपर्व—अध्याय—२१—श्लो० ११-१२

२७—दानं तपः सत्यमथापि धर्मो, ह्रीः श्रीः क्षमा सोम्यमथो विधित्सा राजन्नेनान्यप्रमेयाणि राज्ञः, शिबेः स्थितान्यप्रतिमस्य बुद्धया ॥
नादिपर्व—अध्याय ९३—श्लो० १९,२०

धर्म प्राप्ति किन-किन साधनों से प्राप्ति होती है। इस विषय में नकुल ने इस प्रकार कहा कि "शम, दम, धैर्य, सत्य, शौच, सरलता, यज्ञ, धृति तथा धर्म—इन सबका पालन ऋषियों के लिए श्रेष्ठ है।"[२८] इन सबके पालन से ऋषि-लोग मोक्ष पाते हैं। श्रेष्ठ धर्म की प्राप्ति के लिए श्री शौनक जी ने जनमेजय से इस प्रकार कहा कि "यज्ञ, दान, दया, वेद और सत्य तथा तप ये छः कर्म श्रेष्ठ धर्म को प्राप्त कराने वाले हैं।"[२९] ये छहों वस्तुएँ परम-पवित्र हैं, राजाओं को इनका भली भाँति से आचरण करना चाहिए। इन छहों का श्रेष्ठ आचरण करने वाला राजा परम श्रेष्ठ धर्म प्राप्ति का अधिकारी होता है। सुख और दुःख दोनों ही प्रकृतिस्थ प्राणियों के धर्म हैं। यदि मनुष्य को दुःख नहीं अनुभव होगा, तब उसे सुख का भी कुछ ध्यान नहीं होगा। मनुष्य को दुःख के अनुभव के बाद ही सुख का अनुभव होता है। यदि किसी मनुष्य को कोई दुःख ही नहीं होगा, तो उसे सुख का भी ज्ञान नहीं होगा। धर्म के मार्ग बताते हुए विदुर जी ने इस प्रकार कहा कि "यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा; दया और निर्लोभता—ये धर्म के आठ प्रकार के मार्ग बताये गये हैं।"[३०] मनुष्य को स्वर्ग में ले जाने वाले दस कर्म हैं—सत्य, विनय की मुद्रा, शास्त्र ज्ञान, विद्या, कुलीनता, शील, बल, धन, शूरता और चमत्कारपूर्ण बात कहना स्वर्ग के हेतु हैं। मनुष्य को सदा एकाग्रचित्त होकर पुण्य का ही

२८—शमो दमस्तथा धैर्यं सत्यं शौचमथार्जवम् ।
यज्ञो धृतिश्च धर्मश्च नित्यमार्षो विधिः स्मृतः ॥१७
शान्तिपर्व—अध्याय १२—श्लो० १७

२९—यज्ञो दानं दया वेदाः सत्यं च पृथिवीपते ।
पञ्चैतानि पवित्राणि षष्ठं सुचरितं तपः ॥७
तेन सम्यग्गृहीतेन श्रेयांसं धर्ममाप्स्यसि ॥८
शान्तिपर्व—अध्याय १५२—श्लो० ७,८

३०—इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥५६
उद्योगपर्व—अध्याय ३५—श्लो० ५६

है। वर्ण-व्यवस्था समाज का विभाजन है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण माने गये हैं। धर्मशास्त्रों में इनके पृथक्-पृथक् कर्तव्य बताये हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम हैं। इनके भी अलग-अलग धर्म हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अगले अध्यायों में इसी व्यवस्था के अनुरूप एक-एक अध्याय में प्रत्येक वर्ण और आश्रम के धर्मों अथवा कर्तव्यों का विस्तृत विवरण किया गया है। यहाँ संक्षेप में इनका संकेत इस प्रकार है।

मनु ने ब्राह्मणों के ६ मुख्य धर्म बताये हैं—अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह।[35] महाभारत में ब्राह्मणों के मुख्य धर्म इस प्रकार बताये गये हैं—अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन तथा दान और प्रतिग्रह।[36] मनु ने क्षत्रियों के ४ मुख्य धर्म बताये हैं—प्रजा की रक्षा, दान, यज्ञ और अध्ययन।[37] महाभारत में क्षत्रियों के मुख्य धर्म इस प्रकार बताये है—शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में से न भागना, दान देना और स्वामिभाव।[38] महाभारत में राज-धर्म का वर्णन इस प्रकार किया है कि

३५—अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षटकर्माण्यग्रजन्मनः॥
मनुस्मृति—अध्याय १०, श्लो० ७५

३६—अध्यापयेदधीयीत याजयेत यजेत वा।
न वृथा प्रतिगृह्णीयान्न च दद्यात् कथंचन॥
शान्तिपर्व—अध्याय २३४, श्लो० ११

३७—प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेस्व प्रसाक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
मनुस्मृति—अध्याय १, श्लो० ८०

३८—शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
भीष्मपर्व—अध्याय ४२, श्लो० ४३

राजा को न्याय की रक्षा करने वाला, सत्यभाषी, उचितदण्ड देने वाला होना चाहिए।[३९] मनु ने वैश्य के ७ मुख्य धर्म बताये हैं—पशु-रक्षण, दान, यज्ञ, अध्ययन, वाणिज्य, लेनदेन और खेती।[४०] महाभारत में वैश्य के मुख्य धर्म इस प्रकार बताये गये हैं—व्यापार, पशुपालन और खेती।[४१] मनु ने शूद्र का १ मुख्य कर्म बताया है—उच्च वर्णों की सेवा।[४२] महाभारत में भी शूद्र का मुख्य धर्म—तीनों वर्णों की सेवा ही बताया है।[४३] मनु ने ब्रह्मचारी के २ मुख्य कर्त्तव्य बताये हैं—अध्ययन, और गुरु की सेवा।[४४] महाभारत में ब्रह्मचारी के धर्म इस प्रकार बताये हैं—धर्म का रहस्य सुनना, वेदोक्त व्रत

३९—सम्यग्दण्डे स्थितिर्धर्मो धर्मो वेदक्रतुक्रियाः।
व्यवहारस्थितिर्धर्मः सत्यवाक्यरतिस्तथा ॥
अनुशासनपर्व—अध्या० १४१, श्लो० १५

४०—पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययन मेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिरेव च ॥
मनुस्मृति—अध्याय १, श्लो० ९०

४१—वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः।
वेदाध्ययन सम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः ॥
शान्तिपर्व—अध्याय-१८९, श्लो० ६

४२—एकमेवतु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥
मनुस्मृति—अध्याय १, श्लो० ९१

४३—प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत्।
तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते ॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६०, श्लो० २८

४४—कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च।
मनुस्मृति—अध्याय-२, श्लो० १९१

है। वर्ण-व्यवस्था समाज का विभाजन है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण माने गये हैं। धर्मशास्त्रों में इनके पृथक्-पृथक् कर्तव्य बताये हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम हैं। इनके भी अलग-अलग धर्म हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अगले अध्यायों में इसी व्यवस्था के अनुरूप एक-एक अध्याय में प्रत्येक वर्ण और आश्रम के धर्मों अथवा कर्तव्यों का विस्तृत विवरण किया गया है। यहाँ संक्षेप में इनका संकेत इस प्रकार है।

मनु ने ब्राह्मणों के ६ मुख्य धर्म बताये हैं—अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह।[३५] महाभारत में ब्राह्मणों के मुख्य धर्म इस प्रकार बताये गये हैं—अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन तथा दान और प्रति ग्रह।[३६] मनु ने क्षत्रियों के ४ मुख्य धर्म बताये हैं—प्रजा की रक्षा, दान, यज्ञ और अध्ययन।[३७] महाभारत में क्षत्रियों के मुख्य धर्म इस प्रकार बताये है—शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में से न भागना, दान देना और स्वामिभाव।[३८] महाभारत में राज-धर्म का वर्णन इस प्रकार किया है कि

३५—अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षटकर्माण्यग्रजन्मनः॥

मनुस्मृति—अध्याय १०, श्लो० ७५

३६—अध्यापयेदधीयीत याजयेत यजेत वा।
न वृथा प्रतिगृह्णीयान्न च दद्यात् कथंचन॥

शान्तिपर्व—अध्याय २३४, श्लो० ११

३७—प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेस्व प्रसाक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥

मनुस्मृति—अध्याय १, श्लो० ८९

३८—शौर्यं तेजो घृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

भीष्मपर्व—अध्याय ४२, श्लो० ४३

प्रकार बताये हैं—संस्कारों से शुद्ध होकर, घर की ममता त्याग कर गाँव से बाहर घने वन में निवास करना चाहिए।[५१]

मनु के अनुसार तीसरे आश्रम में वन में निवास करके अन्त में सब आसक्तियों को छोड़कर संन्यास ग्रहण करके परिव्रजन करना चाहिए।[५२] परिव्रजन का अर्थ स्वच्छन्द विचरण है। संन्यासी सब आसक्तियों और बंधनों से मुक्त हो जाता है। महाभारत में संन्यासी के विषय में कहा है कि वह अकेला वन में रहे और कोई वस्तु साथ न रखे।[५३] अपरिग्रह और स्वातन्त्र्य का यह जीवन भारतीय जीवन-कल्पना की चरम कोटि है।

५—धर्म और शील—

महाभारत में धर्म के साथ-साथ 'शील' की भी अनेक स्थानों पर प्रशंसा की गई है। धर्म के समान 'शील' भी संस्कृत भाषा का एक ऐसा शब्द है जिसका अँगरेजी में अनुवाद सम्भव नहीं है। 'शील' शब्द में धर्म की पवित्रता तथा आचार की सात्विकता का समाहार है। साथ ही उसमें 'धर्म' का पर्यायभाव भी निहित है। 'जलने' को अग्नि का धर्म अथवा शील दोनों ही कह सकते हैं। 'धर्म' में भी मूलतः सहजता समन्वित है, किन्तु 'विधि' के प्रभाव से 'धर्म' में 'कर्तव्य' का भाव प्रधान बन गया है। 'शील' की सहजता सुरक्षित रही है, साथ ही उसमें धर्माचार का भाव भी समाहित हो गया है। 'धर्म' की कर्तव्यता जब मनुष्य का सहज स्वभाव बन जाती है तब उसे 'शील' कहना उचित है। युधिष्ठिर का धर्म अथवा सत्य इसका उदाहरण है।

५१—संस्कृतः सर्वसंस्कारैस्तथैव ब्रह्मचर्यवान्।
ग्रामान्निष्क्रम्य चारण्ये मुनिः प्रव्रजितो वसेत्॥
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ४६, श्लो० ६

५२—त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत्।
मनुस्मृति—अध्याय ६, श्लो० ३३

५३—उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद् भिक्षुलक्षणम्।
शान्तिपर्व—अध्याय २४५, श्लो० ७

का पालन करना, होम और गुरुसेवा करना।[४५] मनु ने गृहस्थ के ५ मुख्य-धर्म इस प्रकार बताये हैं—अध्ययन और अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है, श्राद्धतर्पण पितृयज्ञ, होम देवयज्ञ, जीवों को बलि देना भूतयज्ञ और अतिथिसत्कार मनुष्य-यज्ञ हैं।[४६] याज्ञवल्क्य ने गृहस्थ के लिए मनु की भाँति ही पाँच यज्ञों को मुख्यकर्म बताया है।[४७] महाभारत में गृहस्थ के मुख्य धर्म इस प्रकार बताये हैं—न्याय से प्राप्त किये धन से यज्ञ करे, दान दे तथा सदा अतिथियों को भोजन कराये। दूसरों की वस्तु बिना दिये ग्रहण न करे।[४८] महाभारत में स्त्री को कार्य में कुशल, सन्तानवती, पतिव्रता तथा पति की प्रिय बताया है।[४९] मनु ने वानप्रस्थ के मुख्यधर्म इस प्रकार बताये हैं—नागरिक आहार और उपकरणों का त्याग।[५०] महाभारत में वानप्रस्थ के मुख्य धर्म इस

४५—रहस्यश्रवणं धर्मो वेदव्रतनिषेवणम् ।
अग्निकार्यं तथा धर्मो गुरुकार्यप्रसाधनम् ।।
अनुशासनपर्व—अध्याय १४१, श्लो० ३५

४६—अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलि र्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम् ।।
मनुस्मृति—अध्याय ३, श्लो० ७०

४७—बलिकर्मस्वधा होम स्वाध्यायाऽतिथि सत्क्रियाः ।
भूतपित्रमर ब्रह्ममनुष्याणां महाभरवाः ।
याज्ञवल्क्यस्मृति—अध्याय ३, श्लो० १०२

४८—धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत्,दद्यात्सदैवातिथीन् भोजयेच्च ।
अनाददानश्च परैरदत्तं सैषा गृहस्थोपनिषत् पुराणी ।।
आदिपर्व—अध्या० ९१—श्लो० ३

४९—सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ।।
आदिपर्व—अध्या० ७४, श्लो० ४०

५०—संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषुभार्या निक्षिप्य वनंगच्छेत्सहैव वा ।।
मनुस्मृति—अध्याय ६, श्लो० ३

प्रकार बताये हैं—संस्कारों से शुद्ध होकर, घर की ममता त्याग कर गाँव से बाहर घने वन में निवास करना चाहिए।[५१]

मनु के अनुसार तीसरे आश्रम में वन में निवास करके अन्त में सब आसक्तियों को छोड़कर संन्यास ग्रहण करके परिव्रजन करना चाहिए।[५२] परिव्रजन का अर्थ स्वच्छन्द विचरण है। संन्यासी सब आसक्तियों और बंधनों से मुक्त हो जाता है। महाभारत में संन्यासी के विषय में कहा है कि वह अकेला वन में रहे और कोई वस्तु साथ न रखे।[५३] अपरिग्रह और स्वातन्त्र्य का यह जीवन भारतीय जीवन-कल्पना की चरम कोटि है।

५–धर्म और शील—

महाभारत में धर्म के साथ-साथ 'शील' की भी अनेक स्थानों पर प्रशंसा की गई है। धर्म के समान 'शील' भी संस्कृत भाषा का एक ऐसा शब्द है जिसका अँगरेजी में अनुवाद सम्भव नहीं है। 'शील' शब्द में धर्म की पवित्रता तथा आचार की सात्विकता का समाहार है। साथ ही उसमें 'धर्म' का पर्यायभाव भी निहित है। 'जलने' को अग्नि का धर्म अथवा शील दोनों ही कह सकते हैं। 'धर्म' में भी मूलतः सहजता समन्वित है, किन्तु 'विधि' के प्रभाव से 'धर्म' में 'कर्तव्य' का भाव प्रधान बन गया है। 'शील' की सहजता सुरक्षित रही है, साथ ही उसमें धर्माचार का भाव भी समाहित हो गया है। 'धर्म' की कर्तव्यता जब मनुष्य का सहज स्वभाव बन जाती है तब उसे 'शील' कहना उचित है। युधिष्ठिर का धर्म अथवा सत्य इसका उदाहरण है।

५१—संस्कृतः सर्वसंस्कारैस्तथैव ब्रह्मचर्यवान्।
ग्रामान्निष्क्रम्य चारण्ये मुनिः प्रव्रजितो वसेत्॥
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ४६, श्लो० ६

५२—त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत्।
मनुस्मृति—अध्याय ६, श्लो० ३३

५३—उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद् भिक्षुलक्षणम्।
शान्तिपर्व—अध्याय २४५, श्लो० ७

६—परम धर्म—

'धर्म के लक्षण' के प्रसंग में धर्म के अनेक रूपों का उल्लेख किया गया है। 'आत्मौपम्य' की समानता तथा 'आत्मनः प्रतिकूलानि' के अविरोध के द्वारा महाभारत में धर्म के जिस सामान्य स्वरूप एवं सिद्धान्त का निदर्शन किया गया है, वह जीवन की परिस्थितियों और सम्बन्धों के अनुसार अनेक रूप ग्रहण करता है। दया, क्षमा, दान आदि उसी धर्म के विविध लक्षण हैं। धर्म के इन अनेक लक्षणों की तुलना अथवा कभी इनका संघर्ष होने पर यह प्रश्न उठता है कि धर्म के इन अनेक लक्षणों में सबसे श्रेष्ठ कौन है। सबसे उत्तम अथवा श्रेष्ठ को 'परम' कहते हैं। सत्य, अहिंसा, दया आदि में 'परम धर्म' किसे कहना चाहिये। तुलना करना और सर्व श्रेष्ठ को जानने की इच्छा करना मनुष्य का स्वभाव है। अन्य क्षेत्रों में भी वह सर्वश्रेष्ठ को जानना चाहता है। धर्म के क्षेत्र में इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। धर्म के सभी रूप अपने अपने अवसर पर महत्वपूर्ण और श्रेष्ठ दिखाई देते हैं। उनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। फिर भी धर्म-शास्त्रों तथा महाभारत में कहीं-कहीं धर्म के किसी लक्षण को 'परम धर्म' कहा गया है। इससे धर्म के उस लक्षण की विशेष महिमा प्रकट होती है। जिन धर्मों को 'परमधर्म' बताया गया है वे निस्सन्देह अधिक व्यापक हैं तथा वे धर्म के सामान्य सिद्धान्त के अधिक निकट हैं। इस दृष्टि से उन्हें 'परम धर्म' कहना उचित है। परम का अर्थ यही है कि वे धर्म श्रेष्ठ और उत्कृष्ट हैं तथा अन्य धर्म उनकी तुलना में गौण है। तुलना करने पर विदित होगा कि ये गौण धर्म इस 'परम धर्म' के अन्तर्गत आ जाते हैं तथा उससे अनुगत होते हैं। उदाहरण के लिये सत्य, अहिंसा, दया आदि को विभिन्न स्थानों पर 'परम धर्म' कहा गया है। अस्तेय, अक्रोध आदि इनसे अनुगत होते हैं। सत्य, अहिंसा, दया आदि के होने पर अस्तेय, अक्रोध आदि स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं। धर्म-व्यवस्था के क्रम में 'परम धर्म' को धर्म के सामान्य 'स्वरूप तथा गौण धर्मों के बीच रखा जा सकता है। समानता अविरोध आदि की तुलना में सत्य, अहिंसा, दया आदि अपर-सामान्य कहे जा सकते हैं। ये धर्म के ऐसे सामान्य हैं जो समानता आदि की तुलना में अधिक मूर्त और ग्राह्य हैं। इनके द्वारा साधारण जन धर्म के सिद्धान्त का अन्वय कर सकते हैं।

महाभारत में सत्व, सत्य, अहिंसा, दया आदि को विभिन्न स्थानों पर परम धर्म कहा गया है। अनुगीता में गीता के अनुरूप सत्व की महिमा वर्णित है। प्रकृति के गुणों में 'सत्व को 'परम धर्म' कहा गया है।[६३] सत्व ही धर्म का आधार है। सात्विक भाव से ही धर्म के समस्त लक्षण घटित होते हैं। अतः 'सत्व' को 'परम धर्म' कहना उचित है। रजस् और तमस् अधर्म के प्रेरक एवं धर्म के बाधक होते हैं। शान्ति पर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्म-पर्व में 'सत्य' को 'परम धर्म' बताया गया है।[६४] युधिष्ठिर धर्म के पुत्र थे। वे सत्यवादी थे। उनके चरित्र में 'सत्य' ही 'धर्म' का पर्याय बन गया है। भारतीय आचार में सत्य की महिमा अपार है इसी महिमा के कारण उसे 'परम धर्म' माना गया है। शान्ति पर्व में युधिष्ठिर से भीष्म ने कहा है कि 'सत्पुरुषों में सदा सत्यरूप धर्म का ही पालन हुआ है। सत्य ही सनातन धर्म है। सत्य को ही सदा सिर झुकाना चाहिए; क्योंकि सत्य ही जीव की परम गति है। सत्य ही धर्म, तप और योग है, सत्य ही सनातन ब्रह्म है। सत्य को ही परमयत् कहा गया है तथा सब कुछ सत्य पर ही टिका हुआ है। सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है और झूठ से बढ़कर कोई पातक नहीं है। सत्य ही धर्म की आधार शिला है। अतः सत्य का लोप न करना चाहिए।'[६५]

६३—न हि सत्त्वात् परो धर्मः कश्चिदन्यो विधीयते ॥

आश्वमेधिक पर्व—अध्याय—३९, श्लोक ९

६४—नास्ति सत्यात् परो धर्मो।

शान्तिपर्व—अध्याय ३४२, श्लोक १८

६५—सत्यं सत्सु सदाधर्मः सत्यं धर्मः सनातनः।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः ॥४॥
सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठतम् ॥५॥
नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत् ॥२४॥

शान्तिपर्व – अध्याय १६४, श्लोक ४, ५, २४

महाभारत में 'शील' की महिमा अनेक स्थानों पर बताई गई हैं। एक प्रकार से 'शील' को धर्म के सभी लक्षणों का मूल कह सकते हैं। 'शील' में ही धर्म के समस्त लक्षणों का उदय तथा पर्यवसान होता है। शान्ति पर्व में प्रह्लाद की कथा के प्रसंग में शील को 'धर्म' का आश्रय बताया है। प्रह्लाद के शरीर से तेज के रूप में 'शील' निकला। उसके पीछे 'धर्म' भी चल दिया। 'धर्म' ने उत्तर दिया कि जहाँ यह 'शील' रहता है वहीं मैं (धर्म) भी रहता हूँ।[५४] उसी प्रसंग में महाभारत में कहा गया है कि धर्म, सत्य, सदाचार, बल और लक्ष्मी सब शील के आधार पर ही रहते हैं। शील ही इन सबका मूल है।[५५] शील की शक्ति अपार है। शील से मनुष्य तीनों लोकों को जीत सकता है। संसार में शीलवान् मनुष्य के लिये कुछ भी असाध्य नहीं है।[५६] इस सम्बन्ध में प्रह्लाद का उदाहरण दिया गया है। दैत्यराज प्रह्लाद ने इन्द्र का राज्य हर लिया तथा तीनों लोकों को अपने वश में कर लिया।[५७] महाभारत के युधिष्ठिर शील के अवतार हैं। युधिष्ठिर के शील के शील की प्रशंसा करते हुये धृतराष्ट्र ने अपने पुत्र दुर्योधन से कहा कि 'प्रिय पुत्र! यदि तुम युधिष्ठिर के समान अथवा उससे भी अधिक श्री को प्राप्त करना चाहते हो तो शीलवान् बनो।[५८] युधिष्ठिर के अतिरिक्त धृतराष्ट्र ने मान्धाता, जनमेजय, नाभाग प्रह्लाद आदि के उदाहरण दिये हैं, जिन्होंने शील के द्वारा पृथिवी का राज्य प्राप्त किया।[५९]

५४—धर्मं प्रह्लद मां विद्धि यत्रासौ द्विजसत्तमः ॥५०
तत्र यास्यामि दैत्येन्द्र यतः शीलं ततो ह्यहम् ॥५०½

५५—धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाप्यहम् ।
शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः ॥६२

५६—शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः ।
न हि किंचिदसाध्यं वै लोके शीलवतां भवेत् ॥१५

५७—प्रह्लादेन हृतं राज्यं महेन्द्रस्य महात्मनः ।
शीलमाश्रित्य दैत्येन त्रैलोक्यं च वशे कृतम् ॥२०

५८—यदीच्छसि श्रियं तात यादृशी सा युधिष्ठिरे ।
विशिष्टां वा नरव्याघ्र शीलवान् भवपुत्रक ॥१४

शान्तिपर्व—अध्याय १२४, श्लोक ५०, ५०½, ६२, १५, २०, १४

५९—एते हि पार्थिवाः सर्वे शीलवन्तो दयान्विताः ।
अतस्तेषां गुणक्रीता वसुधा स्वयमागता ॥

शान्तिपर्व—अध्या० १२४, श्लो० १७

भारतीय संस्कृति में राज्य और वैभव का आधार भी धर्म तथा शील को माना गया है। भारतीय संस्कृति के इस दृष्टिकोण की तुलना उन संस्कृतियों से करने योग्य है जिनमें आक्रमण, अनीति, छल आदि का अवलम्ब लेकर राज्य विस्तार को गर्व के योग्य समझा जाता है। भारतीय संस्कृति की इसी परम्परा के अनुसार 'सत्यमेव जयते' स्वाधीन भारत का राजमन्त्र बना है। महाभारत में भी धर्म और शील की इस महिमा का समर्थन किया गया है। पांडवों की विजय कथा के रूप में भी शील की महिमा को चरितार्थ करती है। शील को मनुष्य का सिद्ध आधार कह सकते हैं। जिसे धारण किया जाता है वह धर्म है। धारण करने पर जब धर्म मनुष्य का सहज और निश्चित स्वभाव बन जाता है तब उसे 'शील' कह सकते हैं। शील में धर्म की पवित्रता और चरित्र की सुन्दरता का संयोग है।

धर्म के समान शील के भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। धर्म के अनेक लक्षण धर्मशास्त्रों और महाभारत में गिनाये गये हैं। शान्ति पर्व में मन, वचन और कर्म से सभी प्राणियों के प्रति अद्रोह तथा अनुग्रह और दान को प्रशंसनीय शील बताया गया है।[६०] धर्म के लक्षणों की भाँति शील के भी अन्य अनेक रूप हो सकते हैं। किन्तु धर्म के सामान्य स्वरूप की भाँति शील का सामान्य स्वरूप भी शील के सभी रूपों में व्याप्त रहता है। शील का यह सामान्य स्वरूप धर्म के स्वरूप के ही समान है। धृतराष्ट्र ने शील का स्वरूप इस प्रकार बताया है— अपना जो कर्म और पुरुषार्थ दूसरों के लिये हित कर न हो उसे नहीं करना चाहिये[६१] तथा जिस कार्य की भरी सभा में प्रशंसा हो उसे करना चाहिये। यही संक्षेप में शील का स्वरूप है।[६२] शील का वह स्वरूप धर्म का आन्तरिक तत्व और आधार है।

६०—अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते ।।६६

६१—यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम् ।
अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथंचन ।।६७

६२—तत्तु कर्म तथा कुर्याद येन श्लाघ्येत संसदि ।
शीलं समासेनैतत् ते कथितं कुरुसत्तम ।।६८

शन्तिपर्व—अध्या० १२४, श्लो० ६६, ६७, ६८

६—परम धर्म—

'धर्म के लक्षण' के प्रसंग में धर्म के अनेक रूपों का उल्लेख किया गया है। 'आत्मौपम्य' की समानता तथा 'आत्मनः प्रतिकूलानि' के अविरोध के द्वारा महाभारत में धर्म के जिस सामान्य स्वरूप एवं सिद्धान्त का निदर्शन किया गया है, वह जीवन की परिस्थितियों और सम्बन्धों के अनुसार अनेक रूप ग्रहण करता है। दया, क्षमा, दान आदि उसी धर्म के विविध लक्षण हैं। धर्म के इन अनेक लक्षणों की तुलना अथवा कभी इनका संघर्ष होने पर यह प्रश्न उठता है कि धर्म के इन अनेक लक्षणों में सबसे श्रेष्ठ कौन है। सबसे उत्तम अथवा श्रेष्ठ को 'परम' कहते हैं। सत्य, अहिंसा, दया आदि में 'परम धर्म' किसे कहना चाहिये। तुलना करना और सर्व श्रेष्ठ को जानने की इच्छा करना मनुष्य का स्वभाव है। अन्य क्षेत्रों में भी वह सर्वश्रेष्ठ को जानना चाहता है। धर्म के क्षेत्र में इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। धर्म के सभी रूप अपने अपने अवसर पर महत्वपूर्ण और श्रेष्ठ दिखाई देते हैं। उनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। फिर भी धर्म-शास्त्रों तथा महाभारत में कहीं-कहीं धर्म के किसी लक्षण को 'परम धर्म' कहा गया है। इससे धर्म के उस लक्षण की विशेष महिमा प्रकट होती है। जिन धर्मों को 'परमधर्म' बताया गया है वे निस्सन्देह अधिक व्यापक हैं तथा वे धर्म के सामान्य सिद्धान्त के अधिक निकट हैं। इस दृष्टि से उन्हें 'परम धर्म' कहना उचित है। परम का अर्थ यही है कि वे धर्म श्रेष्ठ और उत्कृष्ट हैं तथा अन्य धर्म उनकी तुलना में गौण हैं। तुलना करने पर विदित होगा कि ये गौण धर्म इस 'परम धर्म' के अन्तर्गत आ जाते हैं तथा उससे अनुगत होते हैं। उदाहरण के लिये सत्य, अहिंसा, दया आदि को विभिन्न स्थानों पर 'परम धर्म' कहा गया है। अस्तेय, अक्रोध आदि इनसे अनुगत होते हैं। सत्य, अहिंसा, दया आदि के होने पर अस्तेय, अक्रोध आदि स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं। धर्म-व्यवस्था के क्रम में 'परम धर्म' को धर्म के सामान्य 'स्वरूप तथा गौण धर्मों के बीच रखा जा सकता है। समानता अविरोध आदि की तुलना में सत्य, अहिंसा, दया आदि अपर-सामान्य कहे जा सकते हैं। ये धर्म के ऐसे सामान्य हैं जो समानता आदि की तुलना में अधिक मूर्त और ग्राह्य हैं। इनके द्वारा साधारण जन धर्म के सिद्धान्त का अन्वय कर सकते हैं।

महाभारत में सत्व, सत्य, अहिंसा, दया आदि को विभिन्न स्थानों पर परम धर्म कहा गया है। अनुगीता में गीता के अनुरूप सत्व की महिमा वर्णित है। प्रकृति के गुणों में 'सत्व को 'परम धर्म' कहा गया है।[63] सत्व ही धर्म का आधार है। सात्विक भाव से ही धर्म के समस्त लक्षण घटित होते हैं। अतः 'सत्व' को 'परम धर्म' कहना उचित है। रजस् और तमस् अधर्म के प्रेरक एवं धर्म के बाधक होते हैं। शान्ति पर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्म-पर्व में 'सत्य' को 'परम धर्म' बताया गया है।[64] युधिष्ठिर धर्म के पुत्र थे। वे सत्य-वादी थे। उनके चरित्र में 'सत्य' ही 'धर्म' का पर्याय बन गया है। भारतीय आचार में सत्य की महिमा अपार है इसी महिमा के कारण उसे 'परम धर्म' माना गया है। शान्ति पर्व में युधिष्ठिर से भीष्म ने कहा है कि 'सत्पुरुषों में सदा सत्यरूप धर्म का ही पालन हुआ है। सत्य ही सनातन धर्म है। सत्य को ही सदा सिर झुकाना चाहिए; क्योंकि सत्य ही जीव की परम गति है। सत्य ही धर्म, तप और योग है, सत्य ही सनातन ब्रह्म है। सत्य को ही परमयत् कहा गया है तथा सब कुछ सत्य पर ही टिका हुआ है। सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है और झूठ से बढ़कर कोई पातक नहीं है। सत्य ही धर्म की आधार शिला है। अतः सत्य का लोप न करना चाहिए।'[65]

६३—न हि सत्त्वात् परो धर्मः कश्चिदन्यो विधीयते ॥

आश्वमेधिक पर्व—अध्याय—३९, श्लोक ९

६४—नास्ति सत्यात् परो धर्मो ।

शान्तिपर्व—अध्याय ३४२, श्लोक १८

६५—सत्यं सत्सु सदाधर्मः सत्यं धर्मः सनातनः ।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः ॥४॥
सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम् ।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठतम् ॥५॥
नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम् ।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत् ॥२४॥

शान्तिपर्व – अध्याय १६४, श्लोक ४, ५, २४

अहिंसा को प्रायः 'परम धर्म' कहा जाता है। 'अहिंसा परमो धर्मः' का महावाक्य महाभारत तथा अन्य धर्म-शास्त्रों में अनेक स्थानों पर मिलता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार 'अहिंसा धर्म के लक्षणों में प्रथम है। महाभारत में अहिंसा को परम धर्म[६६] और सत्य में प्रतिष्ठित कहा गया है।[६७] अहिंसा को ही सबसे बड़ा दान, सबसे बड़ा यज्ञ तथा सबसे बड़ा मित्र बताया गया है।[६८] अहिंसा प्राण-दान है। वह निस्सन्देह सबसे बड़ा दान है। यज्ञ से पुण्य होता है। अहिंसा सबसे अधिक पुण्यदायक यज्ञ है। वह परम मित्र के समान हित-कारी भी है। अहिंसक का अहित करने की कल्पना दूसरे सहसा नहीं करते। वन पर्व में युधिष्ठिर ने यक्ष के प्रश्नों के उत्तर में दया को परम धर्म बताया है[६९] दया का क्षेत्र अहिंसा की अपेक्षा अधिक व्यापक है। एक प्रकार से अहिंसा को भी दया का एक रूप मान सकते हैं। अहिंसा और दया में मनुष्य का आदर तथा मानवीय भावना सबसे अधिक गहन रूप में प्रकट होती है। इन्हें 'परम धर्म' मानना उचित है।

परम धर्म के ये अनेक रूप धर्म के सामान्य सिद्धान्त के अनुरूप हैं तथा एक दूसरे से संगत हैं। इनमें एक के अनुशीलन से ही अन्य धर्मों के पालन की क्षमता प्राप्त होती है। अतः ये निस्सन्देह 'परम धर्म' के गौरव के योग्य है।

६६—अहिंसा परमो धर्मो हिंसा चाधर्मलक्षणा ।।
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ४३, श्लोक २०½

६७—अहिंसा परमो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः ।।
वनपर्व—अध्याय—२०७, श्लोक ७४

६८—अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ।
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परंफलम्

अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ।।
अनुशासन पर्व—अध्याय—११६, श्लोक २८, २९

६९—आनृशंस्यं परो धर्मः परमार्थश्च मे मतम् ।
वनपर्व—अध्या—३१३, श्लोक १२९

७-सनातन धर्म--

'परम धर्म' के समान ही महाभारत में धर्म के कुछ रूपों को 'सनातन धर्म' कहा गया है। सनातन का अर्थ शाश्वत अथवा सर्वकालीन है। कुछ धर्म सामयिक भी हो सकते हैं। देश-काल के अनुसार धर्म के व्यावहारिक रूप वदल सकते हैं।[७०] अतः धर्म के उन रूपों का निर्धारण अपेक्षित है जो सर्व-कालीन अर्थात् सनातन है। ये धर्म के ऐसे रूप हैं जो देश-काल से निरपेक्ष हैं तथा सदा सत्य रहते हैं धर्म का सामान्य स्वरूप जिसका निर्धारण 'आत्मौप-म्येन' की समता तथा 'अविरोधेन' के सामंजस्य के द्वारा किया गया है, वह सनातन अर्थात् सर्वकालीन धर्म का सर्वोत्तम रूप है। सत्य, अहिंसा आदि भी ऐसे ही सर्वकालीन धर्म हैं। इन्हें भी 'सनातन धर्म' कहा जा सकता है।

महाभारत में विविध स्थानों पर सत्य, अहिंसा आदि को सनातन धर्म कहा गया है। इनको ही परम धर्म वताया गया है। ये परम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ धर्म हैं। ये सनातन धर्म भी हैं। ये धर्म के वे रूप हैं जो सर्वकाल में मान्य हैं।

सनातन धर्म वताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा 'कि सत्पुरुषों में सदा सत्य रूप धर्म का ही पालन हुआ है। सत्य ही सनातन धर्म है। सत्य को ही सदा सिर झुकाना चाहिए; क्योंकि सत्य ही जीव की परम गति है। सत्य ही धर्म तप और योग है, सत्य ही सनातन ब्रह्म है। सत्य को ही परम यज्ञ कहा गया है तथा सव कुछ सत्य पर ही टिका हुआ है। श्रेष्ठ पुरुषों का सनातन धर्म भीष्म जी ने इस प्रकार वताया कि "मन, वाणी और क्रिया द्वारा सभी प्राणियों के साथ कभी द्रोह न करना तथा दया और दान, यह श्रेष्ठ पुरुषों का सनातन धर्म है। सत्य से वढ़कर कोई धर्म नहीं और झूठ से वढ़ कर कोई पातक नहीं है। सत्य ही धर्म की आधारशिला है। अतः सत्य का

७०—स एव धर्मः सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठितः।
शान्तिपर्व—अध्याय—३६, श्लोक ११
द्विविधौ चाप्युभावेतौ धर्माधर्मौ विजानताम्॥
शान्ति पर्व—अध्या० ३६, श्लोक, १२

लोप न करें।[७१] धर्म का रूप बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "अहिंसा, सत्य, अक्रोध और दान · इन चारों का सदा सेवन करो। यह सनातन धर्म हैं। मनीषी पुरुष धर्म को समस्त प्राणियों का हृदय कहते हैं। अतः समस्त प्रणियों को धर्म का आश्रय लेना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह अकेला ही धर्म का आचरण करे, धर्म का दिखावा न करें।[७२] उन्नति चाहने वाले पुरुष के पाँच गुरु—पिता, माता, अग्नि, परमात्मा तथा गुरु हैं। इनकी सेवा, सद्व्यवहार तथा सब अग्नियों की स्थापना ही सनातन धर्म है। क्षमा भाव की प्रशंसा करते हुए युधिष्ठिर ने द्रौपदी से इस प्रकार कहा कि "क्षमा और दया यही जितात्मा पुरुषों का सदाचार है और यही सनातन धर्म है। विद्वान् पुरुष को सदा क्षमा का ही आश्रय लेना चाहिए। जब मनुष्य सब कुछ सहन कर लेता है, तब वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। क्षमावानों के लिए ही यह लोक है। क्षमाशील पुरुष इस जगत् में सम्मान प्राप्त करते हैं।"[७३]धौम्य जी ने पाण्डवों को सनातन धर्म इस प्रकार बताया है कि "हितैषी सुहृदों का कर्तव्य है कि वे स्नेहवश हित की बात बतावें। यही सनातन धर्म

७१—सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः। ४
सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्। ५
शान्तिपर्व–अध्याय १६२, श्लोक ४, ५

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥२१
शान्ति पर्व–अध्याय १६२, श्लोक २१-२४

७२—अहिंसा सत्यमक्रोधो दानमेतच्चतुष्टयम्।
अजातशत्रो सेवस्व धर्म एष सनातनः॥२३
अनुशासन पर्व–अध्याय १६२, श्लोक २३, ६०, ६१

७३—एतदात्मवतां वृत्तमेष धर्मः सनातनः।
वनपर्व–अध्याय २६, श्लोक ५२, ४२, ४३

है।"[७४] हित की बात बताने से अपने मित्रों तथा हित चाहने वाले बड़े लोगों का प्रेम प्रकट होता है। इसलिए माता-पिता तथा गुरु आदि सदा छोटों को हित की और कल्याण की बात बताते रहते हैं। मनुष्य के लिए हितकारी बातें बड़ी उपयोगी होती हैं। बड़े लोग अपने अनुभव से जो भी बातें बताते हैं, वे छोटे के ध्यान में भी नहीं आती हैं। क्योंकि बहुत-सी बातें अनुभव से प्राप्त होती हैं, जो बिना अधिक उम्र के ज्ञात नहीं हो पाती। माता-पिता उम्र के ही कारण अधिक अनुभवी तथा ज्ञानी हो जाते हैं और उसी अनुभव के द्वारा वे छोटों को हित की तथा ज्ञान की बातें बताते हैं। इसलिए छोटों को सदा बड़ों की बातें माननी चाहिए, इसी में उनका कल्याण है। चोरी न करने के विषय में बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "दूसरों के धन का अपहरण नहीं करना चाहिए—यही सनातन धर्म है।"[७५] चोरी न करने से मनुष्य का मन प्रसन्न और निर्भय रहता है तथा वह मनुष्य अपने कर्तव्यों और धर्मों के पालन में शान्त चित्त से लगा रहता है। श्रेष्ठता को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सब दुर्गुणों से दूर रहना चाहिए। एक बार मृत्यु ने ब्रह्माजी से कहा कि मैं रोते-बिलखते प्राणियों के प्यारे प्राणों का अपहरण नहीं कर सकूँगी, क्योंकि यह अधर्म प्रतीत होता है। तब ब्रह्माजी ने कहा "कि प्रजाओं के संहार से तुझे अधर्म नहीं प्राप्त होगा क्योंकि यह तो मेरे द्वारा कही हुई बात है अर्थात् संसार में जो जन्म लेगा, उसका नाश भी अवश्य होगा।

७४—विदिते चापि वक्तव्यं सुहृद्भिरनुरागतः :
एष धर्मश्च कामश्च अर्थश्चैव सनातनः ॥
विराटपर्व—अध्याय ४, श्लोक ९

७५—न हर्तव्यं परधनमिति धर्मः सनातनः ॥
शान्ति पर्व—अध्याय २५९, श्लोक १२

७६—तस्मात् संहर कल्याणि प्रजाः सर्वाश्चतुर्विधाः ।
धर्मः सनातनश्च त्वां सर्वथा पावयिष्यति ॥
द्रोणपर्व—अध्याय ५४, श्लोक ३३, ३४

ब्रह्माजी ने मृत्यु से इस प्रकार कहा कि कल्याणि ! तू चार श्रेणियों में विभाजित समस्त प्राणियों का संहार कर। सनातन धर्म तुझे सब प्रकार से पवित्र बनाये रखेगा।"[७६] सनातन धर्म की स्थिति बताते हुए कपिलजी ने कहा कि 'बुद्धिमान पुरुष के लिए दर्श, पौर्णमास, अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य आदि के अनुष्ठान का विधान है; क्योंकि उनमें सनातन धर्म की स्थिति है।'[७७] ये वैदिक कर्म हैं। वैदिक विधान के अनुसार ये सर्वदा पालनीय हैं। किन्तु मुख्य रूप से सनातन धर्म का अभिप्राय शील और सदाचार के उन रूपों से हैं जो सार्वभौम होने के कारण सर्वकाल में सभी मनुष्यों के लिये पालनीय हैं तथा सत्य, अहिंसा, दया आदि जिनके उदाहरण हैं।

७७—दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः।
चातुर्मास्यानि चैवासंस्तेषु धर्मः सनातनः ॥२०
शान्ति पर्व—अध्याय २६६, श्लोक २०

अध्याय—६

महाभारत में धर्म के तत्व

१—धर्म और धर्म के तत्व–

महाभारत में भी धर्म का वही रूप माना गया है, जो सामान्य रूप से भारतीय परम्परा में स्वीकृत है तथा विशेष रूप से जिसका प्रतिपादन धर्म-शास्त्रों में किया गया है। महाभारत का धर्म भी वही सामान्य मानवीय धर्म है, जो एकता और शान्ति का कारण बनता है। जो व्यवहार हमें अपने लिए अनुचित लगता है, वैसा व्यवहार हमें भी दूसरों के प्रति नहीं करना चाहिए यही धर्म है। इस विषय में भीष्म जी ने युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि "जो बर्ताव अपने लिए अप्रिय है, वह दूसरों के लिए भी प्रिय नहीं हो सकता।"[1] परोपकार इस धर्म का भावात्मक रूप है। परपीडन अर्थात् दूसरों को दुःख पहुँचाना सबसे बड़ा अधर्म है। अनर्थ और अतिचार के सभी रूपों में अधर्म का यह रूप व्याप्त रहता है। धर्म का उक्त सामान्य रूप भी मानवीय कल्याण के कल्पवृक्ष का बीज है। वह मानवीय सद्भावों की अनेक शाखाओं में विकसित होता है और सुख-शान्ति के फल-फूलों में फलता-फूलता है।

समानता और परोपकार के सामान्य धर्म से मनुष्य में अनेक सद्गुण पैदा होते हैं अथवा यों कह सकते हैं कि यह सामान्य मानवीय धर्म अनेक सद्भावों और सद्गुणों से सम्पन्न होता है। इन अनेक सद्भावों और सद्गुणों को हम धर्म के तत्व कह सकते हैं। प्रस्तुत अध्याय में धर्म के इन तत्वों का संक्षिप्त विवरण किया जायेगा। धर्म के इन तत्वों से विदित होता है कि इस

१—यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः॥
शान्तिपर्व—अध्याय २५६, श्लोक २०

मानवीय धर्म का जीवन में कितना विस्तार है तथा विस्तार के साथ-साथ भाव में भी यह धर्म कितना उदार है। भाव, वचन और व्यवहार के इतने सद्गुण धर्म के इन तत्वों में समाहित हैं कि इनका पालन करने पर मनुष्य का व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन अत्यन्त सुन्दर और सुखी बन सकता है। अहिंसा ही धर्म का लक्षण है यह धर्मज्ञ पुरुष बताते हैं। अहिंसा की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम संयम है, अहिंसा परम दान है और अहिंसा परम तपस्या है। अहिंसा परम यज्ञ है, अहिंसा परम फल है, अहिंसा परम मित्र है और अहिंसा परम सुख है।"[२] ब्रह्माजी ने ब्राह्मणों से कहा कि अहिंसा सबसे श्रेष्ठ धर्म है और हिंसा अधर्म का लक्षण (स्वरूप) है। प्रकाश देवताओं का और यज्ञ आदि कर्म मनुष्यों का लक्षण हैं। धर्म के विषय में बताते हुए श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि "जिस कार्य में हिंसा न हो, वही धर्म है। महर्षियों ने प्राणियों की हिंसा न होने देने के लिए ही उत्तम धर्म का प्रवचन किया है। श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि मेरे विचार से प्राणियों की हिंसा न करना ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है। किसी की प्राण रक्षा के लिए झूठ बोलना पड़े तो बोल दे, किन्तु उसकी हिंसा किसी तरह न होने दे।"[३] संजय ने कहा कि जब भीम का रथ द्रोणाचार्य के पास आ गया तब भीम ने द्रोणाचार्य से कहा कि शिक्षित ब्राह्मण यदि अपने धर्मकार्यों में ही रत रहते तो क्षत्रियों का इतना संहार न होता।" भीम ने कहा कि "प्राणियों की हिंसा न करने को ही सबसे श्रेष्ठ धर्म माना गया है। उसकी जड़ है ब्राह्मण और आप तो उन ब्राह्मणों में भी सबसे उत्तम

२—अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ।।२८
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ।। २९
अनुशासन पर्व—अध्याय ११६, श्लोक २८, २९

३—यत् स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।।
कर्णपर्व-अध्याय ६९, श्लोक ५७, २३

ब्रह्मवेत्ता हैं।"[४] भीम के वचनों को सुनकर द्रोणाचार्य को सत्य का ज्ञान हुआ और उन्होंने अस्त्र छोड़कर समाधि लगा ली। प्राचीन काल में युद्ध लड़ना क्षत्रियों का ही काम था। ब्राह्मण तो क्षत्रियों के शिक्षक होते थे। धर्मव्याध ने कौशिक जी से इस प्रकार कहा कि "अहिंसा सबसे महान् धर्म है, परन्तु वह सत्य में ही प्रतिष्ठित है। सत्य के ही आधार पर श्रेष्ठ पुरुषों के सभी कार्य आरम्भ होते हैं[५]।" अहिंसा और सत्य-भाषण—ये समस्त प्राणियों के लिए अत्यन्त हितकर हैं। ब्राह्मण को समस्त प्राणियों में से किसी की भी कभी और कहीं भी हिंसा नहीं करनी चाहिए। महायशस्वी विप्रवर सहस्रपाद ने डुण्डुभ का रूप त्याग कर अपने प्रकाशमान स्वरूप को प्राप्त करके अनुपम ओजवाले रूप से यह बात कही कि "समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ ब्राह्मण है, अहिंसा सबसे उत्तम धर्म है।"[६] अहिंसा की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "प्राणियों की हिंसा न हो, इसके लिए धर्म का उपदेश किया गया है; अतः जो अहिंसा से युक्त हो, वही धर्म है, ऐसा धर्मात्माओं का निश्चय है।"[७] जो सूक्ष्म धर्म को देखता और उत्तम वचन बोलना चाहता हो, उसको ऐसी बात कहनी चाहिए, जो सत्य होने के साथ ही हिंसा और परनिन्दा से रहित हो। अहिंसा से मनुष्य सुखी रहता है इस विषय में भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "जो मनुष्य अहिंसा आदि परम धर्म को समस्त प्राणियों के लिए सुखद

४—अहिंसा सर्वभूतेषु धर्मं ज्यायस्तरं विदुः।
तस्य च ब्राह्मणो मूल भवांश्च ब्रह्मवित्तमः॥३८
द्रोणपर्व–अध्याय १६२, श्लोक ३८

५—अहिंसा परमो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः।
सत्ये कृत्वा प्रतिष्ठां तु प्रवर्तन्ते प्रवृत्तयः॥
वनपर्व–अध्याय २०७, श्लोक ७४

६—अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणभृतां वर।
आदि पर्व अध्याय ११, श्लोक १३

७—अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासम्पृक्तः स धर्म इति निश्चयः॥१२
शान्तिपर्व–अ० १०६, श्लोक १२

और दुःखनिवारक जानता है, वही सर्वज्ञ है और वही सुखी होता है।"[८] जो कर्म हिंसा से रहित हैं, वे सदा मनुष्य की रक्षा करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि उसके प्रियजन यदि कोई हिंसात्मक कर्म उसके लिए करते हों, तो वह उन सब कर्मों को रोक दे। दूसरे की आयु से अपनी आयु बढ़ाने की अर्थात् दूसरों के प्राण लेकर अपने प्राण बचाने की इच्छा न करे। जो मनुष्य जीवन भर नहीं खाता है और विधिपूर्वक उत्तम व्रत का पालन करके अपने अन्तःकरण को शुद्ध बना लेता है, वह योगी भी योगशक्ति प्राप्त कर लेता है। ब्राह्मण जाजलि के द्वारा धर्म के विषय में पूछने पर तुलाधार ने इस प्रकार कहा कि "प्राणियों की हिंसा न करने से जिस धर्म की सिद्धि होती है उससे बढ़कर महान् धर्म कोई नहीं है।"[९] तुलाधार ने कहा कि जो वृद्ध हैं, पुत्र और पौत्रों से सम्पन्न हैं, शास्त्र के अनुसार यथोचित आचरण करते हैं और किसी भी जीव की हिंसा नहीं करते हैं, उन्हीं महात्माओं के बर्ताव का मैं भी अनुसरण करता हूँ। अहिंसा और दया आदि भावों से प्रेरित होकर किया हुआ कर्म इहलोक और परलोक में भी उत्तम फल देने वाला है। यदि मन में हिंसा की भावना हो तो वह श्रद्धा का नाश कर देती है। फिर नष्ट हुई श्रद्धा कर्म करने वाले इस हिंसक मनुष्य का ही सर्वनाश कर डालती है। नारदजी ने प्राचीन काल में भीष्म जी को एक ब्राह्मण की कथा सुनाई थी, उसी को भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि वे ब्राह्मण यज्ञ में पशु की बलि देना नहीं चाहते थे किन्तु स्वर्ग के विमान आदि देखकर वे हिंसा से स्वर्ग की आशा से यज्ञ में हिंसा कर बैठे और उनका किया हुआ सारा धर्म नष्ट हो गया। तब उसे यह दृढ़ निश्चय हो गया कि हिंसा से बड़ी हानि होती है और अहिंसा ही परम कल्याण का साधन है। अहिंसा को श्रेष्ठ धर्म बताते हुए नारद जी ने कहा कि

८—यश्चैनं परमं धर्मं सर्वभूतसुखावहम्।
दुःखान्निःसरणं वेद सर्वज्ञ स सुखी भवेत्॥ ७
शान्तिपर्व—अध्याय २१५, श्लोक ७

९—न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन।
शान्ति पर्व—अध्याय २६२, श्लोक २९½

"अहिंसा ही सम्पूर्ण धर्म है। हिंसा अधर्म है और अधर्म अहितकारक होता है।"[१०] श्रेष्ठ पुरुषों के लिए अहिंसा ही श्रेष्ठ धर्म है।

भारतीय धर्मशास्त्रों में दया का महत्वपूर्ण स्थान है। धर्मात्मा मनुष्य सदा जीवों पर दया करते हैं। यहाँ तक कि संन्यासी लोग तो रास्ते में भी देख-देखकर बड़े ध्यान से चलते हैं कि कहीं कोई चींटी भी न दब जाये। दया के विषय में बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "भारतनन्दन ! जो समस्त प्राणियों पर दया करता है और क्रूरतारहित कर्मों में ही प्रवृत्त होता है, उसे सभी आश्रमों के सेवन का फल प्राप्त होता है।"[११] जो बालकों और वृद्धों के प्रति भी दयापूर्ण बर्ताव करते हैं, उन्हें भी उत्तम फल प्राप्त होता है। राजा के लिये समस्त प्राणियों की रक्षा तथा उनके प्रति परम दया ही श्रेष्ठधर्म है। दया की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "जो राजा प्रजापालन में तत्पर रह कर प्राणियों पर दया करता है, उसके इस बर्ताव को धर्मज्ञ पुरुष परम धर्म मानते हैं।"[१२] दमयन्ती ने अपके पिता के घर आकर चार ब्राह्मणों को चारों दिशाओं में राजा नल का पता लगाने के लिए भेजा, तब उसने उन ब्राह्मणों से कहा कि तुम इन बातों को जोर-जोर से सबको सुनाना यदि नल कहीं होंगे, तो उन्हें यह बातें असह्य होंगी और वे उसका उत्तर देंगे। उन बातों में से एक बात यह भी थी कि "मुझ पर दया करो।

१०—अहिंसा सकलो धर्मो. हिंसाधर्मस्तयाहितः।
शान्ति पर्व—अ० २७२, श्लोक १९½

११—सर्वभूतेष्वनुक्रोशं कुर्वतस्तस्य भारत।
आनृशंस्यप्रवृत्तस्य सर्वावस्थं पदं भवेत्॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६६, श्लोक १९

१२—तस्मादेवं परं धर्मं मन्यन्ते धर्मकोविदाः।
यो राजा रक्षणे युक्तो भूतेषु कुरुते दयाम्॥
शान्तिपर्व—अ० ७१, श्लोक २७

मैंने तुम्हारे ही मुख से सुन रक्खा है कि दयालुता सबसे बड़ा धर्म है।"[१३] नल ने कभी दमयन्ती को दयालुता को बड़ा धर्म बताया था। उसी का स्मरण कराकर वह उनसे दया करने के लिए कह रही थी।

२—दम ही सबसे बड़ा धर्म है—

संसार में संयम ही सब मनुष्यों के लिए सुखकारी है। संयमी मनुष्य से सब को अभय रहता हैं और उसका सब सम्मान करते हैं। असंयमी पुरुषों से सभी प्राणियों को सदा भय बना रहता है। इसलिए दम की श्रेष्ठता बताते हुए विदुर जी ने दुर्योधन से कहा कि "सिद्धान्त के जानने वाले वृद्ध पुरुष कहते हैं कि इस संसार में दम ही कल्याण का परम साधन है। ब्राह्मण के लिए तो विशेष रूप से वही सनातन धर्म है।"[१४] दम तेज की वृद्धि करता है। दम पवित्र एवं उत्तम साधन है। दम से निष्पाप एवं बढ़े हुए तेज से सम्पन्न पुरुष परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। विदुर जी ने कहा कि "जो दमरूपी गुण से युक्त है, उसी को दान, क्षमा और सिद्धि का यथार्थ लाभ प्राप्त होता है; क्योंकि दम ही दान, तपस्या, ज्ञान और स्वाध्याय का सम्पादन करता है।"[१५] विदुरजी ने दुर्योधन से कहा कि "जिस पुरुष में क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समदर्शिता, सत्य, सरलता, इन्द्रिय-संयम, धीरता, मृदुता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, अक्रोध, सन्तोष और श्रद्धा ये गुण विद्यमान हैं, वह पुरुष इन्द्रियविजयी माना गया है। दमनशील पुरुष काम, लोभ, अभिमान, क्रोध, निद्रा, आत्मप्रशंसा, मान, ईर्ष्या तथा शोक—इन दुर्गुणों को अपने पास नहीं फटकने देता। कुटिलता और शठता का अभाव तथा आत्मशुद्धि यह

१३—तत् कुरुष्व नरव्याघ्र दयां मयि नरर्षभ।
आनृशंस्यं परो धर्मस्त्वत्त एव हि मे श्रुतः॥
वन पर्व—अ० ६९, श्लोक ४३

१४—इह निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः॥ ९

१५—तस्य दानं क्षमा सिद्धिर्यथावदुपपद्यते।
दमो दानं तपो ज्ञानमधीतं चानुवर्तते॥१०
उद्योग पर्व—अध्याय ६३, श्लोक ९, १०

दमयुक्त पुरुष का लक्षण है।[16] विदुरजी ने दम की श्रेष्ठता बताते हुए कहा कि "चारों आश्रमों में दम को ही उत्तम व्रत बताया गया है। यह दम जिन पुरुषों के अभ्यास में आकर उनके अभ्युदय का कारण बन जाता है।"[17] जो सदाचारी, शीलवान्, प्रसन्नचित्त तथा आत्मज्ञानी विद्वान् है, वह इस जगत में सम्मान प्राप्त करता है और मृत्यु के पश्चात् उत्तम गति का भागी होता है। इन्द्रियसंयमी की विशेषता बताते हुए विदुर जी ने कहा कि जो निर्लोभ, कम से कम चाहने वाला, भोगों के चिन्तन से दूर रहने वाला तथा समुद्र के समान गम्भीर है, उस पुरुष को दान्त (इन्द्रियसंयमी) कहा गया है।"[18] जो सम्पूर्ण भूतों का हित चाहने वाला और सबके प्रति मैत्रीभाव रखने वाला है, उससे किसी भी पुरुष को उद्वेग नहीं प्राप्त होता है। जो समुद्र के समान गम्भीर एवं उत्कृष्ट ज्ञानरूपी अमृत से तृप्त है, वही परम शान्ति का भागी होता है। विदुरजी ने कहा कि "जो कर्त्तव्य कर्मों द्वारा आचरित है तथा पहले के साधु पुरुषों के द्वारा जिसका आचरण किया गया है, उसे अपना कर शम-दम से सम्पन्न पुरुष सदा आनन्दमग्न रहते हैं।"[19]

महर्षियों ने अपने-अपने ज्ञान के अनुसार धर्म की एक नहीं अनेक विधियाँ बताई हैं, परन्तु इन सबका आधार इन (मन और इन्द्रियों का संयम) ही है। जिसने अपने मन और इन्द्रियों का दमन कर लिया है, वह सुख से सोता, सुख से ही जागता और सुखपूर्वक ही लोकों में विचरता है। उसका मन सदा प्रसन्न रहता है। दम की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "हमने संसार में दम के समान दूसरा कोई धर्म नहीं

१६—महाभारत उद्योगपर्व-अ० ६३, श्लोक १४,१५,१६

१७—आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम् ।१२½

१८—अलोलुपस्तथाल्पेप्सुः कामानामविचिन्तिता ।
समुद्रकल्पः पुरुषः स दान्तः परिकीर्तितः ॥

१९—कर्मणाऽऽचरितं पूर्वं सद्भिराचरितं च यत् ।
तदेवास्थाय मोदन्तो दान्ताः शमपरायणाः ॥२१
उद्योगपर्व—अध्याय ६३, श्लोक १२½, १७,२१

सुना। जगत् में सभी धर्मवालों के यहाँ दम को ही उत्कृष्ट बताया गया है। सबने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।"[२०] जिसकी इन्द्रियाँ और मन वश में नहीं हैं, वह पुरुष निरन्तर क्लेश उठाता है। साथ ही वह अपने ही दोषों से बहुत से दूसरे-दूसरे अनर्थों की भी सृष्टि कर लेता है। दम की विशेषता बताते हुए भीष्म जी ने कहा कि "दम तेज की वृद्धि करता है, दम पवित्र साधन है, दम से पापरहित हुआ तेजस्वी पुरुष परमपद को प्राप्त कर लेता है। दम से ही उसे अपने शुद्ध कर्मों की यथावत् सिद्धि प्राप्त होती है। दम उसके लिए दान, यज्ञ और स्वाध्याय से भी बढ़कर है।"[२१] दम से अर्थात् मन के संयम से युक्त पुरुष को महान् धर्म की प्राप्ति होती है। वह दोनों लोकों में परम सुख पाता है। धर्म के सिद्धान्त को जानने वाले वृद्ध पुरुष. दम को कल्याण का साधन बताते हैं। विशेषतः ब्राह्मणों के लिए तो दम ही सनातन धर्म है। वे ही धर्म के स्थापक होते हैं। यदि वे ही दमनशील मन और इन्द्रियों वाले न होंगे, तब धर्म के कार्य तथा धर्म के उपदेश को कैसे दे सकेंगे, इसलिए ब्राह्मणों को संयमी होना अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन काल में ब्राह्मण ही सबके गुरु तथा आदर्श होते थे। उनको पृथिवी का देवता समझा जाता था। वे ही सबको उन्नति के मार्ग पर ले जाते थे। इन्द्रियों का संयमी मनुष्य ही संसार में कुछ उन्नति कर सकता है। चारों आश्रमों में दम को ही उत्तम व्रत बताया गया है। सब आश्रम के नियम भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु उन चारों आश्रमों में इन्द्रिय संयम का नियम सबके लिए आवश्यक है। बिना इन्द्रिय संयम के कोई भी मनुष्य अपने आश्रम के कर्त्तव्यों को पूर्ण नहीं कर सकता है। जिसने मन और इन्द्रियों का दमन कर लिया है, उसमें गुरुजनों के प्रति आदर का भाव, समस्त प्राणियों के प्रति दया उत्पन्न हो

२०—दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुम।
दमो हि परमो लोके प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम्।१०

२१—दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम्।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत्॥ ९
दमात् तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते।
दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्तते॥ ८
शान्ति पर्व-अ० १९ श्लोक १०-९-८

जाती है। संयमी मनुष्य की कहीं भी निन्दा नहीं होती है। उसके मन में कोई कामना नहीं होती है। वह छोटी वस्तुओं के लिए किसी के सामने हाथ नहीं पसारता है। वह तुच्छ विषय-भोगों की अभिलाषा नहीं रखता है। वह दूसरों के दोष नहीं देखता है। उसका मन सदा धर्म के संचय में लगा रहता है। दम का दोष बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "दम अर्थात् संयम में एक ही दोष है, दूसरा नहीं। वह यह कि क्षमाशील होने के कारण उसे लोग असमर्थ समझने लगते हैं। क्षमा से ही मनुष्य में सहिष्णुता आ जाती है। संयमी पुरुष को वन में जाने की आवश्यकता नहीं है। असंयमी पुरुष को ही वन में जाने की आवश्यकता रहती है किन्तु जिसका मन चंचल है, उसको वन में जाने से भी क्या लाभ है। संयमी पुरुष जहाँ रहे, वहीं उसके लिए वन और आश्रम है।"[२२] संयमी पुरुष घर में रह कर ही मोक्ष प्राप्त करता है। ज्ञान से इन्द्रिय-संयम के लक्षण बताते हुए भीष्म जी ने कहा कि "किसी दूसरे की वस्तु को लेने की इच्छा न करना, सदा गम्भीरता और धीरता रखना, भय को त्याग देना मन के रोगों को शान्त कर देना · यह 'दम' (मन और इन्द्रियों के संयम) का लक्षण है। इसकी प्राप्ति ज्ञान से होती है।"[२३] जिस मनुष्य को सच्चा ज्ञान हो जाता है, वही संयमी बनता है और फिर इससे अनेकों सुख भोगता है। धृति के विषय में भीष्म जी ने इस प्रकार कहा कि "सुख या दुःख प्राप्त होने पर मन में विकार न होना 'धृति' है। जो अपनी उन्नति चाहता हो, उस बुद्धिमान् पुरुष को सदा ही 'धृति' का सेवन करना चाहिए।"[२४] धैर्य मनुष्य

२२—एक एव दमे दोषो द्वितीयो नोपपद्यते।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः॥
शान्तिपर्व—अ० १६०, श्लोक ३४, ३५, ३६

२३—दमो नान्यस्पृहा नित्यं गाम्भीर्यं धैर्यमेव च।
अभयं रोगशमनं ज्ञानेनैतदवाप्यते॥ १२
शान्तिपर्व—अ० १६२, श्लोक १२

२४—धृतिर्नाम सुखे दुःखे यया नाप्नोति विक्रियाम्।
तां भजेत सदा प्राज्ञो य इच्छेद् भूतिमात्मनः॥
शान्ति पर्व—अ० १६२, श्लोक १६

का बहुत बड़ा गुण है। धैर्यवान् मनुष्य ही इस संसार में अनेक कष्टों-दुःखों को हँस-हँस कर झेलता है और अन्त में सुख प्राप्त करता है। क्रोध मनुष्य का बहुत बड़ा शत्रु है। जो मनुष्य क्रोध को जीत लेते हैं, वे अनेकों संकटों से पार हो जाते हैं। इस संसार में क्रोध एक ऐसा अवगुण है कि इसके होने से उस मनुष्य के सब सहायक उसे छोड़ जाते हैं और वह बिल्कुल अकेला शून्य की भाँति दुःख भोगता रहता है। इसीलिए ज्ञानी मनुष्य क्रोध पर विजय प्राप्त करके अपने जीवन को सफल बनाते हैं। जो मनुष्य उभड़ने वाले क्रोध को क्षमा द्वारा त्याग देता है, वही श्रेष्ठ पुरुष कहा जाता है। जो मनुष्य किसी पर क्रोध नहीं करता है वह सौ वर्षों तक प्रत्येक मास में बिना थकावट के निरन्तर यज्ञ करने वाले से भी श्रेष्ठ समझा जाता है। क्रोध न करने से जो फल मिलता है उसके विषय में देवयानी से शुक्राचार्य ने इस प्रकार कहा कि "जो उत्पन्न हुए क्रोध को अक्रोध (क्षमाभाव) के द्वारा मन से निकाल देता है, समझ लो, उसने सम्पूर्ण जगत् को जीत लिया। जो क्रोध को रोक लेता है, निन्दा सह लेता है और दूसरे के सताने पर भी दुःखी नहीं होता, वही सब पुरुषार्थों का सुदृढ़ पात्र है।"[२५] शमीक ने अपने पुत्र को क्रोध न करने का उपदेश दिया उन्होंने पुत्र से कहा कि "क्रोध प्रयत्नशील साधकों के अत्यन्त दुःख से उपार्जित धर्म का नाश कर देता है।'[२६] यह क्रोध धर्म का नाशक होता हे, इसलिए श्रेष्ठ मनुष्यों को क्रोध मिटाकर उत्तम आचरण करना चाहिए। क्रोध को जीतकर ही मनुष्य स्वयं सुखी रहता है तथा अन्य सबको सुख देता है।

२५—यः समुत्पतितं क्रोधमक्रोधेन निरस्यति ।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥३॥
यः संधारयते मन्युं योऽतिवादांस्तितिक्षते ।
यश्च तप्तो न तपति दृढं सोऽर्थस्य भाजनम् ॥
आदि पर्व – अध्याय ७६, श्लोक ३, ५

२६—क्रोधो हि धर्मं हरति यतीनां दुःखसंचितम् ॥
आदि पर्व – अ० ४२, श्लोक ७½

३--क्षमा की महिमा—

संसार में सब धर्मों में क्षमा सबसे श्रेष्ठ गुण है। जो मनुष्य, अपमान से तिरस्कार अथवा गाली देने या डाँट बताने से कभी क्रोध नहीं करता, वरन् क्षमाशील बना रहता है, वही मनुष्य सब मनुष्यों में श्रेष्ठ कहा जाता है। क्षमाशील मनुष्य को ही साधु पुरुष कहते हैं। क्षमाशील मनुष्य को ही स्वर्ग, यश और मोक्ष की प्राप्ति होती है। भगवान् श्री कृष्ण ने क्षमा के विषय में युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि-"क्षमा ही यश, दान, यज्ञ, और मनोनिग्रह है। अहिंसा धर्म और इन्द्रियों का संयम क्षमा के ही स्वरूप हैं। क्षमा ही दया और क्षमा ही यज्ञ है। क्षमा से ही हमारा जगत् टिका हुआ है; अतः जो ब्राह्मण क्षमावान् है, वह देवता कहलाता है, वही सबसे श्रेष्ठ है।"[२७] विदुर जी ने क्षमा की श्रेष्ठता बताते हुए धृतराष्ट्र से कहा कि—"तात! समर्थ पुरुष के लिए सब जगह और सब समय में क्षमा के समान हितकारक और अत्यन्त श्रीसम्पन्न बनाने वाला उपाय दूसरा नहीं माना गया है। जो शक्तिहीन है, वह तो सब पर क्षमा करे ही; जो शक्तिमान है, वह भी धर्म के लिए क्षमा करे तथा जिसकी दृष्टि में अर्थ और अनर्थ दोनों समान हैं, उसके लिए तो क्षमा सदा ही हितकारिणी होती है।"[२८] शम (मनोनिग्रह) ही क्षमाशील साधकों को सिद्धि की प्राप्ति कराने वाला है। जिनमें क्षमा है, उन्हीं के लिए यह लोक और परलोक दोनों कल्याणकारक हैं। "क्षमाशील मनुष्य का कभी किसी को अपमान नहीं करना चाहिए। शक्तिशाली पुरुष सदा क्षमा करता है किन्तु

२७—क्षमा यशः क्षमा दानं क्षमा यज्ञः क्षमाः दमः।
क्षमाहिंसा क्षमा धर्मः क्षमा चेन्द्रियनिग्रहः॥
क्षमा दया क्षमा यज्ञः क्षमयैव धृतं जगत्।
क्षमावान् ब्राह्मणो देवः क्षमावान् ब्राह्मणो वरः॥
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ९२. में से

२८—नातः श्रीमत्तरं किंचिदन्यत् पथ्यतमं मतम्।
प्रभविष्णोर्यथा तात क्षमा सर्वत्र सर्वदा॥५८
क्षमेदशक्तः सर्वस्य शक्तिमान् धर्मकारणात्।
अर्थानर्थौ समौ यस्य तस्य नित्यं क्षमा हिता॥५९
उद्योगपर्व—अध्याय ३९, श्लो० ५८-५९

शक्तिहीन मनुष्य क्रोध करता है।[२९] शक्तिशाली का मन शक्ति से पूर्ण होता है, इस कारण उसे किसी को शक्ति दिखाने की इच्छा नहीं होती है। उसकी शक्ति का प्रभुत्व चारों ओर स्वयं ही फैला रहता है, इस कारण वह क्षमाशील होता है। क्षमा के लिए उपदेश देते हुए शमीक ने अपने पुत्र से कहा कि--तुम सदा इन्द्रियों को वश में रखते हुए क्षमाशील बनो क्षमा से ही ब्रह्माजी के निकटवर्ती लोकों में जा सकोगे।"[३०] क्षमा की श्रेष्ठता बताते हुए युधिष्ठिर ने द्रौपदी से कहा कि "सुशोभने! पुरुष को सभी आपत्तियों मे क्षमा भाव रखना चाहिए। क्षमाशील पुरुष से ही समस्त प्राणियों का जीवन बताया गया है। क्षमा ब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमा भूत है, क्षमा भविष्य है, क्षमा तप है और क्षमा शौच है। क्षमा ने ही सम्पूर्ण जगत् को धारण कर रक्खा है। जो मनुष्य यह जानता है कि क्षमा धर्म है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा वेद है और क्षमा शास्त्र है, वह सब कुछ क्षमा करने के योग्य हो जाता है। क्षमीशील मनुष्य यज्ञवेत्ता, ब्रह्मवेत्ता और तपस्वी पुरुषों से भी ऊँचे लोक प्राप्त करते हैं। क्रोधी मनुष्य अल्पज्ञ होता है। क्षमावान् मनुष्य विद्वान् होते हैं। जब मनुष्य सब कुछ सहन कर लेता है, तब वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। जिन मनुष्यों का क्रोध क्षमाभाव से दबा रहता है, उन्हें सर्वोत्तम लोक प्राप्त होते हैं। अतः क्षमा सबसे उत्कृष्ट मानी गई है।"[३१] यदि मनुष्यों में पृथ्वी के समान क्षमाशील पुरुष न हों तो मानवों में कभी सन्धि हो ही नहीं सकती, क्योंकि

२९—क्षमावन्तं च देवेन्द्र नावमन्येत बुद्धिमान्।
शक्तस्तु क्षमते नित्यमशक्तः क्रुध्यते नरः॥
आदिपर्व--अध्या० ८७—श्लो० ५-६ के मध्य का

३०—तस्माच्चरेथाः सततं क्षमाशीलो जितेन्द्रियः।
क्षमया प्राप्स्यसे लोकान् ब्रह्मणः समनन्तरान्॥१०
आदिपर्व—अध्याय ४२, श्लो० १०

३१—क्षन्तव्यं पुरुषेणेह सर्वापत्सु सुशोभने।
क्षमावतो हि भूतानां जन्म चैव प्रकीर्तितम्॥३२
क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत्॥३७
वनपर्व—अध्याय २९, श्लो० ३२,३७,३६,३८,३४,४२,४४,२५,३०

झगड़े की जड़ तो क्रोध ही है। क्रोध प्रजावर्ग के नाश और अवनति का कारण है, यदि राजा क्रोधी हो जाय, तो सारी प्रजाओं का शीघ्र ही नाश हो जाय। क्षमा की श्रेष्ठता बताते हुए युधिष्ठिर ने कहा कि "क्षमा तेजस्वी पुरुषों का तेज है, क्षमा तपस्वियों का ब्रह्म है, क्षमा सत्यवादी पुरुषों का सत्य है। क्षमा यज्ञ है और क्षमा ही शम (मनोनिग्रह) है। क्षमावानों के लिए ही यह लोक है। क्षमावानों के लिए ही परलोक है। क्षमाशील पुरुष इस जगत में सम्मान और परलोक में उत्तम गति पाते हैं।"[३२] क्षमा सांसारिक मनुष्य का सबसे बड़ा मित्र है।

किन्तु सर्वत्र अति की क्षमा भी दोष हो जाती है। क्षमा में जो दोष आ जाते हैं उनके विषय में प्रह्लाद ने अपने पौत्र बलि से इस प्रकार कहा कि "तात! न तो तेज ही सदा श्रेष्ठ है और न क्षमा ही। जो सदा क्षमा ही करता है, उसे अनेक दोष प्राप्त होते हैं।"[३३] अधिक क्षमाशील के भृत्यगण भी उसका अपमान करने लगते हैं। इस संसार में सेवकों द्वारा अपमान तो मृत्यु से भी अधिक निन्दित है। क्षमाशील को उसके सेवक, पुत्र, भृत्य तथा उदासीनवृत्ति के लोग, यहाँ तक कि उसकी स्त्री भी कटुवचन सुनाया करती है। क्षमाशील पुरुषों को सदा ये तथा और भी बहुत-से दोष प्राप्त होते हैं। इसलिए क्षमा श्रेष्ठ गुण होते हुए भी कहीं-कहीं दोष का कारण भी हो जाता है। अधिकारी के लिए क्षमा दोष बन जाती है तथा विद्वानों के लिए क्षमा श्रेष्ठ गुण हो जाती है।

३२—क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम् ।
क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः ॥४०
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ।
इह सम्मानमृच्छन्ति परत्र च शुभां गतिम् ॥४३

वनपर्व—अध्याय २९, श्लो० ४०-४३

३३—न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा ।५½
यो नित्यं क्षमते तात बहून् दोषान् स विन्दति ॥६½

४—सत्य से बढ़कर तप नहीं है—

संसार में सत्य से बढ़ कर कोई वस्तु नहीं है। सत्य बोलने वाला मनुष्य ही सबका विश्वासपात्र बनता है। जो असत्य बोलता है, लोग उसका आदर नहीं करते हैं तथा उसकी किसी बात पर विश्वास भी नहीं करते हैं। सत्य बोलने वाले मनुष्य के हृदय में भगवान का वास होता है।

सत्य की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि "भारत! सत्य बोलना अच्छा है। सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।"[३४] क्रोध में भरे हुए अर्जुन ने जब युधिष्ठिर को मारने के लिए खड्ग हाथ में ले ली थी, तब श्रीकृष्ण ने पूछा था कि तुम क्या करने जा रहे हो। जब अर्जुन ने अपना रहस्य बताया तो श्रीकृष्ण ने उन्हें धिक्कारा। तब अर्जुन ने उनसे उचित करने योग्य कार्य के लिए आज्ञा मांगी। तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को धर्म का उपदेश इस प्रकार दिया कि "सत्य बोलना उत्तम है। सत्य से बढ़कर दूसरा कुछ नहीं है; परन्तु यह समझ लो कि सत्पुरुषों द्वारा आचरण में लाये हुए सत्य के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त कठिन होता है।[३५] श्रीकृष्ण ने कहा कि "जहाँ मिथ्या बोलने का परिणाम सत्य बोलने के समान मंगलकारक हो अथवा जहाँ सत्य बोलने का परिणाम असत्य भाषण के समान अनिष्टकारी हो, वहाँ सत्य नहीं बोलना चाहिए। वहाँ असत्य बोलना ही उचित होगा। विवाह काल में, स्त्रीप्रसंग के समय, किसी के प्राणों पर संकट आने पर, सर्वस्व का अपहरण होते समय तथा ब्राह्मण की भलाई के लिए आवश्यकता हो तो

३४—सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम्।

शान्तिपर्व—अध्याय १०९, श्लो० ३$\frac{1}{2}$

३५—सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम्।
तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम् ॥३१

कर्णपर्व—अध्याय ६९, श्लो० ३१

असत्य बोल दें। इन पाँच अवसरों पर झूठ बोलने से पाप नहीं होता।[३६] सत्य के विषय में बताते हुए भीष्म जी ने कहा कि "सत्पुरुषों में सदा सत्यरूप धर्म का ही पालन हुआ है। सत्य ही सनातन धर्म है। सत्य को सदा सिर झुकाना चाहिए; क्योंकि सत्य ही जीव की परम गति हैं। सत्य ही धर्म, तप और योग है, सत्य ही सनातन ब्रह्म है, सत्य को ही परम यज्ञ कहा गया है तथा सब कुछ सत्य पर ही टिका हुआ है।"[३७] सत्य से अनेकों धर्म प्राप्त होते हैं। दान का, दक्षिणाओं सहित यज्ञ का, त्रिविध अग्निओं में हवन का, वेदों के स्वाध्याय का तथा अन्य जो धर्म का निर्णय करने वाले शास्त्र हैं उनके भी अध्ययन का फल मनुष्य सत्य से ही प्राप्त कर लेता है। इसका अभिप्राय यही है कि यदि मनुष्य पर और कुछ पुण्य कार्य न हो सकें और वह केवल सत्य ही बोलता हो, तो उसे सब पुण्यों का फल मिल जाता है। सत्य के लक्षण बताते हुए भीष्म जी ने कहा कि "नित्य एकरस, अविनाशी और अविकारी होना ही सत्य का लक्षण है। समस्त धर्मों के अनुकूल कर्त्तव्यपालनरूप योग के द्वारा इस सत्य की प्राप्ति होती है।"[३८]

३६—भवेत् सत्यमवक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत्।
यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं चाप्यनृतं भवेत्॥
विवाहकाले रतिसम्प्रयोगे,प्राणात्यये सर्वधनापहारे।
विप्रस्य चार्थे ह्यनृतं वदेत,पञ्चानृतान्याहुरपातकानि॥
कर्णपर्व—अध्याय ६९, श्लो० ३२, ३३

३७—सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्म सनातनः।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः॥४
सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥५
शान्तिपर्व—अध्याय १६२ श्लो० ४, ५

३८—सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च।
सर्वधर्माविरुद्धेन योगेनैतदवाप्यते॥१०
शान्तिपर्व—अध्याय१६२, श्लो० १०

सत्य के तेरह स्वरूप भीष्म जी ने इस प्रकार बताये कि "राजेन्द्र ! सत्य, समता, दम, मत्सरता का अभाव, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा (सहनशीलता), अनुसूया, त्याग, परमात्मा का ध्यान, आर्यता (श्रेष्ठ आचरण), निरन्तर स्थिर रहने वाली धृति (धैर्य) तथा अहिंसा— ये तेरह सत्य के ही स्वरूप हैं। ये पृथक्-पृथक् तेरह रूपों में बताये हुए धर्म एकमात्र सत्य को ही लक्षित कराने वाले हैं। ये सत्य का ही आश्रय लेते और उसी की वृद्धि एवं पुष्टि करते हैं। सत्य के गुणों की सीमा नहीं बताई जा सकती। पितर, देवता तथा ब्राह्मण भी सत्य की प्रशंसा करते हैं। सदा सत्य का पालन करने से ही मनुष्य मत्सरता से रहित हो सकता है। सत्यवादी पुरुष को ही उत्तम रीति से क्षमाभाव की प्राप्ति होती है।[३९] सत्य की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्म जी ने कहा कि "सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं और झूठ से बढ़कर कोई पातक नहीं है। सत्य ही धर्म की आधारशिला है, अतः सत्य का लोप न करे।"[४०] सत्य के विना कोई भी मनुष्य सामने आते हुए मृत्यु की सेना का कभी सामना नहीं कर सकता; इसलिए असत्य को त्याग देना चाहिए। क्योंकि अमृतत्व सत्य में ही स्थित है।[४१] सत्य की महिमा बताते हुए भृगु जी ने भरद्वाज मुनि से कहा कि "असत्य अन्धकार का रूप है। वह मनुष्य को नीचे गिराता है। अज्ञानान्धकार से घिरे हुए मनुष्य तमोगुण से

३९—सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः ।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता ॥८
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं स्थिरा ।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश ॥९
शान्तिपर्व—अध्याय १६२, श्लो० ८,९,२२,२३,१३,१४

४०—नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम् ।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत्॥२४
शान्तिपर्व—अयाध्य १६२, श्लो० २४

४१—न मृत्यु सेनामायान्तीं जातु कश्चित् प्रबाधते ।
ऋते सत्यमसत् त्याज्यं सत्ये ह्यमृतमाश्रितम् ॥
शान्तिपर्व—अध्या० १८५, श्लो० २८

ग्रस्त हो कर ज्ञान के प्रकाश को नहीं देख पाता। स्वर्ग प्रकाशमय है और नरक अन्धकारमय है इसलिए सत्य बोलने वाले को प्रकाशरूप स्वर्ग प्राप्त होना है और असत्य बोलने वाले को अन्धकारमय नरक प्राप्त होता है।

"मुने! सत्य ही ब्रह्म है, सत्य ही तप है, सत्य ही प्रजा की सृष्टि करता है, सत्य के ही आधार पर संसार टिका हुआ है और सत्य के ही प्रभाव से मनुष्य स्वर्ग में जाता है।"[४२] सत्य की महिमा के विषय में भीष्म जी ने युधिष्ठिर को एक पिता-पुत्र का प्राचीन संवाद सुनाया। पुत्र ने पिता से कहा कि "मनुष्य को सत्य व्रत का आचरण करना चाहिए। सत्ययोग में तत्पर रहना और शास्त्र की बातों को सत्य मानकर श्रद्धापूर्वक सदा मन और इन्द्रियों का संयम करना चाहिए। इस प्रकार सत्य के द्वारा ही मनुष्य मृत्यु पर विजय पा सकता है। अमृत और मृत्यु दोनों इस शरीर में ही स्थित हैं। मनुष्य मोह से मृत्यु को और सत्य से अमृत को प्राप्त होता है। संसार में विद्या (ज्ञान) के समान कोई नेत्र नहीं है, सत्य के समान कोई तप नहीं है, राग के समान कोई दुःख नहीं है और त्याग के समान कोई सुख नहीं है।[४३] संसार में जो

---

४२ – अनृतं तमसो रूपं तमसा नीयते ह्यधः।
तमोग्रस्ता न पश्यन्ति प्रकाशं तमसाऽऽवृताः ॥२
स्वर्गः प्रकाश इत्याहुर्नरकं तम एव च।
सत्यानृतं तदुभयं प्राप्यते जगतीचरैः ॥३
सत्यं ब्रह्म तपः सत्यं सत्यं विसृजते प्रजाः।
सत्येन धार्यते लोकः स्वर्गं सत्येन गच्छति ॥१

शान्तिपर्व अध्याय १९०, श्लो० २-३-१

४३—तस्मात् सत्यव्रताचारः सत्ययोगपरायणः।
सत्यागमः सदा दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत् ॥२९
अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम्।
मृत्युमापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम् ॥३०

शान्तिपर्व—अध्याय १७५, श्लो० २९,३०,३५

जहाँ सत्य है, वहीं धर्म है। सत्य से ही सबकी वृद्धि होती है। इसलिए असत्यपूर्ण बर्ताव नहीं करना चाहिए। सब धर्मों में सत्य ही श्रेष्ठ है, इस विषय में ब्राह्मण ने राजा से कहा कि "सत्य प्राणियों को जन्म देने वाला (पिता) है, सत्य ही सन्तति है, सत्य से ही वायु चलती है और सत्य से ही सूर्य तपता है। सत्य से ही आग जलती है तथा सत्य पर ही स्वर्गलोक प्रतिष्ठित है। यज्ञ, तप, वेद, स्तोभ, मन्त्र और सरस्वती— सब सत्य के ही स्वरूप हैं।"[४६] जिस प्रकार माता के समान कोई गुरु नहीं है और ब्राह्मणों के समान लोक में कल्याण करने वाला दूसरा नहीं है, उसी प्रकार सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। द्रौपदी ने कहा "कि वह सभा नहीं है, जहाँ वृद्धपुरुष न हों, वे वृद्ध नहीं हैं जो धर्म की बात न बतावें, वह धर्म नहीं है, जिसमें सत्य न हो और वह सत्य नहीं है जो छल से युक्त हो।"[४७] जिस प्रकार योग से विद्या सुरक्षित रहती है, स्वच्छता से रूप की रक्षा होती है तथा सदाचार से कुल की रक्षा होती है, उसी प्रकार सत्य से धर्म की रक्षा होती है।[४८] सनत्-सुजातजी ने धृतराष्ट्र से सत्य के विषय में इस प्रकार कहा कि "राजेन्द्र! तुम सत्यस्वरूप हो जाओ, सत्य में ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं। वे दम, त्याग

४६—प्राणिनां जननं सत्यं सत्यं संततिरेव च।
सत्येन वायुरभ्येति सत्येन तपते रविः ॥६७
सत्येन चाग्निर्दहति स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः।
सत्यं यज्ञस्तपो वेदाः स्तोभा मन्त्राः सरस्वती ॥६८
शान्तिपर्व—अध्याय १६६, श्लो० ६७,६८

४७—न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ॥
सभापर्व—अध्या० ६७, श्लो० ५२ से आगे

४८—सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥
उद्योगपर्व—अध्या० ३४, श्लो० ३६

और अप्रमाद आदि गुण भी सत्यस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति कराने वाले हैं; सत्य में ही अमृत की प्रतिष्ठा है।"[४९] सत्य श्रेष्ठपुरुषों का व्रत है। वेद का सार भी सी सत्य ही है। सत्य के विषय में धर्मव्याध ने मार्कण्डेय जी से इस प्रकार कहा कि "जो शिष्ट पुरुष हैं, वे सदा धर्म के मार्ग पर ही चलते हैं और सत्य धर्म को ही अपना परम आश्रय मानते।"[५०] सत्य बोलने से आयु का बढ़ना आवश्यक हैं। सत्य बोलने वाले अर्जुन ने जब शपथ खाकर शस्त्र छूकर प्रतिज्ञा की कि मैं धर्मराज युधिष्ठिर को मारूँगा तब श्रीकृष्ण ने कहा कि किसी के जीवन की रक्षा के समय असत्य भी श्रेष्ठ होता है। इसलिए युधिष्ठिर की जीवन-रक्षा के समय तुम्हारी शपथ आदि सब बातें असत्य न होकर पुण्यदायक होंगी। श्रीकृष्ण के समझाने पर अर्जुन मान गये और उन्होंने युधिष्ठिर से अपने वचनों के लिए क्षमा माँग ली। सत्य की महिमा बताते हुए शकुन्तला ने दुष्यन्त से कहा कि "राजन्! सत्य परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप है। सत्य सबसे बड़ा नियम है। आप अपनी सत्य प्रतिज्ञा को न छोड़िये। सत्य आपका जीवनसङ्गी हो। सौ कुँए खोदवाने की अपेक्षा एक बावड़ी बनवाना उत्तम हैं। सौ बावड़ियों की अपेक्षा एक यज्ञ कर लेना उत्तम है, सौ यज्ञ करने की अपेक्षा एक पुत्र को जन्म देना उत्तम है और सौ पुत्रों की अपेक्षा भी सत्य का पालन श्रेष्ठ है।"[५१] सत्य के समान कोई धर्म नहीं है। सत्य से

४९—सत्यात्मा भव राजेन्द्र सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः।
तांस्तु सत्यमुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम् ॥३७
उद्योग पर्व—अध्याय ४३, श्लोक ३७

५०—ये तु शिष्टाः सुनियताः श्रुतित्यागपरायणाः।
धर्मपन्थानमारूढाः सत्यधर्मपरायणाः ॥६९
वनपर्व—अ० २०७, श्लोक ६९

५१—राजन् सत्यं परं ब्रह्म सत्यं च समयः परः।
मा त्याक्षीः समयं राजन् सत्यं संगतमस्तु ते ॥१०६
वरं कूपशताद् वापी वरं वापीशतात् क्रतुः।
वरं क्रतुशतात् पुत्रः सत्यं पुत्रशताद् वरम् ॥१०२
आदि पर्व—अ० ७४, श्लोक १०६, १०२

उत्तम कुछ भी नहीं है और झूठ से बढ़कर तीव्रतर पाप इस जगत् में दूसरा कोई नहीं है। वैशम्पायन ने जनमेजय से कहा कि गंगानन्दन भीष्म ने श्रीकृष्ण के कहने पर पाण्डवों तथा धृतराष्ट्र आदि सभी सुहृदों से कहा कि "तुम्हें सदा सत्य धर्म के पालन का प्रयत्न करते रहना चाहिए, क्योंकि सत्य ही सबसे बड़ा बल है।"[५२] सत्य की श्रेष्ठता बताते हुए शकुन्तला ने दुष्यन्त से कहा कि "एक हजार अश्वमेध यज्ञ एक ओर तथा सत्य भाषण का पुण्य दूसरी ओर, यदि तराजू पर दोनों को रक्खा जाये तो हजार अश्वमेध यज्ञों की अपेक्षा सत्य का पलड़ा ही भारी होता है।"[५३] सत्य अन्य सब पुण्यवान् कार्यों से तथा धार्मिक कृत्यों से भी श्रेष्ठ बताया गया है। सत्य की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि "सम्पूर्ण वेदों को धारण करना और समस्त तीर्थों में स्नान करना—इन सत्कर्मों का पुण्य भी सत्यवादी पुरुष के पुण्य के बराबर ही हो सकता है अर्थात् इनसे सत्य श्रेष्ठ है।"[५४] सचमुच ही सत्य में बड़ा गुण तथा बड़ा बल है। जिस मनुष्य में सत्य है, उसका प्रताप बहुत फैल जाता है। सत्य के प्रताप से मनुष्य कीर्ति प्राप्त करता है और अन्त में पुण्य कर्मों के फल से स्वर्ग को प्राप्त करता है। सब मनुष्यों को सदा सत्य बोलना चाहिए।

५—तपस्या का फल—

संसार ऐसा माया जाल है कि इसके मोह में फँसकर मनुष्य कठिनाई

५२—सत्येषु यतितव्यं वः सत्यं हि परमं बलम् ॥४९
अनुशासन पर्व—अध्याय १६७, श्लोक ४९

५३—अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेध सहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥१०३
आदिपर्व—अ० ७४, श्लोक १०३

५४—धारणं सर्ववेदानां सर्वतीर्थावगाहनम्।
सत्यं च ब्रुवतो नित्यं समं वा स्यान्न वा समम् ॥२८
अनुशासन पर्व—अ० ७५, श्लोक २८

पूर्णतया संयम का पालन करते हुए सदा तप में ही तत्पर रहता है, उसकी सब कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। तप की महिमा बताते हुए व्यास जी ने अपने पुत्र शुकदेव से कहा कि "तपस्या से मनुष्य उस ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है, जिसमें स्थित होकर वह सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करता है, अतः ब्रह्मभाव को प्राप्त व्यक्ति समस्त प्राणियों का प्रभु हो जाता है।" [५८] तप सब प्रकार से निर्दोष होता है। इसमें भोगवासनारूप दोष नहीं रहता। इसलिए तप विशुद्ध कहा जाता है। इस लोक में जो तपस्या (सकामभाव से) की जाती है, उसका फल परलोक में भोगा जाता है; परन्तु जो ब्रह्मोपासक इस लोक में निष्कामभाव से गुरुतर तपस्या करते हैं, वे इसी लोक में तत्त्वज्ञान रूप फल प्राप्त करते हैं अर्थात् सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। तपस्या के विषय में बताते हुए सनत्सुजातजी ने धृतराष्ट्र से कहा कि "तपस्या ही सारे जगत् का मूल है; वेदवेत्ता विद्वान् इस (निष्काम) तप से ही परम अमृत मोक्ष को प्राप्त होते हैं।" [५९] कामनाओं के लिए जो तपस्या करते हैं, उनकी इच्छायें यहीं पूर्ण हो जाती हैं और जिनकी कोई कामनायें नहीं होती हैं, केवल ईश्वरोपासना ही उनका लक्ष्य होता है, तो उन लोगों की मोक्ष हो जाती है। तपस्या क्या है इस विषय में व्यास जी ने अपने पुत्र से कहा कि "वेद का सार है सत्य वचन, सत्य का सार है इन्द्रियों का संयम, संयम का सार है दान और दान का सार है तपस्या। तपस्या का सार हे त्याग।" [६०] अपने धर्म

५८—तपसा तदवाप्नोति तद् भूत्वा सृजते जगत् ।
　　तद् भूतश्च ततः सर्वभूतानां भवति प्रभुः ॥१०
　　　　शान्तिपर्व—अध्याय २३, श्लोक १०

५९—तपसा वेदविद्वांसः परं त्वमृतमाप्नुयुः ॥१३
　　　　उद्योग पर्व—अध्याय ४३, श्लोक १३

६०—वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः ।
　　दमस्योपनिषद् दानं दानस्योपनिषत् तपः ॥११
　　तपसोपनिषत् त्यागः ॥ ११½
　　　　शान्तिपर्व—अध्याय २५१, श्लोक ११,११½

में तत्पर रहना ही तप है। शरीर को सुखा देना ही तपस्या नहीं है, इस विषय में भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रूरता को त्याग देना, मन और इन्द्रियों को संयम में तथा सबके प्रति दयाभाव बनाये रखना—इन्हीं को धीरपुरुषों ने तप माना है। शरीर को सुखाना ही तप नहीं है।"[६१] केवल शारीरिक तपस्या से कुछ नहीं होता हैं, जब तक मनुष्य मन और वचन से भी सबके प्रति सद्भाव न रखे। इसलिए सब मनुष्यों को श्रेष्ठ कर्मों के द्वारा तप का बल प्राप्त करना चाहिए। सुन्द और उपसुन्द नामक दो महान् दैत्यराज तीनों लोकों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से विंध्य पर्वत पर कठोर तपस्या करने लगे। व्यासजी ने कहा कि "उन दैत्यों की तपस्या के प्रभाव से दीर्घकाल तक संतप्त होने के कारण विंध्य पर्वत धुँआ छोड़ने लगा, यह एक अद्भुत सी बात हुई। उनकी उग्र तपस्या देखकर देवताओं को बड़ा भय हुआ।"[६२] शेषनाग की उग्र एवं तीव्र तपस्या से समस्त प्रजावर्ग संतप्त होने लगा, तब ब्रह्माजी ने उनको दर्शन देकर उनकी मनोकामना पूछी और उनको वर देकर प्रजा का संताप दूर किया" मन्त्रवेत्ता ब्राह्मण अत्यन्त कठोर तपस्या करके भी यश के लिए गुरुजनों की शरण ग्रहण करते हैं।"[६३] तपस्या की महिमा बताते हुए भीष्मजी ने कहा कि तपस्या से स्वर्ग मिलता है, तपस्या से सुयश की प्राप्ति होती

६१—अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा।
एतत् तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम् ॥१८
शान्तिपर्व अध्याय ७९, श्लोक १८

६२—तयोस्तपः प्रभावेण दीर्घकालं प्रतापितः।
धूमं प्रमुमुचे विन्ध्यस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥१०
ततो देवा भयं जग्मुरुग्रं दृष्ट्वा तयोस्तपः १०½
आदि पर्व-अध्याय २०८, श्लोक १०, १०½

६३—तथा मन्त्रविदो विप्रास्तपस्तप्त्वा सुदुष्करम्।
गुरूनभ्युपगच्छन्ति यशसोऽर्थाय भामिनि ॥
आदिपर्व—अध्याय १२३, श्लोक १२

से ही तप कर पाता है। गृहस्थ पुरुष को स्त्री, पुत्र, धन आदि वस्तुओं में इतना मोह हो जाता है कि वह इन्हीं के मोह के कारण कुछ भी धर्म नहीं कर पाता है। यदि किसी मनुष्य के पास धन का वैभव हो जाता हैं तो वह उसके अहंकार से बहुत पीड़ित हो जाता है और ईश्वर तक को मानने में उसका अहंकार क्षीण होता है। यदि कोई धन के अभाव के कारण बहुत दीन रहता है तो उसे दिन रात धन की ही चिन्ता लगी रहती है और वह चिन्ता के कारण भगवान को दिनरात याद करता है। इस संसार में भगवान् का चिन्तन या सुमिरन दुःख में ही होता है, सुख में सब लोग भगवान् को भूल जाते हैं। संसारी जीवों को तो भगवान् का ध्यान तब आता है, जब उनके स्नेह के आधारभूत स्त्री, पुत्र आदिका नाश हो जाता है, धन चला जाता है और रोग तथा चिन्ता से कष्ट उठाना पड़ता है, तभी उन्हें वैराग्य होता है और फिर केवल भगवान् के सहारे के उनके लिए संसार में कुछ नहीं रहता। वैराग्य से मनुष्य को आत्मतत्व की जिज्ञासा होती है। जिज्ञासा से शास्त्रों के स्वाध्याय में मन लगता है तथा शास्त्रों के अर्थ और भाव के ज्ञान से वह तप को ही कल्याण का साधन समझता है। संसार में ऐसा विवेकी मनुष्य दुर्लभ है, जो स्त्री, पुत्र आदि प्रियजनों से मिलने वाले सुख के न रहने पर तप में प्रवृत्त होने का ही निश्चय करता है। तपस्या से मनुष्य को दूसरे जन्म में श्रेष्ठ घरों में जन्म प्राप्त होता है। संसार में जो राजे-महाराजे तथा अन्यान्य गृहस्थ महान् कुलों में उत्पन्न देखे जाते हैं, वह सब उनकी तपस्या का ही फल है। रेशमी वस्त्र, सुन्दर आभूषण, वाहन, आसन और उत्तम खान-पान आदि सब कुछ तपस्या का ही फल है। भीमसेन ने तपस्या को कामना से प्रेरित बताते हुए युधिष्ठिर से कहा कि "किसी न किसी कामना से संयुक्त होकर ही ऋषिलोग तपस्या में मन लगाते हैं। फल, मूल और पत्ते चबाकर रहते हैं, वायु पीकर, मन और इन्द्रियों का संयम करते हैं। कामना से ही लोग वेद उपवेदों का स्वाध्याय करते तथा उसमें पारंगत विद्वान् हो जाते हैं। कामना से ही यज्ञकर्म, श्राद्धकर्म, दान और प्रतिग्रह में लोगों की प्रवृत्ति होतीहै।"[५५]

५५—कामेन युक्ता ऋषयस्तपस्येव समाहिताः।
पलाशफलमूलादा वायुभक्षाः सुसंयताः ॥३०
वेदोपवेदेष्वपरे युक्ताः स्वाध्यायपारगाः।
श्राद्धयज्ञक्रियायां च तथा दानप्रतिग्रहे ॥३१
शान्ति पर्व—अ० १६७, श्लोक ३०, ३१

कामना प्रत्येक मनुष्यों की अलग-अलग होती है। कोई ईश्वर प्राप्ति के लिए तप करता है, तो कोई धन-वैभव प्राप्त करने के लिए तपस्या करता है, तो कोई इन्द्रपद प्राप्त करने के लिए घोर तपस्या करता है। इस प्रकार तपस्याओं के करने के भिन्न-भिन्न कारण होते हैं। पराशर जी ने कहा कि "तपस्या में सभी का अधिकार है। जितेन्द्रिय और मनोनिग्रह-सम्पन्न हीन-वर्ण के लिए भी तप का विधान है; क्योंकि तप पुरुष को स्वर्ग की राह पर लाने वाला है।"[५६] पूर्वकाल में शक्तिशाली प्रजापति ने तप में स्थित होकर और कभी-कभी ब्राह्मपरायण व्रत में स्थिर होकर संसार की रचना की थी। सम्पूर्ण स्वर्गवासी देवता आदि सबके सब तपस्या से ही सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। कुबेर ने धनाध्यक्ष का पद भी बड़ी भारी तपस्या करके प्राप्त किया था। जगत् का मूल कारण बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि "राजन्! इस सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण तप ही है, ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं। जिस मूढ़ ने तपस्या नहीं की है, उसे अपने शुभ कर्मों का फल नहीं मिलता। भगवान् प्रजापति ने तप से ही इस समस्त संसार की सृष्टि की है तथा ऋषियों ने तप से ही वेदों का ज्ञान प्राप्त किया है।"[५७] औषध, आरोग्य आदि की प्राप्ति तथा नाना प्रकार की क्रियाएँ तपस्या से ही सिद्ध होती हैं; क्योंकि प्रत्येक साधन की जड़ तपस्या है। संसार में जो कुछ भी दुर्लभ वस्तु हो, वह सब तपस्या से सुलभ हो सकती है। ऋषियों ने तपस्या से ही अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्य को प्राप्त किया है। तप ही मनुष्य के कल्याण का मुख्य साधन है। तप का मूल शम और दम है। जो मनुष्य तपस्यारूप धर्म से संयुक्त हो

५६—तपः सर्वगतं तात हीनस्यापि विधीयते ।
जितेन्द्रियस्य दान्तस्य स्वर्गमार्गप्रवर्तकम् ॥६४
शान्ति पर्व—अध्याय २९५, श्लोक १४

५७—सर्वमेतत् तपोमूलं कवयः परिचक्षते ।
न ह्यतप्ततपा मूढः क्रियाफलमवाप्नुते ॥१
प्रजापतिरिदं सर्वं तपसैवासृजत् प्रभुः ।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥२
शान्तिपर्व—अध्याय १६१, श्लोक १, २

पूर्णतया संयम का पालन करते हुए सदा तप में ही तत्पर रहता है, उसकी सब कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। तप की महिमा बताते हुए व्यास जी ने अपने पुत्र शुकदेव से कहा कि "तपस्या से मनुष्य उस ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है, जिसमें स्थित होकर वह सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करता है, अतः ब्रह्मभाव को प्राप्त व्यक्ति समस्त प्राणियों का प्रभु हो जाता है।"[५८] तप सब प्रकार से निर्दोष होता है। इसमें भोगवासनारूप दोष नहीं रहता। इसलिए तप विशुद्ध कहा जाता है। इस लोक में जो तपस्या (सकामभाव से) की जाती है, उसका फल परलोक में भोगा जाता है; परन्तु जो ब्रह्मोपासक इस लोक में निष्कामभाव से गुरुतर तपस्या करते हैं, वे इसी लोक में तत्त्वज्ञान रूप फल प्राप्त करते हैं अर्थात् सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। तपस्या के विषय में बताते हुए सनत्सुजातजी ने धृतराष्ट्र से कहा कि "तपस्या ही सारे जगत् का मूल है; वेदवेत्ता विद्वान् इस (निष्काम) तप से ही परम अमृत मोक्ष को प्राप्त होते हैं।"[५९] कामनाओं के लिए जो तपस्या करते हैं, उनकी इच्छायें यहीं पूर्ण हो जाती हैं और जिनकी कोई कामनायें नहीं होती हैं, केवल ईश्वरोपासना ही उनका लक्ष्य होता है, तो उन लोगों की मोक्ष हो जाती है। तपस्या क्या है इस विषय में व्यास जी ने अपने पुत्र से कहा कि "वेद का सार है सत्य वचन, सत्य का सार है इन्द्रियों का संयम, संयम का सार है दान और दान का सार है तपस्या। तपस्या का सार हे त्याग।"[६०] अपने धर्म

५८—तपसा तदवाप्नोति तद् भूत्वा सृजते जगत्।
　　तद् भूतश्च ततः सर्वभूतानां भवति प्रभुः ॥१०
　　　　शान्तिपर्व—अध्याय २३, श्लोक १०

५९—तपसा वेदविद्वांसः परं त्वमृतमाप्नुयुः ॥१३
　　　　उद्योग पर्व—अध्याय ४३, श्लोक १३

६०—वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
　　दमस्योपनिषद् दानं दानस्योपनिषत् तपः ॥११
　　तपसोपनिषत् त्यागः ॥ ११½
　　　　शान्तिपर्व—अध्याय २५१, श्लोक ११, ११½

में तत्पर रहना ही तप है । शरीर को सुखा देना ही तपस्या नहीं है, इस विषय में भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रूरता को त्याग देना, मन और इन्द्रियों को संयम में तथा सबके प्रति दयाभाव बनाये रखना—इन्हीं को धीरपुरुषों ने तप माना है । शरीर को सुखाना ही तप नहीं है ।"[६१] केवल शारीरिक तपस्या से कुछ नहीं होता हैं, जब तक मनुष्य मन और वचन से भी सबके प्रति सद्भाव न रखे । इसलिए सब मनुष्यों को श्रेष्ठ कर्मों के द्वारा तप का बल प्राप्त करना चाहिए । सुन्द और उपसुन्द नामक दो महान् दैत्यराज तीनों लोकों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से विन्ध्य पर्वत पर कठोर तपस्या करने लगे । व्यासजी ने कहा कि "उन दैत्यों की तपस्या के प्रभाव से दीर्घकाल तक संतप्त होने के कारण विन्ध्य पर्वत धुँआ छोड़ने लगा, यह एक अद्भुत सी बात हुई । उनकी उग्र तपस्या देखकर देवताओं को बड़ा भय हुआ ।"[६२] शेषनाग की उग्र एवं तीव्र तपस्या से समस्त प्रजावर्ग संतप्त होने लगा, तब ब्रह्माजी ने उनको दर्शन देकर उनकी मनोकामना पूछी और उनको वर देकर प्रजा का संताप दूर किया " मन्त्रवेत्ता ब्राह्मण अत्यन्त कठोर तपस्या करके भी यश के लिए गुरुजनों की शरण ग्रहण करते हैं ।"[६३] तपस्या की महिमा बताते हुए भीष्मजी ने कहा कि तपस्या से स्वर्ग मिलता है, तपस्या से सुयश की प्राप्ति होती

६१—अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा ।
एतत् तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम् ।।१८
शान्तिपर्व अध्याय ७९, श्लोक १८

६२—तयोस्तपः प्रभावेण दीर्घकालं प्रतापितः ।
धूमं प्रमुमुचे विन्ध्यस्तदद्भुतमिवाभवत् ।।१०
ततो देवा भयं जग्मुरुग्रं दृष्ट्वा तयोस्तपः १०½
आदि पर्व अध्याय २०८, श्लोक १०, १०½

६३—तथा मन्त्रविदो विप्रास्तपस्तप्त्वा सुदुष्करम् ।
गुरूनभ्युपगच्छन्ति यशसोऽर्थाय भामिनि ।।
आदिपर्व—अध्याय १२३, श्लोक १२

है तथा तपस्या से बड़ी आयु, ऊँचा पद और उत्तमोत्तम भोग प्राप्त होते हैं। तपस्या की महिमा का वर्णन करते हुए नारदजी ने युधिष्ठिर से कहा कि "जो लोग कठोर तपस्या के द्वारा यहाँ अपने शरीर का त्याग करते हैं, वे भी उस इन्द्रसभा में जाकर तेजस्वी रूप धारण करके सदा प्रकाशित होते रहते हैं।"[६४] कठोर तपस्या से अनेक फल तो प्राप्त होते ही हैं, साथ ही साथ मनुष्य का मन और शरीर भी शुद्ध हो जाते हैं। कठोर तपस्या करके मनुष्य यश-कीर्ति प्राप्त करता है तथा देश के उद्धार के लिए बड़े-बड़े काम कर जाता है और आने वाली सन्तति को तपस्या का मार्ग प्रदर्शित कर जाता है।

६—सत्त्वगुण की महिमा—

प्रकृति के तीन गुण माने गये हैं—सत्त्व, रजस् और तमस्। इनमें सत्त्वगुण सबसे श्रेष्ठ है। वह धर्म और तप का सहकारी है। सत् का अर्थ अच्छा भी है। सत्त्वगुण के उत्कर्ष से मनुष्य में नैतिक गुण और धार्मिक भाव उत्पन्न होते हैं। इसीलिए सत्त्वगुण को गीता में दैवीसम्पत्ति कहा है। महाभारत में भी सत्त्वगुण को धर्म और तप में उपयोगी माना गया है। तीनों गुणों में सत्त्वगुण ही सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। सत्त्व गुण वाला मनुष्य ही तपस्या का कर्त्ता बनता है। सत्त्वगुण से ही मनुष्य मोक्ष का अधिकारी बनता है। सत्त्वगुण की प्रशंसा करते हुए ब्रह्माजी ने महर्षियों से कहा कि "सत्त्वगुण इन्द्रियों की उत्पत्ति का कारण है, उसे वैकारिक हेतु मानते हैं। वह इन्द्रियों और उनके विषयों को प्रकाशित करने वाला है। सत्त्वगुण से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं बताया गया है।[६५] सात्विक बर्ताव के लक्षण बताते हुए ब्रह्मा

६४—तपसा ये च तीव्रेण त्यजन्तीह कलेवरम्।
ते तत् स्थानं समासाद्य श्रीमन्तो भान्ति नित्यशः॥
सभापर्व—अध्याय १२, श्लोक २२

६५—सत्त्वं वैकारिकी योनिरिन्द्रियाणां प्रकाशिका।
न हि सत्त्वात् परो धर्मः कश्चिदन्यो विधीयते॥९
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ३९, श्लोक ९

जी ने कहा कि "क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, ज्ञान, त्याग तथा संन्यास—ये सात्त्विक वर्ताव वताये गये हैं।"[६६] मनीषी पुरुष इसी अनुमान से उस सत्त्वस्वरूप आत्मा का और परमात्मा का मनन करते हैं। सत्यगुण में सत्य और सत्त्वगुण सव अविकल रूप से विद्यमान रहते हैं। सच्चे त्यागी के लक्षण वताते हुए श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि "जो मनुष्य अकुशल कर्म से तो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता, वह शुद्ध सत्त्वगुण से युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान और सच्चा त्यागी है।"[६७] शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है, इस भाव से आशक्ति और फल का त्याग करके जो मनुष्य कार्य करता है, वही सात्त्विक त्यागी माना जाता है। अच्छे गुणों के रहने से मनुष्य मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त करता है। जीव संसार में अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है तथा अकेला ही पुण्य और पाप का फल भोगता है। शौच के लक्षण वताते हुए भगवान् ने युधिष्ठिर से कहा कि "ब्रह्मचर्य, तपस्या, क्षमा, मधु-मांस का त्याग, धर्ममर्यादा के भीतर रहना और मन को वश में रखना ये सव शौच के लक्षण हैं।"[६८] जो मनुष्य तालाव वनवाता, वृक्ष लगाता, यज्ञों का अनुष्ठान करता तथा सत्य वोलता है, ये सभी

६६—क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्।
ज्ञानं त्यागोऽथ संन्यासः सात्त्विकं वृत्तमिष्यते ।७
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ४८, श्लोक ७

६७—न द्वेष्टयकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।।१०
भीष्म पर्व—अध्याय ४२, श्लोक १०
गीता—अध्याय १८

६८—ब्रह्मचर्यं तपः क्षान्तिर्मधुमांसस्य वर्जनम्।
मर्यादायां स्थितिश्चैव शमः शौचस्य लक्षणम् ।।
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ६२

द्विज स्वर्गलोक में सम्मानित होते हैं। मनीषी पुरुष धर्म को समस्त प्राणियों का हृदय कहते हैं। अतः समस्त प्राणियों को धर्म का ही आश्रय लेना चाहिए। पुण्य का फल बताते हुए ब्राह्मण ने काश्यपजी से कहा कि "जैसे फल देने वाला वृक्ष फलने का समय आने पर बहुत से फल प्रदान करता है, उसी प्रकार शुद्ध हृदय से किए हुए पुण्य का फल अधिक होता है।"[६९] मनुष्य शुभ अथवा अशुभ जो-जो कर्म करता है, पूर्वजन्म के शरीर से किये गये उन सब कर्मों का फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है। इसलिए मनुष्य को विषयों का त्याग करना चाहिए, क्योंकि विषयों का त्याग ही वास्तविक त्याग अथवा तपस्या है। लोक में तप शब्द विख्यात है। उस तप का फल है—ज्ञानस्वरूप प्रकाश तथा निष्काम कर्म। तप दो प्रकार का होता है, शारीरिक और मानसिक इनके लक्षण बताते हुए भीष्मजी ने कहा कि "ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शारीरिक तप कहते हैं। मन और वाणी का भलीभांति किया हुआ संयम मानसिक तप कहलाता है।"[७०]

७–दान का महत्त्व—

भारतीय धर्म में दान का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। दान देने से मनुष्य का मन शुद्ध होता है और उसको स्वर्ग की प्राप्ति होती है। दान की महिमा बताते हुए राजा कुरु ने इन्द्र से कहा कि "जो पुण्यात्मा मानव वहाँ (कुरुक्षेत्र में) दान देंगे, उनका वह दान शीघ्र ही सहस्रगुना हो जायेगा।"[७१] दान

६९—यथा प्रसूयमानस्तु फली दद्यात्फलं बहु।
तथा स्याद् विपुलं पुण्यं शुद्धेन मनसा कृतम् ॥२
आश्वमेधिक पर्व–अध्याय १८, श्लोक २

७० - ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तप उच्यते।
वाङ्मनोनियमः सम्यङ् मानसं तप उच्यते ॥१७
शान्ति पर्व–अध्याय २१७, श्लोक १७

७१—ये पुनः पुण्यभाजो वै दानं दास्यन्ति मानवाः ॥१८
तेषां सहस्रगुणितं भविष्यत्यचिरेण वै।½
शल्यपर्व—अध्याय ५३, श्लोक १८½

दो प्रकार के बताते हुए भृगु जी ने भरद्वाज से इस प्रकार कहा कि "दान दो प्रकार का बताया जाता है एक परलोक के लिए है और दूसरा इहलोक के लिए। सत्पुरुषों को जो कुछ दिया जाता है, वह दान परलोक में अपना फल देने के लिए उपस्थित होता है और असत्पुरुषों को जो दान दिया जाता है, उसका फल यहाँ भोगा जाता है। जैसा दान दिया जाता है, वैसा ही उसका फल भी भोगने में आता है।"[७२] जो मनुष्य आलस्य और प्रमाद का त्याग करके अहिंसा का पालन करते हुए दान आदि शुभकर्म करता है, तो उसे इन पुण्य कर्मों के कारण स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है।[७३] दान सर्वदा श्रेष्ठ लोगों अथवा गरीब ब्राह्मण को ही देना चाहिए। दान लेने वाला ब्राह्मण श्रोत्रिय हो, निर्धन हो, गृहस्थ हो, नित्य अग्निहोत्र करता हो, दरिद्रता के कारण जिसे स्त्री और पुत्रों के तिरस्कार सहने पड़ते हों तथा दाता ने न तो जिससे प्रत्युपकार प्राप्त किया हो और न आगे प्रत्युपकार प्राप्त होने की सम्भावना ही हो। ऐसे ही लोगों को गोदान करना चाहिए, धनवानों को नहीं। धनवानों को दान देने से कोई लाभ नहीं है।"[७४] इसी प्रकार

७२—दानं तु द्विविध प्राहुः परत्रार्थमिहैव च।
सद्भ्योयद् दीयते किंचित् तत्परत्रोपतिष्ठते ॥३॥
असद्भ्यो दीयते यत्तु तद् दानमिह भुज्यते।
यादृशं दीयते दानं तादृशं फलमश्नुते ॥४॥
शान्तिपर्व—अध्याय १९१, श्लोक ३,४

७३—तव वै मानुषाल्लोकाद् दानातिभिरतन्द्रितः।
अहिंसार्थसमायुक्तैः कारणैः स्वर्गमश्नुते ॥
वनपर्व—अध्याय १८१, श्लोक १०

७४—श्रोत्रियाय दरिद्राय गृहस्थायाग्निहोत्रिणे।
पुत्रदाराभिभूताय तथा ह्यनुपकारिणे ॥
एवंविधेषु दातव्या न समृद्धेषु भारत।
को गुणो भरतश्रेष्ठ समृद्धेष्वभिवर्जितम् ॥
वनपर्व—अध्याय—२००, श्लोक २७—२८

ये सोलह प्रकार के मनुष्य दान देने योग्य नहीं हैं। दान इनको नहीं देना चाहिए—पिता आदि गुरुजन, मिथ्यावादी, पापी, कृतघ्न, ग्राम-पुरोहित, वेदविक्रय करने वाले, शूद्र से यज्ञ कराने वाले, नीच ब्राह्मण, शूद्र के पति ब्राह्मण, साँप को पकड़ कर व्यवसाय करने वाले तथा सेवकों और स्त्री-समूहों को दिया हुआ दान व्यर्थ है।"[७५] युधिष्ठिर जब वन में बैठे थे तब भीमसेन ने क्रोध में भर कर युधिष्ठिर से राज्य प्राप्त करने के लिए कहा। दान मनुष्य तभी दे सकता है, जब उसके पास कुछ जीविका हो या राज्य हो। दान का महत्त्व बताते हुए भीम ने कहा कि "मनीषी विद्वान् दानशीलता को ही धर्म कहते हैं; अतः आप उस दानशीलता को ही प्राप्त कीजिए। आपको इस दयनीय अवस्था में नहीं रहना चाहिए।"[७६] सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता मानव उसी ब्राह्मण को दान दे, जो दाता का तथा अपना भी संसारसागर से उद्धार कर सके। वही शक्तिशाली ब्राह्मण है। मार्कण्डेयजी ने युधिष्ठिर से कहा कि "जो विद्वान् ब्राह्मण को भूमिदान करता है, उस दाता के पास सभी मनोवांछित भोग स्वतः आ जाते हैं। जो उत्तम वर्णवाले विशुद्ध ब्राह्मण को सुवर्ण-दान करता है, उसे निरन्तर सौ स्वर्ण-मुद्राओं के दान का फल प्राप्त होता है। जो लोग कंधे पर जुआ उठाने में समर्थ बलवान् बैल ब्राह्मणों को दान करते हैं, वे दुःख और संकटों से पार होकर स्वर्गलोक में जाते हैं। अतिथियों को भोजन कराने से अग्निदेव हविष्यअन्न से भी अधिक सन्तुष्ट होते

७५—गुरौ चानृतिके पापे कृतघ्ने ग्रामयाजके।
वेदविक्रयिणे दत्तं तथा वृपलयाजके॥
ब्रह्मबन्धुषु यद् दत्तं यद् दत्तं वृषलीपतौ।
स्त्रीजनेषु च यद् दत्तं व्यालग्राहे तथैव च॥
परिचारकेषु यद् दत्तं वृथा दानानि षोडश।
वनपर्व–अध्याय २००, श्लोक ७-८-८½

७६—उदारमेव विद्वांसो धर्मं प्राहुर्मनीषिणः।
उदारं प्रतिपद्यस्व नावरे स्थातुमर्हसि॥५३
वनपर्व–अध्याय ३३, श्लोक ५३

का (श्रेष्ठ वर को) दान करता है, और विधि पूर्वक अन्यान्य वस्तुओं का दान सम्पन्न करता है, वह इन्द्रलोक में जाता है।"[८०]

"पर्व के अवसर पर दिया हुआ दान दुगुना तथा ऋतु आरम्भ होने के समय दिया हुआ दान दस गुना पुण्यदायक होता है। संक्रान्ति पर तथा चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण के अवसर पर दिया हुआ दान अक्षय बताया गया है। जिसने भूमिदान नहीं किया है, वह परलोक में पृथ्वी का उपभोग नहीं कर सकता। जिसने सवारी का दान नहीं किया है, वह सवारी पर चढ़ कर नहीं जा सकता। इस जन्म में मनुष्य जिन-जिन पदार्थों का ब्राह्मणों को दान करता है, भावी जन्म में वह उन-उन पदार्थों को उपभोग के लिए पाता है। सुवर्ण अग्नि की प्रथम सन्तान है। भूमि भगवान् विष्णु की पत्नी है तथा गौएँ भगवान् सूर्य की कन्याएँ हैं। इन तीनों के महत्व को बताते हुए मार्कण्डेयजी ने युधिष्ठिर से कहा कि जो कोई सुवर्ण, गौ और पृथिवी का दान करता है, उसके द्वारा तीनों लोकों का दान सम्पन्न हो जाता है।"[८१] मनुष्य को न्याय से कमाये हुए धन का दान करना चाहिए। विशुद्ध मन से उत्तम समय पर सत्पात्र को थोड़ा-सा भी दान दिया गया हो, तो वह परलोक में अत्यन्त फल देने वाला माना गया है। अन्याय से प्राप्त किये हुए धन का दान निष्फल हो जाता है। दुःख से कमाये हुए धन के विषय में व्यास जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "दुःख सह कर कमाये हुए धन का परित्याग करना अत्यन्त कठिन है। दान से बढ़कर दूसरा कोई दुष्कर कार्य नहीं है। इसलिये मेरे मत में दान ही

८०—यो ब्राह्मदेयां तु ददाति कन्यां
भूमिप्रदानं च करोति विप्रे।
ददाति दानं विधिना च यश्च
स लोकमाप्नोति पुरंदरस्य ॥१५

वनपर्व—अध्याय १८६, श्लो० १५

८१—लोकास्त्रयस्तेन भवन्ति दत्ता
यः काञ्चनं गाश्च महीं च दद्यात् ॥१२८

वनपर्व—अध्याय २००, श्लो० १२८,१२४,१२५,१२७

और कीर्ति का तीनों लोकों में सदा ही विस्तार होता रहता है। अन्न और जल का दान सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि मनुष्य का जीवन इन्हीं से धारण होता है। सहस्र गौ के दान का महत्त्व बताते हुए वशिष्ठ जी ने कहा कि "सहस्र गौओं का दान करने वाले मनुष्य जहाँ सोने के महल हैं, जहाँ स्वर्गगंगा बहती है तथा जहाँ गन्धर्व और अप्सरायें निवास करती हैं, उस स्वर्गलोक में जाते हैं।"[८५] दीपक के दान की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्म जी ने कहा कि "दीप-दान करने वाले मनुष्य निश्चय ही पूर्ण चन्द्रमा के समान कान्तिमान् होते हैं।"[८६] धर्ममूलक दान वह है जिसमें मनुष्य ईर्ष्या रहित होकर ब्राह्मणों को दान देता है। अपनी कीर्ति को सुनने की इच्छा वाला मनुष्य यदि याचक को दान देता है तो वह अर्थमूलक दान होता है। जो दान यह सोच कर दिया जाता है कि यदि इस याचक को मैं दान नहीं दूँगा तो यह मेरा अनिष्ट कर देगा, इस भय से विद्वान् मनुष्य मूर्ख को भी दान दे देते हैं, तो वह भय-मूलक दान कहलाता है। अपने प्रिय मित्र की भलाई सोच कर जो मित्र को दान देता है, वह कामनामूलक दान है। अधिक गरीब को देखकर दयावश जो दान देता है, वह दयावश दान कहलाता है। यह धर्म, अर्थ, भय, कामना और दया ये पाँच प्रकार का दान पुण्य और कीर्ति बढ़ाने वाला है। मनुष्य को दान में अपने घर की प्रिय से प्रिय वस्तु भी दे देनी चाहिए। श्रेष्ठ ब्राह्मणों की सेवा में अपने पुत्र और अपने शरीर को भी अर्पण कर देना चाहिए। तीन पदों की श्रेष्ठता बताते हुए व्याध ने मार्कण्डेय जी से कहा कि "श्रेष्ठ पुरुष तीन ही पद बताते हैं—किसी से द्रोह न करे, दान करे और सदा सत्य बोले यह श्रेष्ठ पुरुषों का सर्वोत्तम व्रत है।"[८७] तीनों लोकों में दान से बढ़ कर

८५—प्रासादा यत्र सौवर्णा वसोर्धारा च यत्र सा।
गन्धर्वाप्सरसो यत्रतत्र यान्ति सहस्रदाः ॥५
अनुशासनपर्व—अध्याय ८०, श्लो० ५

८६—पूर्णचन्द्रप्रतीकाशा दीपदाश्च भवन्त्युत ॥४०
अनुशासनपर्व—अध्याय १००, श्लो० ४०

८७—त्रीण्येव तु पदान्याहुः सतां व्रतमनुत्तमम्।
न चैव द्रुह्येद् दद्याच्च सत्यं चैव सदा वदेत् ॥
वनपर्व—अध्याय २०७, श्लो० ९३½

शाश्वत पुण्यदायक कर्म दूसरा नहीं है। इसलिए उत्तम बुद्धिवाले पुरुष संसार दान को ही सर्वोत्कृष्ट पुण्यकर्म बताते हैं।

७ – गुरुजनों की सेवा तथा पूजा करना धर्म है–

भारतीय संस्कृति में गुरुजनों की सेवा तथा पूजा करना धर्म माना जाता है। प्रत्येक बालक बचपन से ही अपने माता-पिता तथा गुरु का आदर करता है। पाठशाला पढ़ने के लिए जाता है तो प्रथम जाकर गुरु को प्रणाम करता है तथा उनके चरणों को छूता है। पूजने योग्यों के विषय में बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "आचार्य, ऋत्विज, सम्बन्धी, स्नातक, प्रियमित्र तथा राजा इन छहों को अर्घ्य देकर पूजने योग्य बताया गया है। ये (छहों) यदि एक वर्ष बिताकर अपने यहाँ आवें तो इनके लिए अर्घ्य निवेदन करके इनकी पूजा करनी चाहिए। ऐसा शास्त्रज्ञ पुरुषों का कथन है।"[८८] सहदेव ने आचार्य, पिता, गुरु, पुजनीय तथा अर्घ्य निवेदन के सर्वथा योग्य भगवान् श्री कृष्ण की पूजा की।

सभा में आये हुए ब्राह्मणों और क्षत्रियों में विशिष्ट व्यक्तियों को पहचान कर सहदेव ने क्रमशः पूज्य व्यक्तियों की पूजा करके अर्घ्यनिवेदन का कार्य किया। भारतीय संस्कृति में ऐसी धारणा है कि पूज्य लोगों को सब कुछ भेंट कर देना चाहिए। श्रीकृष्ण ने चण्डकौशिक मुनि के आगमन की बात मगध देश के राजा के यहाँ की पूजा आदि के विषय में कहा कि "पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय आदि के द्वारा राजा ने महर्षि का पूजन किया और अपने सारे राज्य के सहित पुत्र को उन्हें सौंप दिया।"[८९] देवताओं की पूजा के विषय

८८—आचार्यमृत्विजं चैव संयुजं च युधिष्ठिर ।
स्नातकं च प्रियं प्राहुः षडर्घ्यार्हान् नृपं तथा ।।२३
एतानर्घ्यानभिगतानाहुः संवत्सरोषितान् ।
सभापर्व—अध्याय ३६, श्लो० २३, २३½

८९—पाद्यार्घ्याचमनीयैस्तमर्चयामास भारत ।
स नृपो राज्यसहितं पुत्रं तस्मै न्यवेदयत् ।।३
सभापर्व—अध्याय १९, श्लो० ३

में वैशम्पायन ने जनमेजय से कहा कि "कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर ने अनेक प्रकार के वाजे तथा भांति-भाँति के दिव्य सुगन्धित पदार्थों द्वारा उस भवन में देवताओं की स्थापना एवं पूजा की।"[९०] वैशम्पायन ने जनमेजय से श्रीकृष्ण की पूजा का वर्णन इस प्रकार किया कि "उन यदुश्रेष्ठ ने प्रचुर पुष्प-माला, जप, नमस्कार और चन्दन आदि अनेक प्रकार के सुगन्धित पदार्थों द्वारा देवताओं और ब्राह्मणों की पूजा की।"[९१]

धर्मव्याध केवल अपने माता-पिता की सेवा में ही लगा रहता था। पतिव्रता के कहने से जब कौशिक ब्राह्मण धर्मव्याध के पास धर्म का उपदेश सुनने गये तब धर्मव्याध ने उनसे कहा कि संसार में माता-पिता की सेवा से वढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है। उसने कहा कि "ब्राह्मण! माता-पिता की सेवा ही मेरी तपस्या है। इस तपस्या का प्रभाव देखिये। मुझे दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गई। जिसके कारण उस पतिव्रता ने आप को मिथिलापुरी भेजा।"[९२] धर्मव्याध ने अपनी दिव्यदृष्टि से जान लिया था कि इन कौशिक जी ने अपने माता-पिता की उपेक्षा की है। तव उसने कहा कि आपने अपने माता-पिता की आज्ञा लिये विना ही घर छोड़ दिया और वेदाध्ययन के लिए आ गये। आपके शोक से वे दोनों बूढ़े एवं तपस्वी माता-पिता अन्धे हो गये हैं। इसलिए माता-पिता को सन्तुष्ट किये विना आपका यह सारा धर्म और व्रत व्यर्थ

९०—वादित्रैर्विविधैर्दिव्यैर्गन्धैरुच्चावचैरपि।
पूजयित्वा कुरुश्रेष्ठो दैवतानि निवेश्य च॥६
सभापर्व—अध्याय ४, श्लो० ६

९१—अर्चयामास देवांश्च द्विजांश्च यदुपुङ्गवः।
माल्यजाप्यनमस्कारैर्गन्धैरुच्चावचैरपि॥११
सभापर्व—अध्याय २, श्लो

९२—प्रवृत्तचक्षुर्जातोऽस्मि सम्पश्य तपसो वलम्
यदर्थमुक्तोऽसि तया गच्छ त्वं मिथिला
वनपर्व—अध्याय २१५,

६३—मातापित्रोः सकाशं हि गत्वा त्वं द्विजसत्तम ।
अतन्द्रितः कुरु क्षिप्रं मातापित्रोर्हि पूजनम् ।।
अतः परमहं धर्मं नान्यं पश्यामि कंचन ।।१३

वनपर्व—अध्याय २१५, श्लो० १३

६४—एतौ मे परमं ब्रह्मन् पिता माता च दैवतम् ।
एतौ पुष्पैः फलै रत्नैस्तोषयामि सदा द्विज ।।२१

वनपर्व—अध्याय २१४, श्लो० २१

६५—अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते कीर्तिरायुर्यशो बलम् ।।७४

उद्योगपर्व—अध्याय ३९, श्लो० ७४

गुरु।"[९६] जो इन सबके प्रति उत्तम बर्ताव करेगा, उस गृहस्थ-धर्म का पालन करने वाले के द्वारा सदा सब अग्नियों की सेवा सम्पन्न होती रहेगी। यह सबका सनातन धर्म है। गुरु की सेवा से अनेक शिष्य विद्वान् बन गये। गुरु के सन्तोष से वेद नामक शिष्य ने श्रेय तथा सर्वज्ञता प्राप्त की थी। गुरु की सेवा तथा आज्ञा से उपमन्यु को दुबारा नई आँखें प्राप्त हुई। इस प्रकार बड़ों की सेवा करने से मनुष्य का मन तो प्रसन्न होता ही है, साथ-साथ उसे अनेक लाभ होते हैं, जो प्रत्यक्ष में दिखाई नहीं देते। जो मनुष्य माता-पिता को सन्तुष्ट करता है, उसकी कीर्ति इस लोक में तो फैलती ही है, उसका फल उसे परलोक में भी प्राप्त होता है। इसलिए सबको बड़ों की सेवा करनी चाहिए तथा उनका आदर सम्मान भी पूर्ण रूप से करना चाहिए।

———

९६—पंचैव गुरवो ब्रह्मन् पुरुषस्य बुभूषतः।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च द्विजसत्तम ॥२७
वनपर्व—अध्याय २१४, श्लो० २७

अध्याय—७

महाभारत में वर्ण-धर्म

१—वर्णों की व्यवस्था—

पिछले अध्यायों में यह विस्तार पूर्वक स्पष्ट किया जा चुका है कि महाभारत और धर्म-शास्त्रों में धर्म का अर्थ ईश्वर के किसी विशेष रूप की उपासना की विशेष प्रणाली नहीं है। महाभारत और धर्मशास्त्रों का धर्म-मानव धर्म है। मनुष्य के कर्तव्य और आचार के रूप में उसकी व्याख्या की गई है। सामाजिक जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्य के कर्तव्य के रूप में जो उचित है, वही उसका 'धर्म' है। धर्म की इस व्यावहारिक व्यवस्था के लिए धर्म-शास्त्रों में मनुष्य-समाज का विभाजन चार भागों में किया गया है। उन्हें चार वर्ण कहते हैं। मानवीय जीवन और समाज के लिए चार मुख्य कर्तव्य हैं—विद्या, रक्षा, व्यापार और सेवा, इन्हीं के आधार पर चार वर्णों में समाज का विभाजन किया गया है। चार वर्णों के उक्त मुख्य कर्त्तव्यों को पूर्ण और पुष्ट बनाने के लिए इनके सहकारी कर्तव्यों अथवा धर्मों की व्यापक व्यवस्था धर्म-शास्त्रों में की गई है। इस सम्बन्ध में महाभारत की मान्यतायें धर्म-शास्त्रों के बहुत कुछ समान हैं। महाभारत में भी धर्म-शास्त्रों के समान चार वर्णों को मानकर उनके कर्तव्य-धर्मों का वर्णन किया गया है।

वर्ण-व्यवस्था हिन्दू धर्म-शास्त्र और हिन्दू समाज की एक ऐसी विशेषता है, जिसका उदाहरण अन्य किसी देश में नहीं मिलता। अन्य देशों में भी कुछ विभाजन समाज में मिलते हैं। किन्तु उन विभाजनों का ऐसा धार्मिक अथवा सांस्कृतिक महत्व नहीं है, जैसा कि हिन्दू समाज की परम्परा में रहा है।

भारतवर्ष में कुछ विशेष परिस्थितियों और विशेष कारणों से वर्ण-विभाजन एक अत्यन्त सूक्ष्म जटिल और कठोर व्यवस्था के रूप में स्थापित होगया। आधुनिक काल में अधिकांश विचारक वर्ण-व्यवस्था को भारतीय समाज का दोष मानते हैं। किन्तु धर्म और संस्कृति की रक्षा में वर्ण-व्यवस्था ने इतिहास के कठिन युगों में हिन्दू समाज का उपकार भी किया है। प्रायः वर्ण-व्यवस्था को सामाजिक विषमता की दृष्टि से ही देखा जाता है। किसी सीमा तक यह सत्य भी है कि वर्ण-व्यवस्था के कारण हिन्दू-समाज में सामाजिक विषमता उत्पन्न हुई। किन्तु दूसरी ओर भारतवर्ष में वर्ण-व्यवस्था की स्थापना के धार्मिक और सांस्कृतिक कारणों का विचार करना तथा धर्म एवं संस्कृति की रक्षा में वर्ण-व्यवस्था के योग का मूल्यांकन भी अपेक्षित है।[1]

वर्ण-विभाजन की जो व्यवस्था भारतीय परम्परा में मिलती है, उसमें समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया है। वर्ण चार ही हैं। जातियों की संख्या बहुत अधिक है। अतः वर्ण का अर्थ जाति लगाना उचित नहीं है। जन्म से वर्ण मानने के कारण वर्ण और जाति एक दूसरे के पर्याय बन गये। किन्तु धर्म-शास्त्रों में प्रायः 'वर्ण' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। ये वर्ण चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। भारतीय धर्म-शास्त्र जीवन की एक-रूपता में विश्वास नहीं करता। जीवन के अनेक लक्ष्य, रूप और कर्म हैं। यह अनेकता स्वाभाविक है। साथ ही यह जीवन में सौन्दर्य का विधान करती है। इस अनेकता के अनुरूप धर्म-शास्त्रों में जीवन के पुरुषार्थों, आयु के आश्रमों और समाज के वर्णों का चतुर्विध विभाजन किया गया है। पुरुषार्थों का विभाजन जीवन के लक्ष्यों की दृष्टि से है। जीवन के प्रमुख लक्ष्य चार वर्णों में समाहित हैं। आश्रमों का विभाजन जीवन की सफलता और पूर्णता की दृष्टि से है। वर्णों का विभाजन सामाजिक कर्मों की अनेकरूपता की दृष्टि से है। किन्तु कुछ लोगों का विचार है कि यह समाज में विषमता का कारण बना। यह किसी अंश में सत्य है। किन्तु वर्ण-विभाजन का अभिप्राय समाज में श्रम-विभाजन की भांति कर्म-विभाजन था। प्राचीन काल में वर्ण-व्यवस्था

१—डा० राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलासफी—भाग १, पृष्ठ ११२, ११३

का आधार कर्म ही था। गीता में इसका स्पष्ट संकेत मिलता है।[२] गीता ने जन्म का आधार न मान कर वर्ण-व्यवस्था को पुनः कर्म का आधार प्रदान करने का प्रयत्न किया है। प्राचीन वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था इतनी कठोर न थी।[3] कोई भी अपने कर्म और स्वभाव के अनुसार किसी वर्ण को ग्रहण कर सकता था। वर्ण जन्म पर आश्रित न था। वेद में एक ऐसे व्यक्ति का उल्लेख है जो यह कहता है कि मैं एक कवि हूँ, मेरा पिता वैद्य है और मेरी माता अन्न कूटती है।[४] संभवतः धर्म शास्त्रों और स्मृतियों के काल में वर्णव्यवस्था का आधार जन्म बन गया। इसका कारण मुख्यतः कुल-परम्परा है। कुल-परम्परा में व्यवसाय सुगम बन जाते हैं। सामाजिक विषमता इसका एक प्रतिकूल परिणाम था। किन्तु मूलतः इस व्यवस्था का आधार कर्म-विभाजन था। धार्मिक और सांस्कृतिक कर्मों की विपुलता वैदिक समाज की एक विशेषता थी। अतः उस समाज में वर्ण-विभाजन और भी अधिक आवश्यक हो गया। विद्या, रक्षा, व्यापार और सेवा के चार मुख्य काम मान कर चार वर्ण माने गये। ब्राह्मण का प्रधान कार्य विद्या पढ़ना और पढ़ाना था, क्षत्रिय का कार्य रक्षा करना, वैश्य का कार्य व्यापार करना तथा कृषि करना था और शूद्रों का काम तीनों वर्णों की सेवा करना था। हर एक के जीवन में ये चारों बातें विद्यमान थीं, परन्तु उस वर्ण के मानव में उस वर्ण के कार्यों का प्राधान्य रहता था तथा अन्य धर्म व कार्य गौण रूप में रहते थे। ब्राह्मण के जीवन में विद्या का, क्षत्रिय के जीवन में रक्षा एवं वीरता का, वैश्य के जीवन में व्यापार व समाज के पालन का तथा शूद्र के जीवन में तीनों वर्णों की सेवा का काम प्रमुख था। सारी वस्तुओं एवं गुणों को जीवन में समानता नहीं मिल सकती। प्रत्येक मनुष्य का कर्म स्वाभावज होता है। अपनी प्रकृति के अनुकूल जो भी कार्य हों, वह कार्य करना ही मानव का धर्म होना चाहिए। इसी गुण की प्रधानता के आधार पर वर्ण-व्यवस्था धर्म-शास्त्रों में स्थिर हुई।

२—चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्॥
गीता—अध्याय—४, श्लोक १३

३—डा० राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफी—भाग–१, पृष्ठ १११

४— ,, ,, पृष्ठ ११२

वर्ण-व्यवस्था के आरम्भिक संकेत ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में मिलते हैं[५] पुरुष सूक्त में समाज की एक विराट पुरुष के रूप में कल्पना की गई है। समाज के चारों वर्ण उस पुरुष के अंगों से उत्पन्न हुये हैं। आदि पुरुष के मुख से ब्राह्मणों का, बाहु से क्षत्रियों का, जंघाओं से वैश्यों का और पैरों से शूद्रों का पैदा होना कहा है।[६] जिस प्रकार से एक मानव के शरीर का निर्माण और संगठन इन अंगों की समष्टि से हुआ है, उसी प्रकार हमारे समाज का निर्माण इन चारों वर्णों के संगठन से हुआ है। ये अलग-अलग स्वतन्त्र रूप में कार्य नहीं कर सकते। मानव-शरीर में मुख को प्रधान मानते हैं, इसी प्रकार मानव-समाज में ज्ञान की प्रधानता होने के कारण ज्ञान के प्रतिष्ठापक ब्राह्मणों को प्रमुख माना गया है। समस्त पदार्थों में जीव श्रेष्ठ है, जीवों में बुद्धि वाले श्रेष्ठ हैं, बुद्धि वालों में से मानव तथा मानवों में भी ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं। ब्राह्मण के जीवन में ज्ञान की ही प्रधानता है। उसके लिए ज्ञान ही उत्कृष्ट है। ज्ञान में जो अपने आप को लगा देता है, वही ब्राह्मण है। बाहुओं से हमारे शरीर की रक्षा होती है, उसी प्रकार क्षत्रिय हमारे समाज की रक्षा करते हैं। जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई है। इस व्यवस्था में शूद्र को कितना महत्त्व दिया गया है। यदि सब लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जायें तो समाज का सारा कार्य बन्द हो जायेगा। समाज शूद्रों के बिना अपनी स्वाभाविक गति से नहीं चल सकता। पुरुष से चार वर्णों की उत्पत्ति का यही महत्व है कि जैसे पुरुष के अलग-अलग अंग होते हुए भी वह एक समिष्ट रूप में ही जीवित रह सकता है। उसी प्रकार समाज भी उसी समय तक अपना अस्तित्त्व रख सकता है, जब तक उसके ये चारों अंग आपस में सामूहिक रूप से समन्वित हों अन्यथा शरीर की भांति ही समाज का भी अस्तित्व मिट सकता है। इनके पारस्परिक सम्बन्ध में ही समाज का कल्याण है। आदिपुरुष से आविर्भूत वर्ण-व्यवस्था का यही मूल मन्तव्य है।

५—ऋग्वेद १०, ९०

६—ऋग्वेद १०, ९०, १२

७—अध्यापयेदधीयीत याजयेत यजेत वा।
न वृथा प्रतिगृह्णीयान्न च दद्यात् कथंचन।
शान्तिपर्व—अध्याय २३४, श्लोक ११

८—अधीयीत क्षत्रियोऽथो यजेत, दद्याद् दान न तु याचेत् किंचित्।
न याजयेन्नापि चाध्यापयीत, एष स्मृतः क्षत्रधर्मः पुराणः॥
तथा राजन्यो रक्षणं वै प्रजानां, कृत्वा धर्मेणाप्रमत्तोऽथदत्वा :
यज्ञैरिष्ट्वा सर्ववेदानधीत्य, दारान् कृत्वा पुण्य कृदावसेद्गृहान्।
स धर्मात्मा धर्ममधीत्यपुण्यं, यदिच्छया व्रजति ब्रह्मलोकम्॥
उद्योग पर्व—अध्याय २९, श्लोक २४

९—वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृपिस्तथा।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च॥
वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रशमो दमः।
विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः॥
अनुशासनपर्व—अध्याय १४१, श्लोक ५४-५५

१०—प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत्।
तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते॥
शान्तिपर्व-अध्याय-६०, श्लोक २८

करना दुष्कर है कि कौनसा वर्ण मुख्य है। क्योंकि एक वर्ण के विना सम्पूर्ण समाज का कार्य ही बन्द रहेगा। यदि हम किसी मानव का सम्मान करते हैं तो अप्रत्यक्ष रूप से उसके गुणों का ही वह सम्मान होता है। यदि हम किसी ब्राह्मण का सम्मान करते हैं, तो इसका अर्थ यह होता है कि हम ज्ञान का सम्मान करते हैं। क्षत्रिय का सम्मान वीरता, शक्ति और शासन का सम्मान है। वैश्य का सम्मान समृद्धि और शूद्र का सम्मान सेवा का ही सम्मान है।

मनुष्य के शरीर के समान एक संगठित समष्टि के रूप में समाज की कल्पना ही वर्ण-व्यवस्था का मौलिक आधार है। चारों वर्ण समाज के अभिन्न और महत्वपूर्ण अंग है, जिस प्रकार शीष, बाहु, जंघा और पैर शरीर के अंग होते हैं। सब अंगों की सुव्यवस्था से और उनके द्वारा अपना कार्य ठीक करने से शरीर स्वस्थ रहता है। इसी प्रकार समाज के सभी वर्णों के द्वारा अपना कार्य ठीक करने से समाज स्वस्थ रहता है। समाज-पुरुष की कल्पना में ही शीष के समान ब्राह्मणों की श्रेष्ठता तथा बाहुओं के समान क्षत्रियों की प्रभुता का संकेत भी निहित है। किन्तु मूलतः ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का कारण भारतीय समाज में विद्या और ज्ञा नका महत्व था। ब्राह्मण श्रेष्ठ अवश्य थे किन्तु उन्होंने कोई अधिकार अथवा लाभ नहीं लिया। वे त्यागमय जीवन व्यतीत करते थे। शूद्रों के साथ इस वर्ण-व्यवस्था में अवश्य कुछ अन्याय हुआ है। किन्तु दूसरी ओर शूद्रों के प्रति सद्‌भाव भी रहा है, जिसकी ओर आलोचकों ने ध्यान नहीं दिया। यह सद्‌भाव अब तक भारतीय समाज के व्यवहार और सम्बन्धों में विद्यमान था। शूद्रों के साथ जो अन्याय हुआ है, उसके भी कुछ विशेप कारण रहे हैं, जिन पर प्रायः विचार नहीं किया जाता। पवित्रता, शुद्धता आदि की उत्कृष्ट धारणा तथा ज्ञान धर्म और संस्कृति की जटिलतायें इन कारणों में मुख्य हैं।

२—द्विजों का प्रभुत्व और शूद्रों का हीन स्थान—

वर्ण-व्यवस्था में सबसे अधिक दोपपूर्ण द्विजों का प्रभुत्व तथा शूद्रों का हीन स्थान माना जाता है। ब्राह्मण,क्षत्रिय और वैश्य ये तीन उच्च वर्ण 'द्विज' कहलाते हैं 'द्विज' का अर्थ 'दो जन्म वाला' है। दाँत और पक्षी दो वार जन्म लेते हैं। इसीलिए उन्हें भी 'द्विज' कहते हैं। उपनयन आदि संस्कार होते हैं तव मनुष्य का दूसरा जन्म होता है और वह द्विज बनता है। शूद्रों के उपनयन

संस्कार नहीं होते। इसलिये वे द्विज नहीं बनते। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन के उपनयन आदि संस्कार होते हैं। अतः वे 'द्विज' कहलाते हैं। ये तीन द्विज वर्ण उच्च और श्रेष्ठ माने जाते हैं। इनमें भी ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। किन्तु ये तीनों ही द्विज वर्ण शूद्रों से उच्च हैं। सामाजिक व्यवहार में ये तीनों ही शूद्रों के साथ थोड़ा बहुत अन्याय करते रहे हैं। शूद्रों का कर्म 'सेवा' बताया गया है, किन्तु अपनी इच्छा से कोई 'सेवा' को पसन्द नहीं करता। किसी न किसी सामाजिक और आर्थिक दबाव से शूद्र सेवा आदि के निम्न कर्म करने के लिये विवश हुये हैं। अन्य वर्णों के कर्मों में इतनी विवशता नहीं है। उनमें कुछ उत्तरदायित्व हैं तो कुछ-कुछ सुविधायें तथा कुछ लाभ भी हैं। क्षत्रियों को शासन का तथा वैश्यों को सम्पत्ति का गौरव मिला। ब्राह्मणों को भी सम्मान का लाभ मिला, यद्यपि सम्पत्ति और अधिकार की दृष्टि से वे त्यागी रहे।

फिर भी प्रायः वर्णों के सम्बन्ध में यही माना जाता है कि ये कर्म विभाजन के आधार पर बने। द्विजों के सम्बन्ध में तो यह अधिक सत्य है। वे कर्म के आधार पर ही तीन वर्णों में विभाजित हुये हैं। एक ओर धर्मशास्त्र यह कहते हैं कि संस्कार से ब्राह्मण द्विज बनते हैं।[११] दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि पहले सभी ब्राह्मण थे। फिर कर्म-भेद से चार वर्ण बन गये।

इस प्रकार वर्णों की उत्पत्ति कैसे हुई इस विषय में भारद्वाज ऋषि ने भृगु से पूछा तो उन्होंने कहा कि "मुने! पहले वर्णों में कोई अन्तर नहीं था, ब्रह्माजी से उत्पन्न होने के कारण यह सारा जगत् ब्राह्मण ही था। पीछे विभिन्न कर्मों के कारण उनमें वर्णभेद हो गया।"[१२] "जो मनुष्य अपने ब्राह्य-

---

११—जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च॥

काणेः धर्मशास्त्र—भाग १, पृष्ठ १८६, अत्रि—१४१-१४२

१२—न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥

शान्तिपर्व—अध्याय १८८, श्लो० १०

णोचित धर्म का परित्याग करके विषय-भोग के प्रेमी, क्रोधी, तीखे स्वभाव वाले और साहस का काम पसन्द करने वाले हो गये, वे ब्राह्मण क्षत्रिय-भाव को प्राप्त हो गये। जिन्होंने गौओं से तथा कृषिकर्म के द्वारा जीविका चलाने की वृत्ति अपना ली तथा जो ब्राह्मणोचित धर्म को छोड़ बैठे, वे ही ब्राह्मण वैश्य-भाव को प्राप्त हुए। इसी प्रकार जो शौच और सदाचार से भ्रष्ट होकर हिंसा और असत्य के प्रेमी हो गये, लोभवश व्याधों के समान सभी तरह के निन्द्य-कर्म करके जीविका चलाने लगे, वे ब्राह्मण शूद्रभाव को प्राप्त हुए।"[१३] पवित्रता और सत्यता तथा ज्ञान के कारण तीनों द्विज श्रेष्ठ कहलाने लगे और असत्यता और अज्ञान के कारण शूद्र निम्नकोटि में आ गये और इन तीनों द्विजों की सेवा का कार्य ही उनका प्रधान कार्य रह गया। उनकी अपवित्रता केकारण ही वे वेद पढ़ने से वंचित रखे गये तथा असत्यता और निन्दनीय कार्य करने के कारण ही शूद्रों को हीन समझा जाने लगा।

वैदिक काल में जब जन्म से जाति नहीं बनी थी, तब तो कोई भी शूद्र का लड़का अपने ज्ञान और सत्यता के कारण ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो सकता था और पहले कई क्षत्रिय राजा ब्राह्मणों के समान तपस्या का जीवन बिताकर ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए।

जैसे राजा विश्वामित्र, क्षत्रिय होते हुए ज्ञान और तपस्या के कारण ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो गये थे। किन्तु स्मृतिकाल में जब जन्म से जाति बन गई, तब शूद्रों का जीवन शूद्रता में ही बँध गया और वे श्रेष्ठ कार्य करके भी अपनी जाति को नहीं बदल सके। जो मनुष्य जिस जाति में उत्पन्न होता था, वह फिर उसी जाति का बना रहने लगा, चाहे वह श्रेष्ठ कार्य करे या अपवित्र

१३—कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः।
त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः॥
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः।
स्वधर्मान् नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः॥
हिंसानृतप्रिया लुब्धा सर्वकर्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः॥

शान्तिपर्व—अध्याय १८८, श्लो० ११-१२-१३

निन्दनीय कार्य करे ऊँचे वर्ग अपने निन्दनीय कार्य से शूद्र न हो सके और श्रेष्ठ कार्यों से शूद्र ऊँचे न बन सके। जन्म से जाति बनने से लोगों को अपनी उन्नति का ध्यान न रहा। पहले क्षत्रिय, वैश्य भी अपने तप, त्याग और ज्ञान से ब्राह्मणत्व को प्राप्त करना चाहते थे, और शूद्रों में भी कई ऐसे लोग हुए हैं, जिन्होंने घोर तपस्यायें करके ब्राह्मणत्व को प्राप्त करने के प्रयत्न किये थे।

वैदिक युग में वर्ण-व्यवस्था जन्म पर आश्रित नहीं थी वरन् मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर थी। कोई भी मनुष्य अपनी इच्छानुसार व्यवसाय चुन सकता था और उस व्यवसाय के लक्षणों अर्थात् चिन्हों से पहचाना जाता था। 'वर्ण' का अर्थ भारतीयों के लिए 'चिन्ह' से था 'रंग' से नहीं था।

'वर्ण' का अर्थ 'रंग' अवश्य है। किन्तु श्वेत को रंग नहीं मानते। काले आदि ही रंग माने जाते हैं। इसीलिये पश्चिमी देशों में काले लोगों को रंग-वाले (कलर्ड) कहा जाता है। भारतीय परम्परा में उच्च जाति के लोगों को सवर्ण कहते हैं। वे प्रायः गौरवर्ण के होते हैं। अतः 'सवर्ण' का अर्थ 'रंग-वाले' या 'काले-रंग' के नहीं हो सकता। 'वर्ण' का अर्थ 'चिन्ह' ही करना उचित है। प्रत्येक वर्ण के कुछ चिन्ह अथवा लक्षण होते थे, जिनसे वह वर्ण पहचाना जाता था। रंग-भेद के आधार पर वर्ण व्यवस्था बनी है, यह मत समीचीन नहीं है। रंग-भेद के आधार पर शूद्रों को निम्न वर्ण में डाल दिया गया हो, यह तो सम्भव हो सकता है।

वर्ण-व्यवस्था में जो उच्चस्थान द्विजों को दिया गया है उसका कारण उनके श्रेष्ठ कर्म ही थे तथा शूद्रों को जो हीन पद दिया गया है, उसका कारण वर्ण-व्यवस्था की योजना नहीं है वरन् उसका कारण कुछ सामाजिक परिस्थितियाँ हैं, जो अन्य देशों में भी अन्य रूपों में पाई जाती हैं। समाज के कुछ वर्णों का निर्यातन और शोषण भारतवर्ष की ही विशेषता नहीं है। अन्य रूपों में वह सभी देशों के समाजों में मिलता है, इसी कारण संसार के अनेक देशों में साम्यवादी और समाजवादी प्रवृत्तियों का विकास हुआ है।

भारतीय समाज में वैदिक काल से ही आचार की स्वच्छता और पवित्रता का अत्यन्त महत्व रहा है। यह स्वच्छता और पवित्रता धर्म एवं संस्कृति का अंग है। निम्न और मलिन कर्म करने के कारण शूद्रों के लिए इतनी स्वच्छता और पवित्रता रखना सम्भव नहीं था। सम्पन्न तथा

मलिन कार्यों से मुक्त रहने के कारण उच्च द्विज वर्ण के लोग अधिक स्वच्छ और पवित्र रह सकते थे। अतः वे शूद्रों को अलग रखते थे। सेवा कर्म और मलिनता के कारण शूद्र निम्न वर्ण में रह गये। उन्हें वेदाध्ययन से भी वंचित कर दिया गया। सामाजिक परिस्थितियों के दबाव के कारण वे सदा हीन बने रहे। उच्च अपनी श्रेष्ठता का गर्व करते रहे। कोई किसी दुर्भावना अथवा द्वेष के कारण द्विजों ने शूद्रों के साथ अन्याय नहीं किया। अब तक शूद्रों के प्रति द्विजातियों के 'भाव' में बहुत कुछ मानवीयता रही थी। फिर भी इतना अवश्य है कि अपनी सुविधा और श्रेष्ठता के कारण वे समाज के इस वर्ग की हीनता को सहन करते रहे।

भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था के विकास के कुछ विशेष कारण हैं। इन कारणों को सांस्कृतिक कहना अधिक उचित होगा। संस्कृति में धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि सभी सम्मिलित हैं। किन्तु सामान्यरूप से प्राकृतिक आकांक्षाओं से भिन्न मनुष्य-जीवन की साधना की जो दिशायें हैं, उन्हें हम सांस्कृतिक कह सकते हैं। प्राकृतिक सुख, स्वार्थ, अधिकार आदि से भिन्न जीवन की साधना की दिशायें ही सांस्कृतिक कहलाने की अधिकारी हैं। भारतीय जीवन की प्रमुख विशेषता यही है कि उसका दृष्टिकोण संसार के सभी देशों की अपेक्षा अधिक सांस्कृतिक रहा है। संसार के प्राचीन देशों में कला साहित्य आदि के उदाहरण अवश्य मिलते हैं। किन्तु किसी भी देश में न इतने विपुल परिमाण में प्राचीन साहित्य मिलता है और न साधारण जीवन का स्वरूप इतना अधिक सांस्कृतिक है। भारतवर्ष को छोड़कर सभी प्राचीन देश राज्य के विस्तार में लगे रहे, जो जीवन की एक प्राकृतिक दिशा है। प्राचीन भारत में जिस प्रकार वेदों और पुराणों के रूप में एक विपुल लोक-साहित्य मिलता है, वैसा संसार के किसी प्राचीन समाज में नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त लौकिक जीवन के साधारण क्रम में संस्कृति का जितना विपुल सौन्दर्य समाहित है, वैसा भी किसी देश में नहीं मिलता। वर्ण-व्यवस्था की योजना भारतवर्ष के इसी विशेष सांस्कृतिक दृष्टिकोण का फल है।

३—ब्राह्मणों का प्रभुत्व—

ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का कारण कोई जातीय द्वेष या मानवीय अन्याय नहीं है जैसा कि प्रायः कुछ लोग समझते हैं, वरन् उसका कारण प्राचीन भारतीय समाज में विद्या और साधना का व्यापक महत्व और प्रचार है। इस

वर्ण-विभाजन के कारण श्रेष्ठ बन कर ब्राह्मणों ने कोई लौकिक लाभ नहीं उठाया, वरन् तप और त्याग का जीवन स्वीकार करके संस्कृति, विद्या और साधना की उस परम्परा का युगों तक पोषण किया, जिनका संरक्षण आज हमारी सरकार और हमारा समाज अपनी सम्पूर्ण शक्ति और अपने सम्पूर्ण साधनों के द्वारा करने में असमर्थ है। इस असमर्थता का कारण केवल एक है, लौकिक लाभ का दृष्टिकोण अपना लेने पर कोई भी समाज अपनी संस्कृति की रक्षा नहीं कर सकता। तप और त्याग के दृष्टिकोण से ही संस्कृति का विकास और संरक्षण सम्भव है। ब्राह्मणों के प्रभुत्व का कारण प्राचीन भारतीय समाज में संस्कृति का महत्व ही था। प्राचीन संस्कृति में विद्या, साधना, धर्म और आचार का बहुत व्यापक महत्व होने के कारण उसका संरक्षण और प्रचार करने वाला एक पृथक वर्ग बन गया, जिसे ब्राह्मण वर्ग का नाम मिला। विद्या और संस्कृति में पूर्णतः संलग्न हो जाने के कारण यह वर्ग अन्य किसी कार्य में योग नहीं दे सकता था। इसी प्रकार देश की रक्षा और व्यापार के लिए दो अलग वर्ग बन गये। विद्या की श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का कारण उनकी त्यागमयी वृत्ति है। वे अपने व्रतों का पालन दृढ़ता से करते थे, वे शास्त्रों के निर्माता और परम यशस्वी होते थे। वे दया के कारण समस्त भूतों के लिए सुखदायी हैं। ब्राह्मणों की महिमा बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि "सदा तपस्या उनका धन और वाणी उनका महान् बल है। वे धर्मों की उत्पत्ति के कारण, धर्म के ज्ञाता और सूक्ष्मदर्शी हैं।"[१४] उनकी इच्छा सदा धर्म के कार्यों के करने की ही होती है। वे सदा पुण्यकर्मों द्वारा धर्म में ही स्थित रहने वाले और धर्म के सेतु हैं। उन्हीं का आश्रय लेकर चारों प्रकार की सारी प्रजा जीवन धारण करती है। ब्राह्मण अपने पूर्वजों की चलायी हुई भारी धर्म मर्यादा का भार सदा वहन करते हैं। वे सबके पथप्रदर्शक हैं; सबके नेता हैं और सनातन यज्ञ के करने वाले हैं। ब्राह्मण सदा धर्म का भार वहन करते है,उन्हें धर्म का भार

१४—तपो येषां धनं नित्यं वाक् चैव विपुलं बलम् ।
प्रभवश्चैव धर्माणां धर्मज्ञाः सूक्ष्मदर्शिनः ॥

अनुशासनपर्व—अध्याय १५१, श्लोक ६

सहन करने में कष्ट का अनुभव नहीं होता है। वे सम्पूर्ण जगत के लिए दीप की भाँति प्रकाशक तथा नेत्रवालों के भी नेत्र हैं अर्थात् नेत्रवालों को भी सही सही धर्म का मार्ग वताने वाले हैं। ब्राह्मण सवको शिक्षा देने वाले हैं। वेद ही उनका धन है। वे शास्त्रज्ञान में कुशल, मोक्षदर्शी समस्त भूतों की गति के ज्ञाता और अध्यात्म-तत्व का चिन्तन करने वाले हैं। श्रेष्ठ ब्राह्मण सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त और निष्पाप हैं। उनके चित्त पर द्वन्दों का प्रभाव नहीं पड़ता। वे सब प्रकार के परिग्रह का त्याग करने वाले और सम्मान पाने योग्य हैं। ब्राह्मण आदि, मध्य और अन्त के ज्ञाता, संशयरहित, भूत-भविष्य का विशेष ज्ञान रखने वाले तथा परम गति को जानने वाले और पाने वाले होते हैं।"[१५] ज्ञानी मनुष्य इन्हीं सब श्रेष्ठ कारणों के कारण सदा ब्राह्मणों का आदर करते हैं। इन्हीं श्रेष्ठ गुणों और त्याग-तपस्या के जीवन के कारण ब्राह्मणों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। किसी भी कार्य में ब्राह्मणोंका स्वयं का स्वार्थ विल्कुल नहीं होता। स्वार्थ रहित स्वभाव होने के कारण ही दूसरे लोग उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखते हैं और उन्हें अपना व देशका हित-कारी देवता मानते हैं। परोपकारी व त्यागमयी साधना के कारण ही ब्राह्मण इस पृथिवी के देवता कहलाने लगे हैं।

१५—धर्मकामाः स्थिता धर्मे सुकृतैर्धर्मसेतवः ।
यान् समाश्रित्य जीवन्ति प्रजाः सर्वाश्चतुर्विधाः ॥

पन्थानः सर्वनेतारो यज्ञवाहाः सनातनाः ।
पितृपैतामहीं गुर्वीमुद्वहन्ति धुरं सदा ॥

दीपः सर्वस्य लोकस्य चक्षुश्चक्षुष्मतामपि ।
सर्वशिक्षा श्रुतिधना निपुणा मोक्षदर्शिनः ।
गतिज्ञः सर्वभूतानामध्यात्मगतिचिन्तकाः ॥

आदिमध्यावसानानां ज्ञातारश्छिन्नसंशयाः ।
परावरविशेषज्ञा गन्तारः परमां गतिम् ॥

विमुक्ता धूतपाप्मानो निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ।
मानार्हा मानिता नित्यं ज्ञानविद्भिर्महात्मभिः ॥

अनुशासनपर्व—अध्या० १५१, श्लो० ७,८,१०,११,१२,१३

धर्म-शास्त्रों और महाभारत में ब्राह्मणों को उनके गुण और कर्तव्य के कारण ही श्रेष्ठ माना गया है। जो ब्राह्मण उक्त गुणों से सम्पन्न हैं तथा जो उक्त कर्तव्यों का पालन करते हैं वे ही सच्चे ब्राह्मण हैं। ऐसे ब्राह्मण प्राचीन काल में बहुत रहे हैं। ऐसे ही ब्राह्मणों ने प्राचीन काल में विद्या, साधना और संस्कृति का विस्तार किया था। आज इसी ब्रह्मभाव के अभाव के कारण भारतीय संस्कृति का संरक्षण कठिन हो रहा है। प्राचीन भारतीय समाज में विद्या, त्याग और तप का आदर था, अतः ब्राह्मण इनकी साधना में सन्तुष्ट रहे। वर्तमान युग में वैभव और सत्ता का मान होने के कारण विद्या, त्याग और तप का मूल्य घट रहा है। अतः ब्राह्मण भी अपने धर्म से च्युत हो रहे हैं। यह प्राचीन भारतीय संस्कृति के लिये हितकारक नहीं है किन्तु यह समय की अनिवार्य गति दिखाई देती है।

४—शूद्रों का हीन स्थान—

वर्ण व्यवस्था का सबसे अधिक शोचनीय और आपत्तिजनक पक्ष शूद्रों का हीन स्थान है। इसमें सन्देह नहीं कि चतुर्थ वर्ग के साथ भारतीय समाज में बहुत अन्याय हुआ है। जहाँ तक आर्थिक और सामाजिक अन्याय का प्रश्न है, वह दूसरे देशों में भी रहा है। किन्तु भारतीय समाज में शूद्रों का तिरस्कार कुछ अधिक रहा है। इसके कुछ कारण तो विदेशों के ही समान हैं, किन्तु कुछ अन्य कारण भारतीय समाज में विशेष रूप से मिलते हैं। विद्या, साधन और आचार का विपुल महत्व एक ओर जहाँ उच्च वर्गो की श्रेष्ठता का कारण बना, वहाँ दूसरी ओर उसने हीन वर्ग को हीनतर बनाया। धर्म और अध्यात्म की प्रधानता के कारण विद्या, साधना और संस्कृति में आचार की बाह्य पवित्रता, स्वच्छता शुद्धता का महत्व बहुत रहा। मलिन कार्य करने वाले शूद्रों के साथ उच्च वर्गों का सम्बन्ध इस कारण और भी दूर हो गया। बाह्य स्वच्छता का एक उच्च आदर्श शूद्रों के तिरस्कार का एक प्रधान कारण है। भारतीय समाज में कृषि के विस्तार के साथ मांसाहार कम होने पर उच्च वर्ग की स्वच्छता का आदर्श अधिक ऊँचा तो गया तथा शूद्रों का तिरस्कार और बढ़ गया। दूसरे देशों में निम्नवर्ग के साथ ऐसा व्यवहार न होने का कारण उन देशों की श्रेष्ठतर मानवीयता नहीं, वरन् इसका कारण उन देशों में विद्या और संस्कृति का इतना व्यापक प्रचार न होना तथा उनमें आध्यात्मिकता का प्रधान स्थान न होना और आचरणगत

शुद्धता का कठोर आग्रह न होना है। इसके अतिरिक्त उन देशों में मांसाहार का प्रचार, पवित्रता के लिए विशेष आग्रह न होना आदि निम्नवर्ग के तिरस्कार में बाधक रहा।

भारतीय समाज की इस विडम्बना को ठीक-ठीक समझने में उक्त कारणों को न समझने के कारण प्रायः सभी विदेशी विद्वानों ने भूल की है। शूद्रों की स्थिति को उच्चवर्ग का घोर अन्याय माना जाता है। परिणाम की दृष्टि से इस अन्याय में कोई सन्देह नहीं है। किन्तु जिन परिस्थितियों के कारण वह पैदा हुआ उनमें अमानवीयता का उद्देश्य खोजना समाज का सही अध्ययन नहीं है। पिछले अनेक दशकों में जिन लोगों ने शूद्रों के प्रति उच्च वर्ग की भावनाओं को निकट से देखा है, वे इस तथ्य को प्रमाणित कर सकते है कि शूद्रों के प्रति उच्च वर्गों की भावना में मानवीयता का अभाव नहीं था। इस प्रकार विद्या और आचार के उच्च आदर्शों के आधार पर भारतीय समाज में इस वर्ग विभाजन की सृष्टि हुई। इस विभाजन को तो पूर्णतः न्याय संगत तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु इसमें अन्याय का आग्रह रहा है, ऐसा कहना भी अनुचित है। मानवीयता के अभाव का दोषारोपण भी संगत नहीं है। इतना अवश्य कहना होगा कि विद्या और संस्कृति का यह उच्चादर्श तथा इसमें अन्तर्निहित मानवीयता सम्पूर्ण भारतीय समाज के लिए समानरूप से हितकारी नहीं बन सकती है। इसका अभिप्रायः यही है कि अनेक प्रकार से उपयोगी होते हुए भी इस वर्ण-व्यवस्था में कुछ दोष अवश्य हैं। भारतीय समाज के पुनर्गठन में इस व्यवस्था का पूर्ण उच्छेद करने की अपेक्षा इन दोषों का परिहार करके एक श्रेष्ठतर समाज का निर्माण करना अधिक हितकर होगा। इस प्रकार हमारे दीर्घ इतिहास की सांस्कृतिक परम्परा भी सुरक्षित रह सकती है और उस परम्परा के दोषों का निराकरण करके एक श्रेष्ठतर परम्परा का विकास भी हो सकता है।

समाज के विभिन्न कार्यों के आधार पर समाज का विभाजन इस व्यवस्था की एक विशेषता है। विद्या, रक्षा, व्यापार और सेवा के कार्य इतने आवश्यक हैं, कि वे किसी न किसी रूप में सभी समाजों में वर्तमान हैं और इसी प्रकार किसी न किसी रूप में ये वर्ण भी सभी देशों में मिलते हैं। मलिन कार्य करने वाले शूद्र वर्ग की संख्या, औद्योगिक विकास के साथ एक तरह से बढ़ रही है। भारतीय वर्ण-व्यवस्था की आलोचना अत्यन्त सरल है

किन्तु इस बढ़ते हुए शूद्रवर्ग के साथ आज का जागरित समाज भी समुचित न्याय नहीं कर रहा है। विद्या, भावना, संस्कृति और आचार इस वर्ण-व्यवस्था की सबसे बड़ी देन है। ऐसी स्थिति में हमें अपने इतिहास के अनुरूप अपनी परम्पराओं के श्रेष्ठ पक्षों का संरक्षण करना चाहिए। वर्ण-व्यवस्था में जो दोष रहे हैं, वे बहुत कुछ मनुष्य समाज के सामान्य दोष हैं। विश्व के मनुष्य-समाज के विकास के अनुरूप इनका संशोधन हो सकता है। इस संशोधन से हमारे प्राचीन इतिहास और संस्कृति के कलाधर का कलंक भी धुल सकता है और वह विश्वाकाश में अपनी पूर्ण प्रभा से प्रकाशित हो सकता है।

५—विद्या के साधक ब्राह्मण—

प्राचीन भारतीय समाज में ब्राह्मणों का बड़ा प्रमुत्व रहा है। विद्या के क्षेत्र में ब्राह्मणों का नेतृत्व और कर्तव्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। धर्म, तप, त्याग आदि ब्राह्मणों की प्रभुता के प्रमुख कारण रहे हैं। ऋग्वेद की पुरुषसूक्त की कल्पना में ब्राह्मणों को विराट पुरुष का मुख माना गया है। ब्राह्मणों की ब्रह्मा के मुख से उत्पत्ति बताते हुए महेश्वर ने उमा से कहा कि "ब्राह्मणों की सृष्टि विधाता के मुख से हुई है, इसीलिए वे वाणीविशारद होते हैं।"[१६] "ब्राह्मण को इस भूमि का देवता बनाया गया है। ब्रह्माजी ने उन्हें सब लोकों की रक्षा के लिए उत्पन्न किया है। सदा तप करना ही ब्राह्मण का धर्म है। विधाता ने पूर्वकाल में धर्म का अनुष्ठान करने के लिए ही अपने तपोबल से ब्राह्मण को उत्पन्न किया था। उपवास (इन्द्रिय संयम) व्रत का आचरण करना ब्राह्मण के लिए सदा धर्म बतलाया गया है। व्रत के पालन-पूर्वक उपनयन-संस्कार का होना उसके लिए परम आवश्यक है, क्योंकि उसी से वह द्विज होता है। गुरु और देवताओं की पूजा तथा स्वाध्याय और अभ्यास रूप धर्म का पालन ब्राह्मण को अवश्य करना चाहिए। वेदों का स्वाध्याय, यज्ञ और दान ब्राह्मण का धर्म है, यह शास्त्र का निर्णय है। वेदों को पढ़ाना, यजमान का यज्ञ कराना और दान लेना ये उसकी जीविका के साधनभूत हैं। सत्य, मनोनिग्रह, तप और शौचाचार का पालन—यह उसका सनातन धर्म है।"[१७]

१६—मुखतो ब्राह्मणाः सृष्टास्तस्मात् ते वाग्विशारदाः ॥

अनुशासनपर्व—अध्याय १४१, २९ और ३० के मध्य में से।

१७—विप्राः कृता भूमिदेवा लोकानां धारणे कृताः।
तपएव सदा धर्मो ब्राह्मणस्य न संशयः।
स तु धर्मार्थमुत्पन्नः पूर्वं धात्रा तपोबलात् ॥
उपवासः सदा धर्मो ब्राह्मणस्य न संशयः।
व्रतोपनयनं चैव द्विजो येनोपपद्यते ॥
गुरुदैवतपूजार्थं स्वाध्यायाभ्यसनात्मकः।
स्वाध्यायो यजनं दानं तस्य धर्म इति स्थितिः।
कर्माण्यध्यापनं चैव याजनं च प्रतिग्रहः :
सत्यं शान्तिस्तपः शौचं तस्य धर्मः सनातनः।

अनुशासन पर्व—अध्याय १४१,
श्लोक ३०½, ३२, ३२½, बाकी २९-३० के मध्य का

धर्म शास्त्रों में ब्राह्मणों के लिए क्षमा, दया, सत्य, अहिंसा आदि गुण अभीष्ट माने गये हैं। महाभारत भी एक प्रकार का धर्मशास्त्र ही है। वह स्मृति के अन्तर्गत है। महाभारत में भी धर्मशास्त्र की परम्परा के अनुकूल ही ब्राह्मणों के कर्तव्य और लक्षण बताये गये हैं। महाभारत में युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्म जी ने ब्राह्मण के कर्तव्य इस प्रकार बताये कि "ब्राह्मण को अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन तथा दान और प्रतिग्रह इन छः कर्मों का आश्रय लेना चाहिए।"[१८] मनुस्मृति में मनु ने भी ब्राह्मण के ये ही छः कर्म महत्वपूर्ण बताये हैं।[१९] इनमें तीन धर्म अध्ययन, यजन, दान तो क्षत्रिय, वैश्य के लिए भी आवश्यक हैं। किन्तु अन्य तीन कर्म अध्यापन, याजन तथा प्रतिग्रह केवल ब्राह्मण के लिए ही हैं। अध्यापन का कार्य ब्राह्मण ही कर सकता है क्योंकि वह शासन और व्यापार से अलग रहता है। उसका मुख्य कार्य अध्यापन ही होता है तथा याजन का कार्य भी अन्य कोई इसलिए नहीं करा सकता क्योंकि याजन के लिए वेद की विधियों का ज्ञान आवश्यक है। इन विधियों में इतना विस्तार है कि वह मनुष्य का सम्पूर्ण समय चाहता है। शासन और व्यापार में लगे हुए मनुष्य अपना अधिक समय इसके लिए नहीं दे सकते। प्रतिग्रह का अर्थ दान लेना है। त्यागी को ही प्रतिग्रह की आवश्यकता होती है। क्योंकि वह अन्य कर्म धन के लिए नहीं करता, वह अपना सम्पूर्ण समय विद्या के ज्ञान में ही लगा देता था, इसलिए यह शेष तीनों कर्म उसी के लिए उचित बने थे।

वैसे तो ब्राह्मणों का सम्पूर्ण जीवन व्रतमय ही था। किन्तु फिर भी तपस्या और कठोर व्रत के पालन के कारण उसी में लगा रहना उसके लिए श्रेष्ठ था। ब्राह्मण के बारह व्रत बताते हुए सनत्कुमार ने धृतराष्ट्र से कहा कि

१८—अध्यापयेदधीयीत याजयेत यजेत वा।
न वृथा प्रतिगृह्णीयान्न च दद्यात् कथचन॥
शान्ति पर्व—अध्याय २३४, श्लोक ११

१९—अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षटकर्माण्यग्रजन्मनः॥
मनुस्मृति—अध्याय १०, श्लोक ७५

"धर्म, सत्य, इन्द्रिय-निग्रह, तप, मत्सरता का अभाव, लज्जा, सहनशीलता, किसी के दोष न देखना, यज्ञ करना, दान देना, धैर्य और शास्त्र-ज्ञान—ये ब्राह्मण के बारह व्रत हैं।"[२०] ब्राह्मण को इस लोक में मधुर भाषी तथा सौम्य स्वभाव का होना चाहिए। अपने स्वरूप का ज्ञान, उद्योग तथा दुःख सहने की शक्ति और धर्म में स्थिरता ये गुण जिस मनुष्य में होते हैं, वह पण्डित कहलाता है।"[२१] "विषयों की ओर दौड़ने वाली इन्द्रियों की भोग कामनाओं का पूर्ण सावधानी के साथ त्याग करना प्रमाद से दूर रहना तथा किसी प्राणी की हिंसा न करना ये तीन निश्चय ही तत्वज्ञान की उत्पत्ति में कारण हैं।"[२२] ब्रह्मभाव की प्राप्ति क्षमा से ही प्राप्त होती है। ब्राह्मण धर्म के सेतु हैं। "सब मनुष्यों को ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिए। उनके प्रति सुयोग्य पुत्र जैसा अपने पिता के साथ व्यवहार करता है, वैसा ही करे। क्योंकि धर्म के कारण मनीषी ब्राह्मण इन सब लोकों को धारण करते हैं।"[२३] ब्राह्मणों की वाणी और विचार में निर्भी-

---

२०—धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च
अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।
यज्ञश्च दानं च धृतिः श्रुतं च
व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य॥
उद्योग पर्व—अध्याय ४३, श्लोक २०

२१—आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्थान्नापकर्षन्ति सवै पंडित उच्यते॥
उद्योग पर्व—अध्याय ३३, श्लोक १५ से आगे

२२—इन्द्रियाणामुक्षदीर्णानं काम त्यागोऽप्रमादतः।
अप्रमादोऽविहिंसा च ज्ञानयोनिरसंशयम्॥
उद्योग पर्व—अध्याय ६६, श्लोक १८

२३—ते पूज्यास्ते नमस्कार्या वर्तेयास्तेषु पुत्रवत्।
ते हि लोकनिमान् सर्वान् धारयन्तिमनीषिणः॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १५१, श्लोक ३

कता होती है। वह सत्य बात कहने में कभी नहीं डरता। ब्राह्मण में उत्कृष्ट तेज होता है। उनके तेज और ज्ञान के समक्ष अज्ञानी, धूर्त लोग ठहर नहीं सकते थे। उनमें ज्ञान और धर्म का कुछ ऐसा प्रभाव होता था कि अच्छे-अच्छे ज्ञानी धर्मात्मा राजा ब्राह्मणों का बड़ा सम्मान तथा आदर करते थे।

६—समाज के रक्षक : क्षत्रिय

समाज का दूसरा महत्वपूर्ण वर्ग क्षत्रिय कहलाता है। 'ब्राह्मण' धर्म, विद्या, तप, साधन आदि में लीन रहते थे। किन्तु समाज में सुरक्षा होने पर ही इनकी साधना सम्भव हो सकती थी। शासन, सुरक्षा आदि का भार क्षत्रियों का था। यह शक्ति के द्वारा ही हो सकता था। अतः जिस प्रकार विद्या और तप ब्राह्मणों की मुख्य विभूति हैं उसी प्रकार शक्ति और तेज क्षत्रियों के गौरव हैं।

भारतीय धर्म-शास्त्रों में शक्ति की साधना तथा धर्म, संस्कृति और समाज की रक्षा क्षत्रियों का मुख्य धर्म माना गया है। किन्तु भारतीय संस्कृति दूसरों के प्रति अत्याचार में विश्वास नहीं करती। भारतवासियों ने शक्तिशाली होते हुए भी दूसरे देशों पर आक्रमण करके साम्राज्य स्थापित करने की कामना कभी नहीं की, उनकी शक्ति-साधना का प्रयोजन केवल आत्म रक्षा था। क्षत्रियों का बल अन्ध बल नहीं था, वह ज्ञान से युक्त होने के कारण श्रेयस बल था। इसीलिए क्षत्रियों के लिए बल-साधना के साथ-साथ अध्ययन का भी विधान था। ज्ञान के साधन और मान के साथ-साथ ज्ञान की रक्षा भी क्षत्रियों का प्रमुख धर्म था। ज्ञान का मान और रक्षण ही संस्कृति का रक्षण है। अतः ब्राह्मणों की रक्षा क्षत्रियों का प्रथम कर्तव्य था। प्राचीन काल में तपोवनों की रक्षा का भार राजाओं पर था। तपस्वी ऋषि-मुनि राजाओं के कुलगुरु होते थे। उन्हीं की मंत्रणा से राजा लोग धर्मनीति का निर्वाह करते थे। वन में जाकर राजा ऋषि, मुनि और तपस्वियों के सुख-दुःख का हाल भी पूछते थे। इस प्रकार ऋषि-मुनि, तपस्वियों और ब्राह्मणों के रक्षक क्षत्रिय संस्कृति के पोषक थे। इसके अतिरिक्त समाज में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना भी उनका कर्तव्य था। समाज के भीतर वर्तमान अतिचारियों से भी दीन, दुर्बल और असहायजनों की रक्षा उनका धर्म था। ब्राह्मणों के साथ-साथ स्त्री, बालक, गौ आदि सरल और दुर्बल जीवों का संरक्षण भी क्षत्रियों के धर्म का महत्वपूर्ण अंग था।

वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था में ब्राह्मणों और क्षत्रियों की महिमा सबसे अधिक है। जिस प्रकार ब्राह्मणों का मुख्य कर्म धर्म और विद्या की साधना है, उसी प्रकार क्षत्रियों का मुख्य कर्म समाज की रक्षा है। सुरक्षा की स्थिति धर्म और विद्या की साधना के लिए आवश्यक है। रक्षा के धर्म का पालन पराक्रम से होता हैं। मनुष्य के बाहु इस पराक्रम के पीठ हैं। इसीलिए क्षत्रियों की सृष्टि पुरुषसूक्त की कल्पना में विराट पुरुष की बाहुओं से मानी गई है। क्षत्रियों की सृष्टि का वर्णन करते हुए महेश्वर ने उमा से कहा कि "क्षत्रियों की सृष्टि दोनों भुजाओं से हुई है, इसीलिए उन्हें अपने बाहुबल पर गर्व होता है।"[२४] क्षत्रिय अपने पराक्रम और बाहुबल से समाज की रक्षा करके उसके लिए साधना और प्रचार के लिए वांछित परिस्थिति का निर्माण करते हैं।

प्राचीन काल में राजा को लोग ईश्वर के सदृश ही पूजते थे और उनके आचरण के समान ही अपना आचरण भी बनाने का प्रयत्न करते थे। प्राचीन काल में वीर तेजस्वी राजा के सैनिक भी वीर और तेजस्वी होते थे। "इन्द्रिय संयम, स्वाध्याय, अग्निहोत्र कर्म, दान, अध्ययन, यज्ञोपवीत-धारण, यज्ञानुष्ठान, धार्मिक कार्य का सम्पादन, पोष्यवर्ग का भरण-पोषण, आरम्भ किए हुए कर्म को सफल बनाना, अपराध के अनुसार उचित दण्ड देना, वैदिक यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करना, व्यवहार में न्याय की रक्षा करना और सत्य भाषण में अनुरक्त होना, ये सभी कर्म राजा के लिए परम धर्म हैं।"[२५] क्षत्रिय

२४—बाहुभ्यां क्षत्रियाः सृष्टास्तस्मात् तेबाहुगर्विताः।
अनुशासनपर्व—अध्याय १४६,
श्लोक २९ और ३० के मध्य में से

२५—तस्य राज्ञः परो धर्मो दमः स्वाध्याय एव च।
अग्निहोत्र परिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च॥
यज्ञोपवीतधारणं यज्ञोधर्मक्रियास्तथा।
भृत्यानां भरणं धर्मः कृते कर्मण्यमोघता॥
सम्यग्दण्डे स्थितिर्धर्मोधर्मो वेदक्रतुक्रियाः।
व्यवहारस्थितिर्धर्मः सत्यवाक्यरतिस्तथा॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १४१, श्लोक ४९, ६०, ५१

धर्म पर समाज और संस्कृति के अन्य धर्म तथा मूल्य निर्भर हैं। इसीलिए शास्त्रों में अनेक स्थानों पर क्षत्रिय-धर्म की प्रशंसा की गई है। महाभारत के अनुसार समस्त धर्म क्षात्र-धर्म में समाहित हैं। वह सबका अवलम्बन है। क्षात्र-धर्म की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि "नरेश्वर! जैसे हाथी के पदचिह्न में सभी प्राणियों के पद चिह्न विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार सब धर्मों को सभी अवस्थाओं में राजधर्म के भीतर ही समाविष्ट हुआ समझो।"[२६] धर्म के ज्ञाता आर्य पुरुषों का कथन है कि अन्य समस्त धर्मों का आश्रय तो अल्प है ही, उनका फल भी अल्प ही है। परन्तु क्षात्रधर्म का आश्रय भी महान् है और उसके फल भी बहुसंख्यक एवं परम कल्याणरूप हैं; अतः इसके समान दूसरा कोई धर्म नहीं है। सभी धर्मों में राजधर्म ही प्रधान है; क्योंकि उसके द्वारा सभी वर्णों का पालन होता है। राजधर्मों में सभी प्रकार के त्याग का समावेश है और ऋषिगण त्याग को सर्वश्रेष्ठ एवं प्राचीन धर्म बताते हैं। सदा से चले आने वाले धर्म सैकड़ों बार नष्ट हो चुके है, परन्तु क्षात्रधर्म ने उनका पुनः उद्धार एवं प्रसार किया है। युग-युग में आदिधर्म (क्षात्रधर्म) की प्रवृत्ति हुई है, इसलिए इस क्षात्रधर्म को लोक में सबसे श्रेष्ठ बताते हैं। युद्ध में अपने शरीर की आहुति देना, समस्त प्राणियों पर दया करना, लोक-व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करना, प्रजा की रक्षा करना, विषाद-ग्रस्त एवं पीड़ित मनुष्यों को दुःख और कष्ट से छुड़ाना—ये सब बातें राजाओं के क्षात्रधर्म में ही विद्यमान हैं।

क्षत्रियों की रक्षा के द्वारा ही इस पृथिवी पर सबको सुख-शान्ति होती है। सुरक्षा के ही द्वारा ब्राह्मणों, वैश्यों तथा क्षत्रियों के बड़े-बड़े कार्य निर्विघ्नता पूर्वक सफल और पूर्ण होते है। क्षत्रियों के पराक्रम से दुष्टों का दलन होता है और सत्पुरुषों को साहस मिलता है। क्षत्रियों के बल और पराक्रम से ही यह पृथिवी हरी-भरी है। उनके ही बल से आज प्राचीन ग्रन्थ हमारे

२६—यथा राजन् हस्तिपदे पदानि
संलीयन्ते सर्वसत्त्वोद्भवानि।
एवं धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान्
सर्वावस्थान् सम्प्रलीनान् निबोध।
शान्तिपर्व—अध्याय ६३, श्लोक २५

समक्ष वचे हुए हैं। समस्त विश्व में क्षत्रियों जैसा पराक्रम किसी अन्य जाति में दिखाई न दिया और न देगा। भारत ही एक ऐसा देश है जिसके क्षत्रिय राजाओं ने अपने देश की रक्षा के लिए अपने प्राण तक दे दिये किन्तु युद्ध से हारकर पीछे न लौटे। युद्ध करते समय भी क्षत्रियों के समक्ष सदैव धर्म रहता था। जो क्षत्रिय धर्मपूर्वक लड़कर विजय प्राप्त करता है, विश्व में उसी की यशकीर्ति की ध्वजा सर्वदा के लिए अमर हो जाती है। वेदाध्ययन स्वर्ग प्राप्ति का कारण है, परोपकार रूप महान यश भी स्वर्ग का हेतु है, तपस्या को भी स्वर्गलोक का साधन बताया गया है, परन्तु क्षत्रिय के लिए इन तीनों की अपेक्षा युद्ध में मृत्यु का वरण ही स्वर्ग प्राप्ति का अमोघ साधन है।

इस क्षत्रिय-धर्म और मर्यादा के पालन के लिए क्षत्रियों के लिए भी संस्कृत और संयत जीवन आवश्यक है। विषयों में आसक्त क्षत्रिय संस्कृति का रक्षक नहीं हो सकता। इसलिए मनु ने विषयों में आसक्ति को क्षत्रियों के लिये वर्जित किया है। प्राचीन-काल में बहुत से राजा अपने ज्ञान और संयम के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। उत्तरकाल में ऐश्वर्य के मद में लीन होकर वे विषयों के दास बने। राजाओं और क्षत्रियों का यह पतन ही देश के पतन का कारण हुआ। अत्याचारों से समाज और संस्कृति की रक्षा के लिए सदा एक शक्ति के साधक और साहसी वर्ग की आवश्यकता होगी। यौवन-काल में संयम और सदाचार द्वारा शक्ति और बल का सम्पादन कर संस्कृति की रक्षा में उसका उपयोग करने वाले साहसी वीर समाज के भूषण होंगे। यही क्षत्रिय-धर्म एक सजग देश के युवकों का उत्तम आदर्श है।

७–समाज के पोषक : वैश्य —

धर्म-शास्त्रों की वर्ण-व्यवस्था में वैश्यों को भी द्विजों के अन्तर्गत माना जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों द्विज कहलाते हैं। ब्राह्मणों का इतना मान होते हुए भी विद्या आदि के लिए सुरक्षा के आवश्यक होने के कारण क्षत्रियों को भी अतिशय मान दिया गया है। वैश्यों को धर्म-शास्त्रों में ऐसा विशेष मान तो नहीं दिया गया है, फिर भी श्रेष्ठ मानकर ही उनकी गणना द्विजों में की गई है। वैश्य का धर्म प्रधान रूप से आर्थिक और लौकिक है। वैश्यों के आर्थिक धर्म में प्राकृतिक प्रलोभन के प्राकृतिक आकर्षण बहुत हैं। इसीलिए वैश्यों को विशेष मान नहीं दिया गया है। इन प्रलोभनों का

प्रभाव इतना है कि धर्मशास्त्रों के अनुरोध के बिना भी वैश्य धन-वैभव के प्रताप से सहज ही 'श्रेष्ठ' (सेठ) बन गये।

वैश्यों की उत्पत्ति विधाता के उदर से हुई है। इस विषय में महेश्वर ने उमा से कहा कि "वैश्यों की उत्पत्ति (विधाता के) उदर से हुई है, इसी लिए वे उदरपोषण के निमित्त कृषि, वाणिज्यादि वार्तावृत्तिका आश्रय ले जीवन निर्वाह करते हैं।"[२७] "दूसरे वर्णों के लोग वैश्यों की सहायता से ही अपना जीवन-निर्वाह करते हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष फल देने वाले हैं। यदि वैश्य न हों तो दूसरे वर्ण के लोग भी अपना जीवन आसानी से न निर्वाह कर सकें। पशुओं का पालन, खेती, व्यापार, अग्निहोत्रकर्म, दान, अध्ययन, सन्मार्ग का आश्रय लेकर सदाचार का पालन, अतिथिसत्कार, शम, दम, ब्राह्मणों का स्वागत और त्याग—ये सब वैश्यों के सनातन धर्म हैं। व्यापार करने वाले सदाचारी वैश्य को तिल, चन्दन और रस की विक्री नहीं करनी चाहिए तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन त्रिवर्ग का सब प्रकार से यथाशक्ति यथा-योग्य आतिथ्यसत्कार करना चाहिए।"[२८]

२७—उदरादुद्गता वैश्यास्तस्माद् वार्तोपजीविनः।
अनुशासनपर्व–अध्याय १४१,
श्लोक २६ और ३० के मध्य में है।

२८—तथैव देवि वैश्याश्च लोकयात्राहिताः स्मृताः।
अन्ये तानुपजीवन्ति प्रत्यक्षफलदा हि ते।
यदि न स्युस्तथा वैश्या न भवेयुस्तथा परे।
वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृषिस्तथा।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च॥
वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रशमो दमः।
विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः॥
तिलान् गन्धान् रसांश्चैव विक्रीणीयान्न चैव हि।
अनुशासनपर्व–अध्याय १४१, श्लोक ५४,५५,५६

वैश्य को व्यापार धर्मपूर्वक करना चाहिए, झूठ बोलकर या कम तौल कर अधिक धन की इच्छा नहीं करनी चाहिए। धन के आधिक्य को देखकर वैश्य को कुमार्ग पर नहीं जाना चाहिए और एक पत्नीव्रत रहकर ही सदा पवित्र जीवन बिताना चाहिए। धन के मोह में फँसकर अधर्म कभी नहीं करना चाहिए। पशुओं की रक्षा का भार भी वैश्य पर ही था। वृद्ध या अपंग गाय-बैल को भी वैश्य दाना, घास डालता था, उन्हें बेचता नहीं था। वैश्य अपने वर्ण-धर्म का परिश्रमपूर्वक पालन करके कृतकृत्य होकर अधिक अवस्था व्यतीत हो जाने पर राजा की आज्ञा लेकर वानप्रस्थ-आश्रम का ग्रहण करें।

वर्ण-व्यवस्था का विभाजन मूल रूप में श्रम का विभाजन था। समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं के संरक्षण के लिए बौद्धिक श्रम की आवश्यकता थी यह श्रम ब्राह्मणों का धर्म था। समाज की रक्षा के लिए बाहुविक्रम की आवश्यकता थी, यह क्षत्रियों का धर्म था। समाज के पालन के लिए उत्पादन के श्रम की आवश्यकता थी, यह वैश्यों का धर्म था। वैश्यों ने अर्थ के उत्पादन को ही अपना परम लक्ष्य बनाकर इस व्यवस्था के मूल आधार को खण्डित किया। पूँजीवाद के अर्थतन्त्र ने समाज में अनेक विषमताओं और विकृतियों को अवसर दिया। साम्यवाद इन्हीं विषमताओं को जाग्रत समाज की चुनौती है। आर्थिक व्यवस्था में धन के आधार को उन्मूलित कर उसे श्रम के आधार पर प्रतिष्ठित करना एक महान क्रान्ति है। यह क्रान्ति अर्थ तन्त्र और आर्थिक विषमताओं को दूर कर सकेगी ऐसी सम्भावना है।

८—समाज के सेवक शूद्र—

शूद्रों की स्थिति भारतीय समाज और धर्मशास्त्र की एक शोचनीय विडम्बना है। चारों वर्णों में शूद्र सबसे अधिक हीन और दयनीय है। विद्या, धर्म और संस्कृति के साधक होने के नाते ब्राह्मण पवित्र और पूजनीय हैं। समाज और संस्कृति के रक्षक होने के कारण क्षत्रियों को अनेक स्थानों पर चारों वर्णों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। धन और वैभव की महिमा के कारण वैश्य ही ऐसे हैं, जो धन, मान, वैभव, स्वच्छता, पवित्रता आदि समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित रहकर दलित जीवन बिताते आये हैं।

धर्मशास्त्रों में उच्चवर्णों की सेवा को ही शूद्रों का एकमात्र धर्म माना गया

है।[२९] उनके उपनयन आदि संस्कार नहीं होते तथा द्विजों के द्वारा पालित धर्मकृत्य आदि भी उनके लिए आवश्यक नहीं हैं। धर्मशास्त्रों में तो उन्हें वेद की शिक्षा से ही वंचित किया गया है, किन्तु अन्य शिक्षा भी वे ग्रहण न कर सके, जिनकी उन्हें आज्ञा थी। शूद्रों की निम्नस्थिति का संकेत पुरुषसूक्त में मिलता है जिसमें शूद्रों को विराट पुरुष के चरणों में स्थान दिया गया है। इस विषय में महेश्वर ने उमा से कहा कि "शूद्रों की सृष्टि पैर से हुई है, इसलिए वे परिचारक होते हैं।"[३०] शरीर में चरण सबसे नीचे और मलिन होते हैं। वे किसी श्रेष्ठ कर्म के अधिकारी नहीं हैं। बाहु पराक्रम के साधन हैं तथा उरु अवलम्ब हैं, किन्तु चरण केवल सेवा के ही अधिकारी हैं। जिस प्रकार शरीर का संचालन चरणों के द्वारा होता है, उसी प्रकार समाज का संचालन भी शूद्रों के द्वारा होता है।

"शूद्र का परम धर्म तीनों वर्णों की सेवा करना है। जो शूद्र सत्यवादी जितेन्द्रिय और घर पर आये हुए अतिथि की सेवा करने वाला है, वह महान तप का संचय कर लेता है। उसका सेवारूप धर्म उसके लिए कठोर तप है। नित्य सदाचार का पालन और देवता तथा ब्राह्मणों की पूजा करने वाले बुद्धिमान शूद्र को धर्म का मनोवांछित फल प्राप्त होता है। अन्य वर्णों की भाँति शूद्र भी सम्पूर्ण धर्मों के साधक बताये गये हैं। यदि शूद्र न हों तो सेवा का कार्य करने वाला कोई नहीं है। पहले के जो तीन वर्ण हैं, वे सब शूद्रमूलक ही हैं; क्योंकि शूद्र ही सेवा का कर्म करने वाले माने गये हैं। वाणिज्य, कारीगर के कार्य, शिल्प तथा नाट्य भी शूद्र का धर्म है। उसे अहिंसक, सदा-

---

२९—एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥
मनुस्मृति—अध्याय १, श्लोक ९१

३०—शूद्राश्च पादतः सृष्टास्तस्मात् ते पारिचारकाः।
अनुशासन पर्व—अध्याय १४१,
श्लोक २९ और ३० के मध्य में से।

चारी और देवताओं तथा ब्राह्मणों का पूजक होना चाहिए। जो शूद्र ऊपर कहे हुए धर्मों का पालन करता है, वह अपने अभीष्ट फलों का भागी होता है।"[३१] चारों आश्रमों में से संन्यास को छोड़कर तीनों आश्रमों का उपभोग सदाचारी शूद्र कर सकता है।

इस प्रकार निकृष्टश्रम, जिसे प्राचीन काल में शूद्रों का एकाधिकार बना दिया था। यह प्राचीन काल की ही नहीं, वर्तमान सभ्यता की भी सनातन समस्या है। छुआछूत, वर्ण भेद आदि का मिटाना अथवा अच्छा वेतन, किसी सीमा तक इसका सुधार तो है, किन्तु इसका पूर्ण समाधान नहीं है। छुआछूत का मिटाना निकृष्ट कार्यों के करने वालों की सामाजिक स्थिति और उनके प्रति सामाजिक दृष्टिकोण में सुधार है। अच्छा वेतन उनकी आर्थिक स्थिति का उन्नयन है। किन्तु इन सब सुधारों का प्रयोजन इन कार्यों के करने वालों की स्थिति को अच्छा बनाना है, इन कार्यों को मिटाना अथवा कम करना नहीं है। नागरिक और वैज्ञानिक सभ्यता के विकास में ये कार्य और भी विस्तृत तथा आवश्यक हो रहे हैं, अतः इनको कम करने की कल्पना सभ्यता का कोई विचारक नहीं करता।

विज्ञान के प्रभाव से आर्थिक व्यवस्था समान होती जा रही है। इससे अर्थ व्यवस्था की समस्या का निराकरण हो जायेगा। जब संसार के देश

३१—शूद्र धर्मः परोनित्यं शुश्रूषा च द्विजातिषु।
स शूद्रः संशिततपाः सत्यवादी जितेन्द्रियः॥
शुश्रूषुरतिथिं प्राप्तं तपः संचिनुते महत्।
नित्यं स हि शुभाचारो देवताद्विजपूजकः।
शूद्रो धर्मफलैरिष्टैः सम्प्रयुज्येत बुद्धिमान्॥
त्रयः पूर्वे शूद्रमूलाः सर्वे कर्मकराः स्मृताः।
ब्राह्मणादिषु शुश्रूषा दासधर्म इति स्मृतः॥
अनुशासनपर्व—अध्याय १४१, श्लोक ५७,५८,५९

आपस में शान्ति समझौता कर लेंगे तो रक्षा की समस्या का समाधान हो जायेगा और बल की समस्या अर्थात् क्षत्रिय वर्ग भी मिट सकता है। राष्ट्र की सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण से वैश्यों की आवश्यकता न रहेगी। विज्ञान के अधि-काधिक प्रचार से सेवा भी कुछ कम हो जायगी। विश्व की जब ऐसी स्थिति हो जायेगी, उस समय ज्ञान का क्षेत्र अवश्य रह जायेगा, ज्ञान की समस्या नहीं मिट सकेगी इस समाज में मानव जीवन की कसौटी ज्ञान ही होगा।

अध्याय—८

महाभारत में ब्राह्मणधर्म

१. ब्राह्मण-धर्म--

वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था में ब्राह्मणों का सर्वोच्च स्थान है। ऋग्वेद की पुरुषसूक्त की कल्पना में ब्राह्मणों को विराट पुरुष का मुख माना गया है। (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) प्राचीन भारतीय समाज में ब्राह्मणों का बड़ा प्रभुत्व रहा है। विद्या के क्षेत्र में ब्राह्मणों का नेतृत्व, प्रभुत्व और कर्त्तव्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। धर्म, तप, त्याग आदि ब्राह्मणों की प्रभुता के अन्य प्रमुख आधार रहे हैं। प्राचीनकाल में ब्राह्मण राजा और प्रजा दोनों के गुरु रहे हैं। सरल एवं सात्विक जीवन में तप और ज्ञान की साधना करके वे प्राचीन भारतीय समाज का नेतृत्व करते रहे हैं। प्राचीन भारतीय समाज और संस्कृति की अनेक विशेषताओं का श्रेय ब्राह्मणों को दिया जा सकता है। अपने सात्विक गुणों के कारण ब्राह्मण समाज में पूजित रहे हैं। राजा भी उनको आदर देते रहे हैं। दिव्य गुणों और सात्त्विक जीवन के कारण ब्राह्मण पृथ्वी के देवता (महीसुर, भूसुर) ("वन्दौ प्रथम महीसुर चरणा" तुलसीदास) रहे हैं।

कुछ आधुनिक विचारक ब्राह्मणों की इस प्रभुता में सामाजिक अन्याय का बीज खोजते हैं। वे उन्हें भारतीय समाज के विभाजन और विघटन के लिये उत्तरदायी ठहराते हैं। उनके मत में सामाजिक वर्गों में ऊँच-नीच का विधान और विशेषतः शूद्रों का दलन ब्राह्मणों का ही अपराध है। धर्म और विद्या की साधना में विशेष रूप से संलग्न रहने के कारण धर्मशास्त्रों की रचना प्रायः ब्राह्मणों ने ही की है। धर्मशास्त्रों के प्रणेता प्राचीन ऋषि ब्राह्मणों के पूर्वज थे, ब्राह्मण उन्हीं के गोत्रधारी वंशज हैं। वर्ण-विभाजन की व्यवस्था

धर्म-शास्त्रों पर आश्रित है। इसीलिये ब्राह्मणों को इसके लिये उत्तरदायी माना जाता है। किन्तु कोई आलोचक इस बात का उत्तर नहीं देते कि ब्राह्मणों को यह प्रभुता और श्रेष्ठता कैसे मिली तथा उनके द्वारा रचित धर्म-शास्त्रों के विधान समाज में किस प्रकार स्वीकृत हुए। प्राचीन भारतीय समाज एक स्वतन्त्र समाज था। उसमें ऐसी संगठित धार्मिक व्यवस्था अथवा राजनीतिक सत्ता नहीं थी, जैसी कि आधुनिक धर्मों और आधुनिक समाजों में पाई जाती है। ऐसी स्वतन्त्र स्थिति में कोई भी विचारक भिन्न विधान प्रस्तुत कर सकता था। कोई भी वर्ग विद्या के अधिकार से वंचित नहीं था। क्षत्रियों और वैश्यों को तो वेदाध्ययन का भी अधिकार था। धर्मशास्त्र श्रुति के अन्तर्गत नहीं हैं, वे स्मृति के अन्तर्गत हैं। धर्मशास्त्रों के अध्ययन और निर्माण का अधिकार तो शूद्रों को भी था। ऐसी स्थिति में किसी को भी भिन्न धर्म-शास्त्र की रचना से वंचित करने का दोषी ब्राह्मणों को नहीं ठहराया जा सकता। फिर ब्राह्मणों के पास कोई संगठित धार्मिक अथवा राजनीतिक सत्ता नहीं थी, जिसके द्वारा ये इस्लामी धर्मशास्त्र की भाँति अपने धर्म-शास्त्र को समाज पर आरोपित कर सकते। सत्य यह है कि जिस समय अन्य वर्ग विद्या का अधिकार होते हुए भी अर्थ और काम की आराधना में संलग्न थे, उस समय तप और त्याग का सात्त्विक जीवन वरण कर ब्राह्मणों ने विद्या की लाभ रहित साधना को अपना धर्म बनाया। धर्मशास्त्रों की रचना ब्राह्मणों की इसी विद्या साधना का एक अल्प अंग है। समाज की वास्तविक व्यवस्था और उसकी तत्कालीन आकांक्षाओंके अनुरूप होने के कारण ही प्राचीन समाज ने धर्मशास्त्रों के विधानों को बहुत कुछ स्वीकार किया। ब्राह्मणों तथा अन्य वर्गों ने भी इन विधानों के अनेक अंशों का उल्लंघन भी किया है। क्या वर्ण विभाजन के समान इस उल्लङ्घन के लिये भी ब्राह्मण उत्तरदायी हैं। वस्तुतः धर्मशास्त्रों का विधान पूर्णतः विधान अथवा ब्राह्मणों की रचना नहीं है। बहुत कुछ अंश में वह प्राचीनकाल में वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का पंजीकरण मात्र है। यह कहना अधिक संगत है कि प्राचीन भारतीय समाज में ब्राह्मण वर्ण की नहीं वरन् ब्राह्मणधर्म की प्रधानता और प्रभुता थी। यज्ञ, तप, योग, साधना, विद्या आदि मूल्यों को समाज में अधिक मान दिया जाता था। इसका कारण प्राचीन भारतीय समाज की प्रधानतः सात्त्विक और आध्यात्मिक वृत्ति थी। प्राचीन भारतीय समाज की इसी स्थिति में ब्राह्मण धर्म की प्रभुता स्थापित हुई है। समाज और शास्त्रों में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता भी इसी का फल है। अन्य वर्णों ने अर्थ और काम के आकर्षण में शास्त्र द्वारा सम्मत

विद्या, तप, साधना आदि को इतना महत्व नहीं दिया । अन्य वर्णों के द्वारा विद्या, तप, साधना आदि का अंशतः परित्याग करने पर जब ब्राह्मण विशेष निष्ठा और त्याग के द्वारा उनका पालन करते रहे, तो उनका एक निश्चित-वर्ग के रूप में रूढ़ हो जाना स्वाभाविक था । इस प्रकार प्राचीन भारतीय समाज की स्वतन्त्र एवं सामान्य सात्विक तथा धार्मिक भावना एक क्षीयमाण जाति का अधिकार और भार बनी ।

धर्मशास्त्रों में इसी परम्परा के अनुकूल यज्ञ, विद्या, तप, साधना आदि सात्त्विक कर्मों के विशेष अधिकारी के रूप में ब्राह्मणों का वर्णन किया गया है । इसी अधिकार के अनुरूप धर्मशास्त्रों में (ब्राह्मणों के ही द्वारा) ब्राह्मणों के लिये क्षमा, दया, सत्य अहिंसा आदि गुण अभीष्ट माने गये हैं । महाभारत भी एक प्रकार का धर्मशास्त्र ही है । वह स्मृति के अन्तर्गत है । महाभारत में भी धर्मशास्त्र की परम्परा के अनुकूल ही ब्राह्मणों के कर्तव्य और लक्षण बताये गये हैं । महाभारत में भीष्म जी ने युधिष्ठिर के पूछने पर उन्हें ब्राह्मण के कर्तव्य इस प्रकार बताये कि "ब्राह्मण को अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन तथा दान और प्रतिग्रह इन छः कर्मों का आश्रय लेना चाहिये ।[1] मनुस्मृति में मनु ने भी ब्राह्मण के ये ही छः कर्म महत्त्वपूर्ण बताये हैं ।[2] इनमें तीन कार्य ऐसे हैं जिनमें क्षत्रिय और वैश्य का भी अधिकार है, वह तीन कर्म, अध्ययन, याजन और दान हैं जिनका क्षत्रिय और वैश्य को भी करने का अधिकार है । किन्तु शेष तीन कर्म अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह में ब्राह्मण के अतिरिक्त और किसी का अधिकार नहीं है । यह ब्राह्मण के साथ कोई पक्षपात नहीं है, किन्तु विद्या और अन्य सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा का नियम

१—अध्यापयेदधीयीत याजयेत यजेत वा
न वृथा प्रतिगृह्णीयान्न च दद्यात कथंचन ।

शान्तिपर्व—अध्या० २३४, श्लो० ११

२—अध्यापनमध्ययन यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ।।

मनुस्मृति—अध्या० १०, श्लो० ७५

है। शासन और व्यापार के साथ अध्यापन की संगति नहीं हो सकती। आचार्य के लिये जो त्याग और तप अपेक्षित है, वह शासन और व्यापार के साथ नहीं हो सकता। याजन के लिये वेद की विधियों का ज्ञान आवश्यक है। इन विधियों का इतना विस्तार है कि वह मनुष्य का सम्पूर्ण समय चाहता है। प्रतिग्रह का अर्थ दान लेना है। त्यागी को ही प्रतिग्रह का अधिकार उचित है। शासन और व्यापार में संलग्न क्षत्रिय और वैश्य केवल दान दे सकते हैं किन्तु दान ले नहीं सकते। ब्राह्मण दान दे भी सकते हैं और दान ले भी सकते हैं। ब्राह्मण के उक्त छः कर्मों में उनका क्रम ध्यान देने योग्य है।

इस क्रम में ही भारतीय समाज में ब्राह्मणों के मान और महत्व का रहस्य मिलता है। ब्राह्मणों के छः कर्मों में अध्यापन प्रथम है। अध्यापन का अर्थ विद्यादान है। यह सब दानों में कठिन अतः श्रेष्ठ है। ब्राह्मणों के इस विद्यादान के ही द्वारा भारतवर्ष में विद्या का इतना प्रचार और विस्तार हुआ था। अध्यापन के लिए अध्ययन भी आवश्यक है। यजन और याजन का क्रम धार्मिक और सांस्कृतिक रहस्य से पूर्ण है। यजन धर्म का मुख्य आधार है। याजन के द्वारा ब्राह्मण समाज के धर्म और संस्कृति की रक्षा में योग देते हैं। याजन में दक्षिणा के रूप में कुछ लाभ भी होता है, यद्यपि ब्राह्मणों के इस अर्थ-लाभ के सम्बन्ध में कुछ भ्रम भी है जो अब याजकों की दुर्लभता के द्वारा मिटता जा रहा है। दान और प्रतिग्रह में भी दान प्रथम है। इस प्रकार ब्राह्मणों के कर्तव्यों का क्रम धार्मिक और सांस्कृतिक व्यवस्था का रक्षक है।

२. ब्राह्मण आदरणीय एवं अवध्य है—

शिक्षक होने के कारण ब्राह्मण आदरणीय है। वह सबका गुरु है। महाभारत में भी धर्मशास्त्रों के समान ब्राह्मण को आदरणीय और अवध्य माना गया है। आदिपर्व में लिखा है कि—गरुड़ जब अमृत लेने के लिये जाने लगे तब उनकी माता विनता ने ब्राह्मणों के महत्त्व को बताते हुए कहा कि "ब्राह्मण समस्त प्राणियों का अग्रज, सब वर्णों में श्रेष्ठ, पिता और गुरू हैं"[3]

३—तदेतैर्विविधैर्लिङ्गैस्त्वं विद्यास्तं द्विजोत्तमम्।
भूतानामग्रभूर्विप्रो वर्णश्रेष्ठ पिता गुरुः॥
आदिपर्व—अध्या० २८, श्लो० ७½

माता-पिता तो बालक के जन्म देने के कारण पूजनीय हैं, किन्तु ज्ञान के क्षेत्र में विद्या आरम्भ कराने के कारण गुरू भी बालक का पिता ही है। पिता शरीर का पालन करता है, किन्तु गुरू शिक्षा द्वारा बालक की बुद्धि तीव्र करके एक नवीन सृष्टि करता है, इसलिए गुरू को पिता से भी अधिक आदरणीय और पूजनीय माना जाता है। महाभारत में विनता ने गरुड़ से कहा है कि "सत्पुरुषों के लिये ब्राह्मण आदरणीय माना गया है। तुम्हें क्रोध आ भी जाय तो भी ब्राह्मण की हत्या से सर्वथा दूर रहना चाहिये।"[४] गुरू होने के कारण ही ब्राह्मण की हत्या करना धर्मशास्त्रों में वर्जित है।[५] महाभारत में भी इसे माना गया है। विनता ने गरुड़ से कहा कि अमृत लेने के लिए जाते समय तुम्हें जो रास्ते में मिले उसका तुम भक्षण कर लेना किन्तु ब्राह्मण को नहीं मारना। विनता ने कहा कि "ब्राह्मण समस्त प्राणियों के लिए अवध्य है। वह अग्नि के समान दाहक होता है।"[६] ब्राह्मण की श्रेष्ठता बताते हुए अणीमाण्डव्य ने धर्मराज से कहा कि "ब्राह्मण का वध सम्पूर्ण प्राणियों के वध से भी अधिक भयंकर है।"[७] विद्या का साधक और शिक्षक तथा धर्म एवं

४—एवमादिस्वरूपैस्तु सतां वै ब्राह्मणो मतः।
स ते तात न हन्तव्यः संक्रुद्धेनापि सर्वथा॥
आदिपर्व—अध्या० २८, श्लो० ५

५—अवध्यो वै ब्राह्मणः सर्वापराधेषु।
बौधायन धर्मसूत्र—१-१०-१८,१९

६—न च ते ब्राह्मणं हन्तुं कार्या बुद्धिः कथंचन।
अवध्यः सर्वभूतानां ब्राह्मणो ह्यनलोपमः॥
आदिपर्व—अध्या० २८, श्लो० ३

७—अल्पेऽपराधेऽपि महान् ममदण्डस्त्वया कृतः।
गरीयान् ब्राह्मणवधः सर्वभूतवधादपि॥
आदिपर्व—अध्या० १०७, श्लो० १५

संस्कृति का रक्षक होने के कारण ब्राह्मण को अवध्य माना गया है। ब्रह्म-हत्या को महापाप माना जाता है। यह ब्राह्मणों के साथ पक्षपात है। किन्तु इस पक्षपात मे धर्म और सस्कृति की रक्षा का ध्येय निहित है। सात्विक वृत्ति के कारण अल्पतर दण्ड भी ब्राह्मण का सुधारक हो सकता है।

३. बारह व्रत—

अवध्यता का मान और प्रतिग्रह का अधिकार ब्राह्मणों को किसी पक्षपात के कारण नहीं वरन् धर्म और संस्कृति की रक्षा के उद्देश्य से दिया गया था। इसीलिये विद्या की साधना और यजन को उनका मुख्य कर्तव्य माना था। ये ऐसे धार्मिक एवं सांस्कृतिक कर्तव्य हैं कि जिनमें कोई लाभ नहीं है, वरन् उलटा इनमें कष्ट है। इसीलिए अन्य वर्णों ने इनकी ओर इतना ध्यान नहीं दिया, यद्यपि ये उनके लिये वर्जित नहीं थे। विद्या, धर्म और संस्कृति की साधना एक प्रकार की तपस्या है। इसके लिये सात्विक और व्रत-शील जीवन अपेक्षित है। 'व्रत' आचार और भावना के कुछ नियम हैं जो साधना को सम्भव बनाते हैं। महाभारत में ब्राह्मणों के लिये बारह व्रत बताये गये हैं। व्रतों के पालन के द्वारा ही ब्राह्मण तपस्या तथा विद्या आदि की साधना कर सकते हैं।

इसीलिये नियमों व्रतों का पालन करने वाले केवल ब्राह्मण ही अनेक तपस्याओं को करने वाले पाये गये हैं। धृतराष्ट्र ने सनत्सुजात से ब्राह्मणों के व्रत के विषय में पूछा कि ब्राह्मणों के व्रत कितने प्रकार के होते हैं तब सनत्कुमार ने धृतराष्ट्र से कहा कि "धर्म, सत्य, इन्द्रिय-निग्रह, तप, मत्सरता का अभाव, लज्जा, सहनशीलता, किसी के दोष को न देखना, यज्ञ करना, दान देना, धैर्य और शास्त्र-ज्ञान—ये ब्राह्मण के बारह व्रत हैं।"[८]

८—धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च
अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।
यज्ञश्च दानं च धृतिः श्रुतं च
व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य॥
उद्योगपर्व—अध्या० ४३, श्लो० २०

इन व्रतों के पालन के द्वारा ही ब्राह्मण समाज में विद्या, धर्म आदि का रक्षक बन सकता है।

४. स्वाध्याय ब्राह्मण का देवत्व है—

अध्यापन और अध्ययन ब्राह्मण के मुख्य कर्तव्य हैं। अध्यापन का आधार भी अध्ययन ही है। अध्यापन विद्या-दान का सामाजिक कर्तव्य है। अध्ययन विद्या की व्यक्तिगत साधना है। प्राचीन काल में वेद ही अध्ययन का मुख्य विषय था। वेद के अध्ययन को ही 'स्वाध्याय' कहते थे। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' की श्रुति में 'स्वाध्याय' का अर्थ अपनी शाखा का वेद है। स्वाध्याय के द्वारा ही वेद की रक्षा हो सकती थी। इसीलिये 'स्वाध्याय' अर्थात् वेद का अध्ययन ब्राह्मण का मुख्य कर्तव्य है।[९]

महाभारत में युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों के कर्मों के विषय में भीष्म से पूछा कि सबके विषय में तो मुझ को ज्ञान हो गया कि समस्त प्राणियों के क्या-क्या धर्म हैं। अब आप मुझे केवल ब्राह्मणों के धर्म बताने की कृपा करें। तब भीष्मजी बोले कि "इन्द्रिय संयम ब्राह्मणों का प्राचीन धर्म है किन्तु वेदशास्त्रों का स्वाध्याय भी उनका मुख्य कर्म है, इससे उनके सब कर्मों की पूर्ति होती है।"[१०]

स्वाध्याय ही ब्राह्मणों के देवत्व का मुख्य आधार है। विद्याध्ययन में रत रहने के कारण ही ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ हैं। यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा कि ब्राह्मणों में देवत्व क्या है तथा पुरुषों का सा धर्म क्या है? तब युधिष्ठिर ने कहा कि "वेदों का ध्याध्याय ही ब्राह्मणों में देवत्व है, तप सत्पुरुषों का सा धर्म

९—ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेय इति।

महाभाष्य—भाग-१, पृष्ठ १५

१०—दममेव महाराज धर्ममाहु पुरातनम्।
स्वाध्याम्यसनं चैव तत्र कर्म समाप्यते।

शांतिपर्व—अध्या० ६०, श्लो० ९

है।[११] स्वाध्याय से ही ब्राह्मणों की वृत्ति सात्विक तथा धार्मिक बनती है और वे वेद, विद्या तथा धर्म एवम् संस्कृति के रक्षक और समाज के गुरु बनते हैं।

५. ब्राह्मण के लक्षण तथा कर्त्तव्य—

धर्मशास्त्रों में ब्राह्मण के लक्षण और कर्त्तव्य विस्तार से बताये गये हैं। महाभारत में भी ब्राह्मणों के लक्षणों तथा कर्त्तव्यों का विवरण है। महाभारत में कहा गया है कि "द्विज श्रेष्ठ और उदार बने, वेदों का अध्ययन करे, सतत सावधान रहकर स्वाध्याय में ही लगा रहे, देवता लोग उसे ब्राह्मण मानते हैं।[१२] भरद्वाज ने भृगुजी से ब्राह्मण के कर्मों के विषय में पूछा कि किन कर्मों से ब्राह्मण कहलाता है। सदा से ही ब्राह्मणों के पवित्र विचारों और ऊँचे आदर्शों के कारण लोगों को ब्राह्मण के धर्म जानने के विषय में अभिलाषा रही है। तब भृगुजी बोले कि "कर्म आदि संस्कारों से सम्पन्न, पवित्र एवम् वेदों के स्वाध्याय में संलग्न ब्राह्मणोचित छः कर्मों में स्थित, सदाचार का पालन तथा उत्तम यज्ञ, शिष्ट अन्न का भोजन करने वाला गुरू के प्रति प्रेम रखने वाला मनुष्य ब्राह्मण कहलाता है।"[१३] महाभारत में ब्राह्मणों

११—स्वाध्याय एषां देवत्व तप एषां सतामिव।
मरणं मानुषो भावः परिवादोऽसतामिव॥
वनपर्व—अध्या० ३१३,श्लो० ५०

१२—ब्रह्मचारीवदान्यो योऽधीयीत् द्विज पुङ्गवः।
स्वाध्यायवान् मत्तो वै तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥
वनपर्व—अध्या० २०६, श्लो० ३७½

१३—जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः।
वेदाध्ययनसम्पन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः॥

शौचाचारस्थितः सम्यग्विघसाशी गुरुप्रियः।
नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते॥
शान्तिपर्व—अध्या० १८९, श्लो० २,३

की दूसरी परिभाषा भी बताई कि "जो जितेन्द्रिय, धर्मपरायण, स्वाध्याय तत्पर और पवित्र हैं तथा काम और क्रोध जिनके वश में हैं देवतालोग ब्राह्मण उसे ही मानते हैं"[१४] महाभारत में अनेक स्थलों पर अनेक लोगों ने ब्राह्मण की परिभाषा अनेक प्रकार से बताई है। ब्राह्मणों के कर्म तथा कर्त्तव्य बताये हैं तथा किसी ने किन्हीं अन्य गुणों को बताया है। इस प्रकार युधिष्ठिर के द्वारा ब्राह्मणों के कर्त्तव्य पूछे जाने पर भीष्मजी ने कहा कि "मन इन्द्रियों का संयम रखने वाला, सोमयाग कराके सोमरस पीने वाला, सदाचारी, दयालु, निष्काम, सरल, मृदु, क्रूरता रहित, क्षमाशील हो वही ब्राह्मण कहलाने योग्य है।"[१५] युद्ध में विजय प्राप्त करके जब पाँचों पाँडव बैठे थे तब चारों छोटे-भाइयों ने युधिष्ठिर से पृथ्वी पर राज करने के लिए आग्रह किया, किन्तु युधिष्ठिर किसी प्रकार भी राज्य सम्भालने को तैयार न हुए। तब द्रौपदी अन्त में बोली कि हे राजन् ! आपके विचार तथा भाव क्षत्रियों जैसे नहीं हैं। जो विचार आप में हैं उन्हें देखकर ऐसा लगता है कि आप ब्राह्मण हैं। द्रौपदी ने ब्राह्मण का धर्म बताते हुए युधिष्ठिर से कहा कि "समस्त प्राणियों में मैत्री-भाव, दान लेना, दान देना अध्ययन और तपस्या करना ये ब्राह्मणों के ही कर्त्तव्य हैं"[१६] इस प्रकार द्रौपदी ने भी युधिष्ठिर को बहुत प्रकार से राज्य सँभालने के लिये प्रेरित किया किन्तु वह किसी प्रकार राजी न हुए।

१४—जितेन्द्रियो धर्मपरः स्वाध्याय निरतः शुचिः ।
कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
वनपर्व—अध्याय २०७, श्लो० ३४½

१५—यः स्याद् दान्तः सोमपश्चार्यशील:
सानुक्रोश: सर्वसहो निराशी: ।
ऋजुमृदुरनृशंसः क्षमावान्
स वै विप्रो नेतरः पापकर्मा ॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६३, श्लो० ८

१६—मित्रता सर्वभूतेषु दानमध्ययनं तपः ।
ब्राह्मणस्यैव धर्मः स्यान्न राज्ञो राजसत्तम ॥
शान्तिपर्व—अध्या० १४, श्लो० १५

कौशिक ब्राह्मण से वार्तालाप करती हुई पतिव्रता स्त्री ने ब्राह्मण के सनातन धर्म बताये कि "स्वाध्याय, मनोविग्रह, सरलता और इन्द्रिय निग्रह – ये ब्राह्मण के सनातन धर्म कहे जाते हैं।"[१७] ब्राह्मण को इस लोक में मधुर भाषी तथा सौम्य स्वभाव का होना चाहिये, ऐसा श्रुति का उत्तम वचन है। डुण्डुभ ने रुरु को अहिंसा का उपदेश देते समय ब्राह्मण के धर्म के विषय में कहा कि "अहिंसा, सत्य, क्षमा और वेदों का स्वाध्याय निश्चय ही ये ब्राह्मण के उत्तम धर्म हैं।[१८] जब पराशर अपने पिता के वध से बड़े दुःखी हुए, तब उन्होंने सम्पूर्ण राक्षस कुलों को नष्ट करने के विचार से यज्ञ आरम्भ कर दिया। उस समय उन्होंने तीस अग्नियाँ प्रज्वलित करली थीं और बालक तथा बूढ़े सभी का विनाश करने का विचार कर लिया था। उस समय किसी अन्य ऋषि की उनके पास जाने की हिम्मत नहीं हुई। तब पुलस्त्य स्वयं पराशर के समक्ष उपस्थित हुए और बोले कि आपके पिता की हत्या के विषय में कुछ न जानने वाले सभी निर्दोष राक्षसों का वध करके आपको क्या प्रसन्नता होगी। पराशर से अनेक प्रकार की विनय करते हुए पुलस्त्य बोले कि "शान्त रहना ही (ब्राह्मणों का) श्रेष्ठ धर्म है।"[१९] इस प्रकार ब्राह्मणों का धर्म बता कर पुलस्त्य ने पराशर को शान्त कर लिया तथा महर्षियों के समझाने पर पराशर ने उस राक्षस यज्ञ को समाप्त कर दिया और स्वयं क्रोध को शान्त करके अपना कार्य करने लगे।

१७—धर्मं तु ब्राह्मणस्याहुः स्वाध्यायं दममार्जवम्।
इन्द्रियाणां निग्रहं च शाश्वतं द्विजसत्तम॥
वनपर्व–अध्याय–२०६, श्लोक ३६½

१८—अहिंसा सत्यवचनं क्षमा चेति विनिश्चितम्।
ब्राह्मणस्य परो धर्मो वेदानां धारणापि च।
आदिपर्व-अध्याय–११, श्लोक १५–१५½

१९—शम एव परो धर्मस्तमाचर पराशर।
अधर्मिष्ठं वरिष्ठः सन् कुरुषे त्वं पराशर॥
आदिपर्व—अध्याय १८०, श्लोक १३

धर्म के उत्कृष्ट धर्म इस प्रकार कहे कि "जो नित्य जल से स्नान-सन्ध्या, तर्पण, यज्ञोपवीत धारण, नित्य स्वाध्याय करता है तथा पतितों का अन्न त्याग देता है, सत्य बोलता है, गुरू की सेवा करता है, वह ब्राह्मण कभी ब्रह्मलोक से पतित नहीं होता ।"[२४] सनत्सुजात ने धृतराष्ट्र को मानवोचित कर्तव्यों के विषय में अनेक बातें बताईं । मनुष्य के लिये शोक, क्रोध, लोभ, काम, मान, ईर्ष्या, मोह, तृष्णा, कायरता आदि बारह महान् दोष मनुष्यों के प्राणनाशक हैं। मनुष्यों के अनेक दोष बताने के बाद सनत्सुजात जीने ब्राह्मणों के बारह व्रत तथा छः कर्म भी बताये । उसके बाद ब्राह्मणों के मुख्य धर्म बताते हुए धृतराष्ट्र से कहा कि "इन्द्रियनिग्रह, त्याग और अप्रमाद—इनमें अमृत की स्थिति है । ब्रह्म ही जिनका प्रधान लक्ष्य है, उन बुद्धिमान ब्राह्मणों के ये ही मुख्य साधन है ।"[२५] श्रेष्ठ ब्राह्मण दूसरों की निन्दा कभी नहीं करते हैं ।

श्री कृष्ण ने अर्जुन को तीन प्रकार के सुखों को बताने के बाद चारों वर्णों के गुणों को अलग-अलग बताया । श्री कृष्ण ने ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण इस प्रकार बताये कि "अन्तःकरण का निग्रह करना, धर्मपालन के लिये कष्ट सहना, दूसरों के अपराधों को क्षमा करना, इन्द्रिय और मन को सरल रखना, वेद शास्त्र और ईश्वर, परलोक आदि में श्रद्धा रखना, वेद शास्त्रों का अध्ययन, अध्यापन करना और परमात्मा के तत्त्व का अनुभव करना—ये सबके

२४—नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती
नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी ।
सत्यं ब्रुवन् गुरुवे कर्म कुर्वन् ।
न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ॥
उद्योगपर्व—अध्याय ४०, श्लोक २५

२५—दमस्त्यागोऽप्रमाद इत्येतेष्वमृतं स्थितम् ।
एतानि ब्रह्ममुख्यानां ब्राह्मणानां मनीषिणाम् ॥
उद्योग पर्व—अध्याय ४५, श्लोक ९

सब ही ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।"[२६] ब्राह्मण और क्षत्रिय के मत एक हो जाने पर दुष्टों का, शत्रुओं का विनाश हो जाता है और सतपुरुषों को सुख मिलता है तथा देश में सुख शांति रहती है।

७—क्षत्रिय वल से ब्रह्म तेज वास्तविक है—

जिन क्षत्रिय राजाओं ने अपने बाहुबल का अहंकार ब्राह्मण ऋषियों को दिखाया था वे भी अंत में अपने बाहुबल से परास्त हुए और ऋषियों के तेज बल को ही श्रेष्ठ माना। राजा विश्वामित्र अपनी सेना लेकर वशिष्ठ मुनि के आश्रम पर अपनी गाय लेने आये तो वशिष्ठजी ने बड़े प्रेम सद्भाव से उनसे कह दिया कि गाय को ले जाइये। किन्तु जब अनेक प्रकार के प्रयत्नों के बाद भी वह गाय जब विश्वामित्र के साथ नहीं गई, तो वह वशिष्ठ मुनि पर रोष करने लगे। नन्दिनी गाय ने भी मुनि से कहा कि इस समय आप भी मेरी रक्षा क्यों नहीं कर रहे हैं। ये राजा के सैनिक मुझे डंडों से मार रहे हैं। तब मुनि वशिष्ठ बोले कि नन्दिनी। ब्राह्मणों का धर्म क्षमा है। तब नन्दिनी ने रोष प्रकट करके विश्वामित्र की समस्त सेना को भगा दिया और स्वयं उनके साथ नहीं गई। इस गाय के व्यवहार से क्रोधित होकर राजा विश्वामित्र ने वशिष्ठ मुनि पर अनेक प्रकार के शस्त्रों की वर्षा की। किन्तु धैर्यवान क्षमाशील ब्राह्मण पर जब बाणों का कोई असर नहीं हुआ, तब निराश होकर अहंकारी राजा अपने मन में सोचने लगे कि इसका क्या कारण है कि क्षत्रिय का बाहुबल ब्राह्मण के तपस्यापूर्ण जीवन पर कुछ सफल ही नहीं होता। तब उन्हें ज्ञान हुआ और उन्होंने कहा कि "क्षत्रिय बल तो नाम मात्रका ही बल है, उसे धिक्कार है। ब्रह्मतेज जनित बल ही वास्तविक बल है।"[२७]

२६—शमो दमस्तपः शौचं, क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
भीष्मपर्व—अध्याय ४२, श्लोक ४२

२७—विश्वामित्रः क्षत्रभावान्निर्विण्णो वाक्यमब्रवीत्।
धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्॥
आदि पर्व-अध्याय १७४, श्लोक ४५

६—पंडित के लक्षण—

वेद का अध्ययन और अध्यापन ब्राह्मण का मुख्य कर्तव्य है। विद्या से युक्त मनुष्य विद्वान् कहलाता है। विद्वान् को पंडित भी कहते हैं। आज कल पंडित एक प्रकार से ब्राह्मणों की उपाधि बन गई है। किन्तु वास्तव में ज्ञानवान को ही पंडित कहना चाहिये। महाभारत में विदुर ने धृतराष्ट्र को पंडित के लक्षण बताते हुये कहा है कि "अपने स्वरूप का ज्ञान, उद्योग, दुःख सहने की शक्ति और धर्म में स्थिरता ये गुण जिस मनुष्य को पुरुषार्थ से च्युत नहीं करते वही पण्डित कहलाता है।"[२०] महाभारत में व्यासजी ने शुकदेवजी को ब्राह्मण के कर्तव्य बताते हुए कहा कि ब्राह्मण को वेदों में बताई हुई त्रयी विद्या—'ओइम्' इन तीन अक्षरों से सम्बन्ध रखने वाली प्रणव विद्या का चिन्तन एवं विचार करने चाहिये। वेद को छहों अंगों सहित ऋक्, साम, यजुष एवं अथर्व के मंत्रों का स्वर-व्यंजन के सहित अध्ययन करे। ब्राह्मण सदा सदाचार का वर्ताव करे। किसी जीव को कष्ट न दे। सत्य प्रतिज्ञ बने। संतों की सेवा में रह कर तत्त्वज्ञान प्राप्त करे। सत्पुरुष बने और शास्त्रों की व्याख्या करने में कुशल बने। ब्राह्मण को अपने तेज की वृद्धि करने के लिये क्या करना चाहिये ऐसा पूछा जाने पर व्यासजी बोले कि "हर्ष, मद और क्रोध से रहित जो ब्राह्मण है, वह दुःख से दूर रहता है। दान, वेदाध्यायन, यज्ञ, तप लज्जा, सरलता और इन्द्रिय संयम—इन सद्गुणों से ब्राह्मण अपने तेज की वृद्धि और पाप का नाश करता है।"[२१] संसार रूपी दुःख से उद्धार करने वाला भी केवल मात्र साधन सत्य और ज्ञान है। इस ज्ञान को ब्राह्मणों से ही प्राप्त

२०—आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पंडित उच्यते॥
उद्योग पर्व—अध्याय ३३, श्लोक १५ से आगे

२१—वीतहर्षमदक्रोधो ब्राह्मणो नावसीदति।
दानमध्ययनं यज्ञस्तपो ह्रीरार्जवं दमः॥
एतैर्वर्धयते तेजः पाप्मानं चापकर्षति॥
शान्ति पर्व—अध्याय २३५, श्लोक ७$\frac{१}{२}$

किया जा सकता है। इसलिये दुःखी मनुष्य को शान्ति का मार्ग बताने वाला ज्ञानी ब्राह्मण ही है। उस ज्ञानी ब्राह्मण के धर्म बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि विज्ञ पुरुष प्राचीन इतिहास का एक उदाहरण पिता पुत्र संवाद रूप में दिया करते हैं कि पिता एक ब्राह्मण था, वह स्वाध्याय में ही निपुण था। किन्तु उसका मेधावी नामक लड़का मोक्ष धर्म के ज्ञान में कुशल था। उस पुत्र ने पिता से कहा कि "ब्रह्म में एकीभाव, समता, सत्यपरायणता, सदाचारनिष्ठा, दण्ड का त्याग (अहिंसा), सरलता तथा सब प्रकार के सकाम कर्मों से निवृत्ति इनके समान ब्राह्मण का दूसरा कोई धर्म नहीं है।"[२२] कृष्ण ने संजय को समझाया कि तुम कौरवों की स्वार्थ सिद्धि के लिये क्यों वाग्जाल फैला रहे हो ? संजय पहले तुम चारों वर्णों के विभाग तथा कर्म को देख लो तब ब्राह्मण के कर्म बताते हुए कृष्ण ने संजय से कहा कि "ब्राह्मण अध्ययन, यज्ञ एवं दान करे तथा प्रधान-प्रधान तीर्थों की यात्रा करे, शिष्यों को पढ़ावे और यजमानों का यज्ञ कराने अथवा शास्त्रविहित प्रतिग्रह (दान) स्वीकार करे।"[२३] धृतराष्ट्र को विदुर ने पाण्डवों के साथ उचित न्याय करने के लिये उपदेश दिया। उस उपदेश में विदुरजी ने अनेक प्रकार की लोक-परलोक की बातें धृतराष्ट्रजी से कहीं किन्तु उनकी उचित तथा न्यायसंगत बातों का धृतराष्ट्र पर कोई असर नहीं हुआ और उन्होंने प्रारब्ध पर ही सब कुछ छोड़ दिया। फिर भी विदुरजी ने चारों वर्णों के धर्म बताते हुए ब्राह्मण

२२—नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं
यथैकता समता सत्यता च।
शीले स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं
ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः॥
शान्तिपर्व-अध्याय २७७, श्लोक ३७

२३—अधीयीत ब्राह्मणो वै यजेत
दद्यादीयात् तीर्थ मुख्यानि चैव।
अध्यापयेद् याजयेच्चापि याज्यान्
प्रतिग्रहान् वा विहितान् प्रतीच्छेत्॥
उद्योग पर्व—अध्याय २९, श्लोक २३

धर्म के उत्कृष्ट धर्म इस प्रकार कहे कि "जो नित्य जल से स्नान-सन्ध्या, तर्पण, यज्ञोपवीत धारण, नित्य स्वाध्याय करता है तथा पतितों का अन्न त्याग देता है, सत्य बोलता है, गुरू की सेवा करता है, वह ब्राह्मण कभी ब्रह्मलोक से पतित नहीं होता ।"[२४] सनत्सुजात ने धृतराष्ट्र को मानवोचित कर्तव्यों के विषय में अनेक बातें बताई । मनुष्य के लिये शोक, क्रोध, लोभ, काम, मान, ईर्ष्या, मोह, तृष्णा, कायरता आदि बारह महान् दोष मनुष्यों के प्राणनाशक हैं । मनुष्यों के अनेक दोष बताने के बाद सनत्सुजात जीने ब्राह्मणों के बारह व्रत तथा छः कर्म भी बताये । उसके बाद ब्राह्मणों के मुख्य धर्म बताते हुए धृतराष्ट्र से कहा कि "इन्द्रियनिग्रह, त्याग और अप्रमाद—इनमें अमृत की स्थिति है । ब्रह्म ही जिनका प्रधान लक्ष्य है, उन बुद्धिमान ब्राह्मणों के ये ही मुख्य साधन है ।"[२५] श्रेष्ठ ब्राह्मण दूसरों की निन्दा कभी नहीं करते हैं ।

श्री कृष्ण ने अर्जुन को तीन प्रकार के सुखों को बताने के बाद चारों वर्णों के गुणों को अलग-अलग बताया । श्री कृष्ण ने ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण इस प्रकार बताये कि "अन्तःकरण का निग्रह करना, धर्मपालन के लिये कष्ट सहना, दूसरों के अपराधों को क्षमा करना, इन्द्रिय और मन को सरल रखना, वेद शास्त्र और ईश्वर, परलोक आदि में श्रद्धा रखना, वेद शास्त्रों का अध्ययन, अध्यापन करना और परमात्मा के तत्त्व का अनुभव करना—ये सबके

२४— नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती
नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी ।
सत्यं ब्रुवन् गुरुवे कर्म कुर्वन् ।
न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ।।
उद्योगपर्व—अध्याय ४०, श्लोक २५

२५—दमस्त्यागोऽप्रमाद इत्येतेष्वमृतं स्थितम् ।
एतानि ब्रह्ममुख्यानां ब्राह्मणानां मनीषिणाम् ।।
उद्योग पर्व—अध्याय ४५, श्लोक ७

सब ही ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं ।"[२६] ब्राह्मण और क्षत्रिय के मत एक हो जाने पर दुष्टों का, शत्रुओं का विनाश हो जाता है और सतपुरुषों को सुख मिलता है तथा देश में सुख शांति रहती है ।

७—क्षत्रिय बल से ब्रह्म तेज वास्तविक है—

जिन क्षत्रिय राजाओं ने अपने बाहुबल का अहंकार ब्राह्मण ऋषियों को दिखाया था वे भी अंत में अपने बाहुबल से परास्त हुए और ऋषियों के तेज बल को ही श्रेष्ठ माना । राजा विश्वामित्र अपनी सेना लेकर वशिष्ठ मुनि के आश्रम पर अपनी गाय लेने आये तो वशिष्ठजी ने बड़े प्रेम सद्भाव से उनसे कह दिया कि गाय को ले जाइये । किन्तु जब अनेक प्रकार के प्रयत्नों के बाद भी वह गाय जब विश्वामित्र के साथ नहीं गई, तो वह वशिष्ठ मुनि पर रोष करने लगे । नन्दिनी गाय ने भी मुनि से कहा कि इस समय आप भी मेरी रक्षा क्यों नहीं कर रहे हैं । ये राजा के सैनिक मुझे डंडों से मार रहे हैं । तब मुनि वशिष्ठ बोले कि नन्दिनी । ब्राह्मणों का धर्म क्षमा है । तब नन्दिनी ने रोष प्रकट करके विश्वामित्र की समस्त सेना को भगा दिया और स्वयं उनके साथ नहीं गई । इस गाय के व्यवहार से क्रोधित होकर राजा विश्वामित्र ने वशिष्ठ मुनि पर अनेक प्रकार के शस्त्रों की वर्षा की । किन्तु धैर्यवान क्षमाशील ब्राह्मण पर जब बाणों का कोई असर नहीं हुआ, तब निराश होकर अहंकारी राजा अपने मन में सोचने लगे कि इसका क्या कारण है कि क्षत्रिय का बाहुबल ब्राह्मण के तपस्यापूर्ण जीवन पर कुछ सफल ही नहीं होता । तब उन्हें ज्ञान हुआ और उन्होंने कहा कि "क्षत्रिय बल तो नाम मात्रका ही बल है, उसे धिक्कार है । ब्रह्मतेज जनित बल ही वास्तविक बल है ।"[२७]

२६—शमो दमस्तपः शौचं, क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।
भीष्मपर्व–अध्याय ४२, श्लोक ४२

२७—विश्वामित्रः क्षत्रभावान्निर्विण्णो वाक्यमब्रवीत् ।
धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम् ।।
आदि पर्व-अध्याय १७४, श्लोक ४५

जब संजय ने धृतराष्ट्र को श्रीकृष्ण के विषय में बताया तो वह कहने लगे कि संजय। मुझे वह मार्ग बताओ, जिससे चलकर मैं सम्पूर्ण इन्द्रियों के स्वामी परममोक्ष स्वरूप भगवान श्री कृष्ण को प्राप्त कर सकूँ। तब संजय ने कहा कि "विषयों की ओर दौड़ने वाली इन्द्रियों की भोग कामनाओं का पूर्ण सावधानी के साथ त्याग करना, प्रमाद से दूर रहना तथा किसी प्राणी की हिंसा न करना—ये तीन निश्चय ही तत्त्व ज्ञान की उत्पत्ति में कारण हैं"[२८] जिसे तत्व ज्ञान का बोध हो जाता है, वही मनुष्य श्रीकृष्ण स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने में कृतकृत्य हो जाता है। ब्रह्मभाव की प्राप्ति क्षमा से ही प्राप्त होती है ऐसा युधिष्ठिर ने द्रौपदी से कहा। जब द्रोपदी ने युधिष्ठिर से कहा कि आपको अपने शत्रु दुर्योधन के प्रति रोष क्यों नहीं होता, आप उसकी सब अनीतियों को सहन करते जाते हैं। इससे आप भी दुःख उठा रहे हैं तथा आपके कारण ही आपके ये चारों भाई भी दुःखों को सहन कर रहे हैं। आप स्वयं कुछ न करें किन्तु इन अपने छोटे भाइयों को तो आज्ञा देवें। जिससे ये लोग उस दुरात्मा पापी दुर्योधन को उसके न करने योग्य कार्यों का बदला दे सकें। द्रौपदी की ऐसी बातें सुन कर युधिष्ठिर बोले कि "विद्वान पुरुष को सदा क्षमा का ही आश्रय लेना चाहिये। मनुष्य जब सब कुछ सहन कर लेता है, तब वह ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है"[२९] ब्रह्मभाव प्राप्त होना ही भगवान श्रीकृष्ण की प्राप्ति होना समझना चाहिये। ब्रह्मज्ञानी के लक्षण बतलाते हुए व्यासजी ने शुकदेवजी से कहा कि "जो जनसमुदाय को सर्प सा समझ कर उसके निकट जाने से डरता है, स्वादिष्ट भोजन-जनित तृप्ति को नरक-सा मान कर उससे दूर रहता है और स्त्रियों को मुर्दों के समान मान कर उनकी ओर से विरक्त रहता है, उसे देवता ब्रह्मज्ञानी मानते हैं।"[३०] जो मनुष्य

२८—इन्द्रियाणामुदीर्णानां कामत्यागोऽप्रमादतः :
अप्रमादोऽविहिंसा च ज्ञानयोनिरसंशयम् ॥
उद्योग पर्व—अध्याय ६९, श्लोक १८

२९—क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता ।
यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
वनपर्व—अ० २९, श्लोक ४२

३०—अहेरिव गणाद् भीतः सौहित्यान्नरकादिव ।
कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४७, श्लोक १३

सम्मान प्राप्त होने पर भी हर्षित नहीं होता, अपमानित होने पर कुपित नहीं होता तथा जिसने सम्पूर्ण प्राणियों को अभय-दान कर दिया है उसी को लोग ब्रह्मज्ञानी मानते हैं। व्यासजी ने शुकदेवजी से कहा कि "जिसका जीवन धर्मके लिये और धर्म भगवान श्री हरि के लिये होता है। जिसके दिन और रात धर्म पालन में ही व्यतीत होते हैं उसे धर्मज्ञ मानते हैं।"[३१]

शेप तीन कर्म केवल ब्राह्मण के लिये ही होते हैं। दान लेना, यज्ञ कराना, तथा अध्यापन ये तीन कर्म केवल ब्राह्मण के लिये हैं, ऐसा धर्म-शास्त्रों में लिखा है। राजा श्वेताक वल और पराक्रम में इन्द्र के समान थे उनके समय में यज्ञ करने वाला, दाता और बुद्धिमान दूसरा कोई नहीं था। उनके मन में प्रतिदिन यज्ञ और दान के सिवा दूसरा कोई विचार नहीं उठता था। इस बुद्धिमान नरेश के साथ लगातार वर्षों तक यज्ञ करते-करते ऋत्विजों की आँखें धूयें से व्याकुल हो उठी थी। इस कारण खिन्न मन होकर वह ऋत्विज राजा को छोड़कर चले गये, फिर उनकी इच्छा से ही राजा ने दूसरे ऋत्विजों को वुलाकर अपने यज्ञ कर्म पूर्ण कराये। किन्तु कुछ समय के वाद वह दूसरे ऋत्विज भी राजा का साथ छोड़ गये। तव दुःखी होकर राजा श्वेताक ने शिव को प्राप्त करने के लिये कठोर तपस्या की। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर शिव ने उन्हें दर्शन भी दिये किन्तु उनकी इच्छा पूर्ण करने के विपय में स्वयं शिव ने राजा से कहा कि "शास्त्रीय विधि के अनुसार यज्ञ कराने का अधिकार ब्राह्मणों को ही है।"[३२] शिव ने कहा कि मैं ब्राह्मणों का कार्य कोई नहीं कर सकता हूँ। यज्ञ कराने का कार्य केवल ब्राह्मण ही करा सकता है। इससे प्रतीत होता है कि ब्राह्मण का कार्य शास्त्री ज्ञानपूर्ण तथा तपस्या से पूर्ण होता था, इसी कारण उसके कार्य का कराना दूसरों के लिये वड़ा कठिन तथा असम्भव था।

---

३१ —जीवितं यस्य धर्मार्थं धर्मोहर्यर्थमेव च।
अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४५, श्लोक २३

३२—तोषितोऽहं नृपश्रेष्ठ त्वयेहाद्येन कर्मणा।
याजनं ब्राह्मणानां तु विविहृष्टं परंतपः॥
आदिपर्व—अ० २२२, श्लोक ५१

६. दान लेना ब्राह्मणधर्म—

दान लेना भी केवल ब्राह्मणों का धर्म है। अन्य द्विजों को दान लेने का अधिकार नहीं है। दान देने का अधिकार तो सब द्विजों को है, किन्तु दान लेना केवल ब्राह्मण को बताया है ययाति और अष्टक में जब संवाद हुआ तो अष्टक ने ययाति से कहा कि स्वर्ग लोक में जो लोक विद्यमान हैं, वे सब आपको देता हूँ तथा अन्तरिक्ष या द्युलोक में मेरे लिये जो स्थान हैं, उनमें आप शीघ्र ही मोह रहित चले जाँय। तब ययाति ने कहा कि "ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण ही प्रतिग्रह लेता है। मेरे जैसा क्षत्रिय कदापि नहीं। क्षत्रियों को दान करना चाहिये, लेना नहीं।"[33] ययाति ने अष्टक से कहा कि 'जो ब्राह्मण नहीं है उसे दीन याचक बनकर कभी जीवन नहीं बिताना चाहिये। याचना तो विद्या से दिग्विजय करने वाले विद्वान ब्राह्मण की पत्नी है। अर्थात् ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण को ही याचना करने का अधिकार है।[34]

वैशम्पायन जी ने मार्कण्डेय जी से दान देने से प्राप्त सुख तथा स्वर्ग के विषय में पूछा कि किन अवस्थाओं में दान देकर मनुष्य इन्द्रलोक का सुख भोगता है। मार्कण्डेय जी ने कहा कि सोलह प्रकार के दान व्यर्थ हैं। (१) संन्यास आश्रम से फिर गृहस्थ आश्रम आये हुए पतित को दिया हुआ दान

३३—नास्मद्विधो ब्राह्मणो ब्रह्मविच्च
प्रतिग्रहे वर्तते राजमुख्य।
यथा प्रदेयं सततं द्विजेभ्य—
स्तथाददं पूर्वमहं नरेन्द्र॥

आदिपर्व—अध्याय ९२, श्लो० १२

३४—ना ब्राह्मणः कृपणो जातु जीवेद्
याच्ञापि स्याद् ब्राह्मणी वीरपत्नी।
सोऽहं नैवाकृतपूर्वं चरेयं
विधित्समानः किमु तत्र साधु॥

आदिपर्व—अध्या० ९२, श्लो० १२

व्यर्थ है। (२) अन्याय से कमाये हुए धन का दान व्यर्थ है। (३) पतित-ब्राह्मण। (४) चोर को दिया हुआ दान व्यर्थ है। (५) आदि गुरुजनों को दिया हुआ दान व्यर्थ है क्योंकि इनकी सेवा करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। (६) मिथ्यावादी। (७) पापी। (८) कृतघ्न। (९) ग्राम पुरोहित (१०) वेद विक्रय करने वाले। (११) शूद्र से यज्ञ कराने वाले। (१२) नीच ब्राह्मण। (१३) शूद्रा के पति ब्राह्मण। (१४) साँप को पकड़ कर व्यवसाय करने वाले। (१५) सेवकों को। (१६) स्त्री समूह को दिया हुआ दान व्यर्थ है। इस प्रकार ये सोलह दान निष्फल बताये हैं। सेवकों और स्त्रियों का पालन-पोषण करना तो मनुष्य का कर्तव्य है ही। इसलिये वह उनको देना दान की श्रेणी में नहीं है।

१०. सबका उद्धारक ब्राह्मण—

मार्कण्डेय जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "ब्राह्मण जप, मन्त्र, पाठ, होम स्वाध्याय और वेदाध्ययन के द्वारा ही वेदमयी नौका का निर्माण करके दूसरों को भी तारते हैं और स्वयं भी तरते हैं।"[३५] अतः दान श्रेष्ठ ब्राह्मण को ही देना चाहिये। युधिष्ठिर के पूछने पर मार्कण्डेय जी ने दान किसे देना चाहिये के विषय में कहा कि "सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता मानव उसी ब्राह्मण को दान दे, जो दाता का तथा अपना भी संसार सागर से उद्धार कर सके। वही शक्तिशाली ब्राह्मण दान देने योग्य है।"[३६] विद्वान तथा श्रेष्ठ ब्राह्मणों की जूठन साफ करना, चन्दन, माला आदि से उन्हें अलंकृत करना, उनकी सेवा

३५—जपैर्मन्त्रैश्च होमैश्च स्वाध्यायाध्ययनेन च।
नावं वेदमयीं कृत्वा तारयन्ति तरन्ति च।

वनपर्व—अध्याय २००, श्लो० १३

३६—तस्मिन् देयं द्विजे दानं सर्वागमविजानता।
प्रदातारं यथाऽऽत्मानं तारयेद् यः स शक्तिमान्॥

वनपर्व—अध्या० २००, श्लो० २१

पूजा करना, और उनके पैर आदि अङ्गों को दबाना, इनमें से एक-एक कार्य गो दान से भी अधिक महत्त्व रखता है।

मार्कण्डेयजी ने दान का महत्त्व बताते हुए युधिष्ठिर से कपिला गौ का दान बताते हुए कहा कि "कपिला गौ का दान करने से मनुष्य निस्संदेह सब पापों से मुक्त हो जाता है। इसलिये कपिला गौ को अलंकृत करके श्रेष्ठ ब्राह्मण को दान देना चाहिये।"[३७] गौ का दान एक ही ब्राह्मण को देना चाहिये। यदि अनेक ब्राह्मणों को एक गौ दी जायेगी तो वह उसे बेच कर उसके रुपयों को आपस में बाँट लेंगे और दाता को दान का कोई पुण्य नहीं मिलेगा। श्रेष्ठ और विद्वान ब्राह्मण को स्वर्णदान देने से स्वर्ण मुद्राओं के दान का फल प्राप्त होता है और भूमि का दान देने से दाता के सभी मनोवांछित भोग स्वतः आ जाते हैं। सब दानों से बढ़कर अन्न का दान है। वेदों में अन्न को प्रजापति कहा गया है। संसार में सब प्राणियों के लिये अन्न ही सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है। इसलिये स्वयं तैयार किया हुआ भोजन ब्राह्मणों को अर्पित करे तो उस पुण्यकर्म के प्रभाव से प्रजापति के लोक में जाता है। अन्न का दान सत्य से भी बढ़कर है।

११. ब्राह्मण धर्म का सेतु है –

अध्ययन-अध्यापन और यजन-याजन के द्वारा ब्राह्मण विद्या एवं धर्म की रक्षा करते रहे हैं। महाभारत में उनको धर्म का सेतु कहा गया है।

युधिष्ठिर ने जब भीष्म से पूछा कि संसार में कौन मनुष्य पूज्य है। तब भीष्म ने कहा कि "ब्राह्मणों की पूजा करे। ब्राह्मणों को नमस्कार करे। उनके प्रति सुयोग्य पुत्र अपने पिता के प्रति जैसा वर्ताव करता है वैसा वर्ताव

३७—कपिलायाः प्रदानात् तु मुच्यते नात्र संशयः।
तस्मादलंकृता दद्यात् कपिलां तु द्विजायते॥

वनपर्व—अध्या० २००, श्लो० २६

करे। क्योंकि मनीषी ब्राह्मण इन सब लोकों को धारण करते हैं।"[३८] ब्राह्मण समस्त जगत की धर्ममर्यादा का संरक्षण करने वाले सेतु के समान है। वे धन का त्याग कर प्रसन्न होते हैं। वाणी का संयम रखते हैं। ब्राह्मण ही संसार में केवल ऐसा प्राणी है, जो दृढ़तापूर्वक और शरीर को दुःख देकर व्रत का पालन करने वाला है। ब्राह्मण शास्त्रों का निर्माता और परम यशस्वी है। तपस्या ही जिनका धन है और वाणी ही जिनका बल है। तपस्वी ब्राह्मण सबके पथ-प्रदर्शक, धर्मों की उत्पत्ति के कारण सूक्ष्मदर्शी होते हैं। भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि "ब्राह्मण धर्म की ही इच्छा रखने वाला, पुण्य कर्मों द्वारा धर्म में ही स्थित रहने वाले धर्म के सेतु हैं। उन्हीं का आश्रय लेकर चारों प्रकार की सारी प्रजा जीवन धारण करती है।"[३९] ब्राह्मणों ने सर्वदा धर्म का भार वहन किया है। वे धर्म के भार से कभी कष्ट का अनुभव नहीं करते हैं। वे अध्यात्म-तत्त्व का चिन्तन करने वाले हैं। ब्राह्मण बूढ़ा हो या बालक सभी सम्मान के योग्य हैं। ब्राह्मण भूतल का देवता होता है ब्रह्माजी ने ब्राह्मणों का सम्मान करना क्षत्रिय धर्म है, बताते हुए महर्षियों से इस प्रकार कहा कि "राजा धर्म पालन के इच्छुक होते हैं और ब्राह्मण धर्म के सेतु हैं। अतः राजा को सदा ब्राह्मणों की रक्षा करनी चाहिये।"[४०]

शिशुपाल ने जब श्रीकृष्ण की बुराई की तो युधिष्ठिर तथा भीष्म का मन बहुत दुःखी हुआ। पहले युधिष्ठिर ने ही कृष्ण के स्वरूप को बताते हुए

३८—ते पूज्यास्ते नमस्कार्या वर्तेथास्तेषु पुत्रवत्।
ते हि लोकानिमान् सर्वान् धारयन्ति मनीषिणः॥

३९—धर्मकामाः स्थिता धर्मे सुकृतैर्धर्मसेतवः।
यान् समाश्रित्य जीवन्ति प्रजाः सर्वाश्चतुर्विधा॥

अनुशासनपर्व—अध्या० १५१, श्लो० ३-७

४०—धर्मकामाश्च राजानो ब्राह्मणाधर्मसेतवः।
तस्माद् राजा द्विजातीनां प्रयतेत स्म रक्षणे॥

आश्वमेधिकपर्व—अध्या० ४३, श्लो० १७

उन्हें सब जगत का पूजनीय बताया किन्तु जब शिशुपाल ने इसे भी न माना। तब भीष्म ने कहा कि "ब्राह्मणों में अधिक ज्ञानी-पुरुष ही पूजनीय समझा जाता है और क्षत्रियों में अधिक बल रखने वाला पूजनीय समझा जाता है।[४१]

१२. धर्मपालन और सात्विक जीवन—

प्राचीनकाल में ब्राह्मणों का जीवन बड़ा सरल और सात्विक था। वह लोग अपने व्रतों के पालन में कठोर से कठोर कष्ट शरीर से उठाते थे। उनका भोजन बहुत कम तथा सात्विक होता था, वे भोजन में स्वाद नहीं देखते थे। भूख बुझाने मात्र के लिये ही भोजन करते थे। कुछ तपस्वी तो फलाहार करके ही अपना जीवन धारण करते थे। इस प्रकार प्राचीनकाल में ब्राह्मणों का जीवन बड़ा सरल तथा कठोर व्रतों से पूर्ण था। द्रौपदी के स्वयंवर में जब सब बड़े-बड़े राजा निशाना लगाने में असमर्थ हो गये, तब ब्राह्मणों में बैठे ब्राह्मण वेषधारी अर्जुन उस निशाने को लगाने के लिये गये। तब ब्राह्मण लोग आपस में इस प्रकार कहने लगे कि "सम्पूर्ण लोकों में देवता, असुर आदि के रूप में विचरने वाले पुरुषों का ऐसा कौनसा कार्य नहीं है, जो ब्राह्मणों के लिये असाध्य हो। ब्राह्मण लोग जल पीकर, हवा खाकर अथवा फलाहार करके (भी) दृढ़तापूर्वक व्रत का पालन करते हैं।"[४२] ब्राह्मणलोग आपस में उस दुर्बल ब्राह्मण वेषधारी अर्जुन को देख कर कहने लगे कि इसके रूप को देखकर हम लोगों को चिंतित नहीं होना चाहिये क्योंकि ब्राह्मण मंत्र-बल, योग-बल अथवा आत्म-बल से इस सम्पूर्ण जगत को स्तब्ध कर सकते हैं। अतः उसके प्रति किसी को तुच्छ बुद्धि नहीं रखनी चाहिये। अर्जुन को

४१—ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ॥

सभापर्व—अध्याय ३८, श्लो० १७

४२—ब्राह्मणानामसाध्यं च नृषु संस्थानचारिषु ।
अब्भक्षा वायुभक्षाश्च फलाहारा दृढव्रताः ।

आदिपर्व—अध्या० १८७, श्लो० १२

देखकर ब्राह्मणों ने आपस में इस प्रकार कहा कि "शरीर से दुर्बल होने पर भी ब्राह्मण अपने तेज के कारण अत्यन्त वलवान होते हैं। ब्राह्मण भला-वुरा, सुखद्-दुःखद और छोटा-वड़ा-जो भी कर्म प्राप्त होता है, कर लेता है।"[४३] ब्राह्मण का किसी को अपमान नहीं करना चाहिये।

३. वचन में निर्भीकता—

ब्राह्मणों की वाणी और विचार में निर्भीकता होती है। वह सत्य वात कहने में कभी नहीं डरता तथा अपने विचारों को गलत वताने वाले से भी विवाद करने में कभी नहीं हिचकता। वह ज्ञानी होता है, इसलिये दूसरों के द्वारा गलत विचार वताने पर वह उनके ज्ञान को भी देखना चाहता है और नम्रतापूर्वक उनके ज्ञान को समझने का यत्न करता है। मगध की राजधानी में जव भीम, अर्जुन और श्रीकृष्ण पर्वत तोड़कर जरासंध के महल में पहुँच गये, तव भीम,अर्जुन तथा श्री कृष्ण का वेश उस समय स्नातक ब्राह्मण जैसा था; हाथों में माला थी, चन्दन धारण किये हुए थे। उनका ऐसा वेष देख कर जरासंध ने उनसे पूछा कि आप कौन हैं? तव वोलने में चतुर श्रीकृष्ण ने कहा कि वेप के अनुसार स्नातक ब्राह्मण समझ सकते हो। स्नातक व्रत का पालन करने वाले ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, तीनों वर्णों के लोग हो सकते हैं। किन्तु जरासंध को उनके वेष के अनुसार पर्वत को तोड़ने के कार्य के विषय में कुछ समझ में नहीं आया। तव उसने कहा कि "ब्राह्मण के तो प्रायः वचन में ही वीरता होती है, उसकी क्रिया में नहीं। आपने जो पर्वत शिखर तोड़ने का कार्य किया है वह वेष तथा वर्ण के सर्वथा विपरीत है"[४४] ब्राह्मणों के

४३—दुर्बला अपि विप्रा हि वलीयांसः स्वतेजसा।
ब्राह्मणो नावमन्तव्यः सदसद् वा समाचरन्॥
आदिपर्व—अध्या० १८७, श्लो० १३

४४—वदध्वं वाचि वीर्यं च ब्राह्मणस्य विशेषतः।
कर्म चैतद् विलिङ्गस्थं किं वोऽद्य प्रसमीक्षितम्॥
सभापर्व—अध्याय २१, श्लो० ४६

उन्हें सब जगत का पूजनीय बताया किन्तु जब शिशुपाल ने इसे भी न माना। तब भीष्म ने कहा कि "ब्राह्मणों में अधिक ज्ञानी-पुरुष ही पूजनीय समझा जाता है और क्षत्रियों में अधिक बल रखने वाला पूजनीय समझा जाता है।[४१]

१२. धर्मपालन और सात्विक जीवन—

प्राचीनकाल में ब्राह्मणों का जीवन बड़ा सरल और सात्विक था। वह लोग अपने व्रतों के पालन में कठोर से कठोर कष्ट शरीर से उठाते थे। उनका भोजन बहुत कम तथा सात्विक होता था, वे भोजन में स्वाद नहीं देखते थे। भूख बुझाने मात्र के लिये ही भोजन करते थे। कुछ तपस्वी तो फलाहार करके ही अपना जीवन धारण करते थे। इस प्रकार प्राचीनकाल में ब्राह्मणों का जीवन बड़ा सरल तथा कठोर व्रतों से पूर्ण था। द्रौपदी के स्वयंवर में जब सब बड़े-बड़े राजा निशाना लगाने में असमर्थ हो गये, तब ब्राह्मणों में बैठे ब्राह्मण वेषधारी अर्जुन उस निशाने को लगाने के लिये गये। तब ब्राह्मण लोग आपस में इस प्रकार कहने लगे कि "सम्पूर्ण लोकों में देवता, असुर आदि के रूप में विचरने वाले पुरुषों का ऐसा कौनसा कार्य नहीं है, जो ब्राह्मणों के लिये असाध्य हो। ब्राह्मण लोग जल पीकर, हवा खाकर अथवा फलाहार करके (भी) दृढ़तापूर्वक व्रत का पालन करते हैं।"[४२] ब्राह्मणलोग आपस में उस दुर्बल ब्राह्मण वेषधारी अर्जुन को देख कर कहने लगे कि इसके रूप को देखकर हम लोगों को चिंतित नहीं होना चाहिये क्योंकि ब्राह्मण मंत्र-बल, योग-बल अथवा आत्म-बल से इस सम्पूर्ण जगत को स्तब्ध कर सकते हैं। अतः उसके प्रति किसी को तुच्छ बुद्धि नहीं रखनी चाहिये। अर्जुन को

४१—ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ॥
सभापर्व—अध्याय ३८, श्लो० १७

४२—ब्राह्मणानामसाध्यं च नृषु संस्थानचारिषु ।
अब्भक्षा वायुभक्षाश्च फलाहारा दृढव्रताः ।
आदिपर्व—अध्या० १८७, श्लो० १२

देखकर ब्राह्मणों ने आपस में इस प्रकार कहा कि "शरीर से दुर्बल होने पर भी ब्राह्मण अपने तेज के कारण अत्यन्त बलवान होते हैं। ब्राह्मण भला-बुरा, सुखद्-दुःखद और छोटा-बड़ा—जो भी कर्म प्राप्त होता है, कर लेता है।"[४३] ब्राह्मण का किसी को अपमान नहीं करना चाहिये।

१३. वचन में निर्भीकता—

ब्राह्मणों की वाणी और विचार में निर्भीकता होती है। वह सत्य बात कहने में कभी नहीं डरता तथा अपने विचारों को गलत बताने वाले से भी विवाद करने में कभी नहीं हिचकता। वह ज्ञानी होता है, इसलिये दूसरों के द्वारा गलत विचार बताने पर वह उनके ज्ञान को भी देखना चाहता है और नम्रतापूर्वक उनके ज्ञान को समझने का यत्न करता है। मगध की राजधानी में जब भीम, अर्जुन और श्रीकृष्ण पर्वत तोड़कर जरासंध के महल में पहुँच गये, तब भीम,अर्जुन तथा श्री कृष्ण का वेश उस समय स्नातक ब्राह्मण जैसा था; हाथों में माला थी, चन्दन धारण किये हुए थे। उनका ऐसा वेष देख कर जरासंध ने उनसे पूछा कि आप कौन हैं? तब बोलने में चतुर श्रीकृष्ण ने कहा कि वेष के अनुसार स्नातक ब्राह्मण समझ सकते हो। स्नातक व्रत का पालन करने वाले ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, तीनों वर्णों के लोग हो सकते हैं। किन्तु जरासंध को उनके वेष के अनुसार पर्वत को तोड़ने के कार्य के विषय में कुछ समझ में नहीं आया। तब उसने कहा कि "ब्राह्मण के तो प्रायः वचन में ही वीरता होती है, उसकी क्रिया में नहीं। आपने जो पर्वत शिखर तोड़ने का कार्य किया है वह वेष तथा वर्ण के सर्वथा विपरीत है"[४४] ब्राह्मणों के

४३—दुर्वला अपि विप्रा हि वलीयांसः स्वतेजसा ।
ब्राह्मणो नावमन्तव्यः सदसद् वा समाचरन् ॥
आदिपर्व—अध्या० १८७, श्लो० १३

४४—वदथ्वं वाचि वीर्यं च ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
कर्म चैतद् विलिङ्गस्थं किं वोऽद्य प्रसमीक्षितम् ॥
सभापर्व—अध्याय २१, श्लो० ४३

तेज और तप की प्रशंसा करते हुए राजा कुन्तिभोज ने अपनी कन्या पृथा से कहा कि "ब्राह्मण ही उत्कृष्ट तेज है, ब्राह्मण ही परम तप है, ब्राह्मणों के नमस्कार से ही सूर्यदेव आकाश में प्रकाशित हो रहे हैं।"[४५] इस प्रकार प्राचीनकाल में ब्राह्मणों का तेज तथा तप बहुत पूजनीय था। इस तेज के प्रभाव को देखकर ही कुन्तिभोज राजा ने अपनी कन्या ब्रह्मर्षि दुर्वासा को सौंप दी थी। ब्राह्मणों का तेज अवर्णनीय था। उनके तप के समक्ष, अज्ञानी धूर्त लोग टिक नहीं सकते थे, उनमें कुछ ऐसा प्रभाव था कि अच्छे-अच्छे ज्ञानी धर्मात्मा राजा ब्राह्मणों का बड़ा सम्मान तथा आदर करते थे।

---

४५ –ब्राह्मणो हि परं तेजो ब्राह्मणो हि परं तपः।
ब्राह्मणानां नमस्कारैः सूर्यो दिवि विराजते॥
वनपर्व—अध्याय ३०३, श्लो० १६

अध्याय—९

महाभारत में क्षत्रिय-धर्म

१—क्षत्रिय धर्म की श्रेष्ठता—

वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था में ब्राह्मणों और क्षत्रियों की महिमा सबसे अधिक है। धर्म और विद्या की श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ माना गया है तथा उन्हें पृथ्वी के देवता की पदवी दी गई है और उनके लिए अध्यापन, याजन आदि के कर्तव्यों का विधान किया गया है। धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से ब्राह्मणों की यह श्रेष्ठता प्राचीन भारतीय समाज में प्रतिष्ठित आध्यात्मिक मूल्यों की श्रेष्ठता का फल है। इसी श्रेष्ठता की धारणा से पुरुष सूक्त की कल्पना में ब्राह्मणों को विराट पुरुष का मुख बताया गया है। किन्तु लौकिक और व्यावहारिक रूप की दृष्टि से क्षत्रिय धर्म की श्रेष्ठता भी असन्दिग्ध है। जिस प्रकार ब्राह्मणों का मुख्य कर्म धर्म और विद्या की साधना है, उसी प्रकार क्षत्रियों का मुख्य कर्म समाज की रक्षा है। सुरक्षा की स्थिति धर्म और विद्या की साधना के लिए आवश्यक है। अरक्षा की स्थिति में इनकी साधना भंग हो जाती है। रक्षा सभी श्रेष्ठ मूल्यों की साधना का मूल आधार है। रक्षा की दृष्टि से क्षत्रिय धर्म का सबसे अधिक मूल्य है। इसी दृष्टि से महाभारतकार ने भी क्षत्रिय धर्म की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है। महाभारत की कथा मुख्य रूप से क्षत्रियों का ही चरित है। युद्ध क्षत्रिय का मुख्य धर्म है। महाभारत भी कौरव पांडवों के युद्ध की कथा है। क्षत्रिय धर्म की यह श्रेष्ठता धर्मशास्त्रों के अनुकूल है। मनु याज्ञवल्क्य आदि धर्माचार्यों ने भी इसे स्वीकृत किया है। जब क्षत्रिय अन्य वर्णों की रक्षा करते हैं, तभी सब वर्ण अपने धर्म का समुचित पालन कर सकते हैं। इस प्रकार क्षत्रिय धर्म समाज के धर्म-प्रासाद का स्तम्भ है। रक्षा के धर्म का पालन पराक्रम से होता है। मनुष्य के बाहु इस पराक्रम के पीठ हैं। इसीलिए पुरुष सूक्त की कल्पना में क्षत्रियों को विराट पुरुष का बाहु माना गया है (बाहू राजन्यः स्मृतः)। यदि ब्राह्मण समाज के मुख हैं, तो क्षत्रिय समाज के बाहु हैं। ब्राह्मण धर्म और विद्या की साधना तथा इनका प्रचार करते हैं। क्षत्रिय अपने पराक्रम और बाहुबल से समाज

की रक्षा करके उसके लिए साधना और प्रचार के लिए वांछित परिस्थित का निर्माण करते हैं तथा इन्हें सम्भव बनाते हैं।

महाभारत में क्षत्रियों की श्रेष्ठता और उनके धर्म का विशेषता से वर्णन किया गया है। क्षात्र-धर्म की श्रेष्ठता बताते हुए इन्द्र रूप धारी विष्णु भगवान ने राजा मान्धाता से कहा कि "संसार में क्षात्र धर्म ही सब धर्मों में श्रेष्ठ, सनातन, नित्य अविनाशी, मोक्ष तक पहुँचाने वाला सर्वतोमुखी है।"[१] क्षात्र-धर्म के पालन करने वाले श्रेष्ठ राजा के भय से उच्छृंखल, कामी, क्रोधी, लोग पाप नहीं कर पाते और धर्मों का पालन करने वाले श्रेष्ठ पुरुष राजा से सुरक्षित होकर सदाचार पूर्वक अपने धर्म का सदुपदेश करते हैं। युधिष्ठिर को क्षात्र-धर्म की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्मजी ने कहा है कि "धर्मज्ञ पुरुषों का कथन है कि अन्य समस्त धर्मों का आश्रय तो अल्प है ही, फल भी अल्प ही है। परन्तु क्षात्र-धर्म का आश्रय भी महान है और उसके फल भी बहुसंख्यक एवं परमकल्याण रूप हैं, अतः क्षात्र-धर्म के समान दूसरा कोई धर्म नहीं है"।[२]

क्षत्रिय-धर्म की श्रेष्ठता बताते हुए इन्द्र ने मान्धाता से इस प्रकार कहा कि "शेष धर्म असंख्य है और उनका फल भी विनाशशील है। इस क्षात्र धर्म में सभी धर्मों का समावेश हो जाता है, इसलिए क्षात्र धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है।"[३] इन्द्र ने मान्धाता से कहा कि विष्णु से पहले राजधर्म ही प्रवृत्त हुआ

१—सर्वधर्मपरं क्षात्रं लोकश्रेष्ठं सनातनम्।
शश्वदक्षरपर्यन्तमक्षरं सर्वतोमुखम्॥
शान्तिपर्व—अध्याय—६४, श्लोक ३०

२—अल्पाश्रयानल्पफलान् वदन्ति धर्मानन्यान् धर्मविदो मनुष्याः,
महाश्रयं बहुकल्याणरूपं, क्षात्रं धर्मं नेतरं प्राहुरार्याः।
शान्तिपर्व—अध्याय ६३, श्लोक २६

३—शेषाः सृष्टा ह्यन्तवन्तोः ह्यनन्ताः
सप्रस्थानाः क्षात्रधर्मा विशिष्टाः।
अस्मिन् धर्मे सर्वधर्माः प्रविष्टा—
स्तस्माद् धर्मं श्रेष्ठमिमं वदन्ति।
शान्तिपर्व—अध्याय ६४, श्लोक २२

है। अन्य सभी धर्म उसी के अंग हैं अर्थात् उसी से प्रकट हुए हैं। पूर्वकाल में विष्णुभगवान ने क्षात्र धर्म के द्वारा ही शत्रुओं का दमन करके देवताओं तथा तेजस्वी समस्त ऋषियों की रक्षा की थी। धर्मशास्त्रों के अनुसार क्षात्र-धर्म ही सबसे उत्तम तथा सब धर्मों का आश्रय है। संसार के सम्पूर्ण कर्म क्षात्र-धर्म पर ही अवलम्बित हैं। यदि क्षात्र-धर्म प्रतिष्ठित न हो तो जगत के सभी जीव अपनी मनोवांछित वस्तु पाने से निराश हो जांय। क्षात्र-धर्म की उत्कृष्टता बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि "चारों आश्रमों के धर्म, यतिधर्म तथा लौकिक और वैदिक उत्कृष्ट धर्म सभी क्षात्र-धर्म में प्रतिष्ठित हैं।"[४]

२—क्षत्रिय की परिभाषा—

वैसे तीनों द्विजातियों के कुछ कर्म ऐसे हैं, जो तीनों के लिए अनिवार्य हैं। किन्तु कुछ विशेष कार्य ऐसे हैं, जो केवल एक ही द्विज के करने योग्य हैं। जैसे अध्यापन, याजन, तथा प्रतिग्रह केवल ऐसे कार्य हैं, जो केवल ब्राह्मण के ही करने योग्य हैं। उसी प्रकार कुछ ऐसे भी कार्य हैं जो क्षत्रिय तथा वैश्य के लिए पृथक-पृथक अनिवार्य हैं। क्षत्रिय के लिए रक्षा करना युद्ध करना आदि कार्य ऐसे हैं, जिनका भार केवल क्षत्रिय पर ही है। भरद्वाज ने भृगुजी से चारों वर्णों के कर्म के विषय में पूछा कि आप मुझे बताइये कि कौन सा धर्म करने से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहलाते हैं। भृगुजी ने उन्हें क्षत्रिय के कर्म इस प्रकार बताये कि "जो मनुष्य क्षत्रियोचित युद्ध आदि कर्म का सेवन करता है, वेदों के अध्ययन में लगा रहता है, ब्राह्मणों को दान देता है, प्रजा से कर लेकर उसकी रक्षा करता है, वह क्षत्रिय कहलाता है।"[५] क्षत्रिय की परिभाषा बताते हुए भीमसेन ने अर्जुन से कहा कि "जो क्षति

४—चातुराश्रम्यधर्माश्च यति धर्माश्च पाण्डव।
लोके वेदोत्तराश्चैव क्षात्रधर्मे समाहिताः॥
शान्तिपर्व—अध्याय—६४, श्लोक १

५—क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसंगतः।
दानादानरतिर्यस्तु सवै क्षत्रिय उच्यते।
शान्तिपर्व—अध्याय—१८९, श्लोक ५

पहुँचाना ही जिसकी जीविका है तथा जो स्त्रियों और साधु पुरुषों पर क्षमा-भाव रखता है, वही क्षत्रिय है और उसे ही शीघ्र इस पृथ्वी के राज्य, धर्म, (संकट) से अपना तथा दूसरों का त्राण करना है, युद्ध में क्षत्रियों को क्षति यश और लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।"[६] क्षत्रियों के समक्ष उनका धर्म ही सबसे प्रथम रहता है अन्य सारे सुख-दुःख, भाई-बन्धु, परिवार आदि दूसरे स्थान पर रहते हैं। वे धर्म के आगे सदैव झुकते हैं तथा उसी से यश प्राप्त करते हैं।

मान्धाता ने क्षत्रियोंके कर्तव्य इस प्रकार बताये हैं कि "युद्ध में अपने शरीर की आहुति देना, समस्त प्राणियों पर दया करना, लोक-व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करना, प्रजा की रक्षा करना, विषाद ग्रस्त एवं पीड़ित मनुष्यों को कष्ट और दुःख से छुड़ाना—ये सब बातें राजाओं के क्षात्र धर्म में ही विद्यमान हैं।"[७] क्षत्रिय के कर्तव्य बताते हुए डुण्डभ ने रुरू से कहा कि "दण्डधारण, उग्रता और प्रजा-पालन ये सब क्षत्रियों के कर्म हैं।"[८] क्षत्रिय को सदैव अपने हाथ में दण्ड को धारण करना चाहिये, ऐसा धर्म-शास्त्रों का कथन है। क्षत्रिय का स्वभाव भी उग्र होना चाहिये। क्योंकि जब तक क्षत्रिय में उग्रता नहीं होगी तब तक वह युद्ध के लिये उद्यत नहीं होगा। उग्र स्वभाव वाला क्षत्रिय

६—क्षतत्राता क्षताज्जीवन् क्षन्ता स्त्रीष्वपि साधुषु।
क्षत्रियः क्षितिमाप्नोति क्षिप्रं धर्मं यशः श्रियः।
शान्तिपर्व—अध्याय-१६७, श्लोक ४

७—आत्मत्यागः सर्वभूतानुकम्पा,
लोकज्ञानं पालनं मोक्षणं च।
विषण्णानां मोक्षणं पीडितानां
क्षात्रे धर्मे विद्यते पार्थिवानाम्॥
शान्तिपर्व—अध्याय—६५, श्लोक २७

८—दण्डधारणमुग्रत्वं प्रजानां परिपालनम्।
तदिदं क्षत्रियस्यासीत् कर्म वै शृणु मे रुरो॥
आदिपर्व—अध्याय—११, श्लोक १७

ही अनुचित बातों को देखकर क्रोध दिखा सकेगा। अन्यथा शान्त रहने वाला क्षत्रिय बिना क्रोध के दुष्टों का हनन नहीं कर सकता। दुष्टों का संहार क्रोध से ही किया जा सकता है। प्रजा का सब प्रकार से पालन क्षत्रिय ही करते हैं। इसीलिये राजा को प्रजापालक भी कहते हैं। श्रेष्ठ क्षत्रिय राजा अपनी प्रजा को पुत्र के समान प्रेम देकर उन्हें सब प्रकार से सन्तुष्ट रखता है। अर्जुन को क्षत्रियों के कर्तव्य बताते हुए श्रीकृष्ण इस प्रकार बोले कि "शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में न भागना, दान देना और स्वामिभाव—ये सब के सब कार्य क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।"[९] बड़े से बड़े बलवान शत्रु का सामना करने में भय न करना तथा उत्साह पूर्वक युद्ध करते रहना, शूरवीरता है। जिस शक्ति के प्रभाव में रह कर लोग दूसरे का प्रभाव नहीं मानते तथा उसके प्रतिकूल व्यवहार नहीं करते, उसी शक्ति का नाम 'तेज' है। बड़े से बड़ा संकट उपस्थित हो जाने पर भारी चोट लग जाने पर पुत्र-पौत्रिक के मर जाने पर, सर्वस्व का नाश हो जाने पर या अन्य भारी विपत्ति आ जाने पर भी जो दुःख से व्याकुल नहीं होते तथा अपने कर्तव्यपालन से कभी विचलित नहीं होते, उसी का नाम 'धैर्य' है। परस्पर झगड़ा करने वालों का न्याय करने में, युद्ध करने में तथा मित्र, वैरी और मध्यस्थों के साथ यथायोग्य व्यवहार करने आदि में कुशलता है, उसी आ नाम 'चतुरता' है। युद्ध स्थल में युद्ध करते समय भारी से भारी चोट आ जाने पर तथा अन्य कोई भी विपत्ति आ जाने पर भी क्षत्रिय को युद्ध से पीठ नहीं दिखानी चाहिये अर्थात् युद्ध स्थल छोड़कर न भागना चाहिये। अपने प्राणों तक की परवा न करके युद्ध में डटे रहना चाहिये। ब्राह्मणों को यथाशक्ति दान देना चाहिए। शासन के द्वारा लोगों को अन्याय के आचरण से रोक कर सदाचार में प्रवृत्ति करे, दुराचारियों को उचित दण्ड दे, लोगों से न्याय युक्त अपनी आज्ञा का पालन कराये, समस्त प्रजा का हित सोचकर प्रेम पूर्वक उसका पालन पोषण तथा रक्षा करे, यह 'स्वामिभाव' है।

मनुस्मृति में प्रजा की रक्षा को क्षत्रिय का प्रथम धर्म बताया है। दान,

---

९—शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
भीष्मपर्व—अध्याय ४२, श्लोक ४३

यज्ञ और अध्ययन भी क्षत्रिय के धर्म हैं। ये सदाचार के विधायक हैं। सत्ता में अतिचार की आशंका रहती है, इसीलिए मनुस्मृति में क्षत्रियों के लिए विषयों में अनासक्ति का आदेश दिया है।[10] महाभारत में भी क्षत्रिय का धर्म बताते हुए श्री कृष्ण ने संजय से कहा कि "क्षत्रिय स्वाध्याय, यज्ञ और दान करे। किसी से किसी वस्तु की याचना न करे। वह न तो दूसरों को यज्ञ कराये और न अध्यापन का ही कार्य करे, यही धर्मशास्त्रों में क्षत्रियों का प्राचीन धर्म बताया है।"[11] ब्राह्मण की भाँति क्षत्रिय को अध्ययन, यज्ञ कराने तथा प्रतिग्रह लेने का अधिकार नहीं है। क्षत्रिय के लिये वेदों का स्वाध्याय, यज्ञ करना तथा दान देना ही मुख्य कर्म बताये हैं। इसके अनन्तर श्रीकृष्ण ने संजय से क्षत्रियों के शेष कर्मों के विषय में इस प्रकार बताया कि "क्षत्रिय धर्म के अनुसार सावधान रह कर प्रजाजनों की रक्षा करे, दान दे, यज्ञ करे, सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करके विवाह करे और पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ गृहस्थाश्रम में रहे। इस प्रकार धर्मात्मा क्षत्रिय धर्म एवं पुण्य का सम्पादन करके अपनी इच्छा के अनुसार ब्रह्मलोक जाता है।"[12] गृहस्थाश्रम में प्रवेश

१०—प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेस्व प्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
मनुस्मृति—अध्याय–१, श्लोक ८०

११—अधीयीत क्षत्रियोऽथो यजेत,
दद्याद दानं न तु याचेत् किंचित्।
न याजयेन्नापि चाध्यापयीत,
एष स्मृता क्षत्रधर्मः पुराणः॥
उद्योग पर्व–अध्याय–२९, श्लोक २३ के आगे।

१२ – तथा राजन्यो रक्षणं वै प्रजानां,
कृत्वा धर्मेणाऽप्रमत्तोऽथ दत्वा।
यज्ञैरिष्ट्वा सर्ववेदानधीत्य,
दारान् कृत्वा पुण्य कृदावसेद् गृहाद्॥
स धर्मात्मा धर्ममधीत्य पुण्यं,
यदिच्छया व्रजति ब्रह्मलोकम्॥
उद्योगपर्व–अध्याय–२९, श्लोक २४, २५

प्राप्त करने के बाद क्षत्रिय को प्रजा की रक्षा का भार उचित नियमों से पालन करते रहना चाहिये। हनुमानजी ने प्रकट होकर भीमसेन को चारों वर्णों के धर्मों के विषय में बताया।

भीमसेन से क्षत्रिय धर्म का वर्णन करते हुए वे बोले कि यही सब धर्म तुम्हारे भी हैं। अतः इन सबका पालन करना तुम्हारा भी धर्म है। तब क्षत्रिय का धर्म हनुमानजी ने भीमसेन से इस प्रकार कहा कि "सबकी रक्षा करना क्षत्रिय धर्म है। विनयशील बनो तथा इन्द्रियों को वश में रखो यही क्षत्रिय धर्म हैं।"[१३]

४—अन्य वर्णों की रक्षा तथा सहायता करना क्षत्रिय धर्म है--

जिस प्रकार ब्राह्मणों का मुख्य कर्म अध्यापन, याजन तथा प्रतिग्रह है। उसी प्रकार क्षत्रियों का मुख्य कर्म प्रजा की तथा अन्य वर्णों की रक्षा और सहायता करना है। प्रजा का सुख राजा के ऊपर ही निर्भर रहता है। यदि धार्मिक और पुण्यात्मा राजा होगा तो उसकी प्रजा भी वैसी ही धार्मिक तथा पुण्यात्मा होगी। प्राचीन काल में राजा को लोग ईश्वर के सदृश ही पूजते थे और उसके आचरण के समान ही अपना आचरण भी बनाने का प्रयत्न करते थे। प्राचीन काल में वीर तेजस्वी राजा के सैनिक भी वीर और तेजस्वी होते थे। "यथा राजा तथा प्रजा" की कहावत इसी उद्देश्य से प्रचलित हुई है।

ब्राह्मणों की रक्षा तथा तथा सहायता के विषय में युधिष्ठिर से कहती हुई कुन्ती ने कहा कि "जो क्षत्रिय कभी ब्राह्मण के कर्मों में सहायता करता

१३—क्षत्रधर्मोऽत्र कौन्तेय तव धर्मोऽत्र रक्षणम्।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व विनीतो नियतेन्द्रियः॥
वनपर्व–अध्याय–१५०, श्लोक ३७

है, वह उत्तम लोकों को प्राप्त होता है।"[१४] ब्राह्मणों का कार्य विद्या का पढ़ाना, यज्ञ करना आदि हैं, जिसको वह शान्ति से ही कर सकते हैं। जब तक उनके मन में शान्ति नहीं होगी, तब तक वह विद्या तथा यज्ञ का कार्य नहीं कर सकेंगे। इसलिये क्षत्रिय लोग ब्राह्मणों की रक्षा का भार लेकर उन्हें विद्या की उन्नति करने में प्रोत्साहन देते थे। विद्या के ज्ञानी ऋषि मुनि जंगल में कुटिया बना कर शास्त्रों की रचना करते थे और अनेक शिष्यों को विद्या में पारंगत बना देते थे। यदि जंगल में उनकी रक्षा का प्रबंध न होता तो उनका सारा समय अपनी रक्षा की व्यवस्था में ही निकल जाता और वे देश के लिये आध्यात्मिक ज्ञान का संचय नहीं छोड़ सकते थे। आज हमारे देश में जो प्राचीन ग्रन्थों का भाण्डार भरा हुआ है, वह सब प्राचीन आचार्यों की ही देन है। ज्ञान, विज्ञान, ज्योतिष, व्याकरण, कला आदि अनेक क्षेत्रों में जितना हमारा प्राचीन साहित्य आज उपलब्ध है, उतना संसार के किसी भी देश में नहीं है। इसका एकमात्र कारण राजाओं की ब्राह्मणों पर श्रद्धा, आदर तथा उनकी सुरक्षा की सुव्यवस्था ही थी। राजाओं के राज्य में ब्राह्मणों का बड़ा सम्मान था तथा उनकी राय लेकर ही राजा बड़े-बड़े यज्ञ और धार्मिक कार्य किया करते थे। राजाओं द्वारा सम्मान प्राप्त होने के कारण ही ब्राह्मणों को इतना उत्साह था कि वे दिन रात एक करके कठिन परिश्रम द्वारा बड़े-बड़े ग्रन्थ रचा करते थे और आज हमारे देश का मस्तक उन आचार्यों के ग्रन्थों के कारण ही सब देशों से ऊँचा है।

क्षत्रियों को भी संकट से बचाने का कार्य भी क्षत्रियों का ही था। युधिष्ठिर से क्षत्रिय की रक्षा के विषय में बताते हुए कुन्ती ने इस प्रकार कहा कि "जो क्षत्रिय किसी प्राण संकट में फँसे हुए क्षत्रिय को मुक्त करता है, वह इस लोक और परलोक में भी महान यष का भागी होता है।"[१५] क्षत्रिय

१४—यो ब्राह्मणस्य साहाय्यं कुर्यादर्थेषु कर्हिचित्।
क्षत्रियः स शुभांल्लोकानाप्नुयादिति मे मतिः॥
आदिपर्व—अध्याय १६०, श्लोक २२

१५—क्षत्रियस्यैव कुर्वाणः क्षत्रियोवधमोक्षणम्।
विपुलां कीर्तिमाप्नोति लोकेऽस्मिंश्च परत्र च॥
आदिपर्व—अध्याय १६१, श्लोक २३

राजा को तो चारों वर्णों की रक्षा का भार अपने ऊपर ही लेना पड़ता था। तभी चारों वर्ण अपने अपने कर्तव्य पूर्ण रूप से निभा सकते थे। क्षत्रिय भी वेदों का अध्ययन करते थे, नित्य यज्ञ करते थे तथा दान देते थे, ये तीनों कार्य वे भी सुरक्षा द्वारा ही शान्ति से कर सकते थे। क्षत्रियों के युद्ध सम्बन्धी कार्य भी ऐसे होते थे, जो सुरक्षा से ही सफल हो पाते थे, जैसे गुप्तचरों का दूसरे देश में जाकर उनके यहाँ की सारी बातों का पता लगाना आदि। इस कार्य के करने के लिये अनेक क्षत्रिय साथ रहते थे और नित्य प्रति उनकी सारी खबरें इस देश से दूसरे देश तक क्षत्रियों द्वारा ही पहुँचाई जाती थीं। उन गुप्तचरों के मन में यह शान्ति रहती थी कि यदि मेरा कुछ अनिष्ट हो जायेगा तो उसकी खबर देने वाले लोग भी मेरे साथ हैं। इसी आशा को लेकर वह कठिन से कठिन कार्यों को अपने जीवन की भी पर्वाह न करके पूर्ण करके लौटते थे। बीच में अनेक स्थानों पर उनके प्राण संकट में पड़ जाते थे किन्तु उनकी रक्षा करने वाले उन्हें बचाकर उनकी सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण कराके लाते थे। इस प्रकार क्षत्रियों को भी अनेक स्थानों पर सुरक्षा की आवश्यकता थी।

क्षत्रिय के बाद वैश्य भी सुरक्षा चाहते थे। क्योंकि उनका कार्य रुपये-पैसे का तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने का था। इसलिये उन्हें भी सुरक्षा की बड़ी आवश्यकता थी। कुन्ती ने वैश्यों की रक्षा करना भी क्षत्रिय का धर्म है। इस विषय में युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि "जो क्षत्रिय इस भूतल पर वैश्य के कार्य में सहायता पहुँचाता है, वह निश्चय ही सम्पूर्ण लोकों में प्रजा को प्रसन्न करने वाला राजा होता है।"[१६] वैश्यों का कार्य कृषि, वाणिज्य तथा गो-रक्षा मुख्य बताया गया है। इन तीनों कार्यों में सुरक्षा की आवश्यकता होती है। कृषि का कार्य भी जंगल में होता है, यदि रक्षा का प्रबन्ध न हो तो मनुष्य कृषि भी जंगल में शान्ति से नहीं कर सकता है। बीज

१६—वैश्यस्यार्थे च साहाय्यं कुर्वाणः क्षत्रियो भुवि।
स सर्वेष्वपि लोकेषु प्रजा रञ्जयते ध्रुवम्॥
आदिपर्व—अध्याध्य—१६१, श्लोक २४

बोने के बाद पक्षियों से उनकी रक्षा करने के लिये कृषक को दिन और रात खेत पर ही रहना पड़ता है। तब वह खेती सफलता से हो पाती है। राजा की ओर से सुरक्षा का प्रबन्ध ठीक होने पर ही कृषक खेतों पर जंगल में अकेले पड़े रहते हैं। इसी प्रकार वाणिज्य का कार्य भी एक देश से दूसरे देश में जाकर तभी हो सकता है, जब उनकी रक्षा का भार राजा के ऊपर निर्भर हो। उसके रास्तों में जो भी कठिनाई आती है उन्हें राजा के सैनिक दूर करते हैं। जैसे राह में चोर, लुटेरों का बड़ा डर रहता हैं और जंगल में अवसर देखकर प्रायः लुटेरे व्यापारी को लूट भी लेते थे। किन्तु राजा की सुव्यवस्था के होने से देश के लुटेरे सब दंडित होते थे और जीवन भर उन्हें कारावास में ही पड़ा रहना पड़ता था या किसी को फाँसी की सजा हो जाती थी, जिससे सम्पूर्ण दुष्ट कर्म करने वाले समाप्त हो जाते थे और राजा के क्षत्रिय सैनिक जंगलों में घूम घूमकर वैश्यों की रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध करते थे। इसी सुरक्षा के कारण हमारे देश में व्यापार बहुत ऊँचा था। तीसरा कार्य वैश्य का गो-रक्षा था। प्राचीन काल में गायों की भी चोरियां हो जाती थी क्योंकि पहले पक्के मकान तो थे नहीं, जो ताले लगाकर गायों को अन्दर बाँध लेते। उस समय जंगल अधिक था, इस कारण सम्पूर्ण पशु खुले मैदानों में ही रहते थे। उनकी रक्षा भी राजा के द्वारा ही होती थी, तभी गायों का प्रबन्ध ठीक रहता था। शूद्र प्राचीन काल में तीनों वर्णों के सेवक थे। इसलिये उनका जीवन भी सुरक्षा चाहता था। सेवक होने के कारण उन्हें भी कोई पीट सकता था तथा उन्हें कठोर सजा भी दे सकता था। इसीलिये उनकी रक्षा का भार भी राजा पर ही होता था। राजा ही उनके सब कार्यों की देख भाल करता था तथा वही उनके कामों का समय निर्धारित करता था। वही सब द्विजों को कह देता था कि इस कार्य का यह इस सेवक को तथा इतने समय तक यह काम करेगा आदि सम्पूर्ण सेवकों के कार्यों की भी सूची राजा के पास रहती थी। यदि कोई सेवक ठीक काम नहीं करता था, तो राजा उसका पता लगवाता था और उसकी गलती पर उसे दण्ड देता था। इसी प्रकार जो कोई भी उच्चवर्ग किसी सेवक को दुःख देता था, तो उसकी सुनवाई राजा करता था और उसका उचित न्याय करता था। इस प्रकार राजा को चारों वर्णों की रक्षा का भार स्वयं लेना पड़ता था और इससे देश में सुख शान्ति बनी रहती थी। कुन्ती ने शूद्रों की रक्षा के विषय में युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि "जो क्षत्रिय राजा अपनी शरण में आये हुए शूद्र को प्राण

संकट से बचाता है, वह इस संसार में उत्तम धन धान्य से सम्पन्न एवं राजाओं द्वारा सम्मानित श्रेष्ठ कुल में जन्म लेता है।"[१७]

इस प्रकार चारों वर्णों की रक्षा का भार लेकर क्षत्रिय राजा देश में यश और शान्ति स्थापित करता था। धर्मशास्त्रों के कथन के अनुसार सब वर्णों की रक्षा के बदले में जो भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञ, उत्तम लोकों की प्राप्ति तथा देश धनधान्य से पूर्ण होता था वह सब श्रेष्ठ राजा को ही प्राप्त होते थे। कुछ न करने वाले राजा को कुछ भी प्राप्त नहीं होता था तथा उसके राज्य में प्रजा दुःखी और भूखी रहती थी। अनेक स्थानों पर अकाल पड़ जाते थे, अनेक स्थानों पर बाढ़ें आ जाती थी, जिससे सम्पूर्ण देश की प्रजा त्राहि-त्राहि करने लग जाती थी और श्रेष्ठ धर्मात्मा तथा पराक्रमी राजा के लिये भगवान से प्रार्थना करती थी। रक्षा-कर्म क्षत्रियों का सब धर्मों से बढ़ कर है बढ़ कर है तथा रक्षा-धर्म ही सब धर्मों में श्रेष्ठ हैं। क्षत्रियों की रक्षा के द्वारा ही इस पृथ्वी पर सबको सुख शान्ति प्राप्त होती है। सुरक्षा के ही द्वारा ब्राह्मणों, वैश्यों तथा क्षत्रियों के बड़े-बड़े कार्य निर्विघ्नता पूर्वक सफल और पूर्ण होते हैं। क्षत्रियों के पराक्रम से दुष्टों का दलन होता है और सत्पुरुषों को साहस मिलता है। क्षत्रियों के बल और पराक्रम से ही यह पृथ्वी हरी-भरी है। उनके ही बल से आज प्राचीन ग्रन्थ हमारे समक्ष बचे हुए हैं। क्षत्रियों के सम्पूर्ण देश में शान्ति रहती थी और सम्पूर्ण प्रजा सुखी थी। अपना तन, मन, धन देकर ही क्षत्रिय राजा अपने देश की रक्षा करते आये हैं और अपने देश का मस्तक ऊँचा किए हुए हैं। आज भी विश्व भर में क्षत्रियों जैसा पराक्रम किसी अन्य जाति में दिखाई न दिया और न देगा। भारत ही एक ऐसा देश है जिसके क्षत्रिय राजाओं ने अपने देश की रक्षा के लिये अपने प्राण तक दे दिये किन्तु युद्ध से हार कर पीछे न लौटे। या तो विजय प्राप्त करके ही लौटे, नहीं तो युद्ध में ही प्राण गँवा दिये और अपनी यशकीर्ति सबके सामने छोड़ गये।

१७—शूद्रं तु मोचयेद् राजा शरणार्थिनमागतम्।
प्राप्नोतीह कुले जन्म सद्द्रव्ये राजपूजिते॥
आदिपर्व—अध्याय १६१, श्लोक २५

५—युद्ध क्षत्रियों का मुख्य धर्म है—

प्राचीन काल में युद्ध करना क्षत्रियों का प्रधान कर्म था। वे धर्म-युद्ध में ही विश्वाव रखते थे। अतः क्षत्रिय सदैव ही धर्म-युद्ध किया करते थे। युद्ध करते समय भी क्षत्रियों के समक्ष सदैव धर्म रहता था। वे किसी का धनुष टूटने पर युद्ध बंद कर देते थे और दूसरा धनुष उसे प्राप्त न हो जाता था, तब तक उस पर वाणों की वर्षा नहीं करते थे। शत्रु का रथ टूट जाता था तो उस समय भी युद्ध बन्द कर देते थे। इसी युद्ध को धर्मयुद्ध कहा जाता है। क्षत्रियों का लक्ष्य केवल शत्रु को मारना नहीं रहता, वरन् धर्म पूर्वक युद्ध करके मारना उन्हें उचित लगता था। धोखे से या कोई अस्त्र-शस्त्र न होने पर मारना तो बहुत सरल है, परन्तु समानता के अस्त्रों से युद्ध करके विजय प्राप्त करने में ही सच्ची सफलता है। इसी को धर्मयुद्ध की विजय की संज्ञा दी जाती है। जो क्षत्रिय धर्मपूर्वक लड़ कर विजय प्राप्त करता है, विश्व में उसी की यश कीर्ति की ध्वजा सर्वदा के लिये अमर हो जाती है।

दुर्योधन के मामा शकुनि ने जब युधिष्ठिर को सभा में बुलाकर उनके साथ जुआ खेलने का प्रस्ताव रखा, तब युधिष्ठिर ने शकुनि से कहा कि "शठता पूर्वक जुआ खेलना पाप है। धर्मानुकूल विजय तो युद्ध में ही प्राप्त होती है, अतः क्षत्रियों के लिये युद्ध ही उत्तम धर्म है, जुआ खेलना नहीं",[१८] धर्मात्मा युधिष्ठिर शकुनि की बातों में जुआ खेलने की अनिच्छा होते हुए भी राजी हो गये। दुर्योघन यह जानता था कि पाण्डवों को युद्ध में नहीं हरा सकते, इसलिये उन्हें जुआ के द्वारा वश में करने का सरल उपाय यही सूझा जो अन्त में कौरवों के विनाश का कारण बना।

महाभारत में जरासंध और श्रीकृष्ण के संवाद में श्रीकृष्ण ने जरासंध से कारावास में वन्दी बनाये हुए दूसरे राजाओं को मुक्त करने के लिये कहा लेकिन अभिमानी राजा जरासंध ने श्रीकृष्ण से कहा कि देवताओं को

१८—इदं वै देवनं पापं निकृत्या कितवैः सह।
धर्मेण तु जयो युद्धे तत्परं न तु देवनम्॥
सभापर्व–अध्याय–५६, श्लोक १०

बलि देने के लिये उपहार रूप में विजय प्राप्त करके लाये हुए इन राजाओं को आपके भय से नहीं छोड़ सकता हूँ। श्रीकृष्ण ने जरासंध से कहा कि "वेदाध्ययन स्वर्ग प्राप्ति का कारण है, परोपकार रूप महान यश भी स्वर्ग का हेतु है, तपस्या को भी स्वर्ग लोक का साधन बताया गया है, परन्तु क्षत्रिय के लिये इन तीनों की अपेक्षा युद्ध में मृत्यु का कारण ही स्वर्ग प्राप्ति का अमोघ साधन है"[१९] क्षत्रिय का युद्ध में मरण सर्वश्रेष्ठ धर्म माना जाता है। युद्ध में तत्पर रहने वाला राजा क्षत्रिय यदि संग्राम भूमि में शत्रु के सम्मुख जूझते हुए प्राणों का परित्याग कर दे तो वह इहलोक और परलोक में निर्मल कीर्ति का भागी होता है।

भीमसेन के द्वारा जब कर्ण मारा गया तब युद्ध के भय से दुर्योधन के सैनिक युद्ध भूमि छोड़ कर भागने लगे, तब दुर्योधन ने उन्हें क्षत्रिय धर्म का उपदेश देते हुए ललकार कर ठहरने को कहा कि "युद्ध धर्म से बढ़ कर क्षत्रिय के लिये कोई स्वर्ग का श्रेष्ठ मार्ग नहीं है। दीर्घकाल तक पुण्यकर्म करने से प्राप्त होने वाले पुण्य लोकों को वीर क्षत्रिय युद्ध से तत्काल प्राप्त कर लेता है।"[२०] क्षत्रियों के लिये युद्ध छोड़ कर भागने से बढ़कर दूसरा कोई अत्यन्त पापपूर्ण कर्म नहीं है। युद्ध से भाग कर आये हुए क्षत्रिय का माता तथा स्त्री भी सम्मान नहीं करती थी। माता पुत्र को भाग कर आया हुआ जान कर उससे यही अपमानजनक शब्द कहती है कि बेटा तूने मेरा दूध नहीं पिया है, यदि मेरा दूध पिया होता तो आज इस प्रकार अपने धर्म को छोड़ कर नहीं भागता। संसार में उसी क्षत्राणी माता को आनन्द मिलता है जिसका पुत्र या

१९—स्वर्गयोनिर्महद् ब्रह्म स्वर्गयोनिर्महद् यशः।
स्वर्गयोनिस्तपो युद्धे मृत्युः सोऽव्यभिचारवान्।
सभापर्व-अध्याय २२, श्लोक १८

२०—न युद्धधर्माच्छ्रेयान् हि पन्थाः स्वर्गस्य कौरवाः।
सुचिरेणार्जितांल्लोकान् सद्यो युद्धात् समश्नुते॥
शल्यपर्व—अध्याय ३, श्लोक ५७½

तो युद्ध में लड़ते-लड़ते अपने प्राण भी दे दे या युद्ध में अपना पराक्रम दिखाकर उसमें विजय प्राप्त करके घर लौटे। युद्ध से भागे हुए पुत्र को कायर के समान समझ कर श्रेष्ठ माता उसका मुख देखना भी पाप समझती है। इसी प्रकार क्षत्राणी स्त्रियाँ अपने पति को युद्ध में जाने के लिये प्रोत्साहित करती हैं, उन्हें बड़े हर्ष के साथ सजाती हैं और चलते समय उनकी आरती उतार कर कहती हैं कि अब या तो आप विजय प्राप्त करके सकुशल घर आकर हमें दर्शन दोगे, अन्यथा यदि आप युद्ध में पुण्यगति को प्राप्त हुए तो हम भी आपके पीछे-पीछे सती होकर आयेंगी और स्वर्ग में ही फिर हम लोगों का मिलना हो सकेगा क्षत्राणी स्त्रियाँ युद्ध में अपने पतियों को भेजने से नहीं डरती थी, बल्कि उन्हें भेजने के लिये प्रोत्साहित करती थी।

जब कौरव और पाण्डवों की सेनाऐं युद्ध-स्थल में इकट्ठी हो गई और युद्ध आरम्भ हो गया, तब अन्धे धृतराष्ट्र ने संजय से कहा कि "ऐसी दशा में अब जो कुछ होने वाला है, वह होकर ही रहेगा। कहते हैं युद्ध में शरीर त्याग करना निश्चय ही सबके द्वारा सम्मानित क्षत्रिय धर्म है।"[२१] संजय ने धृतराष्ट्र को समझाते हुए कहा कि मनुष्य तीन प्रकार के कर्मों से प्रेरित होकर कार्य करते हैं (१) ईश्वर की प्रेरणा से से कार्य करते हैं (२) आकस्मिक संयोगवश कर्मों में प्रवत्त होते हैं तथा (३) अपने पूर्व कर्मों की प्रेरणा से कार्य करते हैं। इसलिये मनुष्य को संकट देखकर घबराना नहीं चाहिये। धैर्य पूर्वक उस संकट का सामना करने को उद्यत रहना चाहिये। कौरवों का नाश होते देखकर धृतराष्ट्र बड़े दुःखी होने लगे तब विदुरजी ने उनसे कहा कि "क्षत्रिय के लिए इस जगत में धर्मयुद्ध से बढ़ कर दूसरा कोई स्वर्ग प्राप्ति का उत्तम मार्ग नहीं है।"[२२] संसार में समस्त प्राणी मृत्यु के बाहुपाश में फँसे हुए हैं,

---

२१—एवं गतं वै तद् भावि तद् भविष्यति संजय।
क्षत्रधर्मः किल रणे तनुत्यागो हि पूजितः॥
उद्योगपर्व-अध्याय १५६, श्लोक ७

२२—एवं राजंस्तवाचक्षे स्वर्ग्यं पन्थानमुत्तमम्।
न युद्धादधिकं किंचित् क्षत्रियस्येह विद्यते॥
स्त्री पर्व—अध्याय २, श्लोक १८

इसलिए किसी न किसी दिन मृत्यु सबको अपना शिकार बनायेगी। संसार में भौतिक वस्तुओं की भौतिक उन्नतियों का अंत पतन में है। सारे संयोग का अन्त वियोग में ही है। इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन का अन्त मृत्यु में ही होने वाला है। जब सबको ही मृत्यु के पास जाना है तो फिर वीर क्षत्रिय लोग युद्ध क्यों न करें और फिर युद्ध में ही मृत्यु प्राप्त करके अपना नाम अमर क्यों न करें अवश्य करें। क्षत्रियों का यश और कीर्ति युद्ध में स्वर्ग प्राप्ति मे होता है।

युद्ध क्षेत्र में सेना को भागते हुए देखकर क्षत्रियों के लिये युद्ध में मृत्यु श्रेष्ठ है ऐसा कह कर सैनिकों को रोकते हुए दुर्योधन ने कहा कि "क्षत्रिय धर्म के अनुसार युद्ध करने वाले वीरों के लिये संग्राम भूमि में होने वाली मृत्यु ही सुखद है, क्योंकि वहीं मरा हुआ मनुष्य मृत्यु के दुःख को नहीं जानता और मृत्यु के पश्चात अक्षय सुख का भागी होता है।"[२३] दुर्योधन की उस बात का आदर करके वे महारथी क्षत्रिय पुनः युद्धस्थल में लौट आये और अपना पराक्रम दिखाने लगे। क्षत्रिय सैनिक अपने क्षत्रिय धर्म को स्मरण करके अपने धर्म के काम में मग्न हो गये। क्षत्रियों का धर्म बताते हुए श्रीकृष्ण ने अपनी बहिन सुभद्रा को धीरज बँधाया, जो अपने पुत्र अभिमन्यु की मृत्यु से परम दुःखी हो रही थी। श्रीकृष्ण ने कहा कि "शूरवीर अभिमन्यु ने क्षत्रिय धर्म को आगे रख कर सत्पुरुषों की गति पाई है। जिसे हम लोग इस संसार के दूसरे शस्त्रधारी क्षत्रिय भी पाना चाहते हैं।"[२४] क्षत्रिय के लिये युद्धस्थल की मृत्यु

२३—सुखः सांग्रामिको मृत्युः क्षत्रधर्मेण युध्यताम्।
मृतो दुःखं न जानीते प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ।।
शल्यपर्व—अध्याय ३, श्लोक ५४½

२४—क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य गतः शूरः सतां गतिम्।
यां गतिं प्राप्नुयामेह ये चान्ये शस्त्रजीविनः ।।

से वढ़कर दूसरी कोई सद्गति नहीं है। क्षत्रियों के धर्म वताते हुए युधिष्ठिर ने यक्ष से कहा कि "बाण विद्या क्षत्रियों का देवत्व है, यज्ञ उनका सत्पुरुषों का साधन है, भय मानवीय भाव है, शरण में आये हुए का त्याग कराना असत्पुरुषों का-सा आचरण है।"[२५] वाण-विद्या क्षत्रियों का प्रमुख कर्म है। प्राचीन काल में क्षत्रियों का युद्ध वाणों से ही होता था। इसलिये प्रत्येक क्षत्रिय को वचपन से ही वाण विद्या का ज्ञान गुरु के यहाँ रह कर सिखाया जाता था। विद्या अध्ययन के साथ-साथ क्षत्रिय पुत्र युद्ध की शिक्षा भी ग्रहण करते थे। युद्ध क्षत्रियों का प्रमुख एवं महत्वपूर्ण कार्य था। युद्धस्थल में क्षत्रियों का साथ वाण-विद्या ही देती थी। जो जितना निपुण होता था, वह उतना ही अधिक युद्धस्थल में ठहर सकता था। वाणों से दूसरों को मारना तथा दूसरे के वाणों से अपनी रक्षा करना, यह वड़े कला-कौशल का काम था। महाभारत काल में उस समय वाण विद्या में जितने निपुण अर्जुन और कर्ण थे, शायद ही उस समय इस पृथ्वी पर कोई तीसरा मनुष्य है। कर्ण की मृत्यु के वाद तो अर्जुन एकमात्र धनुर्धर वीर थे, जिन्होंने अपने धनुष कौशल से समस्त पृथ्वी के राजाओं को स्तम्भित कर दिया था। इस प्रकार वाण-विद्या सचमुच ही क्षत्रियों का अलंकार था।

६—सत्य से विचलित न होना क्षत्रिय धर्म—

यों तो क्षत्रियों के लिये वहुत से प्रधान कर्म हैं किन्तु सत्य उन सव कर्मों से ऊपर है। क्षत्रिय राजा सर्वदा सत्य वोलते हैं। राजा दशरथ से अनजाने में श्रवणकुमार की मृत्यु हो गई। तव उनके अन्धे माता-पिता को पानी लेकर आये हुए दशरथ ने अपना सम्पूर्ण अपराध उन्हें सत्य-सत्य वता दिया और उनके पूछने पर उन्हें अपना नाम भी वता दिया। यदि कोई असत्यवादी पुरुष होता तो उन अन्धे माता-पिता को कोई भी वहाना वता कर उसकी मृत्यु का कारण वता देता और स्वयं उनके शाप से वच जाता। किन्तु क्षत्रिय सत्य को कभी नहीं त्यागते, चाहे स्वयं अपने प्राण ही क्यों न चले जायें।

२५—इष्वस्त्रमेषां देवत्वं यज्ञ एषां सतामिव।
भयं वै मानुषो भावः परित्यागोऽसतामिव॥
वनपर्व—अध्याय—३१३, श्लोक ५२

इसी प्रकार सत्य का पालन करने वाले अनेक क्षत्रिय राजा हमारे प्राचीन इतिहास में हो गये हैं, जिन्होंने अपने सत्य की रक्षा के लिए अपना धन, राज सर्वस्व दे दिया तथा अपने पुत्र का जीवन भी अपने हाथों से समाप्त किया। सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र का वृतान्त तो घर घर में विख्यात है कि उन्होंने अपने सत्य की रक्षा के लिए अपना राजपाट, धन दौलत तो दिये ही थे, अपनी स्त्री और पुत्र को भी बेचा था तथा रुपयों की कमी के कारण स्वयं भी बिक गये थे, और सत्य की रक्षा के लिए ही उन्होंने श्मशान की नौकरी की थी। इसी प्रकार सत्य का दूसरा उदाहरण राजा मोरध्वज का है, जिन्होंने अपने सत्य के लिए अपने पुत्र को आरे से काटा था। ऐसे करुण और हृदयस्पर्शी उदाहरण भारत के ही इतिहास में मिलेंगे, जहाँ क्षत्रियों को अपनी स्त्री,सन्तान तथा राजपाट से भी बढ़कर सत्य का पालन करना धर्म था। अन्य किसी देश में सत्य के ऐसे उदाहरण नहीं मिलेंगे।

सत्यवादी भरतवंशी भीष्म ने बचपन में ही अपने विवाह न करने की प्रतिज्ञा करली थी और आधी उम्र के बीत जाने पर भी उन्होंने विवाह नहीं किया। जब काशिराज की तीन कन्याओं का स्वयंवर हो रहा था, उस समय भीष्मजी अन्त में अकेले उस स्वयंवर में पहुँचे, तो लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह तो आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं, फिर भी इस स्वयंवर में कैसे आये हैं। उन कन्याओं ने भी श्वेतकेश देखकर जयमाला उनके नहीं डाली और शीघ्रता से आगे बढ़ गईं। इस अपमान से उन्हें बड़ा क्रोध आया और सब राजाओं को ललकार कर तीनों कन्याओं को हठपूर्वक रथ पर बैठा कर चल दिये। अनेक राजाओं ने उनका पीछा किया किन्तु भीष्म से कोई भी नहीं जीत सका, अन्त में सब हारकर लौट गये और शान्तनु के पुत्र उन तीनों कन्याओं को साथ लेकर अपने छोटे भाई के राज्य में आ पहुँचे। उन्होंने आकर तीनों कन्याओं का विवाह विधिपूर्वक अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य से करने के विषय में माता से सलाह ली और श्रेष्ठ ब्राह्मणों को बुला लिया। सबसे बड़ी लड़की ने जो उम्र में भी विचित्रवीर्य से बड़ी थी। भीष्म तथा ब्राह्मणों से कहा कि मैं पहले शाल्व नरेश को अपना पति मान चुकी हूँ तथा स्वयंवर में मैं उन्हीं का वरण करती। यह सुनकर भीष्म ने तथा ब्राह्मणों ने उस बड़ी लड़की को शाल्व नरेश के यहाँ पहुँचा दिया और छोटी दोनों बहिनों का विवाह विधिपूर्वक छोटे भाई विचित्रवीर्य से कर दिया। किन्तु दुर्भाग्य से सात वर्ष के बाद यह यक्ष्मा रोग से पीड़ित होकर स्वर्गवासी

हो गया। उनके कोई सन्तान नहीं थी। यह सोचकर भीष्म की माता सत्यवती ने भीष्म से कहा कि अब कुल की लाज तुम्हारे हाथ है। अब तुम राज्य का भार ग्रहण करो और इन सुन्दर युवावस्था को प्राप्त हुई विचित्रवीर्य की स्त्रियों को अपनी पत्नी स्वीकार करके कुल परम्परा को बढ़ाने वाला पुण्यकार्य करो। यह सुनकर भीष्म ने माता से कहा कि "मैं तीनों लोकों का राज्य, देवताओं का साम्राज्य अथवा इन दोनों से भी अधिक महत्त्व की वस्तु को भी एक दम त्याग सकता हूँ, परन्तु सत्य को किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता।"[२६] इस प्रकार भीष्म भी राज्य तथा कुल की परम्परा की वृद्धि से भी सत्य को ही अधिक मानते थे। क्षत्रियों के लिए सत्य को ही अधिक मानते थे। क्षत्रियों के लिए सत्य सब धर्मों से बढ़कर श्रेष्ठ धर्म है। हिन्दी में सत्यव्रत हरिश्चन्द्र का उनकी सत्यता के प्रति यह दोहा लोक प्रसिद्ध हो गया है—

"चन्द टरै सूरज टरे टरे जगत व्यवहार।
पै दृढ़व्रत हरिचन्द को मिटे न सत्य विचार।।"

क्षत्रिय अपने सत्य को पूर्ण करना सबसे बड़ा धर्म मानते थे। भीष्म की माता ने फिर भीष्म से आग्रह किया तो भीष्म ने उनसे कहा कि आप जो कह रही हैं वह भी उचित ही है, किन्तु क्षत्रियों के धर्म को भी तो देखो "राजमाता धर्म की ओर दृष्टि डालो, क्षत्रिय का सत्य से विचलित होना किसी भी धर्म में अच्छा नहीं माना गया है।"[२७] क्षत्रिय के लिए जो सनातन धर्म है उसे आप कर सकती हैं।

२६—परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद् वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथंचन।।
आदिपर्व—अध्याय—१०३, श्लोक १५

२७—राज्ञि धर्मानवेक्षस्व मा नः सर्वान् व्यनीनशः।
सत्याच्युतिः क्षत्रियस्य न धर्मेषु प्रशस्यते।
आदिपर्व–अध्याय–१०३, श्लोक २४

७—यज्ञ करना तथा याचना न करना क्षत्रिय धर्म है—

प्राचीनकाल में क्षत्रियों का मुख्य धर्म यज्ञ करना तो था ही, ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर बड़े-बड़े यज्ञ कराना भी उनका धर्म था। सूर्यवंशी अनेक राजाओं ने बहुत-सा दान दिया था। प्राचीनकाल के प्रत्येक राजा अपने समय में यज्ञ अवश्य कराया करते थे। यज्ञ कराने में वर्षा अधिक होती थी, जिससे प्रजा धनधान्य से सुखी रहती थी। यज्ञ से वायु शुद्धि होती थी, अनेक व्याधियाँ दूर भागती थीं। यज्ञ करने से मन तथा भाव भी शुद्ध हो जाते थे, जिससे लोगों का मन पुण्यकार्यों की ओर झुकता था। यज्ञ कराने से राजा के अनेक मनोरथ पूर्ण होते थे। अनेक राजाओं को यज्ञ के द्वारा सन्तान तक प्राप्त हुई थी। यज्ञ कराने से राजा तथा प्रजा सभी सुखी रहते थे। सबके मन प्रसन्नता से हर समय खिले रहते थे। वैशम्पायन ने क्षत्रिय के लिये यज्ञ करना धर्म के विषय में कहा है कि "क्षत्रिय लोग बहुत-सी दक्षिणा वाले बड़े-बड़े यज्ञों द्वारा यजन करते थे। ब्राह्मण अंगों और उपनिषदों सहित सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करते थे।[२८] यज्ञ कराना क्षत्रियों का सनातन धर्म है। धर्मशास्त्रों में यज्ञ करना और कराना क्षत्रियों का प्रधान कर्म माना गया है।

याचना करना धर्मशास्त्रों में केवल ब्राह्मणों का ही धर्म बताया है और किसी वर्ण के लिए याचना करना अधर्म है। याचना करना ब्राह्मणों का धर्म इसलिये बताया है कि वह अध्यापन तथा वेदों के अध्ययन में इतने लीन रहते हैं कि वह अपने लिए धन इकट्ठा नहीं कर सकते। उसकी दीनता तथा गरीबी के कारण ही धर्मशास्त्रों में याचना करना केवल ब्राह्मणों के लिए ही लिखा है। क्षत्रिय और वैश्य धन से समर्थ तथा सम्पन्न होते हैं तथा उन दोनों का धर्म ही धन का संग्रह करना है। केवल ब्राह्मण ही धन के संग्रह से वंचित रहता है। इसलिये वह ही याचना का अधिकारी है। द्रौपदी के लिए कमल लाने के लिए जब भीमसेन कुबेर के जलाशय पर पहुँचे तो वहाँ के रक्षक राक्षसों ने भीमसेन को कमल तोड़ने से रोका और उनसे कहा कि आप कुबेर से आज्ञा लेकर आइये, तभी इन कमलों का स्पर्श करो। तब भीमसेन ने कहा कि

२८—ईजिरे च महायज्ञैः क्षत्रिया बहुदक्षिणैः।
साङ्गोपनिषदान् वेदान् विप्राश्चाधीयते तदा।
आदिपर्व-अध्याय-६४, श्लोक १९

अध्याय—१०

महाभारत में राजधर्म

१—राजधर्म की श्रेष्ठता—

राज-धर्म का अर्थ राजा का धर्म है। धार्मिक मान्यता के अनुसार क्षत्रिय को ही राजा होना उचित है। प्रजा की रक्षा और प्रजा का पालन राजा का मुख्य धर्म है। ये क्षत्रियों के ही कर्त्तव्य हैं। पुरुष सूक्त में क्षत्रियों के लिए 'राजन्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। क्षत्रियों का वर्ग एक प्रकार से राजाओं का समूह (राजन्य) ही है। पराक्रम और रक्षा के द्वारा प्रत्येक क्षत्रिय राजधर्म का ही पालन करता है और वह 'राजन्य' पद का अधिकारी है। अतः व्यापक और सामान्य अर्थ में क्षत्रिय और राजा एक दूसरे के पर्याय के समान हैं। किन्तु विशेष अर्थ में दोनों में कुछ भेद किया जा सकता है। राजा क्षत्रियों के सम्पूर्ण वर्ग का प्रतिनिधि होता है और वह एक भूखण्ड का शासक होता है। सामान्य क्षत्रिय-धर्म के अतिरिक्त उसके कुछ विशेष धर्म होते हैं। रक्षा और युद्ध की व्यवस्था एवं उनका नेतृत्व राजा का प्रमुख धर्म है। राजपद और राजधर्म की इसी विशेषता की दृष्टि से राजधर्म का पृथक् वर्णन किया गया है। शासन, न्याय, दण्ड, युद्ध, प्रजापालन आदि राजा के मुख्य-धर्म हैं। महाभारत राजाओं का चरित है। अतः उसमें राजधर्म और राज-नीति का विशद् वर्णन मिलता है। राजधर्म को क्षत्रिय धर्म का ही विशेष रूप मान सकते हैं। राजा के द्वारा राजधर्म के पालन के ऊपर ही प्रजा के सभी वर्णों का धर्मपालन निर्भर करता है। क्षत्रियों का सामान्य धर्मपालन भी राजधर्म पर ही अवलम्बित है। अतः राजधर्म सभी धर्मों में श्रेष्ठ है। वह समाज के धर्म-प्रासाद की नींव है। प्रजातन्त्र के शासन में भी राजधर्म का महत्त्व अक्षुण्ण रहता है। प्रजा के प्रतिनिधि होते हुए भी शासकों में प्रजा-पालन, धर्माचरण, राजनीति आदि के गुण अपेक्षित होते हैं। शासन का

संचालन राजधर्म के अनुसार ही होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि राजतन्त्र की परम्परा में राजा वंशपरम्परा से शासन का अधिकारी होता था और प्रजातन्त्र में वह जनमत से चुना जाता है।

महाभारत राजाओं का चरित है। अतः राजधर्म को श्रेष्ठता और राजाओं के कर्त्तव्य का उसमें विशद् वर्णन मिलना स्वाभाविक है। उतथ्य ने राजा मान्धाता से कहा कि "राजा की उपमा सब प्रकार से हजार नेत्रों वाले इन्द्र से दी जाती है। अतः राजा जिस धर्म को भली-भाँति समझ कर निश्चित कर देता है, वही श्रेष्ठ धर्म माना गया है।"[1] राजा को इन्द्र के समान हजार नेत्र वाला इसलिए कहा गया है कि वह भी अपने देश के समस्त हजारों कार्यों को स्वयं देखता है तथा स्वयं कराता है। श्रेष्ठ राजा वही कहलाता है, जो प्रजा तथा देश के समस्त सुखों-दुःखों को देखता रहे। राज-धर्म ही सब धर्मों में श्रेष्ठ है। क्योंकि अन्य सब धर्म इसी धर्म के आश्रय में पलते तथा बढ़ते हैं। यदि राज-धर्म हमारा उचित धर्म का पालन न करे और देश के अन्य सब धर्म भी शिथिल पड़ जायेंगे और अपने धर्म से विचलित होने लगेंगे। राजधर्म की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "यदि दण्डनीति नष्ट हो जाय तो तीनों वेद रसातल को चले जायें और वेदों के नष्ट होने से समाज में प्रचलित हुए सारे धर्मों का नाश हो जाय। पुरातन राजधर्म जिसे क्षात्रधर्म भी कहते हैं, यदि लुप्त हो जाय तो आश्रमों के सम्पूर्ण धर्मों का ही लोप हो जायेगा।"[2] चारों आश्रमों के धर्म तथा चारों वर्णों के धर्म सब राज-धर्म पर

१—सहस्राक्षेण राजा हि सर्वथैवोपमीयते ।
स पश्यति च यं धर्मं स धर्मः पुरुषर्षभ ।।

शान्तिपर्व—अध्याय ९१, श्लो०, ४५

२—मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायां
सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विबुद्धाः ।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः
क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे ।।

शान्तिपर्व—अध्याय ६३, श्लो० २८

ही आश्रित रहते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम राजा की नीति के ऊपर ही रहता है, क्योंकि ब्रह्मचारी बालक ब्राह्मण के यहाँ आकर पढ़ते हैं तथा शहर से भिक्षा प्राप्त करके अपना उदर पालन करते हैं। यदि राजा धर्मात्मा होगा तब तो सम्पूर्ण प्रजा भी धर्मात्मा होगी और इन ब्रह्मचारियों को भिक्षा देकर उनका ब्रह्मचर्याश्रम सफल करेगी। ब्राह्मण भी उन ब्रह्मचारियों को ज्ञान की तथा विद्या की शिक्षा तभी दे सकेगा जब राजा की ओर से उसके मन में श्रद्धा आदर तथा धर्मपरायणता का भाव होगा। जंगल में हिंसक पशुओं से रक्षा का भार भी राजा पर ही होता है। यदि राजा ब्राह्मणों की रक्षा की सुविधा का ध्यान रखेगा, तभी ब्राह्मण शिष्यों को उचित शिक्षा का ज्ञान करा सकता था। इसी प्रकार गृहस्थाश्रम में रहने वालों मनुष्यों को अन्य तीनों आश्रमों के लोगों का ध्यान रखना पड़ता है। अन्य तीनों आश्रम ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास गृहस्थाश्रम के आश्रय में ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। यदि राजा धर्मात्मा तथा दयावान होगा, तभी गृहस्थाश्रम में रहनेवाली प्रजा भी धर्मात्मा और दयावान होगी और अन्य तीनों आश्रमों के जीवन-निर्वाह का ध्यान रखेगी। इसलिए राजधर्म ही सब धर्मों में श्रेष्ठ है।

राजा के धर्म में सम्पूर्ण त्याग का दर्शन बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "राजा के धर्मों में सारे त्यागों का दर्शन होता है, राजधर्मों में सारी दीक्षाओं का प्रतिपादन हो जाता है। राजधर्म में सम्पूर्ण विद्याओं का संयोग सुलभ है तथा राजधर्म में सम्पूर्ण लोकों का समावेश हो जाता है।"[३] राजा का जीवन दूसरों को सुख पहुँचाने के लिए होता है। जब तक राजा त्यागी नहीं होगा, तब तक उसे दूसरों के सुख-दुःख का भान भी नहीं होगा। इसलिए राजा का जीवन त्यागपूर्ण होता था। राजा सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञाता होता था और इसी ज्ञान के कारण वह सम्पूर्ण विद्याओं जैसे वाण-विद्या, संगीत-विद्या, नृत्य-विद्या, कला की विद्या आदि का आदर-सम्मान

३—सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः
सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः
सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः॥

शान्तिपर्व—अध्या० ६३, श्लो० २९

करता था। राजा इन सभी विद्याओं की उन्नति का प्रबन्ध करता था और श्रेष्ठ कलाकार को पुरस्कृत करके उसके उत्साह को बढ़ाता था। राजा को अपने लोक की तो चिन्ता रहती थी, उसे अपने परलोक के लिए भी उत्तम कार्य करने की चिन्ता रहती थी। इसलिए राजा प्रजा को तो सुखी करता ही था और पुण्य कर्मों द्वारा स्वर्गप्राप्ति का भी प्रयत्न करता था। उत्तम कर्म करने से राजा को चारों आश्रमों का फल भी प्राप्त हो जाता था। इसके विषय में कहते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि "जो राजा पूजनीय पुरुषों को उनकी अभीष्ट वस्तुएँ देकर सम्मानित करता है, उसे ब्रह्मचारियों को प्राप्त होने वाली गति मिलती है।"[४] ब्रह्मचारी पुरुष को तो जीवन भर भोगों की चीजों को त्यागकर जो पुण्यफल प्राप्त होता है, राजा को वह पुण्यफल पूजनीयों को अभीष्ट वस्तुओं को देकर तथा उन्हें सम्मानित करके प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार गृहस्थ के फल का वर्णन करते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "जो तत्त्वज्ञान, सर्वत्याग, इन्द्रियसंयम तथा प्राणियों पर अनुग्रह करना जानता है तथा जिसका पहले कहे अनुसार उत्तम आचार-विचार है, उस धीर पुरुष को कल्याणमय गृहस्थाश्रम से मिलनेवाले फल की प्राप्ति होती है।"[५] गृहस्थ लोग तो बड़े त्याग, दया तथा सदाचार से अपना जीवन व्यतीत करके जिस पुण्य फल को प्राप्त कर सकते हैं, राजा लोग उसी पुण्यफल को तत्त्वज्ञान, सर्वत्याग, इन्द्रिय संयम तथा प्राणियों पर दया करके प्राप्त कर लेता है। राजा का धर्म बहुत कठिन है इसलिए उसको इन अच्छे कर्मों के करने से

४—अर्हान् पूजयतो नित्यं संविभागेन पाण्डव ।
सर्वतस्तस्य कौन्तेय भैक्ष्याश्रमपदं भवेत् ।।

शान्तिपर्व—अध्या० ६६, श्लो० ७

५—वेत्ति ज्ञानंविसर्गं च निग्रहानुग्रहं तथा ।
यथोक्तवृत्तेर्धीरस्य क्षेमाश्रमपदं भवेत्

शान्तिपर्व—अध्या० ६६, श्लो० ६

उत्तम आश्रमों के फल की प्राप्ति हो जाती है। इतनी लक्ष्मी के अधिकारी होने पर भी जिस राजा को अहंभाव नहीं होता है, उसे ही इन आश्रमों का पुण्य फल प्राप्त होता है। राजा को वानप्रस्थाश्रम में रहने वाले पुरुष का पुण्य फल कैसे मिलता है,यह पूछने पर भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "जो नित्यप्रति संध्या-वन्दन आदि नित्यकर्म, पितृश्राद्ध, भूतयज्ञ, मनुष्य-यज्ञ (अतिथि-सेवा) --इन सबका अनुष्ठान प्रचुरमात्रा में करता रहता है, उसे वानप्रस्थाश्रम के सेवन से मिलने वाले पुण्य फल की प्राप्ति होती है।"[६] जो राजा संकट में पड़े हुए अपने सजातियों, सम्बन्धियों और सुहृदों का उद्धार करता है उसे भी वानप्रस्थ-आश्रम द्वारा मिलने वाले फलों की प्राप्ति होती है। जो राजा जगत के श्रेष्ठ पुरुषों और आश्रमियों का निरन्तर सत्कार करता है तथा बलिवैश्व-देव के द्वारा प्राणियों को उनका भाग समर्पित करता है, शिष्ट पुरुषों की रक्षा के लिए अपने शत्रु के राष्ट्रों को कुचल डालता है, उसे वानप्रस्थ आश्रम से प्राप्त होने वाला पुण्य मिलता है। जिस वानप्रस्थ-आश्रम में मनुष्य पच्चीस वर्षों तक लगातार रहकर दुःख उठाता हुआ रहता है तथा उसका जो फल उसे कठोर तपस्या से प्राप्त होता है, वह फल राजा को अपने कर्त्तव्य पालन करने से प्राप्त हो जाता है। यह राज-धर्म की श्रेष्ठता का ही फल है। इसी प्रकार संन्यास आश्रम से प्राप्त होने वाले फल की प्राप्ति के विषय में भीष्म ने युधिष्ठिर को बताया कि "चारों आश्रमों का पालन करने वाले सदाचारपरायण पुरुषों को जिन फलों की प्राप्ति होती है,वे ही फल राग-द्वेष छोड़कर दण्डनीति के अनुसार बर्ताव करने वाले राजा को भी प्राप्त होते हैं। यदि राजा सब प्राणियों पर समान दृष्टि रखने वाला है तो उसे संन्यासियों को प्राप्त होने वाली गति प्राप्त होती है।"[७] समस्त प्राणियों के पालन तथा अपने राष्ट्र

६—आन्हिकं पितृयज्ञांश्च भूतयज्ञान् समानुषान्
कुर्वतः पार्थ विपुलान् वन्याश्रमपदं भवेत्
शान्तिपर्व—अध्या० ६६, श्लो० १०

७—सर्वाण्येतानि कौन्तेय विद्यन्ते मनुजर्षभ।
साध्वाचारप्रवृत्तानां चातुराश्रम्यकारिणाम्॥
अकामद्वेषयुक्तस्य दण्डनीत्या युधिष्ठिर।
समदर्शिनश्च भूतेषु भैक्ष्याश्रमपदं भवेत्॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६६, श्लो० ४,५

की रक्षा करने से राजा को नाना प्रकार के यज्ञों की दीक्षा लेने का पुण्य प्राप्त होता है। जो प्रतिदिन वेदों का स्वाध्याय करता है, क्षमाभाव रखता है, आचार्य की पूजा करता है, इष्ट मन्त्र का जप और देवताओं का सदा पूजन करता है, जो राजा युद्ध में प्राणों की बाजी लगाकर निश्चय के साथ शत्रुओं का सामना करते-करते मर जाता है, जो सदा समस्त प्राणियों के प्रति माया और कुटिलता से रहित यथार्थ व्यवहार करता है, उसे संन्यास-आश्रम से प्राप्त होने वाला पुण्य फल प्राप्त होता है।

युगों का प्रवर्त्तक भी राजा ही होता है, ऐसा धर्मशास्त्रों का कथन है। महाभारत में भी कुन्ती ने श्रीकृष्ण से कहा है कि "अपने सत्कर्मों द्वारा सत्ययुग उपस्थित करने के कारण राजा को अक्षय स्वर्ग की प्राप्ति होती है। त्रेता की प्रवृत्ति करने से भी उसे स्वर्ग प्राप्ति होती है किन्तु वह अक्षय नहीं होता।"[८] इसका मतलब यही है कि राजा जैसी नीतिवाला होगा उसकी प्रजा भी वैसे ही आचरण वाली हो जाती है। इसीलिए राजा को युग का प्रवर्त्तक कहते हैं। यदि राजा सद्गुणों वाला होगा तो उसकी प्रजा भी सद्गुणों वाली होगी और उस राजा का समय सतयुग जैसा कहलायेगा। सद्गुणों से राजा देश में ऐसी नीति रखेगा, जिससे शहर में चोर, डाकू आदि दुष्ट लोगों की कठोर दण्ड से समाप्ति हो जाय तो सब लोग सद्गुणों वाले ही रहेंगे और देश में सुख-शान्ति रहेगी। कहते हैं कि चन्द्रगुप्त के राज्य में लोग घरों में ताले भी नहीं लगाते थे और सब निश्चित तथा निर्भय होकर सोते थे, किसी को चोरी का डर नहीं था। उस राज्य में सबको सतयुग ही लगता होगा। ऐसे ऐसे कठोर नीति वाले राजा हुए हैं, जिन्होंने चोर, डाकुओं को तथा ऐसे ही बुरे आचरण वाले मनुष्यों को फाँसी कमरे में न देकर सड़क पर पेड़ों पर लटका कर दिलवाई थी, जिससे उनकी दुर्गति को समस्त राहगीर देखें और उससे समझें कि बुरे काम करने से क्या होगा। इस डर के कारण बहुत से लोग तो स्वयं ही सुधर जायेंगे और देश में शान्ति बनी रहेगी। राजा को युग का स्रष्टा कहना उचित ही है—

८—कृतस्य करणाद् राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते।
त्रेतायाः करणाद् राजा स्वर्गं नात्यन्तमश्नुते।
उद्योगपर्व—अध्याय—१३२, श्लोक १८

"यथा राजा तथा प्रजा" वाली कहावत सही ही लगती है। जिस जिस देश में अवनति हुई है, उस देश का इतिहास जानने से ज्ञात होता कि उस देश का राजा स्वयं ऐसा ही था, जो कुछ न तो देश की उन्नति कर सका और न प्रजा को सुख-शान्ति दे सका।

सब देवताओं की भांति राजा भी पूजनीय होता है। युधिष्ठिर के यहाँ अश्वमेध के सहस्रों राजा इकट्ठे हुए थे, उस समय भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा था कि "यदि राजा एक वर्ष बिताकर अपने यहाँ आवें, तो उनके लिए अर्घ्य निवेदन करके उनकी पूजा करनी चाहिए, ऐसा शास्त्रज्ञ पुरुषों का कथन है, ये सभी नरेश दीर्घकाल के बाद आये हैं।"[९]

२—राजा के कर्तव्य–

क्षत्रिय राजा का सबसे पहला धर्म है प्रजा का पालन करना। प्रजा की आय के छठे भाग का उपभोग करने वाला राजा धर्म का फल पाता है। राजा के प्रधान कर्त्तव्य बताते हुए शिवजी ने पार्वती को बताया कि "इन्द्रिय-संयम, स्वाध्याय, अग्निहोत्र कर्म, दान, अध्ययन, यज्ञोपवीत-धारण, यज्ञानुष्ठान, धार्मिक कार्य का सम्पादन, पोष्यवर्ग का भरण-पोषण, आरम्भ किये हुए कर्म को सफल बनाना, अपराध के अनुसार उचित दण्ड देना, वैदिक यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करना, व्यवहार में न्याय की रक्षा करना और सत्यभाषण में अनुरक्त होना, ये सभी राजा के लिए धार्मिक कर्म हैं।"[१०] राजा को इन्द्रिय-संयम

९–एतानर्घ्यानभिगतानाहुः संवत्सरोषितान् ।
त इमे कालपूगस्य महतोऽस्मानुपागताः ।
सभापर्व—अध्याय—३६, श्लोक २४

१०–तस्य राज्ञः परो धर्मो दमः स्वाध्याय एव च ।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च ॥
यज्ञोपवीतधरणं यज्ञो धर्म क्रियास्तथा ।
भृत्यानां भरणं धर्मः कृते कर्मण्यमोघता ॥
सम्यग्दण्डे स्थितिर्धर्मो धर्मो वेदक्रतुक्रियाः ।
व्यवहारस्थितिर्धर्मः सत्यवाक्यरतिस्तथा ॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १४१, ४९-५०-५१

होना चाहिए, जिससे उसकी बुद्धि उचित ढंग से सब के अपराधों को देख सके और दूसरों की स्त्रियों के साथ सद्व्यवहार कर सके। स्वाध्याय राजा के लिए नित्य कर्म है, जिससे उसका मन नियमों में बँधा रहे और अनुचित बातों की ओर राजा का मन न जाये। जो राजा नित्य कर्म, स्वाध्याय तथा धार्मिक कार्यों में नित्य लगा रहता है, उसकी प्रजा सुखी तथा धर्माचरण करने वाली रहती है। श्रेष्ठ राजा का राज्य सदैव सबको सुख देने वाला होता है। संजय से पाण्डवों की बातें करते समय श्रीकृष्ण ने श्रेष्ठ राजा के कर्त्तव्य इस प्रकार बताये कि "राजा सावधानी के साथ इन सब वर्णों का पालन करते हुए इन्हें अपने-अपने धर्म में लगावे। वह कामभोग में आसक्त न होकर समस्त प्रजाओं के साथ समान भाव से बर्ताव करे और पापपूर्ण इच्छाओं का कदापि अनुसरण न करे।"[११] चारों वर्णों की रक्षा करना तथा उन्हें अपने धर्मों में प्रवृत्त बनाये रखना राजा का ही कर्त्तव्य है। यदि राजा स्वयं अपने धर्म में आसक्त रहेगा तो आधे लोग तो स्वयं ही अपने-अपने धर्मों के अनुसार आचरण करेंगे और शेष आधे लोग राजा के भय से उचित मार्ग पर चलेंगे। यदि राजा का भाव प्रजा की ओर समानता का रहेगा तो प्रजा भी राजा के बताये हुए मार्ग पर ही चलेगी, क्योंकि जो राजा सारी प्रजा को समान दृष्टि से देखता है, उसे प्रजा ईश्वर के समान पूजनीय मानती है। इसलिए राजा को अपनी प्रजा में ऐसा व्यवहार रखना चाहिए जिससे प्रजा किसी भी प्रकार असन्तुष्ट होकर राजा की आलोचना न करे और राजा को श्रेष्ठ एवं देव पुरुष समझे। श्रीकृष्ण ने संजय से कहा कि "यदि राजा को ज्ञात हो जाय कि उसके राज्य में कोई सर्वधर्म सम्पन्न श्रेष्ठ पुरुष निवास करता है, तो वह उसी को प्रजा के गुण-दोष का निरीक्षण करने के लिए नियुक्त करे तथा उसके द्वारा पता लगवावे कि मेरे राज्य में कोई पाप कर्म

११-एतान् राजा पालयन्नप्रमत्तो।
नियोजयन् सर्ववर्णान् स्वधर्मे।
अकामात्मा समवृत्तिः प्रजासु
नाधार्मिकाननुरुध्येत कामान्।
उद्योगपर्व—अध्याय-२९, श्लोक २७

करने वाला तो नहीं है।"[१२] राजा यदि श्रेष्ठ पुरुषों को आदर देगा, तो वे श्रेष्ठ पुरुष भी राजा के लिए अपना तन, मन, सब कुछ प्रसन्नता से देंगे। श्रेष्ठ पुरुषों के आधिक्य से राजा के सम्पूर्ण कार्य विश्वास और अपनेपन से पूर्ण होंगे। प्रत्येक कार्य करने वाला राजा के काम को अपना समझ कर ही करेगा और इससे राजा के देश की उन्नति होगी और वह राजा दूर-दूर तक प्रसिद्धि पायेगा।

३—राजा के आचरण में धर्म की प्रधानता—

राजा का आचरण सदा धर्म से युक्त होना चाहिए। धर्म का आचरण करने वाले राजा को ही सद्बुद्धि प्राप्त होती है और सद्बुद्धि से सब संकट दूर होते हैं। जो राजा धर्म का आचरण नहीं करता है, उसके सब कर्म व्यर्थ होते हैं तथा सदैव संकटों में फँसा रहता है। धर्म से विमुख राजा का कभी उद्धार नहीं होता और न वह राजा अपना जीवन शान्ति से व्यतीत कर सकता है। उसके राज्य में प्रजा अशान्त रहती है तथा चोर, डाकुओं आदि दुष्ट लोगों का आतंक बढ़ जाता है और प्रजा में त्राहि-त्राहि मची रहती है। धर्म से विमुख राजा की प्रजा विद्रोह करने को उद्यत रहती है और समय देखकर विद्रोह हो भी जाता है। इसलिए राजा को सदैव धर्म का आचरण करना चाहिए। राजा धृतराष्ट्र से कणिक ने कहा कि "राजा यदि संकट में हो तो कोमल या भयंकर—जिस किसी भी कर्म के द्वारा उस दुरवस्था से अपना

१२—श्रेयांस्तस्माद् यदि विद्येत कश्चि-
दभिज्ञातः सर्वधर्मोपपन्नः।
स तं द्रष्टुमनुशिष्यात् प्रजानां
न चैतद् बुध्येदिति तस्मिन्नसाधुः॥
उद्योगपर्व—अध्याय २६, श्लोक २८

उद्धार करे; फिर समर्थ होने पर धर्म का आचरण करे।"[१३] धर्म से विमुख राजा भी जब संकट में पड़ जाता है, तभी उसे धर्म का ज्ञान होता है और संकट के छूट जाने पर यदि वह सद्बुद्धि रखे और धर्म का आचरण करना आरम्भ कर दे, तो वह संकट भी उसके मार्ग दर्शन कराने वाला सिद्ध होता है। मनुष्य का प्रायः स्वभाव ऐसा ही देखा जाता है कि जब तक उस पर संकट नहीं पड़ता, तब तक वह बुद्धि को काम में नहीं लाता और आलस्य में रहकर अनुचित कार्य करता रहता है। किन्तु यदि किसी को संकट से ज्ञान हो जाय तो यह सबसे उत्तम मार्ग है। संकट से ज्ञान होने वाले को भी सद्बुद्धि वाला ही समझना चाहिए। धर्म की प्रशंसा करते हुए द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कहा कि "यदि धर्म की रक्षा की जाय, तो वह धर्म भी स्वयं राजा की रक्षा करता है। किन्तु वह आपकी रक्षा नहीं कर रहा है।"[१४] यदि राजा धर्म का आचरण करने वाला होता है,तो या तो उस पर संकट आते ही नहीं और यदि आते भी हैं, तो धर्म से वह सब टल जाते हैं अर्थात् धर्म ही उन्हें नष्ट कर देता है। धर्मात्मा राजा की सुरक्षित प्रजा यहाँ जिस धर्म का अनुष्ठान करती है, उसका चौथाई भाग उस राजा को मिल जाता है। कुन्ती ने श्रीकृष्ण से कहा कि तुम युधिष्ठिर से यह संदेश कहना कि "यदि राजा धर्म का पालन करता है, तो उसे देवत्व की प्राप्ति होती है और यदि अधर्म करता है तो नरक में ही पड़ता है।"[१५] इसका मतलब यही है कि यदि राजा धर्मात्मा

१३—कर्मणा येन केनैव मृदुना दारुणेन च ।
उद्धरेद् दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ।।
आदिपर्व—अध्या० १३६, श्लो० ७२

१४—राजानं धर्मगोप्तारं धर्मो रक्षति रक्षितः ।
इति मे श्रुतमार्याणां त्वां तु मन्ये न रक्षति ।।
वनपर्व—अध्या० ३०, श्लो० ८

१५—राजा चरित चेद् धर्मं देवत्वायैव कल्पते ।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति ।।
उद्योगपर्व—अध्या० १३२, श्लो० १३

होगा, तो उसकी प्रजा उसे ईश्वर तुल्य मानने लगेगी और वह इहलोक तथा परलोक में देवत्व को प्राप्त करता है। अधर्म करने वाला राजा इहलोक में भी अशान्ति तथा असन्तोष प्राप्त करता है तथा प्रजा द्वारा अपमानित होता है और परलोक भी बिगाड़ लेता है अर्थात् नरक में नाना प्रकार के दुःख उठाता है। युधिष्ठिर के धर्ममय स्वभाव को देखकर श्रीकृष्ण ने उनसे कहा कि "राज्यलाभ की अपेक्षा धर्म महान् है। धर्म की वृद्धि के लिए तप को ही प्रधान साधन बताया है। आप सत्य और सरलता आदि सद्गुणों के साथ-साथ स्वधर्म का पालन करते हैं, अतः आपने इहलोक और परलोक दोनों को जीत लिया है।"[१६] आप जैसे जो राजा भी कामना से प्रेरित होकर कुछ नहीं करते हैं तथा धन के लोभ से धर्म का त्याग नहीं करते हैं, वे धर्म के प्रभाव से ही धर्मराज कहलाते हैं, कृष्ण ने युधिष्ठिर से ऐसा कहा। राजा के लिए राज्य की अपेक्षा धर्म महान् होता है, इसलिए राजा को धर्म में रत रहना चाहिए।

अष्टक-ययाति संवाद में अष्टक ने अपने सम्पूर्ण लोक राजा ययाति को देते हुए कहा कि तुम मेरे ही लोकों में घूमते रहना और नीचे न उतरना, मैं तुम्हें अपने लोकों को देता हूँ। इस पर ययाति ने कहा कि दान लेना केवल ब्राह्मण का ही कर्त्तव्य है, धर्मशास्त्रोंमें अन्य और किसी को दान का अधिकारी नहीं बताया है। इसलिए आपके द्वारा दिये जाने वाले लोकों को मैं ग्रहण नहीं करता हूँ क्योंकि ये मेरे लिए उचित कार्य नहीं है। ययाति ने अष्टक से कहा कि "कोई भी राजा समान तेजस्वी होकर दूसरे से पुण्य तथा योग क्षेम की इच्छा न करे। विद्वान् राजा दैववश भारी विपत्ति में पड़ जाने पर भी कोई

१६—धर्मः परः पाण्डव राज्यलाभात्
तस्यार्थमाहुस्तप एव राजन्।
सत्यार्जवाभ्यां चरता स्वधर्मं
जितस्त्वयायं च परश्च लोकः॥

वनपर्व—अध्याय १८३, श्लो० १६

पापमय कार्य न करे।"[१७] राजा को महान् संकट पड़ने पर भी अपना धर्म नहीं छोड़ना चाहिए। राजा को धर्म की रक्षा राज्य से भी बढ़कर करनी चाहिए। राज्य का सुख तो थोड़े से समय का ही होता है, वृद्धावस्था आते ही उसे पुत्र को सौंपना पड़ता है, किन्तु धर्म ही एक ऐसी वस्तु है, जो इहलोक में तो अन्त समय तक काम आती ही है, मृत्यु के बाद परलोक में भी धर्म ही सहायक बनता है, ऐसा धर्मशास्त्रों का मत है। इसलिए राजा को धर्म का ही पालन कठिन से कठिन समय पड़ने पर भी करते रहना चाहिए। मृत्यु के समय न पुत्र साथ जाता है, न बन्धु-बान्धव और न स्त्री ही, केवल धर्म ही साथ रहता है और उसी से सद्‌गति मिलती है। धनदौलत, मकान - जायदाद, ठाट-बाट सब क्षणिक और संसार में रहने तक के ही साथी हैं। धर्म अमर-वस्तु है जो मृत्युपर्यन्त तक साथ जाती है। युधिष्ठिर ने भीष्म जी से धर्मात्मा राजा के आचरण के विषय में पूछा तब भीष्मजी ने वसुमना नामक राजा को वामदेवजी ने जैसा आचरण बताया था उसका उदाहरण देकर इस प्रकार कहा कि वसुमना राजा को वामदेवजी ने यह व्यवहार बताया कि "जो भूपाल धर्म को अर्थसिद्धि की अपेक्षा भी बड़ा मानता है और उसी को (धर्म को) बढ़ाने में अपने मन और बुद्धि का उपयोग करता हैं, वह धर्म के कारण बड़ी शोभा पाता है।"[१८] इसके विपरीत जो राजा अधर्म का व्यवहार या आचरण करता है, उसे धर्म और अर्थ दोनों पुरुषार्थ शीघ्र छोड़कर चले जाते हैं।

१७—धर्म्यं मार्गं यतमानो यशस्यं
कुर्यान्नृपो धर्ममवेक्षमाणः।
न मद्विधो धर्मबुद्धिः प्रजानन्
कुर्यादेवं कृपणं मां यथाऽऽत्थ ॥

आदिपर्व—अध्या० ९२, श्लो० १८

१८—अर्थसिद्धेः परं धर्मं मन्यते यो महीपतिः।
वृद्धयां च कुरुते बुद्धिं स धर्मेण विराजते ॥

अधर्म का आचरण करने वाले राजा की शक्ति भी क्षीण हो जाती है और उसका पराक्रम भी लुप्त हो जाता है। अधर्मी राजा के राज्य में सत्पुरुषों का लोप हो जाता है या तो सत्पुरुष स्वयं ही धर्मात्मा राजा के राज्य में चले जाते हैं या एकान्तवास करके अपने सत्कर्म में लगे रहते हैं और ईश्वर से सर्वदा राजा को सद्बुद्धि प्रदान करने की प्रार्थना करते रहते हैं। भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि अंगिरापुत्र उतथ्य ने राजा मान्धाता को क्षत्रियों के धर्म के विषय में जो बातें बताई थीं, वह तुम्हें बताता हूँ। भीष्मजी ने कहा कि उतथ्य ने इस प्रकार कहा कि "जब राजा व्यापारियों की पुत्र के समान रक्षा करता है और धर्म की मर्यादा को भंग नहीं करता, वही राजा का धर्म कहलाता है।"[१९] इसी प्रकार जो राजा पर्याप्त दक्षिणा वाले यज्ञों द्वारा श्रद्धापूर्वक यजन करता है, वह धर्मात्मा राजा कहलाता है। जो भूखे गरीबों को भोजन देकर स्वयं भोजन करता है, वह राजा धर्मात्मा समझा जाता है। जो गरीबों को धन की सहायता देकर बलवान बनाता है, वह राजा भी धर्मात्मा कहलाता है। वैशम्पायन जी ने भीष्मजी से राजा के धर्म के विषय में बताने को कहा तब भीष्मजी ने कहा कि "राजा समस्त प्रजाओं को अपने-अपने धर्मों में स्थापित करके उनके द्वारा शान्तिपूर्ण समस्त कर्मों का धर्म के अनुसार अनुष्ठान करावे।"[२०] राजा स्वयं तो धर्म का आचरण करे ही किंतु अपनी चारों वर्णों की प्रजा को भी उनके धर्म के अनुकूल आचरण करने के लिए प्रोत्साहित करें और समय-समय पर उन्हें धर्म का महत्व बताते हुए

१९—यदा शारणिकान् राजा पुत्रवत् परिरक्षति।
भिनत्ति च न मर्यादां स राज्ञो धर्म उच्यते

शान्तिपर्व—अध्या० ९१, श्लो० ३९

२०—स्वेषु धर्मेष्ववस्थाप्य प्रजाः सर्वा महीपतिः।
धर्मेण सर्वकृत्यानि शमनिष्ठानि कारयेत्॥

उन्हें धर्म के आचरण की ओर ही सचेत रखे। उतथ्य ने राजा मान्धाता को राजा के धर्माचरण के विषय में इस प्रकार कहा कि "सम्पूर्णप्राणी धर्म के ही आधार पर स्थित हैं और धर्म राजा के ऊपर प्रतिष्ठित है। जो राजा अच्छी तरह धर्म का पालन और उसके अनुकूल शासन करता है, वही दीर्घकाल तक पृथ्वी का स्वामी बना रहता है।"[२१] सारी प्रजा राजा के व्यवहार पर ही दृष्टि लगाये रहती है। यदि राजा धर्मात्मा होता है तो उसकी प्रजा भी धर्म का आचरण करने वाली होती है। राजा को संसार समुद्र से पार करने वाली नौका के समान बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "राजधर्म एक नौका के समान है। वह नौका धर्म रूपी समुद्र में स्थित है। सत्वगुण ही उस नौका का संचालन करने वाला बल (कर्णधार) है, धर्मशास्त्र ही उसे बाँधने वाली रस्सी है, त्यागरूपी वायु का सहारा पाकर वह मार्ग पर शीघ्रतापूर्वक चलती है, वह नाव ही राजा को संसार समुद्र से पार कर देगी।"[२२] इस संसार रूपी समुद्र को राजा ही अपने आचरण द्वारा प्रजा से पार कराता है। यहाँ राजा रूपी नौका धर्मशास्त्र रूपी रस्सी से बँधती है अर्थात् राजा धर्म-शास्त्र के नियमों से बँधा रहता है और उन्हीं नियमों के आधार पर अपना जीवन श्रेष्ठ बनाता है। राजा में धर्म का पालने करने से जिस सत्त्वगुण का उदय होता है, वही उसका बल अथवा पराक्रम होता है। त्याग से राजा का जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत होता है और त्याग से ही वह अपने सम्मान का ध्यान न रखकर ज्ञानी विद्वानों का सम्मान करता है, वहीं राजा श्रेष्ठ होता है। उत्तम धर्म का उपदेश देते हुए देवस्थान मुनि ने युधिष्ठिर

२१—धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति ।
तं राजा साधु यः शास्ति स राजा पृथिवीपतिः

शान्तिपर्व—अध्या० ९०, श्लो० ५

२२—धर्मे स्थिता सत्त्ववीर्या धर्मसेतुवटारका ।
त्यागवाताध्वगा शीघ्रा नौस्तं संतारयिष्यति ॥

शान्तिपर्व—अध्या० ६६, श्लो० ३७

से कहा कि "धर्म का अनुसरण करने वाले, सत्य, दान और तप में संलग्न रहने वाले, दया आदि गुणों से युक्त, काम-क्रोध आदि दोषों से रहित, प्रजा-पालन परायण, उत्तम धर्म सेवी तथा गौओं और ब्राह्मणों की रक्षा के लिए युद्ध करने वाले नरेशों ने परम उत्तम गति प्राप्त की है।"[२३] सत्य तथा दया आदि गुणों से प्रेम करने वाले राजा के राज्य में सदैव प्रजा सुखी और प्रसन्न रहती है। गौओं और ब्राह्मणों की रक्षा करने वाले तथा धर्म का सेवन करने वाले राजा को उत्तम गति मिलती है ऐसा धर्मशास्त्रों का कथन है।

राज-धर्म के पालन से राजा को चारों आश्रमों के धर्म का फल मिलता है। भीष्मजी ने युधिष्ठिर से राजा के धर्म पालन के विषय में इस प्रकार कहा कि "देश-धर्म और कुल धर्म का पालन करने वाला राजा सभी आश्रमों के पुण्य फल का भागी होता है।"[२४] राजा को धर्म का पालन करते समय अपने कुल तथा देश के धर्म का भी ध्यान रखना चाहिए। कुल परम्परा के अनुसार धर्म का आचरण करने वाले राजा के राज्य की पृथ्वी धन-धान्य से पूर्ण होकर उन्नति को प्राप्त होती है तथा राजा के ऐश्वर्य को बढ़ाती है। जो राजा अधर्म का अनुष्ठान करता है, उसकी राज्यभूमि अस्थिर तथा विनाश की ओर जाने लगती है। अधर्म से युक्त राजा का राज्य अधिक समय तक नहीं ठहरता। उसका राज्य सर्वदा डाँवाडोल रहता है और शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। राजलक्ष्मी भी धर्मात्मा राजा के साथ ही ठहरती है। विदुरजी ने धर्मात्मा राजा के गुण

२३—एवं धर्ममनुक्रान्ताः सत्यदानतपः पराः।
आनृशंस्यगुणैर्युक्ता कामक्रोधविवर्जिताः॥
प्रजानां पालने युक्ता धर्ममुत्तममास्थिताः।
गोब्राह्मणार्थे युध्यन्तः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम्॥

शान्तिपर्व—अध्याय २१, श्लोक १८–१९

२४—देशधर्मांश्च कौन्तेय कुलधर्मांस्तथैव च।
पालयन् पुरुषव्याघ्र राजा सर्वाश्रमी भवेत्॥

शान्तिपर्व—अध्याय ६६, श्लोक २९

बताते हुए धृतराष्ट्र से कहा कि "धर्म से ही राज्य प्राप्त करे और धर्म से ही उसकी रक्षा करें; क्योंकि धर्ममूलक राज्यलक्ष्मी को पाकर न तो राजा उसे छोड़ता है और न वही राजा को छोड़ती है।"[२५] अधिक समय तक राज्य-लक्ष्मी का उपभोग करने वाले राजा को धर्म पूर्वक आचरण करना चाहिए, तभी उसकी कामना पूर्ण हो सकती है। युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा कि राजा को युद्ध करने में धर्म के अनुरूप किन बातों का ध्यान रखना चाहिए, यह बताने की कृपा करें। तब भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "जिसके कोई घाव न हो, उसे युद्ध में न छोड़े, यह क्षत्रिय का सनातन धर्म है। अतः धर्म के अनुसार युद्ध करना चाहिए, यह स्वायम्भुव मनु का कथन है।"[२६] धर्म युद्ध में तत्पर हुआ जो क्षत्रिय अधर्म से विजय पाता है, छल-कपट को जीविका का साधन बनाता है, वह पापी स्वयं ही अपना नाश करता है। क्षत्रिय के लिए धर्मपूर्वक युद्ध करके मर जाना ही श्रेष्ठ धर्म है, किन्तु छल-कपट से विजय प्राप्त करना अधर्म है।

४—राजा के गुण—

जिस प्रकार से ब्राह्मणों में त्याग, तप तथा सात्त्विक जीवन का होना आवश्यक है, उसी प्रकार से क्षत्रियों में भी कुछ विशेष गुणों का होना परमावश्यक है। वे विशेष गुण अहंकार त्यागना अर्थात् अगर्व, उद्यमशील होना, ईर्ष्या रहित होना, मधुरवाणी का प्रयोग, दान देना आदि क्षत्रिय राजा के लिए विशेष गुण हैं। जिस प्रकार से ब्राह्मणों का कार्य अध्यापन, ज्ञान की खोज तथा बड़ी-बड़ी रचनाएँ करना आदि है, उसी प्रकार से राजा को अपने

२५—धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत् ।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥
उद्योग पर्व—अध्याय ३४, श्लोक ३१

२६—निर्व्रणश्च न मोक्तव्य एष धर्मः सनातनः :
तस्माद् धर्मेण योद्धव्यमिति स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६५, श्लोक १४

उद्यमशील चरित्र के द्वारा ईर्ष्यारहित मधुरवाणी के द्वारा अपने देश के बड़े-बड़े संकटों को दूर करना तथा राज्य और प्रजा में सुख-शान्ति देना है। धृतराष्ट्र के द्वारा कणिक से पूछे जाने पर कि साम, दाम, भेद अथवा दण्ड के द्वारा शत्रु का नाश कैसे किया जा सकता है, यह यथार्थ रूप से बताइये। तब कणिक ने कहा कि "राजा अपने हृदय से अहंकार को निकाल दे। चित्त को एकाग्र रक्खे। सबसे मधुर बोले। दूसरों के दोष प्रकाशित न करे। सब विषयों पर दृष्टि रक्खे और शुद्धचित्त हो द्विजों के साथ बैठकर मन्त्रणा करे।"[२७] सबसे प्रथम हृदय से अहंकार को दूर करने को कहा है। क्योंकि अहंकार मनुष्य का एक ऐसा शत्रु है जिसके मोह में फँस कर मनुष्य अनुचित से अनुचित कार्य कर बैठता है। इसलिए सबसे पहले श्रेष्ठ मनुष्य अहंकार को अपने मन से दूर करते हैं। जिस मनुष्य के हृदय में जितना अहं भाव होता है, वह दूसरों की बातों को उतना ही समझने में असमर्थ होता है। अहंकार से मनुष्य की बुद्धि क्षीण हो जाती है और वह बुद्धिमत्ता के कार्य न कर सकता है और न समझ सकता है। इसलिए राजा को निर्मल बुद्धि भी अहंकार को छोड़ने पर ही प्राप्त होती है। राजा के लिए स्वच्छ बुद्धि की अत्यन्त आवश्यकता होती है क्योंकि राजा का कार्य दूसरों के सुख-दुःख को समझना तथा अपने कर्तव्य तथा अपने धर्म का पालन करना है। ये सारे कार्य निर्मल बुद्धि के बिना नहीं हो सकते। इसलिए राजा के लिए प्रथम गुण निर्मल बुद्धि का होना है।

राजा के लिए दूसरा गुण उद्यमशीलता है। यदि राजा उद्यमी न होगा तो उसके राज्य में अराजकता फैलने लगेगी और प्रजा दुःखी रहने लगेगी। इसलिए राजा को आलस्य त्याग कर उद्यमशील होना चाहिए। उद्यम से ही सम्पूर्ण बड़े-बड़े कठिन कार्य सरलता से पूर्ण हो जाते हैं। उद्यमशील राजा के मित्र भी उद्यमशील होते हैं और राजा को सब प्रकार से यश-कीर्ति प्राप्त कराते हैं। कणिक ने राजा धृतराष्ट्र को राजा के उद्यम के विषय में बताते हुए कहा कि "ऐश्वर्य की इच्छा रखने वाले राजा को देश और काल का

२७—अगर्वितात्मा युक्तश्च सान्त्वयुक्तोऽनसूयिता।
अवेक्षितार्थः शुद्धात्मा मन्त्रयेत द्विजैः सह॥

आदिपर्व—अध्याय १३९, श्लोक ७१

विभाग करके ही यत्नपूर्वक उत्साह एवं उद्यम करना चाहिए। इसी प्रकार देश काल के विभागपूर्वक ही प्रारब्ध कर्म तथा धर्म, अर्थ और काम का सेवन करना चाहिए। देश और काल को ही मंगल के प्रधान हेतु समझना चाहिए। यही नीतिशास्त्र का सिद्धान्त है।"[२८] लक्ष्मी भी उद्यमशील राजा का ही वरण करती है और उसके साथ दीर्घकाल तक ठहरती है। उद्यम के विना सिंह भी भूखा बैठा रहता है, विना उद्यम के अन्य पशु उसके पास नहीं पहुँचते। जब वह उद्यम करके उनका शिकार करता है, तभी अपनी भूख को मिटाता है। बड़े से बड़े मनुष्यों को उद्यम करना पड़ता है। विना उद्यम के मनुष्य अप्रसन्न रह कर समय को व्यतीत करके किसी प्रकार अपना जीवन तो व्यतीत कर लेता है किन्तु उसका जीवन असफल ही रहता है और मृत्यु के समय उसे वहुत पश्चाताप होता है कि मैंने कुछ नहीं किया। इसलिए राजा को तथा सबको उद्यमशील होना चाहिए और अपना जीवन सफल बना कर प्रसन्नता से परलोक जाना चाहिए। भीष्मजी ने राजा युधिष्ठिर को उद्यमशील राजा के लिए इस प्रकार कहा कि "राजा को सदा ही उद्योगशील होना चाहिए। जो उद्योग छोड़कर स्त्री की भांति वेकार बैठा रहता है, उस राजा की प्रशंसा नहीं होती है।"[२९] भीष्म ने भी उद्यमशील राजा की ही प्रशंसा की है और विना उद्यमशील राजा की उपमा घर में बैठी स्त्रियों से की है। जिस प्रकार स्त्रियों का जीवन घर के काम-काज करके और वच्चों का पालन-पोषण करके व्यर्थ ही पूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार आलसी राजा का जीवन

२८—उत्साहश्चापि यत्नेन कर्त्तव्यो भूतिमिच्छता।
विभज्य देशकालौ च दैवं धर्मादयस्त्रयः॥
नैः श्रेयसौ तु तौ ज्ञेयौ देशकालाविचि स्थितिः॥
आदि पर्व—अध्याय १३९, श्लोक ८५

२९—नित्योद्युक्तेन वै राज्ञा भवितव्यं युधिष्ठिर।
प्रशस्यते न राजा हि नारीवोद्यमवर्जितः॥
शान्तिपर्व—अध्याय ५७, श्लोक १

भी व्यर्थ ही बीत जाता है और वह राज्य की या देश की कुछ भी उन्नति नहीं कर पाता। उन्नति चाहने वाले राजा को उद्यमशील होना चाहिए।

राजा का तीसरा गुण ईर्ष्या का त्याग है। ईर्ष्या से रहित राजा ही निर्मल बुद्धि वाला होगा। उसकी बुद्धि सबको समान रूप से देखेगी और उचित न्याय करेगी। ईर्ष्या से सबके मन और बुद्धि कलुषित हो जाते हैं तथा विवेक नष्ट हो जाता है। इसलिए ईर्ष्या का त्यागना ही श्रेष्ठ राजा तथा विद्वानों के लिए हितकर है। ईर्ष्या के त्याग के लिए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "जिस भूपाल के राज्य में कूटनीति, कपट, माया तथा ईर्ष्या का सर्वथा अभाव हो, उसी के द्वारा सनातन धर्म का पालन होता है।"[३०]

चौथा गुण राजा को मधुर-भाषी होना चाहिए। जो अपने मधुर भाषण से सबको वश में कर लेता है, उस राजा की सब प्रकार से सब जगह प्रशंसा होती है और राजा को यश कीर्ति मिलती है। पाँचवा गुण राजा की दानशीलता है। दान करना राजा के लिए सबसे बड़ा धर्म है। दान का महत्त्व बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "स्वयं दुष्टों पर प्रहार करे दानशील बने, मन को वश में रखे, सुरम्य साधन स युक्त रहे, समय-समय पर धन का दान और उपयोग भी करे तथा निरन्तर शुद्ध एवं सदाचारी बना रहे।"[३१] दानशील राजा से सब प्रजा प्रसन्न रहती है। गरीबों को धन की सहायता मिलती है और वह उन्नति की ओर अग्रसर होते हैं। दान से ब्राह्मणों की तो जीविका ही चलती है और ब्राह्मण लोग वन में कुटिया बनाकर शान्त चित्त से शास्त्रों की रचना इसी दान के आश्रय से करते हैं। राजा का दान

३०—न यस्य कूटं कपटं न माया न च मत्सरः।
विषये भूमिपालस्य तस्य धर्मः सनातनः॥
शान्तिपर्व—अध्याय ५७, श्लोक ३७

३१—स्वयं प्रहर्ता दाता च वश्यात्मा रम्यसाधनः।
काले दाता च भोक्ता च शुद्धाचारस्तथैव च॥
शान्ति पर्व—अध्याय ५७, श्लोक २२

करने से अनेक सुख-सम्पत्ति प्राप्त होती है तथा इहलोक और परलोक भी उत्तम रहता है। राजा को उत्तम दान से उत्तम पुण्य मिलता है और बड़े-बड़े यज्ञों में दक्षिणाओं से भी उत्तम गति प्राप्त होती है। इसलिए उत्तम पुण्य प्राप्त करने वाले राजा को उत्तम दान देना चाहिये।

५. प्रजा-पालन राजा का मुख्य-धर्म है—

राजा के लिए जिस प्रकार यज्ञ करना, अध्ययन करना तथा दान देना धर्म है, उसी प्रकार प्रजा का पालन करना भी राजा का धर्म है। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "इस लोक में प्रजावर्ग को प्रसन्न रखना ही राजाओं का सनातन धर्म है, सत्य की रक्षा और व्यवहार की सरलता ही राजोचित कर्त्तव्य है।"[३२] राजा को चाहिए कि धर्मानुकूल बर्ताव करते हुए प्रजाजनों का पालन करते रहना चाहिए, इससे राजा को सुखद पुण्य और चिरस्थायी यश प्राप्त होगा। सद्भाव और सदाचार से प्रजा का पालन करने वाले राजा को सम्पूर्ण प्रजा ईश्वरतुल्य मानती तथा पूजती है। यदि राजा प्रजा को सुखी नहीं रख पाता है तो उसका राज्य भी अस्थायी ही रहता है। भीष्म जी ने राजा के सनातनधर्म को बताते हुए युधिष्ठिर से कहा कि "राजा जो प्रजा का रक्षा करता है, यही उसका सबसे बड़ा धर्म है। समस्त प्राणियों की रक्षा तथा उनके प्रति दया ही महान् धर्म है।"[३३] जो राजा प्रजा के साथ धर्मानुकूल बर्ताव करता है,उस राजा को चिन्ता तथा पश्चाताप कभी नहीं होता है। धर्म के अनुकूल व्यवहार करने से राजा कभी अनुचित कार्य करेगा ही नहीं, इसलिए उसे पश्चाताप भी नहीं होगा। सब प्रजा को समान

३२—लोकरंजनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः।
सत्यस्य रक्षणं चैव व्यवहारस्य चार्जवम्॥

शान्तिपर्व—अध्या० ५७, श्लो० ११

३३—एष एव परोधर्मो यद् राजा रक्षति प्रजाः।
भूतानां हि यथा धर्मो रक्षणं परमा दया॥

शान्तिपर्व—अध्या० ७१, श्लो० २६

दृष्टि से देखेगा तथा सब पर सर्वदा दया का भाव रखेगा, उस राजा को कभी चिन्ता नहीं होगी। सद्व्यवहार से राजा स्वयं प्रसन्नचित्त रहेगा और प्रजा को भी प्रसन्न रख सकेगा। भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि अंगिरापुत्र उतथ्य ने मान्धाता राजा को जो क्षत्रिय धर्म का उपदेश दिया था, उसमें उन्होंने प्रजा के लिए राजा के कर्त्तव्य बताये वह सुनो "ब्रह्माजी ने प्राणियों के कल्याणार्थ ही धर्म की सृष्टि की है, इसलिए राजा को चाहिए कि अपने देश में प्रजाजनों पर अनुग्रह करने के लिए धर्म का प्रचार करे।"[३४] ब्रह्मा जी ने धर्म की सृष्टि करके धर्म के प्रचार के लिए ही राजा की नियुक्ति की। जिसमें धर्म का भाव विद्यमान है, उसी को राजा कहते हैं। धर्म की वृद्धि होने पर सदा समस्त प्राणियों का अभ्युदय होता है, धर्म का ह्रास होने पर सबका ह्रास हो जाता है। अतः धर्म का लोप नहीं होना चाहिए। जो राजा सत्कर्म के पालनपूर्वक प्रजा का शासन करता है, वही श्रेष्ठ राजा है। धृतराष्ट्र के पूछने पर कणिक ने राजा के लिए धर्म बताते हुए कहा कि "जो राजा सदा दण्ड देने के लिए उद्यत रहता है, उससे प्रजाजन बहुत डरते हैं; इसलिए सब कार्य दण्ड के द्वारा ही सिद्ध करे।"[३५] राजा को दण्ड देने वाला भी होना चाहिए, क्योंकि दुष्टजन दण्ड से ही मानते हैं। राजा के दण्ड की नीति कठोर देख कर आधे लोग तो भय से अनुचित कर्मों को स्वयं ही छोड़ देते हैं, किन्तु कुछ लोग इतने पक्के होते हैं कि बिना कठोर दण्ड के अपने कार्यों को छोड़ते ही नहीं। ऐसे दुष्ट लोग या तो मरकर ही छोड़ते हैं या कठोर दण्ड से डर कर अनुचित कर्म बन्द करते हैं।

३४—प्रभवार्थं हि भूतानां धर्मः सृष्टः स्वयम्भुवा।
तस्मात् प्रवर्तयेद् धर्मं प्रजानुग्रहकारणात्॥

शान्तिपर्व—अध्या० ९०, श्लो० १६

३५—नित्यमुद्यतदण्डाद्धि भृशमुद्विजते जनः।
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि दण्डेनैव विधारयेत्॥

आदिपर्व—अध्याय १३६, श्लो० ७

६. चारों वर्णों की रक्षा करना राजा का धर्म—

राजा का चारों वर्णों की रक्षा करना भी धर्म बताया है। चारों वर्ण अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन तभी उचित ढंग से कर सकेंगे, जब उन्हें यह विश्वास होगा कि राजा हमारी रक्षा का ध्यान रखता है। रक्षा का विश्वास हो जाने पर ही ब्राह्मण धर्म-कर्म में लगे रहेंगे, शिष्यों को शिक्षा देकर अध्यापन का कार्य सफल करेंगे तथा राजाओं के बड़े-बड़े यज्ञ मन्त्रों सहित पूर्ण करायेंगे और श्रेष्ठ साहित्य का सृजन करेंगे। क्षत्रिय लोग युद्ध में जाने की

रखते हैं और राजा सभी वर्णों का रक्षक होता है।"[37] इसलिए राजा को धन द्वारा देश की और चारों वर्णों की सदैव रक्षा करनी चाहिए। राजा के धर्म बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "जो लोग अपने अन्तरङ्ग हों, उनसे बाहरी लोगों की रक्षा करो और बाहरी लोगों से सदा अन्तरङ्ग व्यक्तियों को बचाओ। इसी प्रकार बाहरी व्यक्तियों की बाहर के लोगों से और समस्त आत्मीयजनों की आत्मीयोंसे सदा रक्षा करते रहना चाहिए।"[38] राजा को चाहिए कि वह अपने साथ रहने वालों की और बाहर से आने वाले लोगों की सब प्रकार से रक्षा करे। राजा के बहुत से गुप्तचर वेष बदले हुए होते हैं, उनका ज्ञान राजा को ही होता है, इसलिए राजा को उनकी रक्षा का पूरा-पूरा प्रबन्ध करना चाहिए और अपने रक्षकों को चेतावनी देनी चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य को पहले मेरे पास लाओ तब उसे मेरे कहे अनुसार दण्ड दो। रक्षा के विषय में बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि "राजा को चारों वर्णों के धर्मों की रक्षा करनी चाहिए, प्रजा को धर्मसंकरता से बचाना राजाओं का सनातन धर्म है।"[39] यदि प्रजा धर्म से विमुख हो रही हो, तो उसको धर्म में लगाना राजा का ही धर्म है। सब वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी सेवा करना राजाओं का कर्त्तव्य है। श्रीकृष्णने युधिष्ठिरसे कहाकि

३७—राजानो हि स्वधर्मेण श्रियमिच्छन्ति भूयसीम्।
सर्वेषामेव वर्णानां त्राता राजा भवत्युत ॥

वनपर्व—अध्याय २०७, श्लो० ३१

३८—आन्तरेभ्यः परान् रक्षन् परेभ्यः पुनरान्तरान्।
परान् परेभ्यः स्वान् स्वेभ्यः सर्वान् पालयन् सदा

शान्तिपर्व—अध्याय ८६, श्लो० १२

३९—चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता।
धर्मसंकर च राज्ञां धर्मः सनातनः ॥

शान्तिपर्व—अध्याय, ५७, श्लोक १५

९. चारों वर्णों की रक्षा करना राजा का धर्म—

राजा का चारों वर्णों की रक्षा करना भी धर्म बताया है। चारों वर्ण अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन तभी उचित ढंग से कर सकेंगे, जब उन्हें यह विश्वास होगा कि राजा हमारी रक्षा का ध्यान रखता है। रक्षा का विश्वास हो जाने पर ही ब्राह्मण धर्म-कर्म में लगे रहेंगे, शिष्यों को शिक्षा देकर अध्यापन का कार्य सफल करेंगे तथा राजाओं के बड़े-बड़े यज्ञ मन्त्रों सहित पूर्ण करायेंगे और श्रेष्ठ साहित्य का सृजन करेंगे। क्षत्रिय लोग युद्ध में जाने की हिम्मत तभी करेंगे जब उन्हें भी यह विश्वास होगा कि हमारे पीछे हमारे परिवार की चिन्ता राजा कर लेगा और उन्हें किसी प्रकार के कष्ट न होंगे। इस आशा को लेकर ही क्षत्रिय युद्ध में अपना जीवन समर्पण कर देते हैं और अपने पराक्रम के द्वारा अमर हो जाते हैं। इसी प्रकार वैश्य भी अपना वाणिज्य, गोरक्षा, कृषि सब निश्चिन्तता से करते हैं कि राजा हमारी रक्षा कर रहा है, और शूद्र भी अपनी सेवा पूर्ण रूप से करते हैं कि राजा की कृपा दृष्टि हम पर है। रक्षा के विषय मे बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि "राज्य चाहने वाले राजाओं के लिए राज्य में प्रजाओं की भली-भाँति रक्षा को छोड़कर और कोई सनातन धर्म नहीं है, रक्षा ही जगत् को धारण करने वाली है।"[३६] जिन श्रेष्ठ राजाओं को राज्य चाहने की कामना हो, उन्हें सर्वप्रथम प्रजा की रक्षा का भार उठाना चाहिए और धर्मपूर्वक प्रजा की रक्षा करनी चाहिये। प्रजा की रक्षा करने वाला राजा ही सदैव सुखी, उन्नतिशील तथा अधिक समय तक राज्य करने वाला होता है। मार्कण्डेयजी जनक के राज्य में पहुँचे तो उन्हें एक व्याध मिला, वह उन्हें अपने घर ले गया। उसके घर में मांस देख कर ब्राह्मणदेवता क्रोधित होने लगे, तब व्याध ने,कुलजन्म से अपने बाप-दादों का कार्य करने में कोई दोष नहीं होता, बताते हुए कहा कि "राजा लोग अपने धर्म का पालन करते हुए ही प्रचुर सम्पत्ति पाने की इच्छा

३६—तद्राज्ये राज्यकामानां नान्यो धर्मः सनातनः ।
ऋते रक्षां तु विस्पष्टां रक्षा लोकस्य धारिणी ॥

शान्तिपर्व—अध्या० ५७, श्लो० ४२

रखते हैं और राजा सभी वर्णों का रक्षक होता है।"[37] इसलिए राजा को धन द्वारा देश की और चारों वर्णों की सदैव रक्षा करनी चाहिए। राजा के धर्म बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "जो लोग अपने अन्तरङ्ग हों, उनसे बाहरी लोगों की रक्षा करो और बाहरी लोगों से सदा अन्तरङ्ग व्यक्तियों को बचाओ। इसी प्रकार बाहरी व्यक्तियों की बाहर के लोगों से और समस्त आत्मीयजनों की आत्मीयोंसे सदा रक्षा करते रहना चाहिए।"[38] राजा को चाहिए कि वह अपने साथ रहने वालों की और बाहर से आने वाले लोगों की सब प्रकार से रक्षा करे। राजा के बहुत से गुप्तचर वेष बदले हुए होते हैं, उनका ज्ञान राजा को ही होता है, इसलिए राजा को उनकी रक्षा का पूरा-पूरा प्रबन्ध करना चाहिए और अपने रक्षकों को चेतावनी देनी चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य को पहले मेरे पास लाओ तब उसे मेरे कहे अनुसार दण्ड दो। रक्षा के विषय में बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि "राजा को चारों वर्णों के धर्मों की रक्षा करनी चाहिए, प्रजा को धर्मसंकरता से बचाना राजाओं का सनातन धर्म है।"[39] यदि प्रजा धर्म से विमुख हो रही हो, तो उसको धर्म में लगाना राजा का ही धर्म है। सब वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी सेवा करना राजाओं का कर्त्तव्य है। श्रीकृष्णने युधिष्ठिरसे कहाकि

३७—राजानो हि स्वधर्मेण श्रियमिच्छन्ति भूयसीम्।
सर्वेषामेव वर्णानां त्राता राजा भवत्युत ॥

वनपर्व—अध्याय २०७, श्लो० ३१

३८—आन्तरेभ्यः परान् रक्षन् परेभ्यः पुनरान्तरान्।
परान् परेभ्यः स्वान् स्वेभ्यः सर्वान् पालयन् सदा

शान्तिपर्व—अध्याय ८६, श्लो० १२

३९—चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता।
धर्मसंकर च राज्ञां धर्मः सनातनः ॥

शान्तिपर्व—अध्याय, ५७, श्लोक १५

"आप इच्छानुसार पृथ्वी का पालन कीजिए और धर्मपूर्वक धुरी को धारण कीजिए। धर्मोपदेश यही है कि ब्राह्मणों की सेवा कीजिए।"[४०] ब्राह्मणों के सत्संग से राजाओं की बुद्धि निर्मल रहती है और ज्ञान तथा धर्म में लगी हुई बुद्धि धर्मसंगत ही कार्य करती है। क्षत्रियों का पराक्रम और ब्राह्मणों का ज्ञान दोनों के समन्वय से देश की उन्नति और यश-वैभव बढ़ते हैं। इसलिए राजा को सदैव ही ब्राह्मणों का आदर करना चाहिए। गन्धर्व ने अर्जुन से कहा कि इस पृथ्वी पर एक असाधारण तेजस्वी राजा कल्माषपाद हुए, जो वन में भूख प्यास से पीड़ित एक तंग रास्ते पर आ पहुँचे, जहाँ पर से केवल एक ही आदमी जा सकता था। उसी तंग रास्ते पर प्रतापी विश्वामित्र भी आ रहे थे। विश्वामित्र को देखकर राजा ने कहा कि हमारे रास्ते से हट जाओ। तब मधुरवाणी में राजा को समझाते हुए विश्वामित्र मुनि ने कहा कि "मार्ग तो मुझे ही मिलना चाहिए, यही सनातन धर्म है। सभी धर्मों में राजा के लिए यही उचित है कि वह ब्राह्मण को मार्ग दे।"[४१] श्रेष्ठ राजाओं को चाहिए कि वह ब्राह्मणों को उचित आदर दें तथा उन्हें ही प्रथम मार्ग दें। इसी प्रकार राजा को चारों वर्णों की रक्षा करके अपने सनातन धर्म का पालन करना चाहिए।

यदि राजा प्रजा की रक्षा न करे तो बलवान दुर्बलों की बहू-बेटियों को हर ले जायँ और अपने घर-बार की रक्षा के लिए प्रयत्न करने वालों को मार डालें। यदि राजा रक्षा न करे तो जगत में स्त्री, पुत्र, धन अथवा घरबार का ऐसा संग्रह सम्भव नहीं हो सकता, जिसको कह सकें कि यह मेरा है और सबकी सारी सम्पत्ति का लोप हो जाय। अरक्षित प्रजा के वस्त्र, आभू-

---

४०—यथेष्टं पालय महीं सदा धर्मधुरं वह।
धर्मोपदेशं संक्षेपाद् ब्राह्मणान् भज कौरव॥
आदिपर्व—अध्याय २०६, श्लोक ५१–५२ के मध्य

४१—मम पन्था महाराज धर्म एष सनातनः।
राज्ञा सर्वेषु धर्मेषु देयः पन्था द्विजातये॥

आदिपर्व—अध्याय १७५, श्लोक ८

पण, वाहन और नाना प्रकार के रत्नों को पापाचारी लुटेरे लूट ले जायेंगे। अरक्षित धर्मात्मा पुरुषों पर भी अस्त्र-शस्त्रों की मार पड़े और विवश होकर उन्हें अधर्म का मार्ग ग्रहण करना पड़े। यदि राजा रक्षा न करे तो दुराचारी मनुष्य माता-पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरु को क्लेश पहुँचावें और मार डालें। धनवानों को रक्षा बिना वध या बन्धन का क्लेश उठाना पड़े। देश में अकाल पड़ जाय और समस्त जगत डाकुओं के अधीन हो जाय और सारा जगत भयभीत, उद्विग्न चित्त, हाहाकार-परायण तथा अचेत हो क्षण भर में नष्ट हो जाय। इसीलिए प्रजा को राजा की आवश्यकता है। राजा के भय से ही सम्पूर्ण दुष्टात्मा मनुष्य कुछ नहीं कर पाते हैं और सब वर्णों के लोग अपने अपने धर्मों और कर्तव्यों का शान्ति के साथ पालन करते हैं। अपने समस्त धन को अपना मान कर उसकी रक्षा करते हैं। प्रजा को सुख-शान्ति राजा की रक्षा से ही मिलती है।

७—राजनीति और दण्ड—

राजा को सबसे पहले सदा अपने मन पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। उसके बाद शत्रुओं को जीतने की चेष्टा करनी चाहिए। श्रोत्र आदि पाँचों इन्द्रियों को अपने वश में रखना ही मन पर विजय पाना है। जितेन्द्रिय नरेश ही अपने शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकता है। भीष्मजी ने राजनीति बताते हुए युधिष्ठिर से कहा कि "राजा को किलों में, राज्य की सीमा पर तथा नगर और गाँव के बगीचों में सेना रखनी चाहिए।"[४२] अन्तःपुर तथा राजमहल के आस पास भी रक्षक सैनिकों की नियुक्ति करनी चाहिए। बुद्धिमान होने पर भी जो गूँगे-बहरे से तथा अन्धे से जान पड़ें, जो भूख-प्यास और परिश्रम सहने की शक्ति रखते हों, ऐसे मनुष्यों को गुप्तचर बनाकर आवश्यक कार्यों में नियुक्त कर दे। राजा को अपने निजी प्रेमी तथा कुटुम्बी मनुष्यों का भी विश्वास नहीं करना चाहिए। उनके लिए भी गुप्तचर नियुक्त करे, भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि "राजा एकाग्रचित्त हो सब मन्त्रियों, नाना प्रकार के मित्रों तथा

४२—न्यसेत गुल्मान् दुर्गेषु सन्धौ च कुरुनन्दन।
नगरोपवने चैव पुरोद्यानेषु चैव ह॥

पुत्रों पर भी गुप्तचर नियुक्त करे ।"[४३] कभी-कभी राजा के मन्त्री, मित्र तथा पुत्र भी विश्वासघात कर देते हैं, इसलिए उनके भावों का भी पता लगाते रहना चाहिए । राजा को अपने गुप्तचरों द्वारा दूसरे राजा के भेजे हुए गुप्तचरों का भी पता लगाते रहना चाहिए, इससे राजा की नीति ठीक रहेगी ।

राजा को विद्वान् क्षत्रिय, वैश्य तथा अनेक शास्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मण यदि दण्डनीति के ज्ञान में निपुण हों तो इन्हें मन्त्री बनाना चाहिए । बलवान शत्रु के साथ सन्धि कर लेनी चाहिए । अपकारियों को तथा जनता से द्वेष रखने वालों को सर्वथा नष्ट कर दे । दूसरे राजा को दुर्बल और अपने को बलवान जानने पर राजा को आक्रमण कर देना चाहिए । जिस समय अपना युद्ध चल रहा हो उस समय अपने देश में हानि पहुँचाने वाले भिखमंगों, गाड़ीवानों, हीजड़ों, पागलों और नाटक करने वालों को बाहर निकाल दे अन्यथा युद्ध के समय में ये लोग बड़ी भारी विपत्ति ला सकते हैं । युद्ध के समय वैद्योंका विशेष रूप से संग्रह करना चाहिए । राजा को सात वस्तुओं की रक्षा अवश्य करनी चाहिए । ये सात वस्तुएँ—(१) राजा का अपना शरीर (२) मन्त्री (३) कोष (४) दण्ड (सेना) (५) मित्र (६) राष्ट्र (७) नगर । ये सात राज्य के अंग हैं, इनका राजा को भली प्रकार पालन करना चाहिए ।

धृतराष्ट्र को कणिक ने राजनीति के उपदेश देते हुए कहा कि "जो राजा डरपोक को भय दिखाकर फोड़ ले तथा जो अपने से शूरवीर हो उसे हाथ जोड़ कर वश में करे । लोभी को धन देकर तथा बराबर और कमजोर को पराक्रम से वश में करे । इस प्रकार आपसे नीतियुक्त वर्ताव का वर्णन किया है ।"[४४] महावाहु भीमसेन से राजनीति की वातें वताते हुए हनूमानजी

४३—अमात्येषु च सर्वेषु मित्रेषु विविधेषु च ।
पुत्रेषु च महाराज प्रणिदध्यात् समाहितः ।।
शान्ति पर्व—अध्याय ६८, श्लोक ९

४४—भयेन भेदयेद् भीरुं शूरमंजलिकर्मणा ।।
लुब्धमर्थप्रदानेन समं न्यूनं तथौजसा ।
एवं ते कथितं राजञ्शृणु चाप्यपरं तथा ।।
आदि पर्व—अध्याय १३९, श्लोक ५०-५१

ने कहा कि "साम, दाम, दण्ड, भेद—ये चार उपाय, गुप्तचर, उत्तम बुद्धि, सुरक्षित मन्त्रणा, पराक्रम, निग्रह, अनुग्रह और चतुरता—ये राजाओं के लिए कार्य-सिद्धि के साधन हैं।"[४५] साम, दाम, भेद, दण्ड और उपेक्षा—इन नीतियों में से एक-दो के द्वारा या सबके एक साथ प्रयोग द्वारा राजाओं को अपने कार्य सिद्ध करने चाहिए।"[४६] राजा के जो स्नेही (सुहृद्) हो, उन्हीं के द्वारा नीति के प्रयोग का काम कराना चाहिए। मूर्खों को तो सभी कार्यों से अलग रखना चाहिए। राजा की नीति का वर्णन करते हुए हनूमान ने भीम से कहा कि "राजा को चाहिए कि वह धर्म के कार्यों में धार्मिक पुरुषों को, अर्थ सम्बन्धी कार्यों में अर्थ-शास्त्र के पण्डितों को, स्त्रियों की देख-भाल के लिए नपुंसकों को और कठोर कार्यों में क्रूर स्वभाव वाले मनुष्यों को लगावे।"[४७] अपनी शरण में आये हुए श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा करनी चाहिए और दुष्ट मनुष्यों को कठोर दण्ड देना चाहिए। द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कहा कि "राजाओं का परम धर्म तो यही है कि वे दुष्टों को दण्ड दें, सत्पुरुषों का पालन करे और युद्ध में कभी पीठ न दिखावें।"[४८] राजा को न्याय में सर्वदा उचित न्याय ही

४५—राज्ञामुपायश्चारश्च बुद्धिमन्त्रपराक्रमाः।
निग्रहप्रग्रहौ चैव दाक्ष्यं वै कार्यं साधकम्॥
वनपर्व—अध्याय १५०, श्लोक ४१

४६—साम्ना दामन भेदेन दण्डेनोपेक्षणेन च :
साधनीयानि कर्माणि समासव्यासयोगतः॥
वनपर्व—अध्याय-१५०, श्लोक ४२

४७—धार्मिकान् धर्मकार्येषु अर्थकार्येषु पण्डितान्।
स्त्रीषु क्लीवान् नियुञ्जीत क्रूरान क्रूरेषु कर्मसु॥
वनपर्व—अध्याय १५०, श्लोक ४६

४८—असतां प्रतिषेधश्च सतां च परिपालनम्।
एष राज्ञां परो धर्मः समरे चापलायनम्॥
शान्तिपर्व—अध्याय—१४, श्लोक १६

करना चाहिए। चाहे अपना पुत्र ही अपराधी क्यों न हो, उसे भी दण्ड देना चाहिए। उतथ्य ने मान्धाता से कहा कि "जब राजा मन, वाणी और शरीर के द्वारा सबकी रक्षा करता है और पुत्र के भी अपराध को क्षमा नहीं करता, तब उसका बर्ताव भी 'राजा का धर्म' कहा जाता है॥"[४९] राजा को स्त्रियों से और मूर्खों से कभी सलाह न लेनी चाहिए। जिनकी बुद्धि दैव से मारी गई है तथा जो वेदों के ज्ञान से शून्य हैं, उनकी बात भी राजा न सुने; क्योंकि उन लोगों की बुद्धि नीति से विमुख होती है। यदि राजा दण्डनीति का उत्तम रीति से पालन करे, तो वह चारों वर्णों को अपने-अपने धर्म में बलपूर्वक लगाती है और उन्हें अधर्म से रोकती है। इस प्रकार दण्डनीति से चारों वर्ण अपने-अपने कर्मों में संलग्न रहते हैं। जिस समय राजा दण्डनीति का पूरा-पूरा एवं ठीक प्रयोग करता है, उस समय पृथ्वी पर सतयुग का आरम्भ हो जाता है। इसीलिए राजा को युगस्रष्टा कहते हैं।

८—गुप्तचर—

राजा की शक्ति को बढ़ाने वाले गुप्तचर ही होते हैं। राज्य की सब अनीतियों और अतिचारों की खोज करके गुप्तचर ही राजा को बताते हैं और उन्हें उचित दण्ड देकर राजा यश को प्राप्त करता है। दूसरे के राज्य का सम्पूर्ण समाचार भी गुप्तचरों से ही ज्ञात करके राजा उस पर आक्रमण करता है तथा विजय प्राप्त करता है। राजनीति में गुप्तचरों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। बिना गुप्तचरों के राजा पंगु के समान हैं। गुप्तचर ही राजा के कर हैं। इन्हीं गुप्तचर रूपी हाथों से राजा अपने राज्य के सम्पूर्ण कठिन से कठिन कार्य करता है। धृतराष्ट्र से गुप्तचरों के विषय में कणिक ने इस प्रकार कहा कि "भलीभांति जाँच-परख कर अपने तथा शत्रु के राज्य में

४९—त्रायते हि यदा सर्वं वाचा कायेन कर्मणा।
पुत्रस्यापि न मृष्येच्च स राज्ञो धर्म उच्यते॥
शान्तिपर्व—अध्याय—९१, श्लोक ३२

गुप्तचर रखे। शत्रु के राज्य में ऐसे गुप्तचरों को नियुक्त करे, जो पाखण्ड-वेश-धारी अथवा तपस्वी आदि हो।"[५०] राजा को किसी पर विश्वास नहीं करना चाहिए। विश्वास के विषय में धृतराष्ट्र से कणिक ने कहा कि "जो विश्वासपात्र नहीं है, उस पर कभी विश्वास न करे; परन्तु जो विश्वासपात्र हैं उस पर भी अतिविश्वास न करे; क्योंकि अतिविश्वास से उत्पन्न होने वाला भय राजा की जड़मूल का नाश कर डालता है।"[५१] राजा को सदैव धर्म का पालन करता चाहिए। कुन्ती ने केशव (श्रीकृष्ण) से कहा कि "यदि राजा धर्म का पालन करता है, तो उसे देवत्व की प्राप्ति होती है और यदि अधर्म करता हैं, तो उसे देवत्व की प्राप्ति होती है और यदि अधर्म करता है तो नरक में ही पड़ता है।"[५२] इस प्रकार राजा को अपने गुप्तचरों की नियुक्ति करके, किसी का अधिक विश्वास न करके धर्म-पूर्वक प्रजा का पालन करना चाहिए। यही श्रेष्ठ और पराक्रमी राजा के लक्षण हैं।

६—शत्रु और युद्ध—

राज-धर्म में राजा को शत्रु के साथ उचित व्यवहार करना चाहिए युद्ध कला में निपुणता के लिए बहुत से नियम हैं, जिनका पालन करना श्रेष्ठ राजा का धर्म है। शत्रु के साथ युद्ध करते समय भी पराक्रमी राजा का

५०—चारः सुविहितः कार्य आत्मनश्च परस्व वा।
पाषण्डांस्तापसादींश्च परराष्ट्रेषु योजयेत्॥
आदिपर्व-अध्याय– १३६, श्लोक ६३

५१—न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति॥
आदिपर्व-अध्याय १३६, श्लोक ६२

५२—राजा चरति चेद् धर्म देवत्वायैव कल्पते।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति॥
उद्योगपर्व-अध्याय १३२, श्लोक ६३

मरना भी उत्तम है। पराक्रमी राजा की प्रशंसा करते हुए विदुला ने अपने पुत्र से कहा कि "यदि बढ़े हुए तेज और उत्साह वाला, शूरवीर एवं सिंह के समान पराक्रमी राजा युद्ध में दैववश वीरगति को प्राप्त हो जाय तो भी उसकी प्रजा उसके राज्य में सुखी ही रहती है।"[५३] राजा के पराक्रम के कारण कम से कम प्रजा का मस्तक तो गर्व से ऊँचा रहता है कि राजा दुर्भाग्य से युद्ध में मारा गया किन्तु था तो बड़ा पराक्रमी। इसलिए पराक्रमी राजा होना चाहिए। धृतराष्ट्र को राजधर्म बताते हुए कणिक ने कहा कि "राजा को सर्वदा दण्ड देने के लिए उद्यत रहना चाहिए और सदा ही पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिए। राजा अपने छिद्र, अपनी दुर्बलता प्रकट न होने दे; परन्तु दूसरों के छिद्र या दुर्बलता पर सदा ही दृष्टि रखे और यदि शत्रुओं की निर्बलता का पता चल जाय तो उन पर आक्रमण कर दे।"[५४] राजा को सावधानी से रहना चाहिए जिससे उसकी कमजोरी शत्रु पक्ष को ज्ञात न हो सके। धृतराष्ट्र से कणिक ने कहा कि "राजा को अपनी कमजोरी छिपाकर रखनी चाहिए जिससे शत्रु न देख सके और यदि शत्रु की कमजोरी प्रकट हो जाय तो उस पर अवश्य चढ़ाई कर दे। जैसे कछुआ अपने सब अंगों की रक्षा करता है, उसी प्रकार राजा अपने सब अंगों (राजा, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोप बल और सुहृत्) की रक्षा करे और अपनी कमजोरी को छिपाये रखे।"[५५]

---

५३ – शूरस्योर्जितसत्वस्य सिंहविक्रान्तचारिणः।
दिष्टभावं गतस्यापि विषये मोदते प्रजा॥

उद्योगपर्व - अध्याय १३३, श्लोक ३६½

५४ -- नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी स्यात् परेषां विवरानुगः॥

आदिपर्व–अध्याय १३९, श्लोक ६

५५ — नास्यच्छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेण परमन्वियात्।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मनः॥

शान्तिपर्व–अध्याय १३०, श्लोक ८

शत्रु के वध में नीति का उपदेश देते हुए कणिक ने कहा कि "अपना अनिष्ट करने वाले शत्रुओं का वध कर दिया जाय, इसी की नीतिज्ञ पुरुष प्रशंसा करता है। अत्यन्त पराक्रमी शत्रु को भी आपत्ति में पड़ा देख उसे सुगमता पूर्वक नष्ट कर दे। इसी प्रकार जो अच्छी तरह युद्ध करने वाला शत्रु है उसे भी आपत्ति काल में अनायास ही मार भगाये।"[५६] कणिक ने शत्रु के वध करने के नियम बताते हुए धृतराष्ट्र से कहा कि "पहले तो सदा शत्रुपक्ष के मूल का ही उच्छेद कर डाले। तत्पश्चात् उसके सहायकों और शत्रुपक्ष से सम्बन्ध रखने वाले सभी लोगों का संहार कर दे।"[५७] कणिक ने कहा कि "यह मेरी शरण में आया है, यह सोचकर शत्रु के प्रति दया नहीं दिखानी चाहिए। शत्रु को मार देने से राजा निर्भय हो सकता है। यदि शत्रु मारा नहीं गया तो उससे सदा ही भय बना रहता है।"[५८] शत्रु के वध के नियम बताते हुए कणिक ने धृतराष्ट्र से कहा कि "युद्ध में अपने धनुष को तिनके के समान बना दे, अर्थात् शत्रु के समक्ष दीन हीन एवं असमर्थ बन जाय, किन्तु सिंह की भांति झूठा बहाना बना कर सोये और शिकार के सामने आते ही उसे नष्ट कर दे।

५६—वधमेव प्रशंसन्ति शत्रूणामपकारिणाम्।
सुविदीर्णं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम्॥
आपद्यापदि काले च कुर्वीत न विचारयेत्।
नावज्ञेयो रिपुस्तात दुर्बलोऽपि कथंचन॥
आदिपर्व—अध्याय १३९, श्लोक १०—११

५७—मूलमेवादितश्छिन्द्यात् परपक्षस्य नित्यशः।
ततः सहायांस्तत्पक्षान् सर्वांश्च तदनन्तरम्॥
आदिपर्व—अध्याध्य १३९, श्लोक १६

५८—दया न तस्मिन् कर्त्तव्या शरणागत इत्युत।
निरुद्विग्नो हि भवति नहताज्जायते भयम्॥
आदिपर्व—अध्याय १३९, श्लोक २४

उसी प्रकार शत्रु को मारने का अवसर देखते ही अपने स्वरूप और मनोभावं को छिपाकर असमर्थ पुरुषों का-सा व्यवहार करे। इस प्रकार कपटपूर्ण व्यवहार से वश में आये हुए शत्रु को साम आदि उपायों से विश्वास उत्पन्न करके मार डाले।"[१५] यही नीतिज्ञों का कथन है।

अध्याय—११

महाभारत में वैश्य-धर्म

१—वैश्यों का स्थान--

धर्मशास्त्रों की वर्ण-व्यवस्था में वैश्यों को भी द्विजों के अन्तर्गत माना जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन द्विज हैं। इनके उपनयन आदि संस्कार होते हैं। इन संस्कारों को प्राकृतिक जन्म के बाद दूसरा सांस्कृतिक जन्म माना जाता है। इस द्वितीय जन्म के कारण ये तीनों वर्ण द्विज कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त शूद्र द्विजेतर है अर्थात् वह द्विजों से पृथक है। उनके संस्कार नहीं होते। संस्कार ही दूसरा जन्म है। द्विजों के अन्तर्गत ब्राह्मणों और क्षत्रियों को अधिक श्रेष्ठता दी गई है। इसका कारण प्राचीन भारतीय समाज में विद्या का मान तथा रक्षा का महत्त्व था। रक्षा का महत्त्व तो सभी समाजों में है और सभी समाजों में वीरों का मान था। भारतीय धर्मशास्त्र में भी क्षत्रियों को विशेष मान दिया गया है, उन्हें समाज का रक्षक और पालक माना गया है। क्षत्रिय कुल में उत्पन्न राम और कृष्ण भगवान के रूपों में सबसे अधिक लोकप्रिय हुए। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता भारतीय समाज की एक अद्भुत विशेषता है, जो किसी अन्य समाज में नहीं मिलती। इसका कारण भारतीय समाज में विद्या, धर्म, साधना, संस्कृति, आचार, पवित्रता आदि की अतुल महिमा है। इनकी ऐसी महिमा भी अन्य किसी समाज में नहीं पाई जाती। ब्राह्मणों का इतना मान होते हुए भी विद्या आदि के लिए सुरक्षा के आवश्यक होने के कारण क्षत्रियों को भी अतिशय मान दिया गया है।

वैश्यों को धर्मशास्त्रों में ऐसा विशेष मान तो नहीं दिया गया है, फिर भी श्रेष्ठ मानकर ही उनकी गणना द्विजों में की गई है। वैश्य का धर्म प्रधान रूप से आर्थिक और लौकिक है, जिसमें अर्थ-लाभ का सहज आकर्षण है। भारतीय समाज और संस्कृति में प्राकृतिक आकर्षण के विपरीत अनुपात में जीवन के मूल्यों को महत्त्व दिया गया है। वैश्यों के आर्थिक धर्म में प्राकृतिक

प्रलोभन के प्राकृतिक आकर्षण बहुत हैं। इसीलिए वैश्यों को विशेष मान नहीं दिया गया है। इन प्रलोभनों का प्रभाव इतना है कि धर्मशास्त्र के अनुरोध के विना भी वैश्य धन-वैभव के प्रताप से सहज ही 'श्रेष्ठ' (सेठ) बन गये। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के धर्मों में ऐसा प्राकृतिक आकर्षण नहीं है, वरन् इसके विपरीत इनमें सुख-वैभव के त्याग और प्राणों के निर्भय उत्सर्ग की अपेक्षा होती है। इन्हीं के कारण ब्राह्मणों और क्षत्रियों को अधिक मान दिया गया है।

वैश्यों का सम्वन्ध मुख्यतः आर्थिक जीवन से है। कृषि, गो-रक्षा, वाणिज्य आदि उनके कर्तव्य माने गये हैं। ये तीनों आर्थिक जीवन के मुख्य आधार हैं। आर्थिक धर्म में लाभ और वैभव का आकर्षण अवश्य है, फिर भी समाज की आर्थिक व्यवस्था के संचालन के लिए उद्योग भी अपेक्षित है। इस उद्योग के कारण वैश्यों को 'द्विज' पद का मान दिया गया है। आर्थिक व्यवस्था अपने साधनों के द्वारा विद्या और रक्षा की सहायक है। भारतीय धर्म और संस्कृति में अर्थ का अन्वय कुछ अधिक है। इसीलिए वैश्यों को द्विजाति और द्विज-संस्कृति के अन्तर्गत स्थान दिया गया। अर्थ-साधना में इतनी स्वच्छता और पवित्रता सम्भव हो सकती है, जितनी कि भारतीय आचार के लिए अपेक्षित है। इसीलिए वैश्यों का उच्चवर्णों के साथ सामंजस्य हो सका। शूद्रों के सेवा कर्म में यह स्वच्छता और पवित्रता सम्भव नहीं है। इसीलिए वे द्विजेतर माने गये तथा अभिजात समाज और संस्कृति से वहिष्कृत वने रहे। वैश्यों की अर्थ-साधना में उद्योग का अधिक महत्व है। नीति भी यही मानती है कि उद्योगी पुरुष को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है (उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैतिलक्ष्मीः)। प्राचीन व्यापार में व्यक्तिगत उद्योग का स्थान अधिक था। पूँजीवाद का व्यापक प्रभुत्व प्राचीन अर्थ—व्यवस्था में सम्भव नहीं था। कृषि और पशुपालन किसी सीमा तक व्यापार से भी अधिक उद्योग के कार्य हैं। वैश्य धर्म में उद्योग का अधिक महत्व होने के कारण ही पुरुष सूक्त के रूपक में "वैश्यों का उद्भव विराट पुरुष के उरुओं से माना गया है।"[1] मुख विद्या का स्थान हैं और वाहु पराक्रम के पीठ हैं तो

१—ऊरू तदस्य यद्वैश्यः।

ऋग्वेद १०-९०-१२

उरु उद्योग के अवलम्ब हैं। उद्योग की महिमा के कारण ही आधुनिक अर्थ—व्यवसाय को 'उद्योग' का पद मिला और आधुनिक वैश्य उद्योगपति बन गये। महाभारत में 'ऊरू' के स्थान पर विराट पुरुष के 'उदर' से वैश्यों की उत्पत्ति बताई गई है।[2] इस परिवर्तन का कारण वैश्य धर्म और वैश्यवृत्ति के सम्बन्ध में बदलती हुई धारणा है। ऋग्वेद की मौलिक धारणा में 'उद्योग' ही वैश्यों का मुख्य धर्म है। ब्राह्मणों के विद्या-धर्म और क्षत्रियों के रक्षा-धर्म के बाद समाज के आर्थिक अवलम्ब के लिये उद्योग आवश्यक है। यह उद्योग शूद्रों के सेवा-कर्म से भिन्न है। वह उद्योग का सहकारी है। आर्थिक उद्योग का उद्देश्य उदर-पोषण अवश्य है।

आर्थिक उद्योग में लाभ है। अतः यह उद्योग-कर्त्ता के लिये भी उदर-पोषण है। इसीलिये आगे चलकर महाभारत में पुरुष सूक्त के 'ऊरू' के स्थान पर विराट पुरुष का उदर वैश्यों का उत्पत्ति-स्थान बन गया।

धर्मशास्त्रों में कृषि, गो-रक्षा, वाणिज्य आदि को वैश्यों का धर्म माना गया है। वैश्यों के इन धर्मों का क्रम सभी धर्मशास्त्रों में समान नहीं है। युग के प्रभाव के कारण विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न क्रम मिलते हैं। मनुस्मृति के अनुसार पशु-रक्षा वैश्यों का प्रथम धर्म है। दान, यज्ञ, अध्ययन आदि के बाद वाणिज्य की गणना करके कृषि को उनका अन्तिम कर्म माना गया है।[3] वराह पुराण में स्वाध्याय, यज्ञ, दान आदि को प्रथम मानकर पशुपालन, कृषि और वाणिज्य की गणना क्रम से बाद में की गई है।[4] पाराशरस्मृति में

२—उदराद्गद्गता वैश्यास्तस्मात् वार्तोपजीविनः।
अनुशासनपर्व—अध्याय १४१, श्लोक २६ से आगे

३—पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिरेव च॥
मनुस्मृति—अध्याय १, श्लोक ९०

४—स्वाध्यायं यजनं दानं कुसीदं पशुपालनम्।
गोरक्षां कृषिवाणिज्यं कुर्याद्वैश्यो यथाविधि॥
वराहपुराण

आकर लाभ कर्म वैश्यों का प्रथम धर्म बन गया।[५] गीता के क्रम में कृषि प्रथम है तथा पशुपालन द्वितीय है और वाणिज्य की गणना अन्त में की गई है।[६] महाभारत में भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न क्रम से वैश्यों के उक्त सभी धर्मों की चर्चा की गई है। इससे विदित होता है कि महाभारत में धर्म-शास्त्रों के विभिन्न मत संकलित हैं अथवा कुछ धर्मशास्त्रों में महाभारत के मतों का ग्रहण किया गया है।

वैश्यों के उक्त धर्मों में इतिहास और उद्योग की दृष्टि से कृषि को ही प्रथम मानना होगा। लाभ और उद्योग की दृष्टि से वाणिज्य की गणना पशु-पालन के भी वाद होगी। इस दृष्टि से गीता का क्रम ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टियों से सबसे अधिक उचित है। अन्य धर्मशास्त्रों में कृषि का महत्त्व कम होता गया है। समाज के इतिहास में यही दिखाई देता है कि वैश्य धीरे-धीरे अधिक उद्योग और कम लाभ के कृषि-गोपालन आदि कर्मों को छोड़ते गये और कम उद्योग, अधिक लाभ के वाणिज्य कुसीद आदि कर्मों को अधिक अपनाते गये। अर्थ के क्षेत्र में यह स्वाभाविक था। धर्मशास्त्र की कठिनाई यह थी कि त्याग पर वल देकर अर्थ-साधना को प्रेरणा देना कठिन था। इसीलिए वैश्यों के व्यवहार और धर्मशास्त्र के विधानों में प्रवृत्ति के प्रभाव से क्रमशः कुछ परिवर्तन होता गया। यज्ञ, और दान को महत्व देकर धर्मशास्त्रों ने वैश्यों की अर्थ-साधना को संतुलित और श्रेय समन्वित वनाने का प्रयत्न किया। यज्ञ, स्वाध्याय आदि को वैश्व धर्म में सम्मिलित करके उन्होंने आर्थिक जीवन को धर्म और संस्कृति के साथ संगत वनाये रखने का भी प्रयत्न किया।

५.—लाभकर्म तथारत्नं गवां च परिपालनम्।
कृषिकर्म च वाणिज्यं वैश्यवृत्तिरुदाहृता॥
पाराशरस्मृति-आचार काण्ड १, श्लोक ६३

६—कृषि-गोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्य कर्म स्वभावजम्॥
गीता—अध्याय १८, श्लोक ४४

२—वैश्य-धर्म—

महाभारत में वर्ण-धर्म का विवरण बहुत कुछ धर्मशास्त्रों के अनुरूप ही मिलता है। विभिन्न धर्मशास्त्रों में वैश्य-धर्मों के जो रूप और क्रम मिलते हैं, उन सबका संग्रह महाभारत में मिलता है। महाभारत के ये मत मौलिक भी हो सकते हैं, किन्तु धर्मशास्त्रों के अभिमतों के साथ इनकी समानता स्पष्ट है। महाभारत में वैश्य की जो परिभाषा मिलती है, उसमें वाणिज्य ही वैश्य का प्रथम धर्म है। पशु-पालन, कृषि और वेदाध्ययन की गणना क्रमशः वाणिज्य के बाद की गई है। भृगु ने भरद्वाज मुनि से वैश्य कर्म को बताते हुए कहा कि "जो वेदाध्ययन से सम्पन्न होकर व्यापार, पशु-पालन और खेती का काम करके अन्न संग्रह करने की रुचि रखता है और पवित्र रहता है वह वैश्य कहलाता है।"[७] वैश्यों की गणना द्विजों में की गई है, इसलिए वेदों का अध्ययन भी नित्य वैश्य को करना चाहिए। उसके पश्चात् ही वैश्य वाणिज्य, कृषि तथा गोपालन आदि कार्य करे। युधिष्ठिर ने वैश्यों के कर्मों के विषय में भीष्म जी से पूछा, तब भीष्मजी ने कहा कि "दान, अध्ययन, यज्ञ, और पवित्रतापूर्वक धन का संग्रह, ये वैश्य के कर्म हैं।"[८] वैश्य के लिए दान देना भी प्रधान धर्म है। नित्य अध्ययन तथा यज्ञ करना भी वैश्य के धर्म हैं। वैश्य के लिए धन का संग्रह करना धर्म है किन्तु वह धन पवित्र कर्म द्वारा संग्रह करना बताया है, धोखा देकर या कम तोलकर धन संग्रह वैश्य के लिए निषेध है। वैश्य को व्यापार में सत्य का ध्यान रखना चाहिए, सत्य से प्राप्त हुआ धन ही पवित्र होता है। श्रीकृष्ण ने वैश्य के धर्म बताते हुए संजय से कहा कि "वैश्य अध्ययन करके कृषि, गो-रक्षा तथा व्यापार द्वारा धनोपार्जन

७—वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः।
वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः॥
शान्तिपर्व—अध्याय १८९, श्लोक ६

८—वैश्यस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि शाश्वतम्।
दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसंचयः॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६०, श्लोक २१

करते हुए सावधानी के साथ उसकी (धन की) रक्षा करे। ब्राह्मणों और क्षत्रियों का प्रिय करते हुए धर्मशील एवं पुण्यात्मा होकर वह गृहस्थाश्रम में निवास करे।"[९] वैश्य को चाहिए कि वह धर्मपूर्वक धन का संग्रह करे और उसकी रक्षा का ध्यान भी रखे। धन पाकर उसे गर्व नहीं करना चाहिए वरन् नम्र रहकर सबसे सद्व्यवहार करे। ब्राह्मणों को सदा दान देकर उनका प्रिय कार्य करे और सदा की ही चर्चा करता रहे। क्षत्रियों का भी सदैव प्रिय बना रहे जिससे क्षत्रिय उसके व्यापार की उन्नति की सोचते रहें और उसकी रक्षा का सदैव ध्यान रखें। उमा ने वैश्यों के धर्म की विषय में महेश्वर से पूछा कि उनके धर्म क्या-क्या होते हैं, वे कृपाकर मुझे बताइये, तब महेश्वर बोले कि "पशुओं का पालन, खेती, व्यापार, अग्निहोत्र कर्म, दान, अध्ययन, सन्मार्ग का आश्रय लेकर सदाचार का पालन, अतिथि सत्कार, शम, दम, ब्राह्मणों का स्वागत और त्याग ये सब वैश्यों के सनातन धर्म हैं।"[१०] वैश्यों को व्यापार, कृषि, गोपालन के साथ-साथ सदैव अच्छे मार्ग पर चलना चाहिए और सदाचार से जीवन बिताना चाहिए। धन के आधिक्य को देखकर वैश्य को कुमार्ग पर नहीं जाना चाहिए और एक-पत्नीव्रत रहकर ही सदा पवित्र जीवन बिताना चाहिए। धन के मोह में फँस कर अधर्म कभी नहीं करना चाहिए। वैश्य को सदैव अतिथियों का सत्कार करना चाहिए। अहंकार से रहित होना चाहिए, इन्द्रिय पर सदैव नियन्त्रण रखना चाहिए। ब्राह्मणों

९—वैश्योऽधीत्य कृषिगोरक्षपण्यै—
वित्तं चिन्वन् पालयन्नप्रमत्तः ॥
प्रियं कुर्वन् ब्राह्मणक्षत्रियाणां
धर्मशीलः पुण्यकृदावसेद् गृहान् ॥
उद्योगपर्व—अध्याय २९, श्लोक २५

१०—वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृषिस्तथा ।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च ॥
वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रशमो दमः ।
विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः ॥
अनुशासन पर्व-अध्याय १४१, श्लोक ५४-५५

का स्वागत करना चाहिए और त्याग का जीवन बिताना चाहिए। ये सब वैश्यों के लिए उपयोगी धर्म हैं। "व्यापार करने वाले सदाचारी वैश्य को तिल, चन्दन और रस की बिक्री नहीं करनी चाहिए तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इस त्रिवर्ग का सब प्रकार से यथाशक्ति यथायोग्य आतिथ्यसत्कार करना चाहिए।"[१०]

३—वैश्यों के कर्तव्य—

जिस प्रकार ब्राह्मण का कर्त्तव्य यज्ञ करना, दान लेना तथा अध्यापन आदि कर्म करना है, और क्षत्रिय का प्रमुख कर्त्तव्य प्रजा की रक्षा तथा प्रजा प्रजा का पालन है, उसी प्रकार वैश्यों का कर्त्तव्य पशुओं का पालना, कृषि करना तथा वाणिज्य आदि हैं। वैश्य को उद्योगशील होना चाहिए। वैश्यों के कर्तव्य बताते हुए वैशम्पायन जी ने कहा कि "वैश्यगण बैलों द्वारा इस पृथ्वी पर दूसरों से खेती कराते हुए स्वयं उनके कंधे पर जूआ नहीं रखते थे—उन्हें बोझ ढोने में नहीं लगाते थे और दुर्बल अंगों वाले निकम्मे पशुओं को भी दाना-घास देकर उनके जीवन की रक्षा करते थे।"[११] पशुओं के जीवन की रक्षा का भार भी वैश्यों पर ही था। जो गाय-बैल वृद्ध अथवा अपंग हो जाते थे, उनका पालन वैश्य दयाभाव से ही करते थे। वृद्ध गाय-बैलों को व्यर्थ समझ कर उन्हें बेचते नहीं थे और न उनसे काम लेते थे। उस समय वैश्यों के समक्ष स्वार्थ से बढ़कर धर्म ही था। वे धर्म का पालन प्रथम करते थे और हानि-लाभ नहीं देखते थे। उस समय किसी पर क्रोध न करना,

---

१०—तिलान् गन्धान् रसांश्चैव विक्रीणीयान्न चैव हि।
वणिक्पथमुपासीनो वैश्य सत्पथमाश्रितः॥
सर्वातिथ्यं त्रिवर्गस्य यथाशक्ति यथार्हतः।
अनुशासनपर्व—अध्याय १४१, श्लोक ५६, ५६½

११—कारयन्तः कृषिं गोभिस्तथा वैश्याः क्षिताविह।
युञ्जते धुरि नो गाश्च कृशाङ्गांश्चाप्यजीवयन्॥
आदिपर्व—अध्याय ६४, श्लोक २१

सत्य बोलना, धन बाँट कर भोगना, क्षमाभाव रखना, अपनी पत्नी से सन्तान पैदा करना, बाहर-भीतर से पवित्र रहना, किसी से द्रोह न करना, सरलभाव रखना और भरण-पोषण के योग्य व्यक्तियों का पालन करना—इस प्रकार ये नौ सभी वर्णों के लिए उपयोगी धर्म हैं। वैश्य के कर्तव्य बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "उद्योगशील वैश्य को पिता के समान पशुओं की रक्षा करनी चाहिए। इन कर्मों के सिवा अन्य कर्म उसके लिए विपरीत कर्म होगा।"[१२] पशु-पालन वैश्यों का प्रमुख कर्म था, इसलिए पशुओं की रक्षा, जैसे पिता पुत्रों की रक्षा करता है, उसी प्रकार करनी चाहिए। बिना रक्षा पशुओं का जीवन अन्धकार में रहता है। कोई भी उन्हें पीटता है, मारता है तथा उसका विक्रय भी दुष्टों के हाथ कर सकता है। वे न बोलने वाले सीधे पशु किसी से कुछ नहीं कह सकते हैं। इसलिए इन पशुओं की रक्षा भी आवश्यक है। भीष्मजी ने पशु-रक्षा का कार्य वैश्य का बताते हुए युधिष्ठिर से कहा कि "पशुओं के पालन से वैश्य को महान् सुख की प्राप्ति हो सकती है। प्रजापति ने पशुओं की सृष्टि करके उनके पालन का भार वैश्य को सौंप दिया था।"[१३] पशुओं के रखने से वैश्य को दूध अच्छा मिलता था तथा बैल खेती के काम आते थे। बैल को गाड़ी में जोतकर वैश्य बाजारों में अनाज आदि वस्तुएँ बेचने जाते थे। वे उनकी सवारी का भी काम देते थे। वैश्यों के लिए गो-रक्षा बड़ी लाभप्रद थी। दूसरों की गायों को रखने से वैश्य को कुछ पारिश्रमिक के रूप में जो मिलता था, भीष्म ने उसका वर्णन करते हुए युधिष्ठिर से कहा कि "वैश्य यदि राजा की या किसी अन्य की छः दुधारू

१२—पितृवत् पालयेद् वैश्यो युक्तः सर्वान् पशूनिह ।
विकर्म तद्भवेदन्यत् कर्म यत् स समाचरेत् ॥
शान्तिपर्व–अध्याय ६०, श्लोक २२

१३—रक्षया स हि तेषां वै महत् सुखमवाप्नुयात् ।
प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददौ पशून् ॥
शान्तिपर्व अध्याय ६०, श्लोक २३

गौओं का एक वर्ष तक पालन करे तो उनमें से एक गाय का दूध वह स्वयं पीये (यही उसका वेतन है)। यदि दूसरे की एक सौ गायों का साल भर तक पालन करे तो एक गाय और एक बैल मालिक से वेतन के रूप में ले ले। यदि उन पशुओं के दूध आदि बेचने से धन प्राप्त हो तो उस में से सातवाँ भाग अपने वेतन के रूप में ग्रहण करे। सींग बेचने से जो धन मिले उसमें से भी सातवाँ भाग ही ले। परन्तु पशु विशेष का बहुमूल्य खुर बेचने से जो धन मिले उसका सोलहवाँ भाग ही उसे ग्रहण करना चाहिए।"[१४] हमारे प्राचीन धर्मज्ञों ने प्रत्येक वर्ण के लिए अनेक नियम बना दिये थे। उनमें से वैश्य के लिए पशुओं के जो नियम बनाये हैं, वे उचित ही थे। जो दूसरों की सेवा करेगा तो उसे कुछ मिलना भी तो चाहिए, इसलिए एक साल तक गायें रखने से उनका दूध तथा एक बैल तथा गाय को ही उसका वेतन बना दिया था। इस प्रकार वैश्यों ने अपने लाभ को दृष्टि में रखकर ही गाय की सेवा तथा रक्षा का भार अपने ऊपर लेकर देश का बड़ा उपकार किया था। किन्तु आधुनिक युग में गायों को छोड़कर वैश्यों ने केवल व्यापार को ही अपना लिया है। शहरों में रहने वाले वैश्यों के घर में एक भी गाय आज नहीं है, वे भी अन्य वर्णों की भाँति दूध खरीद कर ही पीते हैं। वैश्यों के मन से आज गाय का सेवाभाव समाप्त हो गया है और व्यापार में लगे वैश्य अधिक धन की आकांक्षा में डूबे हुए हैं। उनको अपने कर्तव्यों का भी ध्यान नहीं रहा है। आज देश में गायों का रक्षक कोई नहीं रहा है सब अपने अपने स्वार्थों में लगे हुए हैं। आज हमारे देश में न जाने कितनी गायें रोज काटी जाती हैं, किन्तु उनको देखने वाला आज कोई नहीं है। अब किसी का कर्तव्य ही नहीं है कि वह गायों की रक्षा करके अपने मानवीय जीवन को सफल बनायें। आज हमारे देश में दूध की इतनी कमी इसीलिए दिखाई देती है कि नित्य हजारों गायें जब काटी जायेंगी तब दूध-घी कहाँ से प्राप्त होगा।

१४—षण्णामेकां पिबेद्धेनुं शताच्च मिथुनं हरेत्।
लब्धाच्च सप्तमं भागं तथा शृङ्गे कलां खुरे॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६०, श्लोक २५

हमारे प्राचीन धर्मशास्त्रों के रचयिताओं ने जिस प्रकार वैश्यों के लिए गोपालन कर्त्तव्य बना दिया था, उसी प्रकार खेती भी उन्हीं का कर्त्तव्य था। वैश्य कृषि करते थे. उसमें से भी उनको कुछ भाग वेतन रूप में मिलता था। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "दूसरे के अनाज की फसलों तथा सब प्रकार के बीजों की रक्षा करने पर वैश्य को उपज का सातवाँ भाग वेतन के रूप में ग्रहण करना चाहिए। यह उसके लिए वार्षिक वेतन है। वैश्य के मन में यह सकल्प कभी नहीं उठना चाहिए कि "मैं पशुओं का पालन नहीं करूंगा।"[१५] वैश्य को खेती का वेतन भी वार्षिक मिलता था। सातवाँ भाग तो इसलिए दिया जाता था कि वैश्यों द्वारा उत्पन्न किए हुए अनाज से ही अन्य वर्णों का उदर पोषण होता था। प्राचीनकाल में वैश्य बड़े परोपकारी और धर्मात्मा होते थे। उन्हें धन वैभव का अधिक मोह नहीं था। किन्तु आधुनिक युग में वैश्य वर्ग धन-वैभव के मोह में पड़ गया है और अपने सब कर्त्तव्यों को छोड़ता जा रहा है। वैश्य के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए विदुर जी ने धृतराष्ट्र से कहा कि "वैश्य यदि वेद शास्त्रों का अध्ययन करके ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा आश्रितजनों को समय - समय पर धन देकर उनकी सहायता करे और यज्ञों द्वारा तीनों अग्नियों के पवित्र धूम्र की सुगन्ध लेता रहे तो वह मरने के पश्चात् स्वर्गलोक में सुख का उपभोग करता है।"[१६] धन के प्राप्त करने के कारण वैश्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा आश्रित जनों की धन से सहायता करनी चाहिए। इस पुण्यकर्म से वह सबका आशीर्वाद प्राप्त करता था और परलोक में जाकर भी सुख प्राप्त करता था।

१५—सस्यानां सर्वबीजानामेषा सांवत्सरी भृतिः ।
न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ।

शान्तिपर्व—अध्या० ६०, श्लो० २६

१६—वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च
धनैः काले संविभज्याश्रितांश्च ।
त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं
प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुङ्क्ते ॥

उद्योगपर्व—अध्या० ४०, श्लो० २७

वैश्य के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "अपने वर्णधर्म का परिश्रमपूर्वक पालन करके कृतकृत्य हुआ वैश्य अधिक अवस्था व्यतीत हो जाने पर राजा की आज्ञा लेकर क्षत्रियोचित वानप्रस्थ आश्रमों का ग्रहण करे।"[१७] क्षत्रियों के लिए जो वानप्रस्थ आश्रम का विधान है, उसको वैश्य भी ग्रहण कर सकते हैं। वानप्रस्थ का अर्थ घर वार पुत्रों को सौंप कर स्वयं जंगल में जाकर अपना परलोक सुधारना और देश के लिए सत्कर्म करना है। अर्थ के मोह में फँसा हुआ वैश्य कठिनता से वानप्रस्थ का ग्रहण करता है किन्तु कुछ सत्पुरुष वैश्यों में भी होते हैं, जो अर्थ का मोह त्यागकर अपनी सम्पूर्ण लक्ष्मी को जीवित ही पुत्र को सौंपकर अपना कर्त्तव्य पूरा करके जंगल की राह लेते हैं। शेष जीवन को चिन्ताओं से मुक्त कर सुखमय बनाकर ईश्वर का ध्यान शांतिपूर्वक करते हैं और स्वर्ग में जाकर सुख-संतोष प्राप्त करते हैं।

४—वैश्य वर्ण का महत्व—

वर्णों का विभाजन समाज में उनके कर्तव्यों के महत्व की दृष्टि से किया गया है। सभी वर्णों के धर्म समाज के लिये आवश्यक और महत्वपूर्ण हैं। विद्या प्रत्येक समाज का शीर्षस्थ मूल्य है। भारतवासियों ने इसका महत्व जितना माना उतना विद्या का महत्व प्राचीनकाल में ग्रीक लोगों के अतिरिक्त किसी ने नहीं माना। भारतवर्ष के समान प्राचीन विद्या का विशाल भाण्डार भी किसी देश में नहीं है। क्षत्रिय धर्म का महत्व सभी समाज मानते रहे हैं, क्योंकि वे प्रतिरक्षा और आक्रमण के लिये उद्यत रहे हैं। किन्तु समाज की विशेषतः गौ, ब्राह्मण, स्त्री आदि समाज के दुर्बल अंगों की रक्षा को क्षत्रियों का विशेष धर्म बनाना भारतीय वर्ण व्यवस्था की विशेषता है। वैश्यों के आर्थिक धर्म का विधान वर्ण-व्यवस्था को अधिक सन्तुलित और यथार्थवादी बनाता है। अर्थ व्यवस्था में व्यापार आदि के प्रसंग में लाभ का

१७—कृतकृत्यो वयोऽतीतो राज्ञः कृतपरिश्रमः।
वैश्यो गच्छेदनुज्ञातो नृपेणाश्रमसंश्रयम्॥

शान्तिपर्व—अध्या० ६३, श्लो० १५

प्रलोभन स्वार्थ को बढ़ा सकता है। अतः अर्थ-व्यवस्था को अधिक हितकारी तथा संतुलित बनाने के लिये धर्म-शास्त्रों तथा महाभारत में श्रम, दान आदि का प्रतिबन्ध लगाया गया है। उद्योग में श्रम का आधार ही मुख्य है। कृषि और गोरक्षा में भी श्रम की अपेक्षा होती है। श्रम की तुलना में लाभ कम होने के कारण आगे चलकर वैश्यों ने कृषि और गोपालन को छोड़ दिया। किन्तु श्रम और अर्थ के सन्तुलन के सम्बन्ध में धर्मशास्त्र की धारणा पूर्णतः संगत है। दान, यज्ञ, अध्ययन आदि को वैश्यों का कर्तव्य बनाकर धर्मशास्त्रों ने आर्थिक-व्यवस्था को सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक सन्तुलित बनाने का प्रयत्न किया। वाणिज्य से अर्थ-संग्रह होता है। दान और यज्ञ के द्वारा संचय की एकपक्षता संतुलित होती है। दान और यज्ञ धार्मिक कर्म है। आर्थिक दृष्टि से ये संग्रह के विपरीत हैं किन्तु इनमें धार्मिकता का भी पुट है। अध्ययन का कर्म अर्थ की भौतिकता का सन्तुलन करता है। धर्मशास्त्रों में वैश्यों को धर्म-शील और सदाचारी होने का आदेश दिया गया है। उनके धन-संग्रह में भी पवित्रता और धार्मिकता का प्रतिबन्ध लगाया है। धनोपार्जन में पवित्रता और धार्मिकता की भावना प्राचीनकाल के और मध्यकाल में अर्थ के उन अनर्थों से भारतीय समाज को बचाती रही है, जो वर्तमान समाज में प्रकट हुये हैं तथा जिनके कारण समाजवाद तथा राष्ट्रीयकरण आदि के आर्थिक अनुशासन आवश्यक हो रहे हैं। धर्मशास्त्रों के उक्त आदेशों के फल स्वरूप ही भारतवर्ष में इतनी धर्मशालायें, इतने कुयें, मन्दिर, सदावर्त आदि उदार धर्म-क्षेत्र दिखाई दे रहे हैं। धनोपार्जन और धन-संग्रह में पवित्रता की भावना भी आर्थिक अनीति का बहुत कुछ नियन्त्रण करती रही है। धर्माचार और पवित्रता का अनुरोध भोजन आदि के व्यवसाय में शुद्धता और पवित्रता का संचार करता रहा है। वैश्यधर्म की धार्मिक व्यवस्था एक ओर आर्थिक मूल्यों का रक्षण करती रही है तथा दूसरी ओर धार्मिक आचार तथा सांस्कृतिक मूल्यों के साथ अर्थ-नीति का समन्वय करती रही है। धर्म-शास्त्रों का विधान अपने आप में बहुत संगत और संतुलित है। यदि धर्म-शास्त्र के अनुरोधों का उल्लंघन करके वैश्य वर्ग कृषि, गोरक्षा आदि की ओर से विमुख होकर अनुचित धन-संग्रह की ओर लग गया तो इसमें धर्मशास्त्रों का दोष नहीं। यह मनुष्य के स्वभाव का दोष है जिसे मर्यादित करने का धर्मशास्त्र ने यथासंभव प्रयत्न किया है।

अध्याय—१२

महाभारत में शूद्र-धर्म

१—शूद्रों का स्थान—

शूद्रों की स्थिति भारतीय समाज और धर्मशास्त्र की एक शोचनीय विडम्बना है। चारों वर्णों में शूद्र सबसे अधिक हीन और दयनीय है। तीन उच्च वर्णों में कर्तव्य भेद से कुछ अन्तर होते हुए भी वे तीनों श्रेष्ठता के अधिकारी हैं। विद्या, धर्म और संस्कृति के साधक होने के नाते ब्राह्मण पवित्र और पूजनीय हैं। समाज और संस्कृति के रक्षक होने के कारण क्षत्रियों को अनेक स्थानों पर चारों वर्णों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। धन और वैभव की महिमा के कारण वैश्य वर्ग सहज ही श्रेष्ठ (सेठ) बन गया। चारों वर्णों में एक शूद्र ही ऐसे हैं, जो धन, मान, वैभव, स्वच्छता, पवित्रता आदि समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित होकर कर्दम के कीटों की भांति मलिन और दलित जीवन बिताते आये हैं। शूद्रों के सभी वर्ग समान रूप से हीन और मलिन नहीं हैं। उनमें माली, नाई, कहार, बढ़ई आदि ऐसे अनेक वर्ग हैं, जो उच्च वर्णों के समान स्वच्छता से रहते हैं और उनमें मिलने-बैठने के अधिकारी हैं। इनमें कई वर्गों के हाथ का भोजन और जल भी उच्च वर्णों को ग्राह्य होता है। धर्मशास्त्रों के विधान की अपूर्णता के कारण प्रायः कायस्त, अहीर, आदि कुछ ऐसे वर्गों को भी शूद्रों के अन्तर्गत गिना जाता है, जिनमें कुछ विद्या की दृष्टि से ब्राह्मणों के समान हैं तथा कुछ पराक्रम की दृष्टि से क्षत्रियों के तुल्य हैं और कुछ व्यवसाय की दृष्टि से वैश्यों के निकट हैं। किन्तु शूद्रों के निम्नवर्ग में भंगी, चमार आदि जैसी अनेक मलिन और दलित जातियाँ हैं, जो उच्चवर्णों के द्वारा स्पर्श के योग्य भी नहीं समझी जातीं। इनका कार्य क्षेत्र भी इतना मलिन है कि उच्चवर्ण उसे दृष्टिपात के योग्य भी नहीं समझते। शूद्रों के इस वर्ग की स्थिति ही सबसे अधिक शोचनीय और दयनीय है। सामाजिक विचारकों और सुधारकों की प्रतिक्रियाओं

का आधार शूद्रों का यही वर्ग है। किसी कारण से शूद्रों का यह वर्ग भारतवर्ष में अन्य सभी देशों की अपेक्षा अधिक उपेक्षित और दलित रक्षा है। धर्मशास्त्र समाज की इस स्थिति की रचना के लिए उत्तरदायी न हों, किन्तु धर्मशास्त्रों के विधान इस स्थिति के समर्थन और पोषण के लिए तथा इस स्थिति में सुधार की कल्पना एवं चेष्टा न करने के लिए उत्तरदायी अवश्य हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय समाज में शूद्रों के कुछ वर्गों की स्थिति अधिक शोचनीय है तथा इस प्रसंग में शास्त्रकार भी पूर्णरूप से दोष-मुक्त नहीं हैं। फिर भी शूद्रों के प्रश्न के सम्बन्ध में ठीक-ठीक विचार करने के लिए सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाना होगा। इस सम्बन्ध में सुधारवादी लोग प्रायः उग्र और एकांगी दृष्टिकोण अपनाते हैं। दूसरे देशों से तुलना करते समम वे प्रायः संस्कृति, आचार आदि की दृष्टि से इन देशों के साथ भारतवर्ष का जो अन्तर है और इन क्षेत्रों में भारतवर्ष की जो अतिरंजित विशेषतायें रही हैं, उनको भूल जाते हैं। जलवायु की परिस्थितियों को भी प्रायः इस प्रसंग में ध्यान नहीं दिया जाता। शूद्रों के वर्ग में जो अनेक श्रेष्ठ और स्वच्छ जातियाँ सम्मिलित हैं, उनको भी प्रायः भुला दिया जाता है तथा एक अछूत वर्ग को ही लेकर भारतीय समाज और धर्मशास्त्रों की आलोचना की जाती है। भारतीय समाज और धर्मशास्त्र पूर्णतः निर्दोष नहीं हैं, फिर भी प्रत्येक सामाजिक समस्या के सम्बन्ध में सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाना अपेक्षित है। इस सन्तुलित दृष्टिकोण में ऊपर दिये गये संकेतों को ध्यान में रखना आवश्यक है। संस्कृति के सजीव रूपों की जितनी विपुलता भारतीय परम्परा में मिलती है, उतनी कदाचित ही किसी देश अथवा समाज में मिल सकेगी। इस सांस्कृतिक विपुलता से एक ओर कुछ आचार की पवित्रताओं का महत्त्व अधिक बढ़ गया तथा दूसरी ओर सेवा के विविध व्यवसायों की आवश्यकता दूसरों देशों की अपेक्षा अधिक बढ़ गई। स्वच्छता और पवित्रता के कारण समाज में इनके आधार पर एक विभाजन हुआ, जिसमें स्वच्छता, पवित्रता का साधक वर्ग अपने को श्रेष्ठ समझने लगा और ऊँचे मानदण्ड से कुछ मलिन रहने वाले वर्गों को हीन समझने लगे। दैनिक जीवन की धर्मचर्या में भी बाह्य स्वच्छता और शुद्धता चरम सीमा तक पहुँच गई। जलवायु की उष्णता और स्नान प्रक्षालन का अतिशय महत्त्व इसकी एक धुरी है। बढ़ती हुई कृषि और उसके साथ बढ़ता हुआ अन्नाहार तथा मांसाहार की मलिनता ने भी अपना योग दिया। अमरीका और आस्ट्रेलिया के अत्यन्त अर्वाचीन देशों को छोड़कर

संसार का कोई भी प्राचीन देश भारतवर्ष के समान कृषि में सम्पन्न नहीं है और न किसी देश में अन्नाहार का इतना अधिक प्रचलन था। धार्मिक और सांस्कृतिक आचार में स्वच्छता की चरमसीमा ने मलिनता के अनुपात में शूद्रों के विविध वर्गों की हीनता को दृढ़ बनाया। स्नान और प्रक्षालन का इतना महत्त्व तथा स्वच्छता एवं पवित्रता का इतना आग्रह कदाचित् ही किसी देश के धर्माचार में होगा। धार्मिक और सांस्कृतिक क्रियाओं के व्यावहारिक रूपों की जटिलता एवं विपुलता ने सेवा के अनेक कर्मों को अधिक व्यापक मात्रा में आवश्यक बनाया। सेवा के कारण कुछ अपेक्षाकृत स्वच्छ और सम्मानित वर्गों को भी शूद्रों में शामिल कर दिया। पशुओं तथा चर्म के व्यापार की अधिकता तथा बढ़ती हुई नागरिता चमार, भंगी जैसे अछूतों के दुर्भाग्य के कुछ प्राकृतिक कारण हैं। सभ्यता का गर्व करने वाले पश्चिमी देशों में प्रचलित दास प्रथा जैसे अमानुषी परम्पराओं का प्रचलन भारतवर्ष में नहीं रहा। शूद्रों की अपेक्षा के साथ-साथ उनके प्रति व्यवहार और उनके साथ सम्बन्धों में बहुत कुछ मानवीयता रही भारतीय भावना के उस उदार और मानवीय पक्ष को सामाजिक विचारक भूल जाते हैं। शूद्रों और विशेषकर अछूतों की हीन एवं दलित स्थिति के प्रसंग में धार्मिक एवं सांस्कृतिक आचार की स्वच्छता को भी प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता। इस कारण शूद्रों की स्थिति वस्तुतः दयनीय होते हुए भी, उसका सामाजिक विश्लेषण एकांगी बन जाता है। अन्य देशों की तुलना में भारतीय-धर्म, संस्कृति, आचार, जलवायु आदि की भारतीय विशेषताओं को ध्यान में रखकर ही शूद्रों की समस्या का सन्तुलित विश्लेषण सम्भव हो सकता है।

धर्मशास्त्रों में उच्चवर्णों की सेवा को ही शूद्रों का एक मात्र धर्म माना गया है। उनके उपनयन आदि संस्कार नहीं होते तथा द्विजों के द्वारा पालित धर्मकृत्य आदि भी उनके लिए आवश्यक नहीं हैं। धर्मशास्त्रों के विधान में तो उन्हें वेद की शिक्षा से ही वंचित किया गया है, किन्तु अन्य शिक्षा के लिए भी सेवा के कारण उनके जीवन में अवसर नहीं रहा और न उनके विषय में विद्या को कोई महत्त्व दिया गया है। शूद्रों की निम्न स्थिति का संकेत पुरुष सूक्त में मिलता है जिसमें "शूद्रों को विराट पुरुष के चरणों में स्थान दिया गया है।"[1] शरीर में चरण सबसे नीचे और मलिन रहते हैं।

१— पद्भ्यां शूद्रोऽजायत— ऋग्वेद १०-९०-१२

शूद्राश्च पादतः सृष्टास्तस्मात् ते परिचारिकाः।

अनुशासनपर्व—अध्याय १४१, श्लो० २९ से आगे

वे किसी श्रेष्ठ कर्म के अधिकारी नहीं हैं। बाहु पराक्रम के साधन हैं तथा उस अवलम्ब के साथ-साथ भोग के भी साधन हैं, किन्तु चरण केवल सेवा के ही अधिकारी हैं। चरणों के द्वारा ही शरीर का संचलण होता है, शूद्रों की सेवा भी समाज के संचालन के लिए उतनी ही आवश्यक है, जितनी कि शरीर के लिए चरणों की सेवा। इन सेवाओं में कुछ मलिन कर्म भी शामिल होते हैं। शरीर के चरण भी मलिन क्षेत्रों में प्रवेश के लिए विवश होते हैं, उसी प्रकार सामाजिक आवश्यकताओं से विवश होकर शूद्रों के कुछ वर्ग भी मलिन कर्मों में प्रवृत्त होने के लिए विवश हुए हैं। इन मलिन कर्मों का समाधान ही शूद्रों की समस्या का वास्तविक और अन्तिम समाधान होगा।

१—शूद्र के धर्म—

जिस प्रकार अन्य वर्णों के धर्मों के विवरण के प्रसंग में महाभारत की अन्य धर्मशास्त्रों के साथ वहुत कुछ समानता दिखाई देती है, उसी प्रकार महाभारत में शूद्रों के धर्म का विवरण वहुत कुछ धर्मशास्त्रों के अनुकूल है।"[२] धर्मशास्त्रों के समान महाभारत में भी उच्चवर्णों की सेवा को ही शूद्रों का प्रमुख कर्म माना गया है तथा सेवा को ही उनके लिए सभी पुण्यों का साधन वताया गया है। भरद्वाज के पूछने पर भृगु जी ने उन्हें शूद्र के लक्षण इस प्रकार वताये कि "जो वेद और सदाचार का परित्याग करके सदा सब कुछ खाने में अनुरक्त रहता है और सव तरह के काम करता है, साथ ही बाहर-भीतर से अपवित्र रहता है, वह शूद्र कहा गया है।"[३] तीनों वर्णों की सेवा

२—एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेपामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥

मनुस्मृति—अध्या० १, श्लो० ९१

३—सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः॥

शान्तिपर्व—अध्या० १८९, श्लो० ७

के लिए ही शूद्रों की सृष्टि हुई। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहाकि "प्रजापति ने अन्य तीनों वर्णों के सेवक के रूप में शूद्र की सृष्टि की है, अतः शूद्र के लिए तीनों वर्णों की सेवा ही शास्त्रविहित कर्म है।"[४] जिस प्रकार ब्राह्मणों के लिए तप-त्याग का जीवन, क्षत्रिय के लिए पराक्रम का जीवन तथा वैश्य के लिए आर्थिक व्यवसाय शास्त्रों में विहित है, उसी प्रकार शूद्रों के लिए सेवा कर्म ही सब से श्रेष्ठ धर्म है। शूद्रों के कार्य बताते हुए श्री कृष्ण ने संजय से कहा कि "शूद्र ब्राह्मणों की सेवा तथा वन्दना करे, वेदों का स्वाध्याय न करे। उसके लिए यज्ञ का भी निषेध है। वह सदा उद्योगी और आलस्यरहित होकर अपने कल्याण के लिए चेष्टा करे। इस प्रकार शूद्रों का प्राचीन धर्म बताया गया है।"[५] शूद्रों के लिए वेदों का अध्ययन न करना ही लिखा है, क्योंकि शूद्र अपवित्र होते थे तथा वेदों को समझने की उनमें बुद्धि भी नहीं होती थी। वेदों का पढ़ना बड़ी तपस्या का काम था। शूद्र सेवा का काम करते थे, यदि शूद्र भी वेद के अध्ययन में लग जाते, तो सेवक का कार्य कौन करता। धर्मज्ञों ने सेवक के कार्य करने के कारण ही शूद्रों को वेद पढ़ने से वंचित रखा। वैसे शूद्रों को विद्या अध्ययन करने की छूट थी तथा और भी धार्मिक कृत्य राजा की आज्ञा से कर सकते थे। शूद्र को कर्मों से सुख प्राप्त होता है, ऐसा कहते हुए विदुरजी ने धृतराष्ट्र से कहा कि "शूद्र यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय

४—प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत् ।
तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते ॥

शान्तिपर्व—अध्याय ६०, श्लो० २८

५—परिचर्यां वन्दनं ब्राह्मणानां
नाधीयीत प्रतिषिद्धोऽस्य यज्ञः ।
नित्योत्थितो भूतयेऽतन्द्रितः स्या-
देवं स्मृतः शूद्रधर्मः पुराणः ।

उद्योगपर्व—अध्याय २६, श्लो० २६

और वैश्य की क्रम से न्यायपूर्वक सेवा करके इन्हें सन्तुष्ट करता है, तो वह व्यथा से रहित हो पापों से मुक्त होकर देह-त्याग के पश्चात् स्वर्ग सुख का उपभोग करता है।"[६] शूद्रों के लिए तीनों वर्णों की सेवा ही सब धर्मों से श्रेष्ठ है और उनको मोक्ष भी सेवा कर्म को उचित ढंग से करने से प्राप्त हो जाती है। जिसकी सेवा से द्विज लोग जितने अधिक प्रसन्न एवं सन्तुष्ट होंगे, उसको उतना ही उत्तम फल प्राप्त होता था। सेवा का महत्त्व बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "शूद्र इन तीनों वर्णों की सेवा से ही महान् सुख का भागी हो सकता है। अतः शूद्र इन तीनों वर्णों की क्रमशः सेवा करे।"[७]

३—शूद्र के कर्त्तव्य—

अन्य वर्णों की भाँति शूद्र के लिए भी कुछ कर्त्तव्य हैं, जिनका पालन उसे सर्वदा करना चाहिए। शूद्र के कर्त्तव्य बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "शूद्र को कभी किसी प्रकार भी धन का संग्रह नहीं करना चाहिए; क्योंकि धन पाकर वह महान् पाप में प्रवृत्त हो जाता है और अपने से श्रेष्ठतम पुरुषों को भी अपने अधीन रखने लगता है।"[८] मनुस्मृति में भी मनु ने

६—ब्रह्म क्षत्रं वैश्यवर्णं च शूद्रः
क्रमेणैतान् न्यायतः पूजयानः ः
तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपाप-
स्त्यक्त्वा देहं स्वर्गसुखानि भुङ्क्ते

उद्योगपर्व—अध्याय ४०, श्लो० २८

७—तेषां शुश्रूषणाच्चैव महत् सुखमवाप्नुयात्
शूद्र एतान् परिचरेत् त्रीन् वर्णाननुपूर्वशः ॥

शान्तिपर्व—अध्या० ६०, श्लो० २९

८—संचयांश्च न कुर्वीत जातु शूद्रः कथंचन ।
पापीयान् हि धनं लब्ध्वा वशे कुर्याद् गरीयसः ॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६०, श्लो० ३०

कहा है कि शूद्र को धन का संग्रह नहीं करना चाहिए। समर्थ होने पर भी धन संचय नहीं करना चाहिए।"[९]

सेवकों को छोटा बनकर ही रहना चाहिए, तभी वह सेवा वृत्ति का कार्य कर सकेंगे। यदि शूद्र धन का संग्रह करने लगेंगे तो फिर वह भी बड़े आदमी अर्थात् धनवान् बन जायेंगे और फिर किसीकी सेवाका कार्य क्यों करेंगे। धनवान् होने पर तो वह स्वयं भी श्रेष्ठ पुरुषों को अपने यहाँ धन के कारण सेवक बना सकेंगे। इसीलिए धर्मशास्त्रों में शूद्रों के लिए धन का संचय करना निषेध किया गया है।

शूद्र को अपने स्वामी की सब प्रकार से सेवा करनी चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर सन्तान के अभाव में उसे पिण्डदान भी करना चाहिए। शूद्र को स्वामी के प्रति कैसा आचरण करना चाहिए, इस विषय में बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "यदि स्वामी सन्तानहीन हो तो सेवा करने वाले शूद्र को ही उसके लिए पिण्डदान करना। चाहिये यदि स्वामी बूढ़ा या दुर्बल हो तो उसका सब प्रकार से भरण-पोषण करना चाहिए। किसी आपत्ति में भी शूद्र को अपने स्वामी का परित्याग नहीं करना चाहिए। यदि स्वामी के धन का नाश हो जाय, तो शूद्र को अपने कुटुम्ब के पालन से बचे हुए धन के द्वारा उसका भरण-पोषण करना चाहिए।"[१०] सन्तानहीन स्वामी के लिए सेवक

९—शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धन संग्रहः।
शूद्रा हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते॥
मनुस्मृति—अध्या० १०, श्लो० १२९

१०—देयः पिण्डोऽनपत्याय भर्तव्यो वृद्धदुर्बलौ।
शूद्रेण तु न हातव्यो भर्ता कस्याञ्चिदापदि।
अतिरेकेण भर्तव्यो भर्ता द्रव्यपरिक्षये॥
शान्तिपर्व—अध्या० ६०, श्लो० ३५-३६

ही सन्तान के समान होता है। इसलिए स्वामी की वृद्धावस्था में सब प्रकार से सेवक को ही सहायता करनी चाहिए। युवावस्था में स्वामी सेवक का भरण पोषण करता है, इसलिए वृद्धावस्था में सेवक को उसका भरण-पोषण आवश्यकता हो तो करना चाहिए, सच्चे सेवक के यही मुख्य कर्त्तव्य हैं। चारों वर्णों में ब्राह्मणों में बड़ा वही समझा जाता है, जो ज्ञान में सबसे अधिक ज्ञानी हो; क्षत्रियों में वही सबसे महान् समझा जाता है, जो पराक्रम में सबसे वीर हो। इसी प्रकार वैश्य और शूद्रों में किन लक्षणों से बड़ा होता है यह बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "वैश्यों में वही सर्वमान्य है,जो धन-धान्य में बढ़कर हो, केवल शूद्रों में ही जन्मकाल को ध्यान में रखकर जो अवस्था में बड़ा हो, उसको पूजनीय माना जाता है।"[११] शूद्रों में मान उसी का होता है जो उम्र में सबसे बड़ा हो; उम्र में सबसे बड़ा पुरुष ही शूद्रों का मुखिया होता है। सब लोग उसी के बताये हुए आदेशों पर चलते हैं और सब कामों में उसकी ही आज्ञा का पालन करते हैं।

४—स्वामी द्वारा शूद्रों का भरण-पोषण--

द्विजातियों का कर्त्तव्य है कि वह अपने सेवकों के भरण-पोषण का प्रबन्ध करें। जो सेवक अपना सारा समय स्वामी की सेवा में लगा देता है, तो उसका पालन भी स्वामी को ही करना चाहिये। शूद्रों को देने योग्य वस्तुओं के विषय में बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "फटे-पुराने कपड़े, जो अपने धारण के योग्य न रहें, वे द्विजातियों द्वारा शूद्र को ही देने योग्य हैं; क्योंकि धर्मतः वे सब वस्तुएँ शूद्र की ही सम्पत्ति हैं।"[१२] शूद्रों को सेवक

११—वैश्यानां धान्यधनवाञ्छूद्राणामेव जन्मतः ।
पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ ॥
सभापर्व—अध्या० ३८, श्लो० १८

१२—अधार्याणि विशीर्णानि वसनानि द्विजातिभिः ।
शूद्रायैव प्रदेयानि तस्य धर्मधनं हि तत् ॥
शान्तिपर्व—अध्या० ६०, श्लो० ३३

का कार्य करने के लिए नवीन वस्त्रों की तो आवश्यकता होती नहीं है। वह सेवा का कार्य पुराने वस्त्रों से ही कर सकता था।

उसके पास नवीन वस्त्रों को खरीदने के लिए धन का भी अभाव रहता है, इसलिए स्वामी द्वारा दिए हुए पुराने वस्त्रों का ही वह उपयोग करता है। वस्त्रों के अतिरिक्त और छोटी-छोटी वस्तुएँ भी स्वामी को सेवक के लिए दे देनी चाहिए। छोटी वस्तुओं के विषय में बताते हुए, भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "तीनों वर्णों को शूद्र का भरण-पोषण अवश्य करना चाहिए; क्योंकि उसको भरण-पोषण करने योग्य कहा गया है। अपनी सेवा में रहने वाले शूद्र को उपभोग में लाये हुए छाते, पगड़ी, अनुलेपन, जूते, और पंखे देने चाहिए।"[13] शूद्र को पुरानी वस्तुएँ देने के अतिरिक्त उसकी जीविका का भी प्रबन्ध द्विजातियों को ही करना चाहिए, इस विषय में भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "द्विजातियों में से जिस किसी की सेवा करने के लिए कोई शूद्र आवे, उसीको उसकी जीविका की व्यवस्था करनी चाहिए; ऐसा धर्मज्ञ पुरुषों का कथन है।"[14] जो सेवक जिसकी सेवा करेगा, वह अपने परिवार के पालन के लिए भी उन्हीं से धन एवं वस्तुओं की आशा करेगा। समझदार लोग शूद्रों के भरण-पोषण का सम्पूर्ण प्रबन्ध स्वयं ही करते हैं, जो नहीं कर पाते हैं, उन्हें भी दूसरों के कहने पर करना ही पड़ता है। सेवक की जीविका का प्रबन्ध करना स्वामी का सहज कर्त्तव्य है।

१३—अवश्यं भरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते।
छत्रं वेष्टनमौशीरमुपानद् व्यजनानि च॥
यातयामानि देयानि शूद्राय परिचारिणे।

शान्तिपर्व—अध्या० ६०, श्लो० ३२½

१४—यं च कश्चिद् द्विजातीनां शूद्रः शुश्रूषुराव्रजेत्
कल्प्यां तेन तु ते प्राहुर्वृत्तिं धर्मविदो जनाः।

५—राजा की आज्ञा से धार्मिक कार्य शूद्रों का अधिकार—

शूद्रों में भी कई तरह के लोग होते हैं। बहुत से शूद्र काम तो सेवक का करते हैं किन्तु उनके आचरण श्रेष्ठ पुरुषों जैसे होते हैं। वे सदाचार से रहते हैं और नियम से स्नान आदि करके ईश्वर का ध्यान करते हैं, वे शूद्र होकर भी उच्च वृत्ति के लोग समझे जाते हैं। शूद्रों में ऐसे लोग बहुत कम होते है। किन्तु जो भी होते हैं उनके आचार को देखकर राजा उन्हें धार्मिक कार्य करने की अनुमति दे देता है। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "धर्मात्मा शूद्र राजा की आज्ञा लेकर अपनी इच्छा के अनुसार कोई धार्मिक कृत्य कर सकता है।"[१५] शूद्रों के लिए प्राचीन काल में केवल वेदों का पढ़ना ही वर्जित था, बाकी सम्पूर्ण धार्मिक ग्रन्थ वह पढ़ सकता था तथा धार्मिक कार्य कर सकता है। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "शूद्र का अपना कोई धन नहीं होता है। उसके सारे धन पर उसके स्वामी का ही अधिकार होता है। यज्ञ का अनुष्ठान तीनों वर्णों तथा शूद्र के लिए भी आवश्यक बताया गया है। शूद्र के यज्ञ में स्वाहाकार, वषट्कार तथा वैदिक मन्त्रों का प्रयोग नहीं होता है।"[१६] शूद्रों को अपना यज्ञ वैदिक मन्त्रों रहित करना पड़ता था। वैदिक मन्त्रों को छोड़कर अन्य साधनों का वर्णन करते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "शूद्र स्वयं वैदिक व्रतों की दीक्षा न लेकर पाकयज्ञों (बलि वैश्वदेव आदि) द्वारा यजन करे। पाक यज्ञ की दक्षिणा पूर्णपात्रमयी बतायी गई

१५—राज्ञा वा समनुज्ञातः कामं कुर्वीत धार्मिकः :
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६०, श्लोक ३१

१६—न हि स्वमस्ति शूद्रस्य भर्तृहार्यधनो हि सः।
उक्तस्त्रयाणां वर्णानां यज्ञस्तस्य च भारत।
स्वाहाकारवषट्कारौ मन्त्रः शूद्रे न विद्यते ॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६०, श्लोक ३७

है।"[१७] पूर्णपात्र का परिमाण इस प्रकार है—आठ मुट्ठी अन्न को 'किञ्चित' कहते है, आठ किञ्चित का एक 'पुष्कल' होता है और चार पुष्कल का एक 'पूर्णपात्र' होता है। इस प्रकार दो सौ छप्पन मुट्ठी का एक पूर्णपात्र होता है। वैसे शूद्र को यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि तीनों वर्णों के यज्ञ करने से जो पुण्य उन्हें मिलता है, उसमें उनके सेवकों का भी हिस्सा होता है। यज्ञ में पुण्य का वर्णन करते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों का जो यज्ञ है, वह सब सेवाकार्य करने के कारण शूद्र का भी है ही (उसे भी उसका फल मिलता ही है; अतः उसे पृथक् यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं है)। सम्पूर्ण यज्ञों में पहले श्रद्धारूप यज्ञ का ही विधान है।"[१८] श्रद्धा यज्ञ करने वालों को पवित्र करती है। सभी वर्णों के लोग अपने-अपने कर्म द्वारा एक दूसरे के यज्ञों में सहायक होते हैं। सभी वर्णों को ब्राह्मणों की सन्तान ही माना जाता है। सभी वर्णों की भांति सदाचारी शूद्र भी संन्यास को छोड़कर शेष सभी आश्रमों का पालन कर सकता है। इस विषय में बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "जो शूद्र तीनों वर्णों की सेवा करके कृतार्थ हो गया है, जिसके पुत्र है, शौच और सदाचार की दृष्टि से जिसमें अन्य त्रैवर्णिकों की अपेक्षा बहुत कम अन्तर रह गया है अथवा जो मनुप्रोक्त दस धर्मों के पालन में तत्पर रहा है, वह शूद्र यदि राजा की अनुमति प्राप्त कर ले तो उसके लिए संन्यास को छोड़कर शेष सभी आश्रम विहित हैं।"[१९] सदाचार से रहने वाले शूद्र में और उच्च वर्णों में जब

१७—तस्माच्छूद्रः पाकयज्ञैर्यजेताव्रतवान् स्वयम्।
पूर्णपात्रमयीमाहुः पाकयज्ञस्य दक्षिणाम्॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६०, श्लोक ३८

१८—यतो हि सर्ववर्णानां यज्ञस्तस्यैव भारत।
अग्रं सर्वेषु यज्ञेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६०, श्लोक ४०

१९—शुश्रूषाकृतकार्यस्य कृतसंतानकर्मणः।
अभ्यनुज्ञातराजस्य शूद्रस्य जगतीपते।
अल्पान्तरगतस्यापि दशधर्मगतस्य वा।
आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम्॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६३, श्लोक १२-१३

कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता, तब राजा की आज्ञा से तीनों आश्रमों में उसका प्रवेश भी उचित ही है। जिस शूद्र ने मनु द्वारा बताये हुए दस धर्मों का ग्रहण कर लिया है उसके लिए सब कार्य करने की अनुमति मिल जाती है। वे दस धर्म ये हैं—धृति, क्षमा, मन का निग्रह, चोरी का त्याग, बाहर-भीतर की पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, सात्त्विक बुद्धि, सात्त्विक ज्ञान, सत्य भाषण और क्रोध का अभाव। उपरोक्त दस धर्मों के पालन करने वाला शूद्र शूद्र नहीं रहता, उसमें उच्चवर्णों जैसी पवित्रता एवं बुद्धिमत्ता प्रकट हो जाती है। उसके इन आचारों के कारण ही राजा उसे सब वर्णों की भांति भिक्षा का भी अधिकारी बना देता है। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "पूर्वोक्त धर्मों का आचरण करने वाले शूद्र के लिए तथा वैश्य और क्षत्रिय के लिए भी भिक्षा माँगकर निर्वाह करने का विधान है।"[२०] आश्रम चार होते हैं, उनमें संन्यास को छोड़कर तीनों आश्रमों का उपभोग सदाचारी शूद्र कर सकता है। प्रथम ब्रह्मचर्य-आश्रम में तथा तृतीय वानप्रस्थ-आश्रम में सबको भिक्षा ग्रहण करके अपना जीवन यापन करना पड़ता है। यहाँ भिक्षा माँग कर निर्वाह करने का आशय यही है कि जब शूद्र वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करेगा तब उसे भोजन की आवश्यकता होगी, यह भिक्षा उसी समय वह माँगेगा और इसी से अपना वानप्रस्थाश्रम सफल करेगा। सदाचारी शूद्र इन पुण्य कर्मों के प्रभाव से अपना जीवन सुधार लेता है और परलोक में जाकर सुख प्राप्त करता है।

शूद्रों को जिन कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, उनके विषय में श्री भगवान् ने युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि "शूद्रों में से जो सदा तीनों वर्णों की सेवा करता और विशेषतः ब्राह्मणों की सेवा में दास की भांति खड़ा रहता है; जो बिना मांगे ही दान देता है, सत्य और शौच का पालन करता है, गुरु और देवताओं की पूजा में प्रेम रखता है, परस्त्री के संसर्ग से दूर रहता है, दूसरों को कष्ट न पहुँचा कर अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण करता है और

२०—भैक्ष्यचर्या ततः प्राहुस्तस्य तद्धर्मचारिणः।
तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैवहि॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६३, श्लोक

सब जीवों को अभयदान कर देता है, उस शूद्र को भी स्वर्ग की प्राप्ति होती है।"[२१]

महाभारत में शूद्रों को गौरव देने वाले वचन भी मिलते हैं। सामान्य रूप से मलिनता के कारण शूद्रों को हीन माना जाता है। प्राचीन काल में अनेक जातियाँ मलिनता से रहती थीं। विवशता से वे उच्च वर्णों के सेवक बन गये। इस प्रकार शूद्र वर्ण की रचना हुई। उच्च वर्णों की सेवा ही उनका मुख्य धर्म है। वेदों के अध्ययन का अधिकार उनको नहीं है। ब्राह्मणों ने यह प्रतिबन्ध वेदों की शुद्धता की रक्षा के लिये किया। किन्तु वेदों का अध्ययन अन्य कार्यों में लगे लोगों के लिये कठिन भी है। ब्राह्मण वेदों के अध्ययन में ही जीवन लगाते थे। क्षत्रियों और वैश्यों को वेदाध्ययन का अधिकार था किन्तु वे भी उसका निर्वाह नहीं कर सके। वेद के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों में तथा धार्मिक कर्मों में शूद्रों का भी अधिकार है। ये धार्मिक कर्म शूद्र को भी पवित्र बनाते हैं। कर्मों की पवित्रता से शूद्र भी पवित्र हो जाता है तथा वह ब्राह्मण के समान वन्दनीय बन जाता है।[२२] ब्रह्माजी का यह वचन शूद्रों के प्रति अन्याय का एक बड़ा समाधान है। जो शूद्र शुभ कर्म करता है वह द्विजातियों से भी श्रेष्ठ है।[२३] द्विजत्व का कारण वृत्ति ही है। शुभ वृत्ति

२१—त्रयाणामपि वर्णानां शुश्रूषानिरतः सदा।
विशेषतस्तु विप्राणां दासवद् यस्तु तिष्ठति॥
अयाचितप्रदाता च सत्यशौचसमन्वितः।
गुरुदेवार्चनरतः परदारविवर्जितः।
परपीडामकृत्वैव भृत्यवर्गं बिभर्ति यः।
शूद्रोऽपि स्वर्गमाप्नोति जीवानामभयप्रदः॥
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ९२, श्लोक ५३ से आगे

२२—कर्मभिः शुचिभिर्देवि शुद्धात्मा विजितेन्द्रियः।
शूद्रोऽपि द्विजवत् सेव्य इति ब्रह्माब्रवीत् स्वयम्॥
अनुशासनपर्व—अध्याय १४१, श्लोक ४८

२३—स्वभावः कर्म च शुभं यत्र शूद्रेऽपि तिष्ठति।
विशिष्टः स द्विजातेर्वै विज्ञेय इति मे मतिः॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १४१, श्लोक ४९

वाला शूद्र भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है।[२४] इन समाधानों से विदित होता है शूद्रों की हीनता शास्त्रकारों का आग्रह नहीं थी वरन् वह तत्कालीन समाज की स्थिति से पैदा हुई थी। इन समाधानों के संकेत से शूद्र की स्थिति को सुधारा जा सकता है।



२४--कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम्।
वृत्ते स्थितस्तु शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति॥
अनुशासन पर्व–अध्याय १४१,
श्लोक–५०, ५१

अध्याय—१३

महाभारत में आश्रम-धर्म

१—आश्रम व्यवस्था का महत्व—

भारतीय धारणा के अनुसार काल को जीवन का मर्म माना गया है। काल ही जीवन और काल ही मृत्यु है। श्वेताश्वतर उपनिषद के आरम्भ में प्राचीन ऋषि जीवन के तत्त्व के सम्बन्ध में विचार करते हैं, तो उन्होंने काल को ही जीवन के तत्त्वों में प्रथम स्थान दिया है। काल को समय भी कहते हैं, जो सम्यक् (सम) रूप से व्यतीत होता है (या) उसे समय कहते हैं। समय ही जीवन है और उसका भले प्रकार बीतना ही जीवन की सार्थकता है। काल के अनुसार ही जीवन का विकास होता है, इसे 'आयु' कहते हैं। जीवन की कालगत अवस्था अथवा आयु के अनुसार ही जीवन के व्यतीत होने पर जीवन सफल होता है। सम्पूर्ण जीवन को एक रूप मानना जीवन और काल की गति का तिरस्कार करना है। काल की गति के इस तिरस्कार से जीवन का सौन्दर्य और आनन्द भी नष्ट हो जाता है। जीवन का सौन्दर्य जीवन की विविधता में सुरक्षित रहता है। काल की गति और विकास के मानने पर जीवन में अधिक स्वाभाविकता आ जाती है, दूसरी ओर जीवन का सौन्दर्य और आनन्द भी बढ़ जाता है। जीवन की यही स्वाभाविकता और जीवन का यही सौन्दर्य आश्रम-व्यवस्था का रहस्य है।

जीवन की एकरूपता में आयु की अनुकूलता और विविधता के सौन्दर्य का सन्निवेश करने के लिए ही भारतीय धर्म-शास्त्रों में मनुष्य के जीवन को चार भागों में विभाजित किया है। ये चार भाग जीवन के आश्रम कहलाते हैं। इन आश्रमों को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास कहते हैं। आश्रम की व्युत्पत्ति 'श्रम' से होती है। 'श्रम' जीवन का उद्योग है, वही जीवन का धर्म और कर्तव्य भी बन जाता है। जीवन के विविध आश्रमों के धर्म और कर्तव्य जीवन को सुन्दर और सफल बनाते हैं। मानव की पूर्ण आयु को

के कारण आश्रम-व्यवस्था परिपूर्ण जीवन का एक उत्तम आदर्श है। अनेक-रूपता के सौन्दर्य और जीवन के प्रमुख लक्ष्यों के गौरव से युक्त आश्रम-व्यवस्था कोई अव्यावहारिक आदर्श नहीं है। यद्यपि उत्तरकाल में भारतीय समाज में इसका व्यापक व्यवहार नहीं रहा है, फिर भी प्राचीन काल में सभी आश्रमों का पर्याप्त व्यवहार होता था। राजाओं के भी वानप्रस्थ ग्रहण करने के उदाहरण मिलते हैं। ब्रह्मचारियों तथा वानप्रस्थों के कितने ही आश्रम प्राचीन वनों में थे। धर्म और दर्शन की परम्परा में तथा उससे पृथक्-सन्त संन्यासी स्वच्छन्द आध्यात्मिक जीवन में लीन रहे। उत्तरकाल में और वर्तमान काल में भी अधिक संख्या में ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यासी मिलते हैं। तात्पर्य यह है कि आश्रमों का आदर्श व्यवहार के योग्य हैं और आज तक भारतीय जीवन में उसका व्यवहार हो रहा है।

आश्रम-व्यवस्था की इस व्यावहारिकता का मूल स्रोत भारतीय परम्परा की प्रबल प्रेरणा है, जो भारतीय सामाजिक जीवन को उत्तम लक्ष्यों की ओर संचालित करती रही है। किन्तु इसके साथ-साथ इसका एक प्रमुख कारण आश्रम-व्यवस्था में अन्तर्निहित सिद्धान्तों की प्राकृतिक और सांस्कृतिक सत्यता है। आश्रम-व्यवस्था का आधार केवल अध्यात्म नहीं है। इसमें अध्यात्म के आदर्श प्रकृति की दृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित हुये हैं। समय, स्वास्थ्य और बल के प्राकृतिक सत्यों को इस व्यवस्था में आधार माना गया है। ब्रह्मचर्य-आश्रम का उद्देश्य जीवन से वैराग्य नहीं वरन् स्वास्थ्य, चरित्र और विद्या की साधना के द्वारा जीवन को ही पूर्णतः सफल और आनन्दमय बनाना है। जीवन के इस आरम्भिक निर्माण में कालक्रम के प्राकृतिक सत्य को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है। मानवीय जीवन काल का ही एक क्रम है। समय का यह क्रम एक नैसर्गिक गति है। हम इसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकते हैं। प्राकृतिक दृष्टि से समय के सभी क्षण समान हैं। किन्तु उनके पूर्वापर क्रम की दृष्टि से पूर्वतर क्षणों का उत्तर क्षणों की अपेक्षा इसलिए अधिक महत्व है कि प्रत्येक पूर्वतर क्षण उत्तर क्षण की भूमिका बनता है और उसको अधिक मूल्यवान बनाने की सम्भावना रखता है। ब्रह्मचर्याश्रम में ही नहीं, गृहस्थ और वानप्रस्थ में भी पूर्वकाल के महत्व का ध्यान रखा गया है। आयु के विकास की दृष्टि से प्रत्येक आश्रम में अनुकूल धर्मों का विधान किया गया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक पूर्व आश्रम के धर्म अन्य आश्रमों को उत्तरोत्तर अधिक सफल बनाते हैं। ब्रह्मचर्याश्रम की तप और साधनामयी भूमिका तो सभी आश्रमों की सफलता की नींव है।

अनेकरूपता, नवीनता, परिवर्तन, कालक्रम की उपयुक्तता आदि अनेक दृष्टियों से आश्रमों की व्यवस्था मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की अत्यन्त सन्तुलित और सामंजस्यपूर्ण योजना है। तप और त्याग की प्रधानता होते हुए भी प्राकृतिक जीवन के सन्तोष के लिए इसमें समुचित स्थान है। एक प्रकार से ब्रह्मचर्य का यह तप और त्याग ही प्राकृतिक जीवन को भी अधिक सुन्दर एवं सफल और अधिक आनन्दमय बनाता है। प्राकृतिक जीवन में तो मनुष्य की स्वाभाविक रुचि होती है। सामाजिक जीवन, बौद्धिक विकास, नैतिक शिक्षा और आध्यात्मिक साधना को महत्व देना और इन सबके लिए समुचित आयोजन करना आश्रम व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण उपयोगिता है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास के त्यागमय जीवन से समाज के नागरिक और प्राकृतिक जीवन के अनेक संघर्ष कम हो सकते हैं, अनेक विषमतायें दूर हो सकती हैं और इसके फलस्वरूप उसमें अधिक सन्तुलन रह सकता है।

मनुष्य के जीवन की पूर्णता और कृतार्थता की दृष्टि से आश्रमों के क्रम का विकास संगीत की रागिनी के समान विविधता पूर्ण तथा व्यवस्थित है। गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य की साधना के बाद लौकिक जीवन के सफल होने पर वानप्रस्थ और सन्यास का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ अध्यात्म प्राकृतिक दृष्टि से ह्रासमुखी जीवन की एक आनन्दमय परिणति की ओर ले जाता है। संन्यास की पूर्ण आध्यात्मिक स्वतन्त्रता में मानों मनुष्य का मर्त्य जीवन अमरता का अधिकारी बन जाता है। संन्यास की कृतार्थता और उसके अभय में मनुष्य मृत्युंजय बनकर विश्व में विहार करता है। काल के क्रम से जीवन का मृत्यु में विलय होना उसी प्रकार मनोहारी बन जाता है, जिस प्रकार एक मधुर रागिनी अपने अवसान में अन्तरिक्ष में विलीन हो जाती है। ऐसे सुन्दर जीवन की कल्पना धर्मशास्त्रों की एक महत्त्वपूर्ण देन है। इस व्यवस्था का बाह्य रूप तो युग के अनुसार बनाया जा सकता है, किन्तु इसका आन्तरिक अभिप्राय सुन्दर और सफल जीवन का शाश्वत सत्य है।

२—ब्रह्मचर्य-आश्रम के धर्म—

ब्रह्मचर्य-आश्रम जीवन का प्रथम पर्व है। इसे हम जीवन के प्रासाद की नींव कह सकते हैं। समस्त जीवन इसी पर निर्भर है। यह जीवन का

विकास काल है। इसमें ही मनुष्य के शारीरिक अवयवों और मानसिक शक्तियों का पूर्ण विकास होता है। इस विकास की गतिविधि पर ही हमारे जीवन का स्वरूप और उसकी सार्थकता निर्भर है। सचेतन और सयत्न निर्माण को भूमिका पर आश्रित ही जीवन का प्रासाद स्थायी और उपयोगी हो सकता है। ब्रह्मचर्य की साधना द्वारा उपार्जित स्वास्थ्य शक्ति और सदाचार पर प्रतिष्ठित यौवन ही सफल और सार्थक होता है। इसीलिए ब्रह्मचर्य को गृहस्थ का द्वार ही नहीं वरन् उसकी कृतार्थता की भूमिका माना गया है। कैशोर काल में मनुष्य के जीवन में शक्ति के निर्बाध स्रोत फूट पड़ते हैं। इस समय मनुष्य की उमड़ती हुई शक्ति के विश्रृङ्खल होने की बहुत सम्भावना रहती है। इसलिए यौवन की सफलता के लिए इस शक्ति के स्रोत का संयम आवश्यक है। साधारणतः ब्रह्मचर्य का अर्थ काम का निरोध ही समझा जाता है। वस्तुतः ब्रह्मचारी को गुरुसेवा पूर्वक विद्योपार्जन, शील, सदाचार आदि के द्वारा चरित्र का निर्माण, वेद तथा शास्त्रों का अनुशीलन आदि ब्रह्मचर्य-आश्रम के मुख्य कर्त्तव्य हैं।

प्राचीन काल में ब्रह्मचारी की वेषभूषा साधारणजनों से भिन्न होती थी। उस वेषभूषा से वे सबको ब्रह्मचारी प्रतीत होते थे और सब गृहस्थ उनका आदर करते थे तथा भिक्षा देते थे। ब्रह्मचारी मूँज की मेखला धारण करता था, जटा धारण करता था, यज्ञोपवीत धारण करता था, प्रतिदिन स्नान करता था, वेद के स्वाध्याय में लीन रहता था तथा लोभहीन होकर नियमों का पालन करता था। पलास का दण्ड धारण करता था तथा गेरुए रंग के वस्त्र या मृगचर्म पहनता था। दोनों समय अग्नि में यज्ञ करता था, जिससे उसका मन प्रसन्न और शान्त रहता था। दिन में गाँव में जाकर भिक्षा माँगता था और जो कुछ मिलता था वह गुरु के समक्ष सब रख देता था। उसमें से जो कुछ गुरुजी उसे खाने को देते थे उसे ही वह ग्रहण करता था। ब्रह्मचारी की प्राचीन वेषभूषा का वर्णन करते हुए ब्रह्माजी ने महर्षियों से इस प्रकार कहा कि "ब्रह्मचारी मूँज की मेखला पहने, जटा धारण करे, प्रति दिन स्नान करे, यज्ञोपवीत पहने, वेद के स्वाध्याय में लगा रहे तथा लोभहीन होकर नियमपूर्वक व्रत का पालन करे।"[1] ब्रह्मचारी

१—मेखली च भवेन्मौञ्जी जटी नित्योदकस्तथा।
यज्ञोपवीती स्वाध्यायी अलुब्धो नियतव्रतः॥
आश्वमेधिक पर्व-अध्याय ४६, श्लोक ६

के धर्म बताते हुए महेश्वर ने उमा से कहा कि "ब्रह्मचारी के लिए भैक्षाचर्या परम धर्म है। नित्य यज्ञोपवीत धारण किये रहना, धर्म का रहस्य सुनना, वेदोक्त व्रत का पालन करना, होम और गुरुसेवा करना—यह ब्रह्मचर्य-आश्रम का धर्म है।"[२] ब्रह्मचारी के लिए भिक्षा माँगना तथा गुरु-सेवा करना सब धर्मों में प्रधान धर्म है। गुरु की भक्ति करना तथा सेवा करना ब्रह्मचारी का प्रमुख धर्म है। गुरु की भक्ति का प्रसाद भी ब्रह्मचारियों को विद्या के रूप में मिलता था। गुरु अपने शिष्यों को पुत्रों के समान प्रेम करते थे तथा उनको ज्ञान सिखाने में बड़ा परिश्रम करते थे। गुरु के प्रेम से ब्रह्मचारी इतने वर्षों तक कठोर परिश्रम करके अपना जीवन सफल और उन्नतिपूर्ण बनाते थे। गुरु की सेवा से विद्यार्थी विनय सीखते थे। विनय से नम्रता आती थी और नम्रता से उनकी बुद्धि का विकास होता था। बुद्धि के विकास से शास्त्रों का ज्ञान सहज ही प्राप्त हो जाता था। शास्त्रों के ज्ञान से ब्रह्मचारी अपने जीवन में अनेक नये शास्त्रों और सिद्धांतों का लेखन करता था और विद्वानों की श्रेणी में गिना जाता था।

विद्योपार्जन ब्रह्मचर्य का मुख्य लक्ष्य है। विद्या मनुष्य की चेतना का विकास है। विद्या की धारा स्वास्थ्य और चरित्र के दो किनारों के बीच बहती है। विद्या मनुष्य की मानसिक उन्नति है। पशुओं की तुलना में विद्या ही मानव की विशेषता है। मनुष्य का आरम्भिक जीवन विद्योपार्जन का ही समय है, क्योंकि यही उसके मानसिक विकास का भी समय है। आगे चलकर भी मनुष्य ज्ञान का संचय कर सकता है, किन्तु बुद्धि का विकास और सामान्य मानसिक संस्कारों का निर्माण ब्रह्मचर्यावस्था में ही हो सकता है। इसलिए ब्रह्मचर्याश्रम में विद्या को महत्त्व देना एक प्राचीन परम्परा होने के साथ-साथ सनातन सत्य भी है।

२—भैक्षाचर्या परोधर्मो नित्ययज्ञोपवीतिता।
रहस्यश्रवणं धर्मो वेदव्रतनिषेवणम्।
अग्निकार्यं तथा धर्मो गुरुकार्यप्रसाधनम्॥

अनुशासनपर्व—अध्याय १४१, ३५-३६

प्राचीन शिक्षा के अनुसार ब्रह्मचारी की शिक्षा के चार चरण बताये गये हैं—[३]

पहला चरण– ब्रह्मचारी शिष्य को चाहिए कि वह नित्य गुरु को प्रणाम करे, बाहर भीतर से पवित्र हो प्रमाद छोड़कर स्वाध्याय में मन लगाये, अभिमान न करे, मन में क्रोध को स्थान न दे। जो शिष्य की वृत्ति के क्रम से ही जीवन-निर्वाह करता हुआ पवित्र हो विद्या प्राप्त करता है, उसका यह नियम भी ब्रह्मचर्यव्रत का पहला ही पाद कहलाता है।

दूसरा चरण–ब्रह्मचारी अपने प्राण और धन लगाकर भी मन, वाणी तथा कर्म से आचार्य का प्रिय करे, गुरु के प्रति शिष्य का जैसा श्रद्धा और सम्मानपूर्ण व्यवहार करे, वैसा ही गुरु की पत्नी और गुरु के पुत्र के साथ भी व्यवहार करे। यह ब्रह्मचर्य का द्वितीय पाद कहलाता है।

तृतीय पाद– आचार्य ने जो अपना उपकार किया, उसे ध्यान में रखकर तथा उससे जो प्रयोजन सिद्ध हुआ, उसका भी ध्यान या विचार करके मन ही मन प्रसन्न होकर शिष्य आचार्य के प्रति जो ऐसा भाव रखता है कि इन्होंने मुझे बड़ी उन्नत अवस्था में पहुँचा दिया है—यह ब्रह्मचर्य का तीसरा पाद है।

चौथा पाद– आचार्य के उपकार का बदला चुकाये बिना अर्थात् गुरु दक्षिणा आदि के द्वारा उन्हें सन्तुष्ट किये बिना विद्वान् शिष्य वहाँ से अन्यत्र न जाये। दक्षिणा देते समय कभी मन में ऐसा विचार न लाये कि मैं गुरु का उपकार कर रहा हूँ तथा मुँह से भी कभी ऐसी बात न निकाले। यह ब्रह्मचर्य का चौथा चरण है।

प्राचीन धर्म-शास्त्रों में ब्रह्मचर्य के पालन से ईश्वर की प्राप्ति का भी वर्णन मिलता है। धृतराष्ट्र के पूछने पर सनत्सुजात जी ने बताया कि "जो लोग आचार्य के आश्रम में प्रवेश कर अपनी सेवा से उनके अन्तरंग भक्त हो

३—देखिये अगला अध्याय-१४,प्रकरण-४

ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वे यहीं शास्त्रकार हो जाते हैं और देह त्याग के पश्चात् परम योग रूप परमात्मा को प्राप्त होते हैं।"[४] ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य की आयु बढ़ती है, मुख का तेज बढ़ता है, शरीर में शारीरिक शक्ति बढ़ती है, बुद्धि बढ़ती है, लक्ष्मी, महान् यश, पुण्य और ईश्वर के प्रेम को प्राप्त करता है। भगवान के प्रेम को प्राप्त करके स्वर्ग की प्राप्ति करता है।

३—गृहस्थ धर्म—

गृहस्थ-आश्रम जीवन का दूसरा पर्व है। ब्रह्मचर्य की भूमिका पर प्रतिष्ठित गृहस्थ-आश्रम ही मानवीय जीवन की कृतार्थता का प्रमुख पीठ है। ब्रह्मचर्य-आश्रम में उपार्जित शक्ति के उपयोग और शील के व्यवहार का यही अवसर है। विधिपूर्वक विवाह करके काम के मर्यादित उपयोग के द्वारा परिवार और समाज की प्रतिष्ठा गृहस्थ का मुख्य धर्म है। इसके अतिरिक्त विद्या का प्रचार तथा कृषि, व्यवसाय आदि के द्वारा आर्थिक व्यवस्था का संरक्षण ही गृहस्थ का कर्म है। भारतीय शास्त्रों में गृहस्थ-आश्रम को अत्यन्त श्रेष्ठ तथा अन्य सभी आश्रमों का उपजीव्य माना गया है। दान, आतिथ्य, भिक्षा आदि के द्वारा वह अन्य तीनों आश्रमों का पोषण करता है। तीनों आश्रमों को धारण करने के कारण गृहस्थाश्रम ज्येष्ठ अथवा सबसे बड़ा है।

गृहस्थाश्रम के धर्म मुख्यतः सामाजिक और सांस्कृतिक हैं। सामाजिक-धर्म मनुष्य के वे धर्म हैं, जो दूसरों के प्रति उसके कर्त्तव्य रूप में बताये गये हैं। जिनके प्रति गृहस्थ के कुछ कर्त्तव्य हैं, उनमें संसार के सभी जीव सम्मिलित हैं। निकट के जनों के प्रति उसका कर्त्तव्य अधिक हो सकता है, किन्तु गृहस्थ के उदार सत्कार का द्वार सबके लिए खुला रहता है। एक ओर गृहस्थाश्रम एक सीमित रूप में प्रकृति का उपभोग और परितोष है। किन्तु

४—आचार्य योनिमिह ये प्रविश्य
भूत्वा गर्भं ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति
प्रहाय देहं परमं यान्ति योगम्॥

उद्योगपर्व—अध्याय ४४, श्लो० ६

अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ है, होम देवयज्ञ है, जीवों को बलि देना भूतयज्ञ है और अतिथि सत्कार करना मनुष्ययज्ञ हैं। ये पाँचों महायज्ञ अलौकिक और लौकिक दोनों प्रकार की सत्ताओं के प्रति हमारे कर्तव्य के द्योतक हैं।

पहला महायज्ञ देवयज्ञ—

इसका सम्बन्ध देवताओं तथा ईश्वर से है। वैदिक धर्म में देवता उस दिव्य शक्ति के प्रतीक हैं, जो विश्व का संचालन करती है। हमारा जीवन देवताओं की कृपा पर निर्भर है। अतः देवताओं की पूजा उपासना आदि करना प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है।

दूसरा महायज्ञ, ऋषियज्ञ—

यह ऋषियों के प्रति हमारे कर्त्तव्य का सूचक है। वैदिक परम्परा में ऋषि मनुष्य जाति के प्राचीनतम पूर्वज तथा धर्म और संस्कृति के विधायक हैं। उन्होंने ही अपनी दिव्य दृष्टि से तथा अपनी त्यागमयी साधना के द्वारा धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन की सुन्दर परम्परा का निर्माण हमारे लिए किया है। इसलिए वे हमारे वन्दनीय हैं। देवताओं की सत्ता सनातन है, इसलिए हम सदा उनकी उपासना कर सकते हैं। किन्तु अतीत के ऋषियों का तो केवल हमें स्मरण है। स्मरण भी कृतज्ञता का सूचक है। किन्तु स्मरण ही पर्याप्त नहीं। ऋषियों के द्वारा दिये गये ज्ञान, धर्म, संस्कृति आदि की परम्परा को पोषित करना उनके प्रति हमारे कर्तव्य का अधिक सक्रिय मार्ग है। विद्या, धर्म और संस्कृति के प्रचार में योग देना ऋषि यज्ञ का व्यावहारिक रूप है। धर्म और संस्कृति की परम्परा इसी के द्वारा सुरक्षित रह सकती है।

तीसरा महायज्ञ, पितृयज्ञ—

चौथा महायज्ञ, नृयज्ञ—

नृयज्ञ मानव के प्रति गृहस्थ के सामान्य कर्तव्य का सूचक है। मनुष्यता के नाते मनुष्य के प्रति भी हमारा कुछ कर्त्तव्य है। धर्मशास्त्रों में मनुष्य को सबसे श्रेष्ठ माना है। धर्मशास्त्र का आदेश है कि मनुष्य का निरादर नहीं करना चाहिए। मनुष्य का सत्कार करना गृहस्थ का परम कर्त्तव्य है। अग्नि पुत्र सुदर्शन ने गृहस्थ को अतिथि-सत्कार करना चाहिए, इस विषय में अपनी स्त्री से इस प्रकार कहा कि "जिस गृहस्थ के घर पर आया हुआ अतिथि पूजित होकर जाता है, उसके लिए उससे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है—ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं।"[७] गृहस्थ जीवन के पर्व और संस्कारों में भी उक्त तीन यज्ञों की भाँति नृयज्ञ का भी बहुत कुछ समावेश है। अनेक आचारों के रूप में सम्बन्धीजनों का तथा सेवकों आदि का सत्कार किया जाता है। नृयज्ञ आश्रम व्यवस्था की व्यापक मानवीय भावना का सूचक है।

पाँचवाँ महायज्ञ, भूतयज्ञ—

मनुष्य को भी भूत कहते हैं, किन्तु नृयज्ञ में विशेष रूप से मनुष्य का ग्रहण होने के कारण भूत का अभिप्राय शेष जीवों से है। इसमें पशु, पक्षी, कीट आदि जीव सम्मिलित हैं। इनका पालन-पोषण गृहस्थ का कर्तव्य तथा धर्म है। गो-पालन, जीवों को भोजन देना, उन पर दया करना, वृक्षों को जल देना ये सब भूतयज्ञ के अंग हैं। भूतयज्ञ आश्रम-व्यवस्था की महती करुणा का सूचक है।

गृहस्थाश्रम में पुत्र का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। बिना पुत्र के गृहस्थ जीवन सूना है। पुत्र बिना गृहस्थ की मुक्ति भी नहीं होती है। पुत्र की महिमा बताते हुए जरत्कारु से उसके पितरों ने इस प्रकार कहा कि "तात! पुत्र वाले मनुष्य इस लोक में जिस उत्तम गति को प्राप्त होते हैं, उसे अन्य लोग धर्मानुकूल फल देने वाले भलीभांति संचित किए हुए तप से भी नहीं

७—अतिथिः पूजितो यस्य गृहस्थस्य तु गच्छति।
नान्यस्तस्मात् परो धर्म इति प्राहुर्मनीषिणः॥
अनुशासन पर्व—अध्याय २, श्लोक ७०

पाते ।"[८] पुत्र अपने माता-पिता का विधि पूर्वक श्राद्ध, तर्पण आदि कर्म करके उनकी आत्मा को शान्ति ही नहीं देता, वरन् उनको पितर योनि से मुक्ति भी करता है। इस प्रकार पुत्र अपने पूर्वजों को स्वर्ग तक पहुँचाने वाली सीढ़ी है। गृहस्थाश्रम में रहने वाला गृहस्थ यदि व्रतपरायण, धर्मशील, गुरुसेवक तथा अतिथि को निराश न लौटाने वाला, पुत्रवान हो तो उसको उत्तम लोक तथा उत्तम गति प्राप्त होती है।

४—वानप्रस्थ-धर्म—

वानप्रस्थ-आश्रम का उद्देश्य गृहस्थ जीवन के कर्तव्यों को पूर्ण करके जीवन को एक नया रूप और नयी प्रेरणा देना है। लौकिक और प्राकृतिक जीवन की अपनी सीमायें हैं। अतः यह स्पष्ट है कि ढ़लती उम्र में जीवन के नवीन विकासों की दिशा आध्यात्मिक ही हो सकती है। वानप्रस्थ जीवन की इसी नई दिशा का निर्माण है। आश्रम-व्यवस्था में जहाँ एक ओर मनुष्य की सभी आकांक्षाओं को उचित स्थान दिया गया है, वहाँ दूसरी ओर जीवन के नये-नये रूपों की सम्भावना को पूर्ण महत्व प्रदान किया गया है। चार आश्रमों में उचित समय पर क्रमशः जीवन का रूप पूर्णतः बदलता रहता है और इस परिवर्तन में जीवन का सौन्दर्य निरन्तर नये रूपों में खिलता है। सक्रियता के साथ-साथ जीवन की इस व्यवस्था में सौन्दर्य का पूर्ण सन्निधान है। आयु के अनुसार ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रमों में मनुष्य की बहुत कुछ आकांक्षायें पूर्ण हो जाती हैं। गृहस्थाश्रम की कृतकृत्यता के आगे जीवन के नये रूपों की खोज वानप्रस्थाश्रम में प्रकट हुई है।

है। साथ ही समाज के लिए इन व्यक्तियों के ज्ञान और गुणों से लाभ उठाने का भी अवसर है। साहित्य और संस्कृति की परम्परा के पोषण का वानप्रस्थ एक महान मार्ग है। वानप्रस्थ में विद्यार्थियों की शिक्षा, साहित्य का निर्माण और संस्कृति का पोषण होता था। वानप्रस्थ मनुष्य को परिवार की संकुचित सीमाओं और स्वार्थों से ऊपर उठकर एक विस्तृत सामाजिक क्षेत्र में साधना और सेवा द्वारा जीवन की पूर्णता का लाभ उठाने का अवसर है। वानप्रस्थ का मूल भाव गृहस्थ जीवन के उपयोग और परितृप्ति के बाद त्यागपूर्वक प्रेम और सेवा को अधिक व्यापक और लोकोपयोगी बनाना है। व्यावहारिक दृष्टि से वृद्धों का लोकाधिकार प्रायः युवकों की स्वतन्त्रता, अधिकार-भावना और उनके आनन्द में बाधक होता है। इसलिए वानप्रस्थ अथवा वनप्रवास वृद्ध राजाओं और नागरिकों का राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र को स्वस्थ और आनन्दमय रखने में सहायक होता था। इस सन्तुलित जीवन विधि में मानवीय जीवन और संस्कृति की पूर्णता थी।

वानप्रस्थ का जीवन ब्रह्मचर्य के समान ही सरल, सात्विक और साधनामय होता था। एक प्रकार से ये दोनों आश्रम एक दूसरे के पूरक हैं। वानप्रस्थ गुरुओं के आश्रम में ही ब्रह्मचारी विद्या-अध्ययन करते थे। विद्या का प्रसार अथवा दान वानप्रस्थ का मुख्य कर्तव्य था। वानप्रस्थ के योग से ही प्राचीनकाल में भारतवर्ष में विद्या की इतनी समृद्धि हुई थी। इसकी संसार के किसी भी प्राचीन देश में तुलना नहीं मिलती। विद्या-दान और आध्यात्मिक साधना ही वानप्रस्थ के मुख्य धर्म थे। वानप्रस्थ को घर छोड़कर वन में आश्रम बनाकर रहना पड़ता था। यदि उसकी स्त्री चाहे तो वह उसे भी साथ रख सकता था, यदि स्त्री न चाहे तो वह उसको अपने पुत्रों को सौंप कर अकेला ही वन में रहे। वानप्रस्थ के धर्म बताते हुए महेश्वर ने उमा से कहा कि "वानप्रस्थ को सदा वन में ही रहना, वन में ही विचरना, वन में ही ठहरना, वन के ही मार्ग पर चलना और गुरु की भांति वन की ही शरण लेकर वन में ही जीवन-निर्वाह करना चाहिए। प्रतिदिन अग्निहोत्र और पंचमहायज्ञों का सेवन वानप्रस्थों का धर्म है।"[९] वानप्रस्थी को वन में

९—वननित्यैर्वनचरैर्वनस्थैर्वनगोचरैः।
वनं गुरुमिवासाद्य वस्तव्यं वनजीविभिः॥
तेषां होमक्रियाधर्मः पंचयज्ञनिषेवणम्।
भागं च पंचयज्ञस्य वेदोक्तस्यानुपालनम्॥
अनुशासनपर्व-अध्याय १४२, श्लोक १३-१४

उत्पन्न वस्तु को ही खाना चाहिए। बिना जोती भूमि में उगे अन्न का सेवन करना चाहिए। वन को ही अपना गुरु मानकर उसी में विचरते रहना चाहिए और शान्त चित्त से अपने नित्य कर्मों को करना चाहिए। गृहस्थ की भाँति वानप्रस्थी को भी पंचमहायज्ञ करने चाहिए। अतिथि आ जाये तो उसको बैठने को आसन दे, जल दे तथा जो कुछ वन्य पदार्थ पास हो, उसी को आदर पूर्वक भोजन के लिए दे। दाड़ी, मूँछ, सिर के बाल, नख आदि धारण करे, इन्द्रियों को वश में रक्खे, सत्य-धर्म का पालन करे, वेदों का स्वाध्याय करे तथा समय पर अग्निहोत्र करे, वानप्रस्थी सदा व्रत और उपवास में तत्पर रहे, दूसरों पर क्षमा का भाव रखे, पृथिवी पर सोये, धर्म का चिन्तन करता रहे। वानप्रस्थी के धर्म बताते हुए महेश्वर ने उमा से कहा कि "सदा वीरासन से बैठे, वेदी या चबूतरे पर सोये, सर्दी के मौसम में रात को जल में बैठे या खड़ा रहे, बरसात में खुले मैदान में सोये, ग्रीष्म में पंचाग्नि का सेवन करे।"[१०] शीतऋतु में रात्रि में जल में बैठना एक कठोर तप है, वर्षा में खुले मैदान में सोना वर्षाजल से भीगना है तथा गर्मी में चारों ओर अग्नि जलाकर तथा ऊपर से सूर्य की गर्मी में बैठे या खड़े रहना वानप्रस्थ की घोर तपस्या का द्योतक है। वानप्रस्थ मुनि का जीवन इतना कठोर व्रतों से पूर्ण होता है कि अन्य सब धर्म उसी में पूर्ण हो जाते हैं।

वानप्रस्थी का जीवन कठोर तपस्याओं से पूर्ण होता है। इसलिए उसका शरीर तपस्या के कारण मांस, हड्डी तथा रक्त से हीन हो जाता है। जिसका शरीर कृश और दुर्बल हो गया है, वह वानप्रस्थी मुनि इस लोक को जीतकर परलोक पर भी विजय प्राप्त करता है। जिस वानप्रस्थी मुनि का मन सदा शान्त और एकाग्र रहता है, वह सदा धर्म के ही आचरण में लगा रहता है तथा सब इन्द्रियों को वश में रखता है, वही मुनि मोक्ष का अधिकारी होता है। अपनी तपस्या से तथा धर्मपूर्ण आचरण से वनवासी मुनि अपनी तो मोक्ष करते ही हैं, साथ में अपने पूर्वजों का भी उद्धार करते हैं। इस विषय में

१०— वीरासनरतैर्नित्यं स्थण्डिले शयनं तथा।
शीततोयाग्नियोगश्च चर्तव्यो धर्मबुद्धिभिः॥
अनुशासनपर्व अध्याय १४२, श्लोक १०

अष्टक को बताते हुए ययाति ने कहा कि "जो वनवासी मुनि वन में ही अपने पंचभूतात्मक शरीर का त्याग करता है, वह दस पीढ़ी पूर्व के और दस पीढ़ी बाद के जाति भाइयों को तथा इक्कीसवें अपने को भी पुण्य लोकों में पहुँचा देता है।"[११] वानप्रस्थ जीवन मुक्ति की शेष बाधाओं को तथा जीवन के शेष कर्तव्यों को समाप्त करके संन्यास की स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त करता है। वानप्रस्थ का जीवन गृहस्थ और संन्यास का दिव्य सेतु है।

५–संन्यास-धर्म–

वानप्रस्थ के बाद चौथा अन्तिम आश्रम संन्यास है। संन्यास का अर्थ सामान्य रूप से त्याग है। वानप्रस्थाश्रम तक जीवन के सम्पूर्ण कर्तव्य पूरे हो जाते हैं और संन्यासी कर्म से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। आश्रम-धर्म शास्त्रों द्वारा विहित जीवन के विभाजन पर्व हैं। अतः प्रत्येक आश्रम के लिए शास्त्रों में कर्तव्यों का भी विधान किया गया है। संन्यास जीवन का मुक्ति पर्व है। सामाजिक और नागरिक कर्त्तव्य गृहस्थाश्रम में पूर्ण हो जाते हैं, किन्तु कुछ विद्या और अध्ययन सम्बन्धी कर्त्तव्य वानप्रस्थ में शेष रह जाते हैं, इन्हीं कर्तव्यों के पालन के लिए वानप्रस्थी एक स्थान पर कुटी बनाकर रहता है। संन्यास में कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता, इसी कारण संन्यासी को एक स्थान पर निवास करना आवश्यक नहीं है। धर्मशास्त्रों में संन्यासी को एक स्थान पर रहना निषिद्ध है। तीन दिन से अधिक वह एक स्थान पर नहीं रह सकता। वह निरन्तर घूमता रहता है। इसी कारण संन्यासी को परिव्राजक कहते हैं। संन्यासी को अनिकेत कहते हैं। क्योंकि उसका कोई निवास स्थान नहीं होता। संसार में घूमता हुआ संन्यासी कहीं भी सूर्यास्त होने पर वृक्ष के नीचे, नदी के किनारे तथा पर्वत की गुफा में सो जाता है।

११—दशैव पूर्वान् दश चापरांश्च
ज्ञातीनथात्मानमर्थैकविंशम्।
अरण्यवासी सुकृते दधाति
विमुच्यारण्ये स्वशरीरधातून्॥
आदिपर्व-अध्याय ९१, श्लोक ७

तीनों आश्रमों में कर्तव्यानुकूल कुछ चिन्ह होते है, जिनमें शिखा और सूत्र मुख्य हैं। धार्मिक कृत्यों में इनका उपयोग होता है। संन्यासी का कोई कर्तव्य नहीं होता, इसलिए वह इन सभी चिन्हों को त्याग देता है। संन्यासी मुंडित रहता है और यज्ञोपवीत भी त्याग देता है। यज्ञोपवीत तीन ऋणों का सूचक होता है, जिनसे मुक्त होने पर ही संन्यास सम्भव होता है। वे तीन ऋण देव-ऋण, पितृ-ऋण तथा ऋषि-ऋण होते हैं। यज्ञोपवीत जब तक मनुष्य धारण किये रहता है, तब तक ही उसे इन ऋणों को चुकाना पड़ता है। यज्ञोपवीत के त्याग के बाद संन्यासी इन सभी ऋणों से मुक्त हो जाता है। संन्यासी के पास केवल एक दण्ड और एक कमण्डल रहता है। कमण्डल केवल जल का पात्र है, जो उष्ण देश में जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक है। दण्ड को प्रायः संन्यासी का चिन्ह माना जाता है, इसीलिए कुछ संन्यासी दण्डी संन्यासी कहलाते है।

संन्यासी का जीवन पूर्ण स्वच्छन्द होता है। उसे जंगल में ही अधिक रहना चाहिए, गाँव में केवल भिक्षा के लिए एक बार जाना चाहिए। स्वच्छन्द होते हुए भी संन्यासी के लिए कुछ नियम हैं, जिनका पालन करना उसके लिए आवश्यक है। संन्यासी के लिए नियम बताते हुए ययाति ने अष्टक से कहा कि "संन्यासी शिल्पकला से जीवन-निर्वाह न करे। शम, दम आदि श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न हो। सदा अपनी इन्द्रियों को वश में रखे। गृहस्थ के घर न सोये। परिग्रह का भार न ले, स्वतन्त्र रहे।"[१२] संन्यासी किसी से द्वेष न करे, उपदेशक न बने, संग्रहरहित रहे। कुए से तुरन्त निकाला हुआ जल ही संन्यासी के लिए श्रेष्ठ है। किसी बीती हुई घटना का स्मरण न करे और न भविष्य की चिन्ता करे। केवल काल की प्रतीक्षा करता हुआ चित्तवृत्तियों का समाधान करता रहे। नेत्र से, वाणी से और मन से कहीं भी दोषदृष्टि न करे। किसी की बुराई न करे। संन्यासी सदा त्याग वृत्ति से तथा सन्तोष से रहे। सन्तोप

१२—अशिल्पजीवी गुणवांश्चैव नित्यं
जितेन्द्रियः सर्वतो विप्रयुक्तः।
अनोकशायी लघुरल्पप्रचार—
श्चरन् देशानेकचरः स भिक्षु॥
आदिपर्व—अध्याय ९१, श्लोक ५

ही संन्यासी के सुख का मूल है। संन्यासी के आठ व्रत बताते हुए ब्रह्माजी ने महर्षियों से कहा कि "अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, सरलता, क्रोध का अभाव, दोष दृष्टि का त्याग, इन्द्रिय संयम और चुगली न खाना—इन आठ व्रतों का सदा सावधानी से पालन करे।"[13] ब्राह्मणों के सम्मान का सदा ध्यान रखे। निन्दात्मक शब्द सुनकर भी उत्तर न दे, सदा मौन रहे। मौन रहना संन्यासी के लिए संसार से पार होने का मार्ग है। पापों से मुक्त होकर सर्वदा शत्रुहीन हो जाय। किसी से भय न रहे। संन्यासी न जीवन का अभिनन्दन करे और न मृत्यु का भय करे।

संन्यासी को भोजन की ओर से भी त्यागमयी भावना रखनी चाहिए। दोपहर के समय गाँव या नगर में जाकर भिक्षा ग्रहण करे। जो कुछ मिल जाये, उसी से जीवन-निर्वाह करे। स्वाद की वस्तुओं की इच्छा न करे। कोई सम्मानपूर्वक भोजन कराये तो वहाँ भोजन न करे। मान-प्रतिष्ठा से उसे घृणा करनी चाहिए। भोजन मिलने पर हर्ष न होना चाहिए और न मिलने पर दुःख न होना चाहिए। मनमाना भोजन कभी न करना चाहिए। किसी से परिचय न बढ़ाना चाहिए। किसी पर दया करके उसे दान न देना चाहिए। सब बन्धनों से मुक्त रहना चाहिए। ग्रीष्मकाल में गाँव में एक रात से अधिक न ठहरना चाहिए। वर्षाकाल में किसी एक स्थान पर ही चार मास तक ठहरना चाहिए। उसे अपना धर्म का प्रदर्शन न करना चाहिए। चार प्रकार के संन्यासियों में परमहंस सबसे श्रेष्ठ होते हैं। इसलिए अपने त्याग से परमहंस संन्यासी की भांति धर्म-अधर्म, पवित्र-अपवित्र से परे, आत्मनिष्ठ रहना चाहिए। आत्मस्वरूप से सबको समान मानने वाला होना चाहिए। चारों वर्णों से भिक्षा लेनी चाहिए। आत्म-विभूति और ब्रह्मसाधना में संन्यासी का स्वतन्त्र और गतिशील जीवन व्यतीत होता है। परिव्रजन संन्यासी का बाह्य

१३—अहिंसा ब्रह्मचर्यं च सत्यमार्जवमेव च ॥
अक्रोधश्चानसूयाच दमो नित्यमपैशुनम्।
अष्टस्वेतेषु युक्तः स्याद् व्रतेषु नियतेन्द्रियः ॥

आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ४६, श्लोक २६-३०

लक्षण है। कृतकृत्य और मुक्त होकर संन्यासी अभय और अमृत हो जाता हैं। कृतकृत्यता और स्वतन्त्रता के द्वारा मृत्युंजय अवस्था को प्राप्त होकर संन्यासी मोक्ष को प्राप्त करता है। जो संन्यासी श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा समय व्यतीत करता है। और आहार की भी चिन्ता छोड़ देता है। केवल वायु भक्षण से या जल से जीवन यापन करता है, वह ब्रह्म की साधना में लीन हो जाता है। वही संन्यासी देह के बन्धन से मुक्त होकर ब्रह्म में विलीन हो जाता है और सर्वदा के लिए अजर-अमर हो जाता है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य के अनुशासन से आरम्भ होकर मुक्ति और आनन्द में जीवन का पर्यवसान होता है। गृहस्थ के कर्तव्य और वानप्रस्थ के धर्म इस विकास क्रम की आवश्यक कड़ियाँ हैं। निर्माण और संचय, उपभोग और उपयोग, त्याग और सेवा तथा मुक्ति और आनन्द से युक्त यह चतुर्विध जीवन व्यवस्था एक अत्यन्त सन्तुलित और संस्कृत दृष्टिकोण का प्रमाण है। जीवन की यह भारतीय व्यवस्था ही समाज के कल्याण का उत्तम मार्ग है।

अध्याय—१४

महाभारत में ब्रह्मचर्य-आश्रम

१—ब्रह्मचारी की परिभाषा--

ब्रह्मचर्य-आश्रम चारों आश्रमों में प्रथम आश्रम है। जीवन की नींव ब्रह्मचर्य से ही मजबूत बनती है। इसी नींव पर जीवन का भवन आधारित है। उपनयन से लेकर समावर्त्तन तक इसकी अवधि है। सामान्यतः ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने का समय १० वर्ष से लेकर २५ वर्ष तक का माना जाता था। यह जीवन का निर्माण काल है। स्वास्थ्य और चरित्र का गठन तथा विद्या का उपार्जन इसके मुख्य धर्म हैं। इन्हीं पर जीवन की सफलता और उसका आनन्द निर्भर है। प्राचीन परम्परा में ब्रह्मचारी गुरुकुल में रहकर गुरुसेवा पूर्वक विद्याध्ययन और सदाचार का पालन करते थे। ब्रह्मचर्य की यह प्राचीन विधि युग की परिस्थिति के अनुरूप थी। उस प्राचीन विधि में ब्रह्मचर्य के अभीष्ट धर्मों का पालन सुविधा से हो सकता था। आज युग के अनुरूप दूसरी विधि बनाई जा सकती है। किन्तु ब्रह्मचर्य के मूलतत्त्व जीवन के सनातन सत्य हैं और सर्वकाल में अनुशीलन के योग्य हैं।

स्वास्थ्य, सुख और जीवन की सफलता की दृष्टि से संयम और ब्रह्मचर्य आवश्यक है। ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध शरीर के उन रसों से है, जो देह के विकास और उसके गठन में काम आते हैं। वे रस जीवन के तेज, कान्ति और बल हैं। उन्हीं से संयमी पुरुष का मुख कान्ति से दीप्त होता है। कैशोर काल में जब शरीर का विकास और गठन होता है, तब तक ब्रह्मचर्य का पालन स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हितकारी है और स्वास्थ्य के द्वारा सभी क्षेत्रों में सहायक है। चरित्र का लक्षण भी संयम है। चरित्र मनुष्य का नैतिक बल है, जो जीवन की सफलता में योग देता है। ब्रह्मचर्य से मानसिक शक्ति भी बढ़ती है, उसी से विद्या सफल और उत्तरोत्तर बढ़ती है। वर्तमान सभ्यता

विलासपूर्ण होने के कारण समाज के सर्वनाश का कारण बन रही है। उसके बाहरी आडम्बर तथा शान-शौकत में कितनी ही भव्यता हो, किन्तु उसका आन्तरिक रूप स्वस्थ और आनन्दप्रद नहीं है।

जो मनुष्य व्रत, नियम आदि में बँधकर रहता है, वही ब्रह्मचारी माना जाता है। ब्रह्मचारी की परिभाषा बताते हुए एक ब्राह्मण ने अपनी पत्नी से इस प्रकार कहा कि "इन्द्रिय संयम में प्रवृत्त रहने वाला पुरुष सदा ही ब्रह्मचारी है। जो व्रत और कर्मों का त्याग करके केवल ब्रह्म में स्थित है, वह ब्रह्मस्वरूप होकर संसार में विचरता रहता है, वही मुख्य ब्रह्मचारी है।"[1] जो मनुष्य बचपन से ही ब्रह्मचर्य पालन करता रहता है और विद्याध्ययन द्वारा उसे अधिक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। तो फिर उसे ज्ञान में इतना आनन्द आने लगता है कि वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश किये बिना आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत का संकल्प कर लेता है और इस पृथ्वी पर ब्रह्मस्वरूप होकर विचरता फिरता है। उसे किसी से राग, द्वेष, मोह आदि नहीं होता, यहाँ तक कि उसे अपने शरीर से भी मोह नहीं रहता। ब्रह्म में लीन ब्रह्मचारी के विषय में बताते हुए ब्राह्मण ने अपनी पत्नी से इस प्रकार कहा कि "ब्रह्म ही उसकी समिधा है, ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्म से ही वह उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म ही उसका जल और ब्रह्म ही गुरु है। उसकी चित्तवृत्तियाँ सदा ब्रह्म में ही लीन रहती हैं। विद्वानों ने इसी को सूक्ष्म ब्रह्मचर्य बतलाया है।[2] जिस ब्रह्मचारी की चित्तवृत्तियाँ

१—ब्रह्मचारी सदैवैष य इन्द्रियजये रतः।
अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः।
ब्रह्मभूतश्चरंल्लोके ब्रह्मचारी भवत्ययम्॥
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय २६, श्लोक १५-१६

२—ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्मसम्भवः।
आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः॥
एतदेवेदृशं सूक्ष्मं ब्रह्मचर्यं विदुर्बुधाः।
आश्वमेधिकपर्व—अध्याय २६, श्लोक १७-१८

पूर्णरूप से ब्रह्म में लीन हो जाती हैं, वह सब कर्मों को त्याग देता है। इसलिए समिधा लाना, यज्ञ करना जल लाना, गुरु की सेवा करना आदि कार्यों को न करके केवल ब्रह्म को ही जानता है। उसके सम्पूर्ण कार्य ब्रह्ममय ही हो जाते हैं। विद्वान् लोग इसी को सच्चा ब्रह्मचारी तथा सूक्ष्म ब्रह्मचारी मानते हैं। ऐसे ब्रह्म में लीन ब्रह्मचारी संसार में विरले ही होते हैं। ब्रह्म का ज्ञान बड़ा सूक्ष्म हैं। संसार में जन्म लेकर मनुष्य संसार के भोगों और सुखों में फँस जाता है। यह भी सांसारिक प्राणी के लिए उचित हैं। अध्ययन काल में ही ब्रह्मचर्य का पालन उचित है, जिससे मानसिक और शारीरिक शक्ति का विकास स्वस्थ हो सके और मनुष्य जीवन सुखी बन सके।

२—ब्रह्मचारी के लक्षण—

प्राचीनकाल में ब्रह्मचारी की वेषभूषा साधारण जनों से भिन्न होती थी। उस वेषभूषा से वे सबको ब्रह्मचारी प्रतीत होते थे और सब गृहस्थ उनका आदर करते थे तथा भिक्षा देते थे। ब्रह्मचारी के लक्षण बताते हुए ब्रह्माजी ने महर्षिगण से इस प्रकार कहा कि "ब्रह्मचारी मूँज की मेखला पहने जटाधारण करे, प्रति दिन स्नान करे, यज्ञोपवीत पहने, वेद के स्वाध्याय में लगा रहे तथा लोभहीन होकर नियमपूर्वक व्रत का पालन करे।"[३] प्राचीन काल में ब्रह्मचारी जटा रखते थे, यज्ञोपवीत पहनते थे, प्रतिदिन स्नान करते थे स्नान से चित्त प्रसन्न एवं स्वस्थ हो जाता है। स्नान भी प्रातःकाल ही कर लेते थे। आजकल के विद्यार्थियों की भाँति दस बजे नहीं नहाते थे और न सर्दी के कारण गर्म पानी से स्नान करते थे। पूरे वर्ष सदैव शीतल जल से स्नान करते थे। नित्य नियम से स्नान करने के कारण उनका स्वास्थ्य ठीक रहता था और जुकाम आदि बीमारियाँ उन्हें नहीं सताती थीं। उनकी स्मरण शक्ति बड़ी तीव्र होती थी, जिससे वे अनेक शास्त्रों को सहज ही स्मरण कर लिया करते थे। ब्रह्मचारी के लक्षण बताते हुए ब्रह्माजी ने महर्षियों से इस

३—मेखला च भवेन्मौञ्जी जटी नित्योदकस्तथा।
यज्ञोपवीती स्वाध्यायी अलुब्धो नियतव्रतः॥
आश्वमेधिकपर्व-अध्याय ४६, श्लोक ६

प्रकार कहा कि "पवित्र और एकाग्रचित्त होकर दोनों समय अग्नि में हवन करे। सदा बेल या पलास का दण्ड हाथ में रहे।"[४] रेशमी अथवा सूती वस्त्र या मृगचर्म धारण करे अथवा ब्राह्मण के लिए सारा वस्त्र गेरुऐ रंग का होना चाहिए।"[५] "जो ब्रह्मचारी सदा नियम परायण होकर श्रद्धा के साथ शुद्ध जल से नित्य देवताओं का तर्पण करता है, उसकी सर्वत्र प्रशंसा होती है।"[६] ब्रह्मचारी के लिए बेल का दण्ड इसलिए आवश्यक है कि वह प्राचीन काल में जंगलों में रहता था। रास्ते में नदी, काँटे तथा कीड़े आदि मिलने पर उसकी सहायता लाठी ही करती थी। लाठी से फूल-फल भी डाली झुकाकर आसानी से तोड़े जाते थे। इसलिए ब्रह्मचारी के लिए लाठी रखना बड़ा आवश्यक था। वन में लाठी अस्त्र का काम करती है। रेशमी वस्त्र या गेरुए रंग के वस्त्र ब्रह्मचारी की पहचान के लिए होते थे। शास्त्रों में तीनों द्विजों के लिए अलग-अलग वेष का विधान है, जिससे सब अलग पहचाने जा सकें। ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिए गेरुए वस्त्रों का ही वर्णन है। गेरुए रंग के वस्त्रों से मनुष्य में त्याग और सरलता स्पष्ट प्रतीत होती है। इस त्याग और सरलता से ही ब्राह्मणों का जीवन पवित्र और ऊँचा बनता था। इसी के द्वारा वे अपने जीवन में नये-नये शास्त्रों की रचना करते थे और देश की उन्नति में सहायता पहुँचाते थे। आज भी हमारा देश अन्य देशों के समक्ष ज्ञान में इसीलिए प्रसिद्ध है कि यहाँ का प्राचीन साहित्य इतना विशाल और ज्ञानवर्द्धक है कि

४—द्विकालमग्निं जुह्वानः शुचिर्भूत्वा समाहितः।
धारयीत सदा दण्डं वैल्वं पालाशमेव वा॥
आश्वमेधिकपर्व—अध्याय ४६, श्लोक ४

५—क्षौमं कार्पासिकं चापि मृगाजिनमथापि वा।
सर्वं काषायरक्तं वा वासो वापि द्विजस्यह॥
आश्वमेधिकपर्व—अध्याय ४६, श्लोक ५

६—पूताभिश्च तथैवाद्भिः सदा दैवततर्पणम्।
भावेन नियतः कुर्वन् ब्रह्मचारी प्रशस्यते॥
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ४६, श्लोक ७

अन्य कोई भी देश इससे तुलना नहीं कर सकता, यह सब प्राचीन ब्राह्मणों का ही प्रताप है। उन्हीं को त्याग, तपस्या का फल हम लोगों को प्रसन्नता दे रहा है। प्राचीन काल में सब लोग सूत की मेखला पहनते थे, किन्तु ब्रह्मचारी को मूँज की मेखला पहननी पड़ती थी। क्योंकि सूत की मेखला कोमल और सुखदायी होती है, इसलिए कठोर व्रत के पालन करने वाले ब्रह्मचारी की मेखला भी कठोर मूँज की होती थी, जो हर समय ब्रह्मचारियों के काँटे के समान चुभती होगी। विद्या का उपार्जन एक कठिन तपस्या से होता था। इसलिए विद्या की उन्नति के लिए मूँज की मेखला उस प्राचीन काल में आवश्यक थी। जटा धारण करने का प्रयोजन भी यही था कि ब्रह्मचारी अपने सौन्दर्य से दूर रहे। प्रायः युवकों को अपने रूप का अहंकार हो जाता है। जटा के धारण करने का केवल यही रहस्य था कि ब्रह्मचारी सब प्रकार के अहंकार से दूर रह कर केवल विद्या-अध्ययन में ही अपना चित्त एकाग्र करे। एकाग्र चित्त से ब्रह्मचारी को दोनों समय सुबह और शाम अग्नि में हवन करने से उसका मन पवित्र एवं प्रसन्न होगा जिससे वह विद्याध्ययन में परिश्रम कर सकेगा। ब्रह्मचारी को दण्ड रखना इसलिए भी आवश्यक था कि वह सुबह चार बजे अँधेरे में उठता था। उस समय बिजली का प्रकाश नहीं था, इसलिए साँप आदि कीड़ों को लाठी खटखटाकर ही रास्ते में से हटाया जा सकता था। सब प्रकार के कीड़े आवाज से दूर हट जाते हैं। प्राचीन काल में वैश्य तथा क्षत्रिय ब्रह्मचारी के वस्त्र रेशमी, सूती या मृगचर्म के होते थे। क्योंकि क्षत्रिय पुत्र तथा वैश्य धनवान होते थे इसलिए उनके वस्त्र रेशमी, सूती होते थे किन्तु ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिए गेरुए रंग के वस्त्रों का ही वर्णन है। इसका कारण उनकी गरीबी तो था ही साथ ही यह भी कारण था कि उसे जीवन भर विद्या से ही अपना जीवन निर्वाह करना होता था। प्राचीन काल में ब्राह्मण का जीवन विद्या पढ़ाने में, यज्ञ कराने में तथा बड़े-बड़े ग्रन्थों की रचना करने में बीतता था। इस कारण उसके वस्त्रों का रंग गेरुआ होता था जिससे उसे वस्त्रों का मोह न हो और वह विद्या-अध्ययन में अन्य ब्रह्मचारियों से भी अधिक एकाग्रचित्त होकर विद्या का ज्ञान प्राप्त करे। ब्रह्मचारी सदा नियमपरायण होता है। यदि अपने नियमों के पालन के साथ-साथ वह देवताओं का शुद्ध जल से तर्पण भी करता रहे, तो उसकी बड़ी प्रशंसा होती है। प्रायः ब्रह्मचारी अपने नित्य के कार्यों में इतना व्यस्त रहता था कि उसे अन्य कार्य करने के लिए अवकाश ही नहीं मिलता था। इसलिए

इतने व्यस्त समय में से यदि वह देवताओं का तर्पण कर लेता था, तो उसकी बड़ी प्रशंसा होती थी।

३—ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य—

चारों आश्रमवासियों के लिए अपने-अपने आश्रम के अनुसार पृथक-पृथक कर्त्तव्य होते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने वाले ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य अन्य तीनों आश्रम वालों से बिल्कुल भिन्न हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने वाले ब्रह्मचारी का मुख्य उद्देश्य गुरु की सेवा करके उनसे विद्या का ज्ञान प्राप्त करना होता है और संयम तथा नियमों का पालन करके अपनी मानसिक और शारीरिक शक्ति का संचय करना होता है। उमा के पूछने पर ब्रह्मचर्य के कर्त्तव्य बताते हुए महेश्वर ने इस प्रकार कहा कि "धर्म का रहस्य सुनना, वेदोक्त व्रत का पालन करना, होम और गुरुसेवा करना—यह ब्रह्मचर्य-आश्रम का धर्म है। ब्रह्मचारी के लिए भैक्षचर्या परम धर्म है। नित्य यज्ञोपवीत धारण किये रहना, प्रतिदिन वेद का स्वाध्याय करना और ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों के पालन में लगे रहना ब्रह्मचारी का प्रधान धर्म है।"[७] ब्रह्मचारी के लिए गाँवों में से भिक्षा माँगकर लाना चाहिए और उस सारी भिक्षा को गुरु को समर्पित कर देना चाहिए। प्राचीन काल में गुरु लोगों को आजकल की भाँति मासिक आमदनी नहीं होती थी। गुरु ब्राह्मण दूसरों के बच्चों को योग्य बनाने में बड़ा परिश्रम करते थे। उसके बदले में उन्हें भिक्षा का अन्न ही प्राप्त होता था या अमावस्या, पूर्णिमा को सीदा प्राप्त होता था। इसी से सन्तोष करके गुरु उन ब्रह्मचारियों को अपने पुत्रों से भी अधिक प्रेम करके उन्हें योग्य बनाते थे। ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि "ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह अकेला ही वेदमन्त्रों का चिन्तन

---

७ – रहस्यश्रवणं धर्मो वेदव्रतनिषेवणम्।
अग्निकार्यं तथा धर्मो गुरुकार्यप्रसाधनम्॥
भैक्षचर्या परो धर्मो नित्ययज्ञोपवीतिता।
नित्यं स्वाध्यायिता धर्मो ब्रह्मचर्याश्रमस्तथा॥

और अभीष्ट मन्त्रों का जप करते हुए सारे कार्य सम्पन्न करे। शरीर में मैल या कीचड़ लगे रहने पर भी ब्रह्मचारी को आचार्य की परचर्या में उद्यत रहना चाहिए। ब्रह्मचारी नित्य निरन्तर मन और इन्द्रियों को वश में रखते हुए व्रत एवं दीक्षा के पालन में तत्पर रहे। वेदों का स्वाध्याय करते हुए सदैव कर्तव्य कर्मों के पालन में गुरु-गृह में निवास करे।"[८] ब्रह्मचारी को सब कार्यों से बढ़कर गुरु-सेवा ही प्रधान कार्य होता था। अपने माता-पिता को छोड़कर आये हुए ब्रह्मचारी गुरु को ही अपना माता-पिता समझते थे और उनकी सेवा में हर समय लगे रहते थे। वे सारे कार्य गुरु को प्रसन्न रखने के करते थे और प्रातःकाल से उठकर रात्रि तक लगातार अपने नियमों के पालन में ही व्यतीत करते थे। उनका मन बड़ा प्रसन्न एव उदार होता था। वे गुरु को भगवान के समान ऊँचा और बड़ा समझते थे। तभी तो गुरु की इतनी भक्ति और पूजा करते थे। उसी भक्ति का प्रासाद भी उन्हें गुरु देते थे कि अपने पुत्रों से भी अधिक प्रेम करते थे और जितना ज्ञान उन्हें स्वयं होता था, वह सब अपने विद्यार्थियों को सिखा देते थे। वे अपने शिष्यों से कुछ भी छिपाकर नहीं रखते थे। उसी प्रेम से ब्रह्मचारी इतने वर्षों तक कठोर परिश्रम करके अपना जीवन सफल बनाते थे। आश्रम धर्म के विषय में जब अष्टक ने ययाति से ब्रह्मचर्य-आश्रम के विषय में ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य पूछे तब ययाति ने इस प्रकार कहा कि "शिष्य को उचित है कि गुरु के बुलाने पर उसके समीप जाकर पढ़े। गुरु की सेवा में बिना कहे लगा रहे, रात में गुरुजी के सो जाने के बाद सोवे और सवेरे उनसे पहले ही उठ जाय। वह मृदुल (विनम्र), जितेन्द्रिय, धैर्यवान, सावधान और स्वाध्यायशील हो। इस नियम

८—स्मरन्ने को जपन्नेकः सर्वा नेको युधिष्ठिर ।
एकस्मिन्नेव चाचार्ये शुश्रूषुर्मलपङ्कवान् ।।
ब्रह्मचारी व्रती नित्यं नित्यं दीक्षापरो वशी ।
परिचर्या तथा वेदं कृत्यं कुर्वन् वसेत् सदा ।।

शान्तिपर्व—अध्याय ६१, श्लोक १८-१९

से रहने वाला ब्रह्मचारी सिद्धि को पाता है।"[९] ब्रह्मचारी को विनम्र होना चाहिए क्योंकि विद्या का ज्ञान नम्रता से ही प्राप्त हो सकता है। जब तक हम दूसरों के प्रति विनम्र नहीं बनेंगे, तब तक हम विद्या का सार भी नहीं समझ सकेंगे। विद्या भी तो दूसरों के द्वारा लिखे हुए सिद्धान्त हैं। जब तक हम अपने अहंकार में डूबे रहेंगे, तब तक हमारी बुद्धि भी निर्मल नहीं होगी और हम विद्या के सिद्धान्तों को समझने में अपने को असमर्थ पायेंगे। इसलिए विद्यार्थियों का सबसे पहला धर्म विनम्र बनना है। अहंकार से पीड़ित आज का विद्यार्थी इसीलिए ज्ञान को समझने में असमर्थ है और नित्य फेल होता है। प्राचीन काल में विद्यार्थी की विनम्रता ही उसके शास्त्र-ज्ञान में सहायक होती थी। विनम्रता से उसकी बुद्धि स्वच्छ रहती थी और गुरु जो कुछ भी ज्ञान पढ़ाते थे, वह सब सहज ही याद हो जाता था। ब्रह्मचर्य के पालन से उनकी मानसिक शक्ति भी बड़ी शक्तिवान थी, इसलिए उनकी स्मरण शक्ति भी बड़ी तीव्र थी। बड़े-बड़े ग्रन्थ उन्हें स्मरण से ही याद रहते थे। उस समय कापी-कागज, पुस्तकें नहीं थी। सम्पूर्ण पढ़ाई स्मरण से ही होती थी। ब्रह्मचारी के कर्तव्य बताते हुए व्यासजी ने अपने पुत्र शुकदेव से कहा कि "गुरु के घर में एक शिष्य या दास के करने योग्य जो कुछ भी कार्य हो, उसे वह स्वयं पूरा करे। गुरुजी जो भी आज्ञा दें उसके लिए सदैव उद्यत रहे। एक आज्ञाकारी सेवक की भाँति गुरु का सारा कार्य करने के लिए तैयार रहे और सभी कर्मों के सम्पादन में कुशल हो।"[१०] गुरु के रहने

९—आहूताध्यायी गुरुकर्मस्वचोद्यः
पूर्वोत्थायी चरमं चोपशायी
मृदुर्दान्तो धृतिमानप्रमत्तः
स्वाध्यायशीलः सिध्यति ब्रह्मचारी ॥
आदिपर्व—अध्याय ९१, श्लोक २

१०—यच्च शिष्येण कर्त्तव्यं कार्यं दासेन वा पुनः ॥
कृतमित्येव तत्सर्वं कृत्वा तिष्ठेत पार्श्वतः ।
किंकरः सर्वकारी स्यात् सर्वकर्मसु कोविदः ॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४२, श्लोक १७-१८

वाला ब्रह्मचारी अपने को कुछ न माने, तभी उसका कल्याण हो सकता था। गुरु को अपना स्वामी समझ कर उसके यहाँ एक सेवक की भाँति रहे तथा गुरु के घर में जो कुछ भी कार्य हो उसे शीघ्र ही प्रसन्नतापूर्वक करे। आज्ञाकारी सेवक की भाँति सदा गुरु से कार्य करने की आज्ञा प्राप्त करता रहे। ब्रह्मचारी के कर्तव्य बताते हुए व्यासजी ने इस प्रकार कहा कि "अपनी उन्नति चाहने वाले शिष्य को गुरु की सेवा-टहल का सारा कार्य समाप्त करके उनके पास बैठकर अध्ययन करना चाहिए। सबके प्रति उदार रहे, किसी पर कलंक न लगावे। गुरु के बुलाने पर झट उनकी सेवा में उपस्थित हो जाय। कार्य में कुशल हो, गुणवान् बने, बाहर-भीतर से पवित्र रहे। गुरु को प्रिय लगने वाली बात बोले, इन्द्रियों को वश में रखे, शान्त भाव से भक्ति भरी दृष्टि से गुरु की ओर देखे।"[११] गुरु के यहाँ रहते समय विद्यार्थी को किसी के दोषों को न देखना चाहिए, यदि किसी का दोष दिखाई भी दे जाय, तब भी उसके विषय में किसी से भी कुछ न कहना चाहिए, सदैव उदार दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। सब कार्यों में कुशलता प्राप्त करनी चाहिए और गुणों को सीखने में रुचि रखनी चाहिए तथा दोषों को कभी भी ग्रहण न करना चाहिए, वरन् अपने में भी कोई दोष हों तो उन्हें भी धीरे-धीरे छोड़ने का प्रयास करना चाहिए। गुणों को सीखने से और दोषों को छोड़ने से ब्रह्मचारी गुणवान् बनता है। गुरु की ओर विद्यार्थी को सदा शान्त भाव से तथा भक्ति और श्रद्धा भरी दृष्टि से देखना चाहिए, इस दृष्टि से गुरु को भी विद्यार्थी के प्रति प्रेम बढ़ता है, और वह विद्यार्थी को अधिक से अधिक ज्ञान सिखाने का प्रयत्न करता है। प्रेम से बढ़ कर उन्नति करने वाली संसार में कोई दूसरी वस्तु नहीं है। सर्वत्र सब कार्य प्रेम से अच्छे और दृढ़ होते है। ब्रह्मचारी के कर्तव्य बताते हुए व्यास जी ने फिर इस प्रकार कहा कि "आचार्य जब तक भोजन न कर लें तब तक स्वयं भी न करे। वे जलपान न करें तो स्वयं भी न करे। उनके बैठने से पहले स्वयं भी न बैठे तथा उनके

११—कर्मातिशेषेण गुरावध्येतव्यं बुभूषता।
दक्षिणोऽनपवादी स्यादाहूतो गुरुमाश्रयेत्॥
शुचिर्दक्षो गुणोपेतो ब्रूयादिष्टमिवान्तरा।
चक्षुषा गुरुमव्यग्रो निरीक्षेत जितेन्द्रियः॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४२, श्लोक १९-२०

सोने से पहले स्वयं भी न सोये। दोनों हाथ फैलाकर अपने दाहिने हाथ से गुरु का दाहिना चरण और बायें हाथ से उनका बाया चरण धीरे-धीरे छूकर प्रणाम करे।"[१२] ब्रह्मचारी अपने को सेवक मानकर गुरु के घर में रहता था, तभी उसकी भावना ऐसी रहती थी कि वह गुरु से पहले न खाता था, न पीता था, न सोता था और न उनकी किसी भी आज्ञा का उलंघन करता था। अभिवादन तथा चरण छूने का भी एक दूसरा ही नियम था, जिससे प्रतीत होता है कि विद्यार्थी को नियमों का कितना ध्यान रखना पड़ता था। चरण छूने के लिए दाहिने हाथ से दायाँ पैर तथा बायें हाथ से बायाँ पैर छूना चाहिए। इस नियम के पालन करने वाला ब्रह्मचारी बड़ा नियमों का पालक बन जाता था और फिर उसे पुस्तकों तथा शास्त्रों का ज्ञान भी नियमानुसार सहज ही प्राप्त हो जाता था। ब्रह्मचारी के ये जो बाहरी नियम आज सबको व्यर्थ प्रतीत होते हैं, उनमें बड़ा गूढ़ रहस्य छिपा था। जब तक ब्रह्मचारी इन बाहरी नियमों को समझने में अपनी बुद्धि नहीं लगा सकता था, तब तक उसे शास्त्र-ज्ञान भी नहीं हो सकता था। ये बाहरी नियम तो शास्त्र ज्ञान को प्राप्त करने के लिए आरम्भ की कक्षा के ज्ञान के समान बारह खड़ी थे। जिस ब्रह्मचारी की बुद्धि तीव्र और प्रखर होती थी वह उतनी ही शीघ्र गति से इन बाहरी नियमों को ग्रहण कर लेता होगा और फिर उसको शास्त्रीय-ज्ञान सीखने में विलम्ब न लगता होगा। ब्रह्मचर्य-आश्रम के विषय में जब भरद्वाज ऋषि ने भृगुजी से पूछा तो उन्होंने इस प्रकार कहा कि "ब्रह्मचारी को बाहर-भीतर की शुद्धि, वैदिक संस्कार तथा व्रतनियमों का पालन करते हुए अपने मन को वश में रखना चाहिए। दोनों समय संध्योपासन, सूर्योपस्थान और अग्निहोत्र के द्वारा अग्निदेव की आराधना करनी चाहिए।

१२—नाभुक्तवति चाश्नीयादपीतवति नो पिबेत्।
नातिष्ठति तथाऽऽसीत नासुप्ते प्रस्वपेत च॥
उत्तानाभ्यां च पाणिभ्यां पादावस्य मृदु स्पृशेत्।
दक्षिणं दक्षिणेनैव सव्यं सव्येन पीडयेत्॥

शान्तिपर्व—अध्याय २४२, श्लोक २१-२२

तन्द्रा और आलस्य को त्याग कर प्रतिदिन गुरु को प्रणाम करे और वेदों के अभ्यास तथा श्रवण से अपनी अन्तरात्मा को पवित्र करे। सुबह, दोपहर और शाम तीनों समय स्नान करे। भिक्षा में जो कुछ प्राप्त हो वह सब गुरु को अर्पण कर दे। अपनी अन्तरात्मा को भी गुरु के चरणों में निछावर कर दे। गुरु के कृपाप्रसाद से मिले हुए स्वाध्याय में तत्पर रहे।"[13] ब्रह्मचारी को तन्द्रा और आलस्य बिल्कुल नहीं करना चाहिए। आलस्य को त्याग कर ही वह दोनों समय की संध्या तथा अग्निदेव की आराधना कर सकता है। प्रति दिन वेदों का अभ्यास, तीन बार दिन में स्नान स्फूर्तिदायक होता है इसीलिए ब्रह्मचारी को तीन बार स्नान के लिए कहा है। गुरु के लिए गाँव से माँगकर जो कुछ भी भिक्षा लाए वह सब गुरु के चरणों में अर्पित कर दे तथा अपनी अन्तरात्मा अर्थात् अपने मन के सब भावों को गुरु के सम्मुख प्रकट कर दे। गुरु द्वारा बताये हुए स्वाध्याय में लगा रहे। ब्रह्मचारी के कर्तव्य बताते हुए ब्रह्माजी ने महर्षियों से इस प्रकार कहा कि "गुरु की आज्ञा लेकर भोजन करे। भोजन के समय अन्न की निन्दा न करे। भिक्षा के अन्न को हविष्य मानकर ग्रहण करे। एक स्थान पर रहे। एक आसन से बैठे और नियत समय में भ्रमण करे।"[14] ब्रह्मचारी के कर्तव्य बताते हूए व्यासजी ने इस

१३—सम्यग् यत्रं शौचसंस्कारनियमव्रतविनियतात्मा उभे संध्ये भास्कराग्निदैवतान्युपस्थाय विहाय तन्द्रयालस्ये गुरोरभिवादनवेदाभ्यासश्रवणपवित्रीकृतान्तरात्मा त्रिषवणमुपस्पृश्य ब्रह्मचर्याग्निपरिचरणगुरुशुश्रूषानित्यभिक्षाभैक्ष्यादिसर्वनिवेदितान्तरात्मा गुरुवचननिर्देशानुष्ठानोप्रतिकूलो गुरुप्रसादलब्धस्वाध्यायतत्परः स्यात्।

शान्तिपर्व अध्याय १९१, श्लोक ८

१४—गुरुणा समनुज्ञातो भुंजीतान्नमकुत्सयन्।
हविष्यभैक्ष्यभुक् चापि स्थानासनविहारवान्॥

आश्वमेधिकपर्व—अध्याय ४६, श्लोक ३

प्रकार कहा कि "ब्रह्मन् ! इसके अतिरिक्त और भी जिन कार्यों के लिए आप आज्ञा देंगे, उन्हें मैं शीघ्र ही पूर्ण करूँगा। इस प्रकार निवेदन करके गुरु की आज्ञा लेकर फिर दूसरा कार्य करे और उसे पूरा करके सारा समाचार गुरुजी को बताये। शास्त्रों में ब्रह्मचारी के लिए जो कोई भी नियम बताये हैं उन सबका पालन करके सदा गुरु के समीप रहे।"[१५] ब्रह्मचारी के लिए गुरु की आज्ञा मानना सबसे बड़ा धर्म एवं कर्तव्य है। प्रत्येक कार्य करने से पहले गुरु की आज्ञा ले लेनी चाहिए और एक कार्य पूर्ण होने पर उसकी सूचना गुरु को देनी चाहिए और तब दूसरा कार्य करना चाहिए। इस प्रकार ब्रह्मचारी का सम्पूर्ण समय गुरु की सेवा तथा आज्ञा में पूर्ण हो जायेगा और वह गुरुवान्, विद्यावान् तथा चरित्रवान् बनकर आगे अपने जीवन में यश और सफलता प्राप्त करेगा।

४–ब्रह्मचर्य के चार चरण–

वैसे तो ब्रह्मचारी के लिए पालन करने योग्य अनेक नियम शास्त्रों में बताये हैं। किन्तु धृतराष्ट्र के पूछने पर सनत्सुजात ने ब्रह्मचारी के लिए चार चरण ही मुख्य रूप से बताये हैं। उनमें से पहला चरण यह है कि "ब्रह्मचारी शिष्य को चाहिए कि वह नित्य गुरु को प्रणाम करे, बाहर भीतर से पवित्र हो प्रमाद छोड़कर स्वाध्याय में मन लगाये, अभिमान न करे, मन में क्रोध को स्थान न दे। यह ब्रह्मचर्य का पहला चरण है। जो शिष्य की वृत्ति के क्रम से ही जीवन-निर्वाह करता हुआ पवित्र हो विद्या प्राप्त करता है, उसका

१५—ब्रह्मंस्तदपि कर्तास्मि यद् भवान् वक्ष्यते पुनः ।
इति सर्वमनुज्ञाय निवेद्य च यथाविधि ।।
कुर्यात् कृत्वा च तत्सर्वमाख्येयं गुरवे पुनः ।
ये केचिद् विस्तरेणोक्ता नियमा ब्रह्मचारिणः ।।
तान् सर्वानाचरेन्नित्यंभवेच्चानपगो गुरोः ।
शान्तिपर्व—अध्याय २४२, श्लोक २४-२६

यह नियम भी ब्रह्मचर्य व्रत का पहला ही पाद कहलाता है।"[१६] गुरु के घर में रह कर जो ब्रह्मचारी गुरु के वचनों से सदैव प्रेम करता है, उनसे क्रोध या अभिमान नहीं करता है, वही कुछ उन्नति कर पाता है। जो ब्रह्मचारी गुरु के घर में रह कर किसी प्रकार का प्रमाद नहीं करता तथा शिष्य के अनुरूप ही जो जीवन व्यतीत करता है, वही सच्चा ब्रह्मचारी है। जो ब्रह्मचारी स्वाध्याय में मन लगाता है, पवित्र होकर विद्या अध्ययन करता है, नित्य गुरु की सेवा करता है, वही ब्रह्मचारी श्रेष्ठ और महान होता है। ब्रह्मचारी का दूसरा चरण बताते हुए सनत्सुजातजी ने धृतराष्ट्र से इस प्रकार कहा कि "अपने प्राण और धन लगा कर भी मन, वाणी तथा कर्म से आचार्य का प्रिय करे। गुरु के प्रति शिष्य का जैसा श्रद्धा और सम्मानपूर्ण व्यवहार करे, वैसा ही गुरु की पत्नी और गुरु के पुत्र के साथ भी व्यवहार करे। यह ब्रह्मचर्य का द्वितीय पाद कहलाता है।"[१७] यदि कभी आचार्य के साथ कोई कठिन समस्या आ जाये और आचार्य उससे दुःखी हों, तो अपने तन, मन, धन सबसे जिस प्रकार भी उनका

१६—गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत,
स्वाध्यायमिच्छेच्छुचिरप्रमत्तः।
मानं न कुर्यान्नादधीतरोष-मेष
प्रथमो ब्रह्मचर्यस्य पादः॥
शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः,
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते॥
उद्योगपर्व-अध्याय ४४, श्लोक १०-११

१७—आचार्यस्यप्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि।
कर्मणा मनसा वाचा द्वितीयः पाद उच्यते॥
समा गुरौ यथा वृत्तिर्गुरुपत्न्यां तथाऽऽचरेत्।
तत्पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते॥
उद्योगपर्व–अध्याय ४४, श्लोक १२-१३

दुःख दूर हो सके करे। सर्वदा आचार्य का प्रिय कार्य करता रहे, अपनी वाणी से, मन से तथा कर्म से जैसे भी हो सके। ब्रह्मचारी जैसा सम्मानपूर्ण व्यवहार अपने गुरु के साथ करे, वैसा ही सम्मानपूर्ण व्यवहार गुरु की पत्नी तथा पुत्र के साथ करे। गुरु की पत्नी को सदा माता के समान समझे तथा गुरु पुत्र को भाई के समान प्रेम करे। आचार्य के उपकार का सदैव स्मरण करता रहे, उपकार को भूलकर आचार्य से कभी द्रोह नहीं करना चाहिए। आचार्य के उपदेश से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह परम पवित्र और अजर-अमर होता है। ज्ञान का उपदेश आत्मा में हमेशा के लिए बना रहता है, चाहे वह नश्वर शरीर साथ छोड़ देता है किन्तु आत्मा का ज्ञान प्रत्येक जन्म में बढ़ता ही जाता है। आत्मा अमर होने के कारण गुरु के द्वारा सिखाया हुआ ज्ञान भी अमर ही रहता है। क्योंकि ज्ञान का ग्रहण आत्मा ही करती है और आत्मा सदैव अमर होती है। तृतीय चरण का वर्णन करते हुए सनत्सुजात जी ने इस प्रकार कहा कि "आचार्य ने जो अपना उपकार किया, उसे ध्यान में रख कर तथा उससे जो प्रयोजन सिद्ध हुआ, उसका भी विचार करके मन ही मन प्रसन्न होकर शिष्य आचार्य के प्रति जो ऐसा भाव रखता है कि इन्होंने मुझे बड़ी उन्नत अवस्था में पहुँचा दिया है—यह ब्रह्मचर्य का तीसरा पाद है।"[१८] ब्रह्मचारी को सदा अपने मन में गुरु के प्रति उदार और अच्छे भाव रखने चाहिए, क्योंकि पढ़ लिख कर जो ज्ञान आज उसे प्राप्त है और जिस ज्ञान को प्राप्त कर वह अब एक उच्चश्रेणी का मनुष्य बन गया है, यह सब गुरु की कृपा का ही फल है। गुरु के इस उपकार को किसी भी धन या वस्तु से नहीं चुकाया जा सकता है। इसके बदले में तो गुरु को सदैव आदर-सम्मान, श्रद्धा भक्ति तथा प्रेम ही दिया जा सकता है। गुरु शिष्य से कुछ

१८—आचार्येणात्मकृतं विजानन्
ज्ञात्वा चार्थं भावितोऽस्मीत्यनेन।
यन्मन्ते तं प्रति हृष्टबुद्धिः
स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः॥

उद्योगपर्व–अध्याय ४४, श्लोक १४

बदला नहीं चाहता, वरन् वह तो केवल यही चाहता है कि शिष्य बड़ा आदमी बनकर धन के अहंकार से अपने जीवन में ही गुरु को न भूल जाये। गुरु जिस परिश्रम से एक अबोध बालक को पढ़ाता है, वह ऋण कभी न तो चुकाया जा सकता है और न भूला जा सकता है। अबोध बालक को उँगली पकड़ कर लिखना सिखाना तथा पढ़ना सिखाना कितना कठिन काम है, इसको आजकल के पढ़े-लिखे माता-पिता स्वयं करके देख रहे हैं। उन गुरुओं में कितना प्रेम और उदारता थी कि दूसरों के बच्चों को पढ़ाने में अपना सम्पूर्ण जीवन बिता देते थे और स्वयं एक साधारण जीवन व्यतीत करते थे। पढ़ाने के बदले में उन्हें मिलता क्या था, केवल भिक्षा का अन्न जिससे वे अपना और अपने परिवार का पालन करते थे। धन्य थे वे ब्राह्मण गुरु जिनकी कठिन तपस्या का फल देश ने आज तक प्राप्त किया है। ब्रह्मचर्य का चौथा चरण बताते हुए सनत्सुजातजी ने धृतराष्ट्र से कहा कि "आचार्य के उपकार का बदला चुकाये बिना अर्थात् गुरु दक्षिणा आदि के द्वारा उन्हें सन्तुष्ट किये बिना विद्वान् शिष्य वहाँ से अन्यत्र न जाय। दक्षिणा देते समय कभी मन में ऐसा विचार न लाये कि मैं गुरु का उपकार कर रहा हूँ तथा मुँह से भी कभी ऐसी बात न निकाले। यह ब्रह्मचर्य का चौथा चरण है।"[१९] ब्रह्मचारी जब अपनी वह समस्त विद्या समाप्त कर लेता था, तब उसके घर वाले आकर गुरु को कुछ दक्षिणा देकर अपने पुत्र को ले जाते थे। शास्त्रों में ऐसा लिखा है कि गुरु-दक्षिणा देते समय विद्यार्थी को अपने मन में यह विचार कभी न लाना चाहिए कि हमने दक्षिणा देकर गुरु का उपकार चुका दिया, गुरु का उपकार तो किसी भी वस्तु से नहीं चुकाया जा सकता। इसलिए ब्रह्मचारी को गुरु का उपकार कभी नहीं भूलना चाहिए।

५—जीवन निर्वाह के छः कर्मों से दूर रहें—

ब्रह्मचारी को गुरु के घर रह कर सदा गुरु की सेवा करनी चाहिये

१९—नाचार्यस्यानपाकृत्य प्रवासं
प्राज्ञः कुर्वीत नैतदहं करोमि।
इतीवमन्येत न भाषयेत
स वै चतुर्थो ब्रह्मचर्यस्यपादः॥
उद्योगपर्व–अध्याय ४४, श्लोक १५

और ब्रह्मचारी के लिए जो धर्म तथा कर्त्तव्य उचित हों, उन्हीं में अपना मन लगाये। ब्रह्मचर्य के विपरीत जो जीवन निर्वाह के छः कर्म हैं, उन्हें कभी न करे। इन छः कर्मों के विषय में बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि "निरन्तर गुरु की सेवा में संलग्न रहकर उन्हें प्रणाम करे। जीवन-निर्वाह के उद्देश्य से किये जाने वाले यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन तथा दान और प्रतिग्रह-इन छः कर्मों से अलग रहे और किसी भी असत् कर्म में वह कभी प्रवृत्त न हो।"[२०] शास्त्रों में इन छः कर्मों का करने का कर्त्तव्य गृहस्थ के लिए बताया है, ब्रह्मचारी के लिए इन कर्मों का करना वर्जित है। ये छः कर्म तो गृहस्थी के पालन के लिए आवश्यक हैं, ब्रह्मचारी को इन कर्मों से क्या प्रयोजन है। ब्रह्मचारी को तो जब तक गुरु के घर रहे, सदा गुरु की आज्ञा माननी चाहिए, तन, मन से उनकी सेवा करनी चाहिए तथा भिक्षावृत्ति को ही अपना जीवन-निर्वाह का साधन समझना चाहिए। नित्य गाँवों में जाकर गुरु के लिए भिक्षा लानी चाहिए और ब्रह्मचारी के लिए जो कार्य उचित हों, उन्हीं में सदा लगा रहना चाहिए।

६—ब्रह्मचर्य से ईश्वर प्राप्ति तथा सद्गति—

ब्रह्मचर्य के पालन से ईश्वर प्राप्ति भी सहज ही हो जाती है, ऐसा प्राचीन शास्त्रों में वर्णन है। धृतराष्ट्र के पूछने पर सनत्सुजात जी ने बताया कि "जो लोग आचार्य के आश्रम में प्रवेश कर अपनी सेवा से उनके अन्तरंग भक्त हो ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वे यहीं शास्त्रकार हो जाते हैं और देह-त्याग के पश्चात् परम योग रूप परमात्मा को प्राप्त होते हैं।"[२१] जो ब्रह्मचारी

२०—शुश्रूषां सततं कुर्वन् गुरोः सम्प्रणमेत च।
षट्कर्मसु निवृत्तश्च न प्रवृत्तश्च सर्वशः॥
शान्तिपर्व—अध्या० ६१, श्लो० २०

२१—आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य
भूत्वा गर्भं ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति
प्रहाय देहं परमं यान्ति योगम्॥
उद्योगपर्व—अध्या० ४४, श्लो० ६

अपने गुरु को अपनी सेवा और भक्ति से बहुत प्रसन्न कर लेते थे, उन शिष्यों को गुरु भी अपना सम्पूर्ण ज्ञान सिखा देते थे और वे शिष्य शिक्षा ग्रहण के बाद बड़े-बड़े शास्त्रकार बन जाते थे। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही ब्रह्मविद्या सुगमता से सीखी जा सकती है। ब्रह्मचर्य का महत्त्व पूछने पर भृगु जी ने भरद्वाज से इस प्रकार कहा कि "जो द्विज गुरु की आराधना करके वेदाध्ययन करता है, उसे स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है और उसका मानसिक संकल्प सिद्ध होता है।"[२२] गुरु की भक्ति का बड़ा महत्त्व है। गुरु की भक्ति से ब्रह्मचारी को स्वर्ग की प्राप्ति होती है और उसकी सब कामनायें भी पूर्ण हो जाती हैं। ब्रह्मचर्य से स्वर्ग प्राप्ति की प्रशंसा करते हुए श्रीकृष्ण ने अपनी बहन सुभद्रा से अभिमन्यु की स्वर्ग प्राप्ति के विषय में इस प्रकार कहा कि "तपस्या, ब्रह्मचर्य, शास्त्रज्ञान और सद्बुद्धि के द्वारा साधु पुरुष जिस गति को पाना चाहते हैं, वही गति तुम्हारे पुत्र को प्राप्त हुई है।"[२३] जिस सद्गति को साधु पुरुष या तो तपस्या से प्राप्त करते हैं, या ब्रह्मचर्य के पालन से या शास्त्रों के ज्ञान से प्राप्त करते हैं, उस सद्गति को अभिमन्यु ने अपनी वीरता से प्राप्त किया है। युधिष्ठिर के द्वारा पूछने पर श्रीकृष्ण ने ब्रह्मचर्य के पालन के गुण इस प्रकार बताये कि "ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य आयु, तेज, बल, वीर्य, बुद्धि, लक्ष्मी, महान् यश, पुण्य और मेरे प्रेम को प्राप्त करता है।"[२४] ब्रह्मचर्य

२२—गुरुं यस्तु समाराध्य द्विजो वेदमवाप्नुयात्।
तस्य स्वर्गफलावाप्तिः सिध्यते चास्य मानसमिति॥

शान्तिपर्व—अध्या० १९१, श्लो० ६

२३—तपसा ब्रह्मचर्येण श्रुतेन प्रज्ञयापि च।
सन्तो यां गतिमिच्छन्ति तां प्राप्तस्तव पुत्रकः॥

द्रोणपर्व—अध्या० ७०, श्लो० १६

२४—आयुस्तेजो बलं वीर्यं प्रज्ञा श्रीश्च महद्यशः।
पुण्यं च मत्प्रियत्वं च लभते ब्रह्मचर्यया॥

आश्वमेधिकपर्व—अध्या० ९२, वैष्णवधर्म

के पालन से मनुष्य की आयु बढ़ती है, मुख का तेज बढ़ता है, शरीर में शारीरिक शक्ति बढ़ती है। ब्रह्मचारी मनुष्य के शरीर में इतनी ताकत होती है कि वह किसी से हार नहीं सकता। साधारण मनुष्यों को तो उससे हार माननी पड़ती है, अधिक ज्ञान के कारण उसके पास धन की भी कमी नहीं रहती, शास्त्रों के रचयिता होने के कारण चारों ओर उनका यश फैलता है, अनेक पुण्यों का फल प्राप्त होता है तथा अन्त में भगवान के प्रेम को प्राप्त हो-कर स्वर्ग को प्राप्ति करता है। ब्रह्मचर्य से मृत्यु को भी जीता जा सकता है, इस विषय में धृतराष्ट्र के पूछने पर सनत्सुजात जी ने इस प्रकार कहा कि "राजन् ! जो इस ब्रह्मचर्य का आश्रय लेता है, वह ब्रह्मचारी यम-नियमादि तप का आचरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण शरीर को भी पवित्र बना लेता है तथा इससे विद्वान् पुरुष निश्चय ही अबोध-बालक की भाँति राग-द्वेष से शून्य हो जाता है और अन्त समय में वह मृत्यु को भी जीत लेता है।"[२५] यम-नियमादि तप के आचरण से ब्रह्मचारी अपने शरीर को पवित्र कर लेता हैं और संसार के राग-द्वेषों से शून्य हो जाता है और उसकी बुद्धि एक अबोध बालक की भाँति निर्मल हो जाती है। वह ब्रह्मचर्य के पालन से ही अन्त समय में मृत्यु को भी जीत लेता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह ब्रह्मचारी बहुत काल तक तपस्या में लीन रहता है और उसका शरीर भी अमर हो जाता है। ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य बड़े-बड़े कार्य कर जाता है और स्वयं तो अमर हो ही जाता है, साथ में अपने दो-चार शिष्य और बना जाता है, जिससे इस परम्परा की पंक्ति समाप्त नहीं होती है।

७—माता-पिता और गुरु की आज्ञा पालन का धर्म—

मनुष्म के लिए जिस प्रकार से अनेक धर्मो का पालन करना आवश्यक

२५—य आश्रयेत् पावयेच्चापि राजन्
सर्वं शरीरं तपसा तप्यमानः।
एतेन वै बाल्यमभ्येति विद्वान्
मृत्युं तथा स जयत्यन्तकाले॥

उद्योगपर्व—अध्या० ४४, श्लो० २३

है, उसी प्रकार उसको अपने पूज्य माता-पिता तथा गुरु की आज्ञा मानना भी महान धर्म है। जो मनुष्य अपने से बड़ों का आदर करते हैं, उन्हें सर्वत्र यश और मान मिलता है। बड़ों तथा पूज्यों की आज्ञा के पालन से मनुष्य के दोनों लोक, इहलोक और परलोक सुधर जाते हैं। युधिष्ठिर ने दोनों लोकों में परम धर्म प्राप्त करने के लिए पूछा तो भीष्म ने इस प्रकार कहा कि "ये माता-पिता और गुरुजन ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों आश्रम हैं, ये ही तीनों वेद हैं तथा ये ही तीनों अग्नियाँ हैं।"[२६] "यदि तुम इन तीनों की सेवा में कोई भूल नहीं करोगे, तो तीनों लोकों को जीत लोगे। पिता की सेवा से इस लोक को, माता की सेवा से परलोक को तथा नियमपूर्वक गुरु की सेवा से ब्रह्मलोक को भी लाँघ जाओगे।"[२७] इन तीनों गुरुजनों की सेवा तथा आज्ञा का पालन सब लोकों से बढ़कर है। यदि कोई मनुष्य और कोई धर्म-कार्य न कर सके, केवल माता-पिता तथा गुरु की सेवा में ही लगा रहे तो उसके लिए सब धर्मों का पुण्य स्वयं प्राप्त हो जाएगा। यदि वह धार्मिक कार्य में लगा रहे और इन तीनों की सेवा न करे तथा न आज्ञा माने तो उसके सब धार्मिक कार्य निष्फल हो जाते हैं। इसलिए माता-पिता और गुरु की आज्ञा से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है। माता-पिता तथा गुरु की आज्ञा उल्लंघन न करना चाहिए इस विषय में भीष्मजी ने कहा कि "इन तीनों की आज्ञा का कभी उल्लंघन न

२६—एतएव त्रयो लोका एत एवाश्रमास्त्रयः ।
एतएव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः ॥

शान्तिपर्व—अध्या० १०८, श्लो० ६

२७—त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकांश्च विजेष्यसि ।
पितृवृत्त्या त्विमं लोकं मातृवृत्त्या तथा परम् ॥
ब्रह्मलोकं गुरोर्वृत्त्या नियमेन तरिष्यसि ॥

शान्तिपर्व—अध्या० १०८, श्लो० ८½

करे, इनको भोजन कराने के पहले स्वयं भोजन न करे, इन पर कोई दोषारोपण न करे और सदा इनकी सेवा में संलग्न रहे। यही सबसे उत्तम पुण्य-कर्म है। नृपश्रेष्ठ! (युधिष्ठिर से) इनकी सेवा से तुम कीर्ति, पवित्र यश और उत्तम लोक सब कुछ प्राप्त कर लोगे।"[२८] जिसने इन तीनों का आदर कर लिया, उसने सम्पूर्ण लोकों का आदर कर लिया। जिसने इन तीनों गुरुजनों का सदा अपमान ही किया है, उसके लिए न तो यह लोक ही सुख-दायी है और न परलोक ही अच्छा है। माता-पिता तथा गुरु जिस कार्य को करने की आज्ञा दें, वह चाहे धर्म के अनुकूल हो या विरुद्ध, उसका पालन अवश्य करना चाहिए। इन तीनों की आज्ञा पालन से तथा सेवा से मनुष्य अपना जीवन सफल बना सकता है तथा मृत्यु के बाद परलोक में भी सुख प्राप्त कर सकता है। मनुष्य के लिए तीनों गुरुजन पूज्य हैं, इसलिए सदैव उनका ध्यान रखना चाहिए। इन तीनों में माता के समान दूसरा कोई गुरु नहीं है।

८—माता-पिता से अधिक पूजनीय गुरु—

मनुष्य के लिए माता-पिता बहुत माननीय तथा पूज्य हैं और इन दोनों में माता का स्थान पिता से भी अधिक माननीय है, क्योंकि वह मनुष्य की जन्मदात्री है, किन्तु गुरु का स्थान इन दोनों से भी बढ़कर है, ऐसा शास्त्रों में कहा गया है। गुरु की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा कि "भारत! पिता और माता केवल शरीर को ही जन्म देते हैं, किन्तु आचार्य का उपदेश प्राप्त करके जो द्वितीय जन्म उपलब्ध होता है, वह दिव्य है, अजर-अमर है।"[२९] जो गुरु सत्यस्वरूप वेद का उपदेश देता है और असत्य की

२८—नैतानतिशयेज्जातु नात्यश्नीयान्न दूषयेत्।
नित्यं परिचरेच्चैव तद् वै सुकृतमुत्तमम्।
कीर्तिं पुण्यं यशो लोकान् प्राप्स्यसे राजसत्तम॥
शन्तिपर्व—अध्याय १०८, श्लो० १०-११

२९—शरीरमेव सृजतः पिता माता च भारत।
आचार्यशिष्टा या जातिः सा दिव्या साजरामरा॥
शान्तिपर्व—अध्याय १०८, श्लो० १६३/२

रोकथाम करता है, उस गुरु को ही पिता और माता समझना चाहिये। उसके उपकार को सदैव ध्यान में रखना चाहिए और गुरु से कभी भी द्रोह नहीं करना चाहिए। मन, वाणी तथा क्रिया द्वारा सदा गुरु की सेवा करनी चाहिए। गुरु सेवा से पुरातन धर्म की प्राप्ति हो सकती है, इस विषय में भीष्म जी ने इस प्रकार कहा कि "जो पुरातन धर्म का फल पाना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे गुरुओं की पूजा-अर्चा करें और प्रयत्नपूर्वक उन्हें आवश्यक वस्तुएँ लाकर दें।"[30] गुरु को जिस वस्तु की आवश्यकता हो,उस वस्तु को कठिन परिश्रम से प्राप्त होती हो तो भी लाकर दे। गुरु जिस कार्य को करने की आज्ञा दे चाहे वह कितना ही दुष्कर क्यों न हो पूर्ण करके दिखाये। ब्रह्मचारी के लिए संसार में कोई वस्तु दुर्लभ नहीं होती है। अपने कठिन तप और संयम के बल से वह असम्भव को भी सम्भव बना सकता है। पिता को प्रसन्न करने से मानों प्रजापति प्रसन्न होते हैं तथा माता के प्रसन्न करने से मानों सम्पूर्ण पृथ्वी की पूजा हो जाती है किन्तु गुरु की पूजा इन तीनों से श्रेष्ठ है बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "जिस कर्म से शिष्य उपाध्याय (विद्यागुरु) को प्रसन्न करता है, उसी के द्वारा परब्रह्म परमात्मा की पूजा सम्पन्न हो जाती है; अतः गुरु माता-पिता से भी अधिक पूजनीय है।"[31] गुरु की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्मजी ने फिर कहा कि "गुरुओं के पूजित होने पर पितरों सहित देवता और ऋषि भी प्रसन्न होते हैं; इसलिए

३०—तस्मात् पूजयितव्याश्च संविभज्याश्च यत्नतः।
गुरवोऽर्चयितव्याश्च पुराणं धर्ममिच्छति॥

शान्तिपर्व—अध्याय १०८, श्लो० २४

३१—येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद् ब्रह्म पूजितम्।
मातृतः पितृतश्चैव तस्मात् पूज्यतमो गुरुः॥

शान्तिपर्व—अध्याय १०८, श्लो० २६

अध्याय—१५

महाभारत में गृहस्थ-धर्म

१—गृहस्थाश्रम सब धर्मों का मूल—

गार्हस्थ आश्रम सब आश्रमों का मूल है। गुरुकुल के ब्रह्मचारी और वन में रहकर संकल्प के अनुसार व्रत, नियम एवं धर्मों का पालन करने वाले वानप्रस्थी तथा सब कुछ त्याग कर सर्वत्र विचरण करने वाले संन्यासी भी गृहस्थाश्रम से ही भिक्षा, भेंट, उपहार दान आदि पाकर अपने धर्म का पालन करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते है कि अन्य तीनों आश्रमों का निर्वाह गृहस्थ से ही होता है। गृहस्थाश्रम सब आश्रमों का आश्रय है। अतः वह सब में श्रेष्ठ आश्रम है। गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता बताते हुए मनु ने कहा है "जिस प्रकार वायु का आश्रय लेकर सब जीव जीते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रय लेकर सब आश्रमवासी धर्मों का निर्वाह करते हैं। तीनों ही आश्रम वाले गृहस्थ से ज्ञान और अन्न का दान पाते हैं। गृहस्थ गुरु ही ब्रह्मचारियों और विद्यार्थियों को विद्यादान करते हैं। गृहस्थ ही उन्हें भिक्षा दान देते हैं। तीनों आश्रमों को धारण करने के कारण गृहस्थाश्रम ज्येष्ठ अथवा सबसे बड़ा है।"[1]

१—यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तव ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्ने चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥

मनुस्मृति अध्याय–३, श्लोक ७७-७८

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी समाज के सभी उत्तरदायित्यों से मुक्त हैं। उन सबका निर्वाह गृहस्थ ही करता है। गृहस्थ तीनों आश्रमों के अतिरिक्त बालक, वृद्ध, स्त्री, पंगु, अन्व, रोगी आदि को शरण देता है, तथा उनका पालन करता है। यदि ब्रह्मचर्य निर्माण का काल हैं तो गृहस्थ कर्तव्य का समय है। गृहस्थी वाले पुरुष को अनेक कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है।

गृहस्थाश्रम को सब धर्मों का मूल बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा—"गृहस्थाश्रम सब धर्मों का मूल कहा जाता है। इसमें रह कर अन्तःकरण के रागादि दोष पक जाने पर जितेन्द्रिय पुरुष को सर्वत्र सिद्धि प्राप्त होती है।"[२] अन्य तीनों आश्रमों के पालन करने वाले ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी तथा संन्यासी लोग अपने-अपने धर्मों का पालन गृहस्थाश्रम पर निर्भर रहकर ही कर सकते हैं। यदि गृहस्थी किसी कारण से इन तीनों आश्रमवासियों को दान, भिक्षा तथा ज्ञान न दे, तो वे बेचारे अपने धर्मों का पालन शान्ति से न कर सकेंगे। उनका सम्पूर्ण समय भोजन की चिन्ता तथा भोजन की खोज में ही व्यतीत होगा, तब वे अपने धर्मों का पालन किस प्रकार कर सकेंगे अर्थात् गृहस्थाश्रम की सहायता से ही वे अपने-अपने धर्मों का पालन उचित नियमों से कर सकेंगे। इसलिए गृहस्थ पुरुष को दानी तथा धर्मात्मा होना चाहिए। गृहस्थ पुरुष को अपने अन्तःकरण को शुद्ध रखना चाहिए। राग-द्वेष, क्रोध आदि दोषों को गृहस्थ पुरुष जीतकर ही उदार बन सकता हैं। इसलिए गृहस्थ पुरुष को सद्भाव वाला, सद्गुणों वाला तथा परोपकारी होना चाहिए। इन्हीं गुणों से युक्त गृहस्थ सच्चा और सफल गृहस्थ पुरुष बन सकेगा तथा अन्य आश्रम वालों को सुख-सुविधा दे सकेगा। इन गुणों के न होने पर स्वयं तो दुःखी रहेगा ही तथा दूसरों को भी सुख न दे सकेगा। उसके ऊपर निर्भर रहने वाले स्त्री, बालक वृद्ध, पंगु सभी परिवार के लोगों का जीवन दुःखमय हो जायेगा। इसलिए गृहस्थ सद्विचारों वाला, अपने सुखों को त्यागने वाला तथा परोपकारी होना चाहिए, तभी सबका कल्याण सम्भव हो सकेगा।

२—गृहस्थस्त्वेष धर्माणां सर्वेषां मूलमुच्यते।
यत्र पक्वकषायो हि दान्तः सर्वत्र सिध्यति॥
शान्तिपर्व—अध्याय २३४, श्लोक ६

२—गृहस्थाश्रम की महिमा—

गृहस्थ आश्रम शास्त्र और समाज की दृष्टि से अन्य सब आश्रमों का पालन करता है। अतः वह सबमें श्रेष्ठ है। गृहस्थ का जीवन प्राकृतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से जीवन की पूर्णता का मार्ग है। विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य के पालन से जीवन की सुदृढ़ भूमिका बनाकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाला मनुष्य जीवन को सार्थक बनाता है। भारतीय आचार-शास्त्र ने मनुष्य की प्राकृतिक आकांक्षाओं को उचित स्थान दिया है। गृहस्थाश्रम में ऐसे अनेक कर्त्तव्य हैं, जो प्रकृति के स्वार्थमय भोग नहीं हैं वरन् परार्थ और सांस्कृतिक कर्म हैं।

मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ने विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करने के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश और विवाह करने का विधान किया है। मनुस्मृति में विवाह के लिए इस प्रकार कहा है कि "अखण्डित ब्रह्मचर्य के पालन के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए।"[३] इसी प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा है कि "अखंडित ब्रह्मचर्य के पालन के बाद सद्गुणों वाली स्त्री का वरण करना चाहिए।"[४] महाभारत में भी ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण होने पर गृहस्थाश्रम के प्रवेश के विषय में शुकदेवजी ने व्यासजी से पूछा तो उन्होंने इस प्रकार कहा कि "धर्मतः पत्नी का पाणिग्रहण करके उसके साथ यत्न पूर्वक अग्नि की स्थापना करे और वायु के द्वितीय भाग अर्थात् पचास वर्ष तक उत्तम व्रत का पालन

३—"अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्"

मनुस्मृति—अध्याय ३, श्लोक २

४—"अविप्लुत ब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्"

याज्ञवल्क्य स्मृति—अध्याय १, श्लोक ५२

करते हुए गृहस्थ बना रहे।"[५] अखण्डित ब्रह्मचर्य मनुष्य के शारीरिक विकास के लिए उत्तम है। शारीरिक दृढ़ता से ही मनुष्य का गृहस्थ जीवन सफल हो सकता है। गृहस्थ जीवन में सुख और सामाजिक कर्त्तव्य दोनों के सफल निर्वाह के लिए जिस स्वास्थ्य और चरित्र की आवश्यकता है, वह ब्रह्मचर्य के पालन से ही मिल सकते हैं। मनु ने कहा है कि जिनका चरित्र दुर्बल है वे गृहस्थाश्रम का धारण नहीं कर सकते अर्थात् वे गृहस्थ के सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर सकते।"[६] जिस प्रकार अर्थ और काम की मर्यादा धर्म है, उसी प्रकार गृहस्थ का आधार ब्रह्मचर्य है। आरम्भिक यौवन में ब्रह्मचर्य के पालन से जीवन परिपक्व होता है। ब्रह्मचर्य संचय का काल है। गृहस्थाश्रम विस्तार और वितरण का समय है। विवाह, आतिथ्य, दान, अध्यापन, महायज्ञ आदि के द्वारा गृहस्थ मनुष्य अपने प्राकृतिक धर्म और सामाजिक कर्तव्य को पूर्ण करता है। यदि ब्रह्मचर्य जीवन रूपी वृक्ष का मूल और स्तम्भ है, तो गृहस्थाश्रम उसकी पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होने वाली शाखाओं का वसन्त-पर्व है। तप, संयम आदि का अपने आप में भी महत्त्व हो किन्तु वे गृहस्थ के प्राकृतिक और सामाजिक धर्मों की मर्यादाओं में भी सफल होते हैं।

३—गृहस्थ से धर्म प्राप्ति—

भारतीय आचार-शास्त्र में गृहस्थ के अनेक कर्त्तव्य एवं धर्म बताये गये हैं। अपने कर्त्तव्यों का पूरा-पूरा पालन करने वाला गृहस्थ बड़ा पुण्यवान् होता है। सदाचारी गृहस्थ केवल एक पत्नी व्रत होता है। एक स्त्री से ही प्रेम करने

५—धर्मलब्धैर्युतो दारैरग्नीनुत्पाद्य यत्नतः।
द्वितीयमायुषो भागं गृहमेधी भवेद् व्रती॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४२, श्लोक ३०

६—योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः
मनुस्मृति

वाला गृहस्थ धर्म के कार्य करने का अधिकारी माना जाता है। गृहस्थ पुरुष सत्यता से, सरलता है तथा अतिथि सत्कार आदि गुणों से परम सुख प्राप्त करता है। सदाचारी गृहस्थ अपने गुणों से इस लोक में प्रशंसा प्राप्त करता है तथा परलोक में भी उसे सुख मिलता है, ऐसा हमारे धार्मिक ग्रन्थों में वर्णन है। आश्रम धर्म का वर्णन करते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से गृहस्थ की सद्गति के विषय में इस प्रकार कहा कि "गृहस्थ पुरुष इस लोक में सत्य, सरलता, अतिथि सत्कार, धर्म, अर्थ, अपनी पत्नी के प्रति अनुराग तथा सुख का सेवन करे। ऐसा होने पर ही उसे परलोक में भी सुख प्राप्त होते हैं, यह मेरा मत है।"[७] गृहस्थ के पुण्य के विषय में जब युधिष्ठिर ने व्यास से पूछा तब व्यास जी ने मनु और सिद्ध पुरुषों के संवाद रूप इस प्रचार इतिहास के उदाहरण को इस प्रकार कहा कि "जैसे गृहत्यागी संन्यासी घर के प्रति अनासक्त होता है, उसी प्रकार गृहस्थ को भी ममता और आसक्ति छोड़कर ही घर में रहना चाहिए। जो इस प्रकार सदाचार का पालन करते हुए अपनी प्रिय पत्नी के साथ घर में निवास करता है, वह धर्म का पूरा-पूरा फल प्राप्त कर लेता है।"[८] जो गृहस्थ पुरुष ममता तथा अनुराग को छोड़कर अपने गृहस्थ धर्मों का पालन करते हैं, वे ही धर्म का पूरा-पूरा फल प्राप्त करते हैं अर्थात् ममता और अनुराग के न होने पर ही गृहस्थ पुरुष पचास वर्ष की अवस्था पर वानप्रस्थ ले सकते हैं और भगवान् के ध्यान के साथ-साथ देश का भी कुछ कार्य कर सकते हैं। सद्गति की इच्छा रखने वाले गृहस्थ पुरुष अपने

७—सत्यार्जवं चातिथिपूजनं च
धर्मस्तथार्थश्च रतिः स्वदारैः।
निषेवितव्यानि सुखानि लोके
ह्यस्मिन् परे चैव मतं ममैतत्॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६१, श्लोक १४

८—यथा प्रव्रजितो भिक्षुस्तथैव स्वे गृहे वसेत्।
एवं वृत्तः प्रियैर्दारैः संवसन् धर्ममाप्नुयात्॥
शान्तिपर्व—अध्याय ३६, श्लोक ३५?

अपने पुत्रों को गृहस्थ का भार सोंप कर ज्ञान प्राप्त करते हुए अपने कल्याण का मार्ग बनाते हैं।

४— गृहस्थाश्रम में पुत्र प्राप्ति महान पुण्य—

भारतीय धर्मशास्त्रों के मतानुसार गृहस्थ जीवन में पुत्र का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन इतिहास में देखने से ज्ञात होता है कि जिन गृहस्थों के पुत्र नहीं होता था, वे बड़े चिन्तित तथा दुःखी रहा करते थे। पुत्र प्राप्ति के लिए राजा दशरथ ने पुत्रेष्टि यज्ञ किया था तथा राजा दिलीप ने तथा उनकी रानी इन्दुमती ने पुत्र प्राप्ति के लिए गाय की सेवा की थी। इस प्रकार पुत्र प्राप्ति के लिए मनुष्य बड़े-बड़े तप किया करते थे और उनके त्याग का फल उन्हें प्राप्त भी होता था। ऐसा भी कहा जाता है कि जिसके पुत्र नहीं होता उसकी मुक्ति नहीं होती। इसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य को जब तक अपना उत्तराधिकारी नहीं प्राप्त होता, तब तक उसे अशान्ति बनी रहती है। पुत्र के समान हितकारी, सुखकारी तथा सेवा करने वाला मनुष्य के लिए अन्य कोई नहीं हो सकता। अपने जीवन में जितनी भी सम्पत्ति, वस्तुएँ तथा जायदाद आदि जो भी मनुष्य संग्रह करता है, उसे अपने अन्तकाल में किसी को सोंपना चाहता है। वैसे तो वह दूसरों को भी सौंप सकता है। किन्तु मनुष्य की ममता और मोह सांसारिक वस्तुओं के संग्रह में इतनी प्रबल होती है कि वह अपने पुत्र के सिवाय और किसी को नहीं सौंप सकता। पुत्र उसकी आत्मा होता है, इसीलिए पुत्र को आत्मज कहते हैं। संसार में मनुष्य के लिए पुत्र से बढ़कर अन्य कोई वस्तु प्रिय नहीं होती। इसीलिए भारतीय शास्त्रों में पुत्र के बिना जीवन व्यर्थ बताया गया है।

भारतीय धर्म के अनुसार मनुष्य के लिए जो आश्रम बताये हैं, वे भी पुत्र की प्राप्ति के पश्चात् ही पूर्ण हो सकते हैं अन्यथा उनका जीवन अपूर्ण ही रह जाता है। गृहस्थ का समय ५० वर्ष तक का इसीलिये माना गया है कि मनुष्य २५ वर्ष में विवाह करके २५ वर्ष तक गृहस्थ में रहे और जब उसके पुत्र का विवाह आदि सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न हो जायें और उस पुत्र के भी पुत्र हो जाये तब मनुष्य को वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए। उसका यही अभिप्राय है कि पुत्र को गृहस्थ का भार सौंप कर ही मनुष्य अन्य अन्य आश्रमों में शान्ति से प्रवेश कर सकता है। इसीलिए पुत्र प्राप्ति

को महान पुण्यों का फल माना जाता है। महाभारत में जब जरत्कारु ने अपने पितरों से दुःख का कारण पूछा तब उन्होंने इस प्रकार कहा कि "तात ! पुत्र वाले मनुष्य इस लोक में जिस उत्तम गति को प्राप्त होते हैं, उसे अन्य लोग धर्मानुकूल फल देने वाले भलीभांति संचित किए हुए तप से भी नहीं पाते।"[९] भारतीय धर्म में मनुष्यों की ऐसी धारणा है कि मृत्यु के बाद भी आत्मा अपने पुत्रों से श्राद्ध आदि कर्मों की आशा रखी है और जिस के पुत्र नहीं होते, उनकी आत्मा इधर-उधर भटकती फिरती है। पुत्र अपने माता-पिता का विधिपूर्वक श्राद्ध, तर्पण आदि कर्म करके उनकी आत्मा को शान्ति ही नहीं देता, वरन् उनको पितर योनि से मुक्ति भी कराता है। इस प्रकार पुत्र अपने पूर्वजों को स्वर्ग तक पहुँचाने वाली सीढ़ी है। बिना पुत्र के मनुष्य का जीवन अपूर्ण है तथा उसके जीवन की मुक्ति सम्भव नहीं है। इसलिए मनुष्य के उद्धार का मार्ग शुभ तथा श्रेष्ठ कर्म तो हैं ही, इसके अतिरिक्त पुत्र इन कर्मों से भी बढ़कर उद्धार करने वाला है। पुत्र की प्राप्ति सब तपस्याओं से, सब श्रेष्ठ कर्मों से तथा सब प्रकार के पुण्यों से भी श्रेष्ठतम है।

५—अतिथि पूजन गृहस्थ का सर्वोच्च धर्म—

गृहस्थ-आश्रम में रहने वाले मनुष्यों के लिए वैसे अनेक कर्तव्य हैं, जिनका उसे पालन करना आवश्यक है। उन कर्तव्यों में से अतिथि-सत्कार करना भी बड़ा महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है। अग्नि पुत्र सुदर्शन नाम के गृहस्थ ने अतिथि सत्कार से मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी। उसने अपनी पत्नी ओघवती से इस प्रकार कहा कि "जिस गृहस्थ के घर पर आया हुआ अतिथि पूजित होकर जाता है, उसके लिए उससे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है—

९—न हि धर्मफलैस्तात न तपोभिः सुसंचितैः
तां गतिं प्राप्नुवन्तीह पुत्रिणो यां व्रजन्ति वै ॥

आदिपर्व—अध्याय १३, श्लोक २५

ऐसा मनीषी कहते हैं।"[१०] अग्निपुत्र सुदर्शन ने मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिए अपनी पत्नी से इस प्रकार कहा कि "जिस जिस वस्तु से अतिथि सन्तुष्ट हो, वह वस्तु तुम्हारे द्वारा सदा ही देनी चाहिए। यदि अतिथि के सन्तोष के लिए तुम्हें अपना शरीर भी देना पड़े तो मन में कभी अन्यथा विचार न करना।"[११] "सुन्दरी! अतिथि सेवा का यह व्रत मेरे हृदय में सदा स्थित रहता है। गृहस्थों के लिए अतिथि-सेवा से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है।"[१२] जिस प्रकार सावित्री ने धर्मराज से वर माँगकर तथा अपने पतिव्रत धर्म के पुण्यों से सत्यवान् को पुनर्जीवित किया था, उसी प्रकार अग्निपुत्र सुदर्शन को उसकी पत्नी ओघवती ने अतिथि सेवा में अपना शरीर तक देकर अपने पति को मृत्यु से बचाया था। अग्निपुत्र की उम्र भी कम थी, इसलिए मृत्यु हमेशा उसका पीछा किये रहती थी। एक बार धर्म स्वयं ही ब्राह्मण का रूप रखकर उस सती ओघवती के घर पर पधारे, उस समय उसका पति घर से बाहर समिधा लेने गया था। इसलिए उन ब्राह्मण का अतिति पूजन उस ओघवती को ही करना पड़ा। उसने उनको बैठने को आसन दिया तथा चरण धोने को जल दिया और वस्तुओं के लिए उनसे निवेदन किया। किन्तु उन्होंने और कोई वस्तु न माँगकर केवल उसके शरीर

१०–अतिथिः पूजितो यस्य गृहस्थस्य तु गच्छति।
नान्यस्तस्मात् परो धर्म इति प्राहुर्मनीषिणः॥
अनुशासनपर्व—अध्याय २, श्लोक ७०

११–येन येन च तुष्येत नित्यमेव त्वयातिथिः।
अप्यात्मनः प्रदानेन न ते कार्या विचारणा॥ ४३

१२–एतद् व्रतं मम सदा हृदि सम्परिवर्तते।
गृहस्थानां च सुश्रोणि नातिथेर्विद्यते परम्॥
अनुशासन पर्व—अध्याय २, श्लोक ४३-४४

का ही दान माँगा। अपने पति की आज्ञा का स्मरण करके उसने उन ब्राह्मण को अपना शरीर अर्पण कर दिया। उसी समय उसका पति आ गया और मृत्यु उसके पीछे-पीछे लोहदण्ड लिए आ गई। मृत्यु ने सोचा कि अब यह अपनी पत्नी से नाराज होगा, बस तभी मैं इसके प्राण ले जाऊँगी किन्तु उसने यह जानकर कि मेरी पत्नी एक ब्राह्मण अतिथि की सेवा में लगी हुई है, कुछ न कहा और हँसकर ब्राह्मण देवता से इस प्रकार कहा कि "विप्रवर ! आपकी सुरत कामनापूर्ण हो। इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता है; क्योंकि घर पर आये हुए अतिथि का पूजन करना गृहस्थ के लिए सबसे बड़ा धर्म है।"[१३] यह सुनकर मृत्यु को वापिस जाना पड़ा और ब्राह्मण वेषधारी धर्म प्रसन्न होकर बोला कि तुमने अपने धैर्य से मृत्यु को वश में कर लिया है। भीष्म जी ने युधिष्ठिर से अतिथि सेवा का महत्व बताते हुए इस प्रकार कहा कि "सुदर्शन ने अतिथि-सत्कार के पुण्य से मृत्यु, आत्मा, लोक, पञ्चभूत, बुद्धि, काल, मन, आकाश, काम और क्रोध को भी जीत लिया।"[१४] इस प्रकार गृहस्थ पुरुष के लिए अतिथि को छोड़कर दूसरा कोई देवता नहीं है। इसीलिए प्राचीन काल में अतिथि सेवा करना गृहस्थ के लिए आवश्यक धर्म माना जाना था। हमारे प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों का आचरण करने वाले लोग आज भी अतिथि सेवा करना अपना कर्तव्य मानते हैं। अतिथि सेवा करने से मन बड़ा प्रसन्न तथा चित्त बड़ा शान्त रहता है। गृहस्थ में अपने ही जनों के साथ रहते-रहते मानव मन कुछ उदास रहने लगता है, अतिथि के आ जाने से घर में एक नया वातावरण छा जाता

१३—सुरतं तेऽस्तु विप्राग्र्य प्रीतिर्हि परमा मम।
गृहस्थस्य हि धर्मोऽग्र्यः सम्प्राप्तातिथि पूजनम् ॥ ६६

१४—मृत्युरात्मा च लोकाश्च जिता भूतानि पञ्च च।
बुद्धिः कालो मनो व्योम कामक्रोधौ तथैव च ॥
अनुशासनपर्व—अध्याय २, श्लोक ६६-६०

है और घर में चारों ओर चहल-पहल सी लगने लगती है। बच्चे क्या बूढ़े सभी लोग प्रसन्न मन दिखाई देने लगते हैं। कुछ दिन के लिए घर में से उदासी बिल्कुल दूर हो जाती है और सबका मन प्रसन्नता से भर उठता है। इसलिए भारतीय सभ्यता में अतिथि सत्कार करना गृहस्थ का धर्म माना गया है। वैशम्पायनजी से बातें करते समय अतिथि के प्रति गृहस्थ के क्या कर्तव्य हैं बताते हुए युधिष्ठिरजी ने इस प्रकार अतिथि के कर्तव्य बताये कि "जो अपने घर पर आ जाय, उसे प्रेमभरी दृष्टि से देखे, मन से उसके प्रति उत्तम भाव रखे, उससे मीठे वचन बोले और उठकर उसके लिए आसन दे। यह गृहस्थ का सनातन धर्म है। अतिथि को आते देख उठकर उसकी अगवानी और यथोचित रीति से उसका आदर-सत्कार करे।"[१५] अतिथि के प्रति गृहस्थ के कर्तव्य बताते हुए युधिष्ठिर ने पाँच प्रकार की दक्षिणाओं से युक्त अतिथि-यज्ञ रूपी अतिथि सेवा का वर्णन इस प्रकार किया है कि "अतिथि को नेत्र दे (उसे प्रेमभरी दृष्टि से देखे), मन दे (मन से हित-चिन्तन करे) तथा मधुर वाणी प्रदान करे (सत्य, प्रिय, हित की बात कहे)। जब वह जाने लगे, तब कुछ दूर तक उसके पीछे-पीछे जाये और जब तक वह घर पर रहे, तब तक उसके पास बैठे (उसकी सेवा में लगा रहे)। यह पाँच प्रकार की दक्षिणाओं से युक्त अतिथि-यज्ञ है।"[१६]

मनुस्मृति में मनु ने गृहस्थ के लिए अतिथि का सत्कार भी एक प्रमुख कर्तव्य बताया है "अतिथि को आता देखकर उसे बैठने को आसन दे

१५—चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्यात् सुभाषिताम्।
उत्थाय चासनं दद्यादेष धर्मः सनातनः।
प्रत्युत्थयभिगमनं कुर्यान्न्यायेन चार्चनम्॥

१६—चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम्।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः॥
वनपर्वणि अरण्यपर्व—अध्याय २, श्लोक ५६-६६

और जल दे, यथाशक्ति अन्न देकर विधिपूर्वक उसका सत्कार करे।"[१७] इसी प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति में याज्ञवल्क्यजी ने संध्याकाल में आये हुए अतिथि के सत्कार को विशेष महत्व दिया है कि "संध्याकाल में अनायास आये हुए अतिथि को (वाणी) मधुर वाणी से बोले पृथ्वी पर बैठने को आसन दे घास-पात आदि हरी तरकारी जो कुछ उस समय शेष रक्खी हो वह खाने को दे तथा जल पीने को दे।"[१८] अतिथि-सत्कार करना गृहस्थ के लिए एक आवश्यक धर्म है।

६—गृहस्थ के धर्म—

गृहस्थाश्रम के धर्म विवाहित जीवन के द्वारा सम्पन्न होते हैं। गृहस्थ में स्त्री का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्त्री के विना गृहस्थ-धर्मों का निर्वाह नहीं हो सकता। गृहस्थाश्रम के धर्म बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि "जो वेदों का अध्ययन पूर्ण करके समस्त वेदोक्त शुभ कर्मों का अनुष्ठान करने के पश्चात् अपनी विवाहिता पत्नी के गर्भ से सन्तान उत्पन्न कर उस आश्रम के न्यायोचित भोगों को भोगता और एकाग्रचित्त,हो मुनिजनोचित धर्म से युक्त दुष्कर गार्हस्थ्यधर्म का पालन करता है, वह उत्तम है।"[१९]

१७—संप्राप्तायत्वतिथये प्रदद्यादासनोदकै।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥
मनुस्मृति अध्याय—३, ९९

१८—अप्रणोद्योऽतिथिः सायमपि वाग्भूतृणोदकै ॥
याज्ञवल्क्यस्मृति अध्याय—१, १०७

१९—अधीत्य वेदान् कृतसर्वकृत्यः
संतानमुत्पाद्य सुखानि भुक्त्वा।
समाहितः प्रचरेद् दुश्चरं यो
गार्हस्थ्यधर्मं मुनिधर्मजुष्टम् ॥
शान्तिपर्व—अध्याय ६१, श्लोक १०

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पश्चात् पुरुष को स्त्री से प्रेम करने के अतिरिक्त अपने मुनि लोगों जैसे उचित कार्यों भी न भूलना चाहिए। इन्द्रियों का संयम भी गृहस्थ के लिए परमावश्यक है। इस विषय में व्यासजी ने अपने पुत्र से गृहस्थ पुरुष के धर्म बताते हुए इस प्रकार कहा कि 'गृहस्थ पुरुष सदा अपनी ही स्त्री से प्रेम करे। इन्द्रियों का संयम करके जितेन्द्रिय बने। किसी के गुणों में दोष न ढूँढ़े। वह ऋत्विज, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, शरणागत, वृद्ध, बालक, रोगी, वैद्य, जाति-भाई, सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव, माता-पिता, कुटुम्ब की स्त्री, भाई, पुत्र, पत्नी, पुत्री तथा सेवक-समूह के साथ कभी विवाह न करे। जो इन सबके साथ कलह त्याग देता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है।"[२०,२१,२२], गृहस्थ पुरुष को शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार अपने सब पारिवारिक लोगों का तथा पूज्य आचार्यों का आदर करना चाहिए। किसी के साथ कभी भी कलह न करनी चाहिए। क्रोध को पूर्णरूप से जीत लेना चाहिए, तभी वह सच्चे रूप से गृहस्थ कहलायेगा और क्रोध के शान्त हो जाने पर ही वह दूसरों के दोषों को न ढूँढ़ सकेगा। शान्तचित्त वाला मनुष्य ही उदार बन सकता है और सबका सम्मान कर सकता है। गृहस्थ में सबसे अधिक सम्बन्ध स्त्री का होता है। इसलिए पुरुषों को स्त्री के प्रति सदा उदार भाव रखने चाहिए। स्त्री को छोटा नहीं समझना चाहिए। उसे

२०—स्वदारनिरतो दान्तो ह्यनसूयुर्जितेन्द्रियः।
ऋत्विक् पुरोहिताचार्यै र्मातुलातिथिसंश्रितैः॥ १४

२१—वृद्धबालातुरैर्वैद्यै र्ज्ञाति सम्बन्धिबान्धवैः।
मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया॥ १५

२२—दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्।
एतान् विमुच्य संवादान् सर्वपापै र्विमुच्यते॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४३, श्लोक १४-१५-१६

आदर देकर ही गृहस्थ पुरुष शान्ति और प्रेम पा सकता है। पति-पत्नी का स्नेह और आदरपूर्ण सम्बन्ध कल्याण का मार्ग है। अतः स्त्रियों की प्रसन्नता और उनका आदर विशेष रूप से पुरुषों का उत्तरदायित्व है। यद्यपि गृहस्थ-जीवन की सफलता स्त्री के सद्भाव, सदाचार, श्रम आदि पर भी निर्भर है। मनु ने कहा कि "जिस कुल में पति-पत्नी एक दूसरे से सन्तुष्ट रहते हैं, उस कुल का सदैव कल्याण होता है, यह निश्चित है।" अतः कल्याण चाहने वाले पुरुषों के द्वारा स्त्रियाँ सदा पूज्य हैं। उत्सव आदि के अवसर पर उनका विशेष सत्कार करना चाहिए। गृहस्थ के भोजन के विषय में भी शास्त्रों में अनेक श्रेष्ठ नियम हैं। गृहस्थ के भोजन के विषय में बताते हुए व्यासजी ने अपने पुत्र से इस प्रकार कहा कि "वह केवल अपने ही भोजन के लिए रसोई न बनावे (अपितु देवता, पितर और अतिथियों के उद्देश्य से ही भोजन बनाये) और पशुहिंसा न करे, क्योंकि यह अनर्थ-मूलक है।"[२४] व्यासजी ने गृहस्थ के भोजन के विषय में इस प्रकार कहा कि "गृहस्थ सुबह और शाम दो ही समय भोजन करे, बीच में न खाये। ऋतुकाल के सिवाय अन्य समय में स्त्री को अपनी शय्या पर न सुलाये। उसके घर पर आया हुआ कोई ब्राह्मण अतिथि आदर-सत्कार और भोजन पाये बिना न रह जाये।"[२५] गृहस्थ पुरुष को दिन में दो बार से अधिक खाना

२३—सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥

मनुस्मृति—अध्याय ३-६०

२४—गृहमेधिव्रतान्यत्र महान्तीह प्रचक्षते।
नात्मार्थे पाचयेदन्नं न वृथा घातयेत् पशून्॥५

२५—न भुञ्जीतान्तरा काले नानृतावाह्वयेत् स्त्रियम्।
नास्यानश्नन् गृहे विप्रो वसेत् कश्चिदपूजितः॥

शान्तिपर्व—अध्याय २४३, श्लोक ५-७

इसलिए वर्जित है जिससे उसे आलस्य न आये और परिश्रम करने में उसे कोई दुःख न हो। अधिक भोजन करने से मनुष्य को आलस्य आता है और वह दिन में सोना चाहता है। दिन में सोना गृहस्थ के लिये वर्जित है। व्यासजी ने गृहस्थ के लिए अधिक सोना वर्जित बताया है उन्होंने ने गृहस्थ के लिए सोने के नियम बताते हुए इस प्रकार कहा कि "गृहस्थ पुरुष दिन में कभी न सोये। रात के पहले और पिछले भाग में भी नींद न ले।"[२६] कुटुम्ब के लोगों को भोजन कराने के बाद जो भोजन शेष रहे, गृहस्थ को उसी भोजन को करना चाहिए, उसे विघसाशी बताया गया है। पंचमहायज्ञ एवं बलिवैश्वदेव से बचे हुए अन्न को अमृत कहा गया है। व्यासजी ने गृहस्थ के खाने योग्य विघस तथा अमृत अन्न बताते हुए कहा है कि "गृहस्थ को सदा विघस और अमृत अन्न का भोजन करना चाहिए। यज्ञ से बचा हुआ भोजन हविष्य के समान और अमृत माना गया है।"[२७] गृहस्थ को भोजन कब करना चाहिए, इस विषय में युधिष्ठिर के पूछने पर व्यास जी ने कहा कि "गृहस्थ को चाहिए कि वह पहले देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों (अतिथियों) पितरों और घर के देवताओं का पूजन करके पीछे स्वयं भोजन करे।"[२८] गृहस्थ मनुष्य के भोजन में देवता, पितर आदि समस्त प्राणियों का हिस्सा होता है, उनमें से अपने हाथ से भोजन न बनाने वाले सन्यासी आदि को भी भोजन देना गृहस्थ का धर्म

---

२६ – न दिवा प्रस्वपेज्जातु न पूर्वापररात्रिषु ॥६

२७—विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृत भोजनः।
अमृत यज्ञशेषं स्याद् भोजनं हविषा समम्॥

शांतिपर्व—अध्याय २४३, श्लो० ६-१२

२८—देवानृषीन् मनुष्यांश्चपितृन् गृह्याश्च देवताः।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थो भोक्तुमर्हति॥

शान्तिपर्व—अध्या० ३६, श्लो० ३४½

मुख्य कर्म बताये हैं कि "बलिकर्म, तर्पण, होम, स्वाध्याय तथा अतिथि-सत्कार ये मनुष्यों के लिए सबसे बड़े यज्ञ हैं।"[३१]

भृगु ने गृहस्थ के कर्त्तव्य बताते हुए भरद्वाज मुनि से कहा कि—"गृहस्थाश्रम में रह कर यज्ञ करने से देवता, श्राद्ध-तर्पण करने से पितर, वेद-शास्त्रों के श्रवण, अभ्यास और धारण से ऋषि तथा सन्तानोत्पादन से प्रजापति प्रसन्न होते हैं।"[३२] शास्त्रों के मतानुसार गृहस्थ पुरुष को चार ऋणों को चुकाना पड़ता है। वह चार ऋण हैं— पितृऋण, देवऋण, ऋषिऋण और मनुष्य ऋण। पुत्र प्राप्ति से पितृऋण पूर्ण होता है, यज्ञों द्वारा देवताओं को तृप्त करके गृहस्थ देवऋण से उऋण होता है, स्वाध्याय और तपस्या द्वारा गृहस्थ ऋषियों को सन्तोष देता है और ऋषि ऋण पूर्ण करता है तथा अतिथि सत्कार द्वारा तथा दयापूर्ण व्यवहार द्वारा गृहस्थ मनुष्यों को प्रसन्न करता है और अपने मनुष्य नामक ऋण को पूर्ण करता है। जो गृहस्थ यथा समय इन ऋणों को पूर्ण नहीं कर पाते हैं, उनको पुण्यलोक मुश्किल से ही प्राप्त होते हैं, ऐसा शास्त्रों में लिखा है। इन चार ऋणों में से तीन ऋण तो मनुष्य के हाथ में हैं और वह उन्हें अपनी इच्छानुसार पूर्ण भी कर सकता है किन्तु पितृ ऋण ईश्वराधीन है। यदि किसी पुरुष के पुत्र न हो तो उसे पितृऋण का भार बना रहता है और वह पुत्र प्राप्ति के चिन्तन में लगा रहता है। बिना पुत्र वाले लिए स्वर्ग का द्वार बन्द रहता है तथा पितर असंतुष्ट रहते हैं। इन्हीं चार ऋणों को मनुस्मृति में मनु ने यज्ञ कहा है। गृहस्थ के कर्त्तव्य बताते हुए भृगुजी ने भरद्वाज ऋषि से इस प्रकार कहा कि "गृहस्थ आश्रम में धर्म, अर्थ और काम तीनों की प्राप्ति होती है। इसलिए त्रिवर्ग साधन की इच्छा रखकर गृहस्थ को उत्तम कर्म के द्वारा धन-संग्रह करना चाहिए। अर्थात्

३१— बलिकर्मस्वधाहोमस्वाध्यायाऽतिथिसत्क्रियाः।
भूत-पित्रमर-ब्रह्म-मनुष्याणां महामखाः॥
याज्ञवल्क्य स्मृति अध्याय १, १०२

३२— यज्ञक्रियाभिर्देवताः प्रीयन्ते, निवापेन पितरोविद्याभ्यासश्रवणधारणेन ऋषयः। अपत्योत्पादनेन प्रजापतिरिति॥

ब्रह्मर्षियों द्वारा धर्मशास्त्रों में निश्चित किए हुए मार्ग से अथवा पर्वत से उपलब्ध हुये सारभूत मणि-रत्न, दिव्यौषधि एवं स्वर्ण आदि से धन सचय करे।"[33] गृहस्थ पुरुष को परिश्रम करके धनसंचय करना चाहिए और उससे अपनी गृहस्थी का पालन करना चाहिए। परिश्रम से प्राप्त हुआ धन ही लाभकर तथा सुखकारक होता है। गृहस्थ पुरुष के धन संचय से उसको परिवार का ही पालन नहीं होता अपितु गुरुकुल में निवास करने वाले ब्रह्मचारी, व्रत, नियम तथा धर्मों का पालन करने वाले वानप्रस्थी एवं सब कुछ त्याग कर विचरण करने वाले संन्यासी भी इस गृहस्थाश्रम से ही भिक्षा, भेंट, उपहार तथा दान आदि पाकर अपने-अपने धर्म के पालन में प्रवृत्त होते हैं। गृहस्थ के कर्त्तव्य बताते हुए महेश्वर ने नारदजी से इस प्रकार कहा कि "किसी भी जीव की हिंसा न करना, सत्य बोलना, सब प्राणियों पर दया करना, मन और इन्द्रियों पर काबू रखना तथा अपनी शक्ति के अनुसार दान देना गृहस्थ-आश्रम का उत्तम धर्म है।"[34] गृहस्थ धर्म का प्राचीन रहस्य बताते हुए ययाति ने अष्टक से इस प्रकार कहा कि "गृहस्थ पुरुष न्याय से प्राप्त हुए धन को पाकर उससे यज्ञ करे, दान दे तथा सदा अतिथियों को भोजन कराये। दूसरों की वस्तु उनके दिये बिना ग्रहण न करे। यह गृहस्थ

३३—धर्मार्थकामवाप्तिर्ह्यत्र त्रिवर्गसाधनमपेक्ष्यार्हितेन
कर्मणा धनान्यादाय स्वाध्यायोपलब्ध प्रकर्षेण
वा ब्रह्मर्षिनिर्मितेन वा आद्रिसारगतेन वा।
हव्यकव्यनियमाभ्यासदैवतप्रसादोपलब्धेन वा
धनेन गृहस्थोगार्हस्थ्यं वर्तयेत्॥

शान्तिपर्व—अध्याय १९१, श्लो० १०

३४—अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम्।
शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः॥

अनुशासनपर्व—अध्याय

का प्राचीन एवं रहस्यमय स्वरूप है।"[३५] प्राचीनकाल में गृहस्थ पुरुष को धन या तो अध्यापन से प्राप्त होता था या देवताओं की प्रसन्नता से अथवा किसी पर्वत के नीचे सोने, चाँदी या रत्नों की खानों के निकल आने पर धन प्राप्त होता था। इस धन को प्राचीनकाल में न्यायपूर्ण समझा जाता था और इस धन में से किया हुआ दान, यज्ञ, अतिथि-सत्कार आदि ही श्रेष्ठ समझा जाता था। शास्त्रों के मतानुसार इस धन का दान पुण्यदायक माना जाता था तथा इसके श्रेष्ठ उपयोग से गृहस्थ का परलोक भी सुधर जाता था। गृहस्थ की आजीविका बताते हुए व्यासजी ने भीष्म से इस प्रकार कहा कि "गृहस्थ ब्राह्मण के विद्वानों ने चार प्रकार की आजीविका बतायी है--कोठे भर अनाज का संग्रह करके रखना यह पहली जीविकावृत्ति है। कुंडेभर अन्न का संग्रह करना, यह दूसरी वृत्ति है तथा इतने ही अन्न का संग्रह करना जो दूसरे दिन के लिए शेष न रहे, यह तीसरी वृत्ति है अथवा 'कापोति वृत्ति' (उञ्छवृत्ति) का आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करे, वह चौथी वृत्ति है।"[३६] इन चारों में पहली वृत्ति की अपेक्षा दूसरी वृत्ति श्रेष्ठ है। अन्तिम वृत्ति का आश्रय लेने वाला धर्म की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। कापोती वृत्ति की विशेषता तथा श्रेष्ठता बताते हुए व्यासजी ने इस प्रकार कहा कि "कुंडेभर अनाज का संग्रह करके अथवा उञ्छशिल के द्वारा अन्न का संग्रह करके 'कापोती-वृत्ति' का आश्रय लेने वाले पूजनीय ब्राह्मण जिस देश में निवास करते हैं उस राष्ट्र की वृद्धि

३५—धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत्,
दद्यात् सदैवातिथीन् भोजयेच्च ।
अनाददानश्च परैरदत्तं
सैषा गृहस्थोपनिषत् पुराणी ॥

आदिपर्व—अध्याय ९१, श्लो० ३

३६—गृहस्थवृत्तयश्चैव चतस्रः कविभिः स्मृताः ।
कुसूलधान्यः प्रथमः कुम्भधान्यस्त्वनन्तरम् ॥
अश्वस्तनोऽथ कापोतीमाश्रितो वृत्तिमाहरेत ॥

होती है।"[३७] उञ्छशिल अर्थात् अनाज के एक-एक दाने बीनने से जो अनाज इकट्ठा हो जाता है उसे उञ्छशिल कहते हैं। इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में अनाज का एक-एक दाना बड़े परिश्रम से बीनकर इकट्ठा किया जाता था और उस बिने हुए अनाज के संग्रह करने वाले को सबसे श्रेष्ठ माना जाता था। जो गृहस्थ अपनी आजीविका इस बीनकर संग्रह किये हुए अनाज से चलाता था, उसको लोग बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। इससे यही प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में परिश्रम करने वाले को उत्तम समझा जाता थी। इन चारों वृत्तियों के द्वारा जो गृहस्थ अपना जीवन बिताता था उसको परलोक में तो सुख मिलता ही था साथ-साथ ही उसकी दस पीढ़ी भी पवित्र हो जाती थीं। इस विषय में व्यास जी ने इन वृत्तियों का फल बताते हुए भीष्म जी से इस प्रकार कहा कि "जो मन में तनिक भी क्लेश का अनुभव न करके गृहस्थ की इन वृत्तियों के सहारे जीवन निभाता है, वह अपनी दस पीढ़ी के पूर्वजों को तथा दस पीढ़ी तक आगे होने वाली सन्तानों को पवित्र कर देता है।"[३८] गृहस्थ के लिए अपने ही लोगों के विषय में बताते हुए व्यासजी ने भीष्म जी से कहा कि "बड़ा भाई पिता के समान है। पत्नी और पुत्र अपने ही शरीर हैं तथा सेवकगण अपनी छाया के समान हैं। बेटी तो बहुत ही दयनीय है। अतः इनके द्वारा कभी अपना तिरस्कार भी हो जाय तो भी सदा क्रोधित रहकर सहन कर लेना चाहिए। गृहस्थपुरुष

३७—कुम्भधान्यैरुञ्छशिलैः कापोतीं चास्थितास्तथा
यस्मिश्चैते वसन्त्यर्हास्तद् राष्ट्रमभिवर्धते॥

शान्तिपर्व—अध्याय २४३, श्लो० २४½, २५

३८—पूर्वान् दश दश परान् पुनाति च पितामहान्।
गृहस्थवृत्तीश्चाप्येता वर्तयेद् यो गतव्यथः॥

शान्तिपर्व—अध्याय २४३, श्लो० २५

क्लेश और थकावट को जीतकर धर्मका निरन्तर पालन करते रहना चाहिये।"३९ गृहस्थ पुरुष को अपने बड़े भाई का पिता के समान आदर सम्मान करना चाहिये तथा पिता की ही भाँति उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिये। बड़े भाई से प्रेम रखने से परिवार में प्रेम बढ़ेगा और गृहस्थ के सब लोग प्रसन्न एवं सुखी रहेंगे। अधिकतर परिवारों में बड़े भाई का सम्मान न करने के कारण ही छोटेभाई आपस में झगड़ाकर उठते हैं और इसका परिणाम परिवार को भोगना पड़ता है। भाई-भाई के झगड़े के कारण न जाने कितने परिवार नष्ट हो चुके हैं और हो रहे हैं। इसी झगड़े की शान्ति के लिए हमारे ऋषियों ने शास्त्रों में ऐसे नियम लिखे थे जिनको मानकर लोग सुखपूर्वक अपना जीवन बिता सकें। समझदार लोग शास्त्रों की बातों को मानकर सुख से अपना जीवन बिताते हैं तथा देश की उन्नति में कुछ योग दे सकते हैं। किन्तु दूसरी ओर कम समझदार लोग शास्त्रों की बातों को न मानकर बड़े भाई से झगड़ा करके स्वयं अपना जीवन तो दुःखी बनाते ही हैं, साथ में देश की भी अवनति ही करते हैं। शास्त्रकारों ने बड़े भाई को पिता के समान मानने के लिए इसीलिए लिखा है जिससे भाई-भाइयों में प्रेम बना रहे और अपनी तथा अपने देश की उन्नति कर सकें। पुत्र और स्त्री को गृहस्थ के लिए अपना ही शरीर समझना चाहिए। इसका भी यही अर्थ है कि पिता को पुत्र से प्रेम करना चाहिए क्योंकि वह उनके कुल का उद्धार करने वाला है। प्रेम से ही पुत्र विद्वान् और योग्य पुरुष बन सकेगा, ताड़ने से नहीं। जो लोग अपने पुत्र को प्रेम नहीं करते उनका जीवन तो निष्फल हो ही जाता है, साथ में कुल का भी नाम ऊँचा होना असम्भव हो जाता है। पिता से प्रेम न मिलने पर पुत्र घर छोड़कर परदेश चला जाता है और वहाँ बिना छाया के दुःखी रहकर जीवन को ऊँचा बनाने में असफल रह जाता है। स्त्री को भी पुरुष को

३९—भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः।
छाया स्वा दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ॥
तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेन्नित्यमसंज्वरः ।
गृहधर्मपरो विद्वान् धर्मशीलो जितक्लमः ॥

शान्तिपर्व —अध्याय २४३, श्लो० २०-२१

अपना ही शरीर समझना चाहिए। इसका अभिप्राय भी यही है कि स्त्री पुरुष की अर्द्धांगनी मानी जाती है। बिना स्त्री के गृहस्थी अधूरी है। स्त्री के बिना घर सूना है। पुरुष को हर काम में सहायता देने वाला स्त्री के समान दूसरा कोई नहीं है। स्त्री ही संसार में एक ऐसी है जो पुरुष के दुःख में, गरीबी में हर प्रकार के संकट में उसका साथ देती है। इसलिए स्त्रियों का आदर करना, उनसे प्रेम रखना पुरुष के लिए बहुत ही आवश्यक हैं। बिना प्रेम के गृहस्थी में सुख नहीं मिल सकता। इसीलिए सुखी जीवन बिताने के लिए पुरुषों को अपनी गृहस्थी में स्त्री और पुत्रों से प्रेम रखना चाहिए। सेवकों को छाया बताने का अभिप्राय भी यही है कि सेवक भी अपने स्वामी का कार्य भली प्रकार तब ही कर सकेंगे, जबकि स्वामी का भाव तथा प्रेम उनकी तरफ से अच्छा होगा। स्वामी का यश फैलाने वाले सेवक ही होते हैं, इसलिए सेवकों को अपनी छाया समझकर सदैव उनका हित करना चाहिए जिससे वे लोग सदा प्रसन्न रहें। पुत्री को दयनीय इसलिए बताया है कि उनका जीवन तो सदैव दूसरों के ही ऊपर बीतता है। जो जिस प्रकार उन्हें रखता है, वे उसी प्रकार रहती हैं, चाहे दुःखी रहें या सुखी। इसका कारण है कि स्त्रियों को स्वतन्त्रता नहीं है,वे कभी अकेली रह ही नहीं सकती हैं। बचपन में माता-पिता उनकी देख-भाल करते हैं तथा युवावस्था आने पर माता-पिता ही अच्छा वर देख-कर पुत्री का विवाह कर देते हैं। पुत्री तो घर में बन्द रहने के कारण अधिक कुछ समझती नहीं। माता-पिता जैसा भी घर-वर ढूढ़कर उसका विवाह कर देते है, वह उसी के साथ प्रसन्न रह कर अपना गृहस्थ जीवन सुखी बनाती है। पुत्री स्वतन्त्र न होने के कारण दयनीय मानी जाती है। पुत्र के साथ यदि अच्छा व्यवहार नहीं होता तो वह घर छोड़कर चला जाता है, किन्तु पुत्री के साथ कैसा भी बुरा व्यवहार क्यों न हो वह घर छोड़कर नहीं जा सकती है। इसलिए सबको लड़कियों के साथ अच्छा व्यवहार तथा प्रेम करना चाहिए।

८—शुभकर्मों से ग्रहस्थ को सद्‌गति मिलती है—

उसको उत्तम लोक तथा उत्तम गति प्राप्ति होती है। गृहस्थाश्रम में रहने वाला गृहस्थ यदि प्रसन्नता पूर्वक चार प्रकार की वृत्तियों से, जो ऊपर बताई जा चुकी हैं अपना जीवन व्यतीत करता है तो व्यासजी ने भीष्म से इस प्रकार उसको क्या गति मिलती है कहा कि "उसे चक्रधारी श्रीविष्णु के लोक के सदृश उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है अथवा वह जितेन्द्रिय पुरुष को मिलने वाली श्रेष्ठ गति प्राप्त कर लेता है।"[४०] गृहस्थ के उत्तम कर्मों से जो गति प्राप्त होती है उसका वर्णन करते हुए व्यास जी ने भीष्मजी से इस प्रकार कहा कि "उदार चित्तवाले गृहस्थों को हितकारक स्वर्गलोक प्राप्त होता है ऐसा वेदों में वर्णन है। ब्रह्माजी ने गार्हस्थ्य-आश्रम को स्वर्ग की प्राप्ति का कारण बताया है। इसीलिए इसके पालन का विधान किया गया है। मन और इन्द्रियों को संयम में रखने वाले गृहस्थों के लिए स्वर्ग-लोक में ही प्रतिष्ठा का स्थान नियत किया है।"[४१] गृहस्थाश्रम से ही धर्म का पालन पूर्ण होता है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, संन्यासी सब का धर्म गृहस्थाश्रम पर ही निर्भर रहता है। सब प्रकार के धर्मों का पालन गृहस्थाश्रम में रहकर ही पूर्ण हो पाता है। अतिथि सत्कार, यज्ञ, दान, भिक्षा तथा अन्य धार्मिक कृत्य सब गृहस्थाश्रम से ही पूर्ण होते हैं। इसीलिए गृहस्थाश्रम स्वर्ग तक पहुँचाने वाला कल्याण का मार्ग कहा जाता है। इसीलिए चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम को ही उसकी विशेषताओं के कारण श्रेष्ठ कहा गया है।

४०--स चक्रधरलोकानां सदृशीमाप्नुयाद् गतिम् ।
जितेन्द्रियाणामथवा गतिरेषा विधीयते ॥

४१--स्वर्गलोको गृरस्थानामुदारमनसां हितः ।
स्वर्गो विमानसंयुक्तो वेददृष्टः सुपुष्पितः ॥
स्वर्गलोको गृहस्थानां प्रतिष्ठा नियतात्मनाम् ।
ब्रह्मणा विहिता योनिरेषा यस्माद् विधीयते ।
द्वितीयं क्रमशः प्राप्य स्वर्गलोके महीयते ॥
शान्तिपर्व--अध्याय २४३, श्लो० २६-२७-२८

अध्याय—१६

महाभारत में स्त्री-धर्म

१–स्त्री का महत्त्व––

भारतीय संस्कृति में स्त्री का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। माता, पत्नी, पुत्री आदि रूप में स्त्री को भारतीय संस्कृति की परम्परा में बहुत आदर मिला है। भारतीय साहित्य में भी स्त्री के चरित्र का गौरवपूर्ण चित्रण किया गया है। महाभारत भारतीय साहित्य का एक महिमामय ग्रन्थ है। महाभारत में भी स्त्री का महत्वपूर्ण स्थान है। महाभारत की कथा में गान्धारी, कुन्ती, द्रौपदी आदि स्त्री पात्र अपना विशेष स्थान रखते हैं। महाभारत में अनेक स्थलों पर स्त्री के महत्व और उसके धर्म का वर्णन किया गया है।

शान्ति पर्व में युधिष्ठिर को नीति का उपदेश देते हुए पितामह भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "संसार में स्त्री के समान कोई बन्धु नहीं है, स्त्री के समान कोई आश्रय नहीं है और स्त्री के समान धर्म संग्रह में सहायक भी दूसरा कोई नहीं है।"[1] पुरुष की जीवन-साधना में पत्नी उसकी सबसे बड़ी सहायक है। चतुर्वर्ग में मोक्ष की साधना तो कदाचित् मनुष्य का एकान्त धर्म है। स्त्री का सम्बन्ध और बन्धन मोक्ष में बाधक भी हो सकता है किन्तु शेष तीनों पुरुषार्थों की साधना में स्त्री का सहयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पितामह

१—नास्ति भार्यासमो बन्धुर्नास्ति भार्यासमा गतिः।
नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसंग्रहे॥
शान्तिपर्व—अध्याय १४५, श्लोक १६

के शब्दों में "धर्म, अर्थ और काम की साधना के समय पत्नी पुरुष की सहायः होती है।"[२] वैदिक अनुशासन के अनुसार गृहस्थ पुरुषों के धार्मिक कृत्य स्त्र को साथ लेकर ही होते हैं। वैदिक काल में स्त्रियाँ पुरुषों के साथ बैठक यज्ञ करती थीं। सीता के द्वितीय निर्वासन के बाद राज्याभिषेक के सम रामचन्द्र को सीता की सोने की प्रतिमा बनवानी पड़ी थीं। भारतीय धर्म कृत्यों में उपकरण और उपचार बहुत होते हैं, उनकी व्यवस्था में भी स्त्री क अमूल्य सहयोग रहता है। अर्थ की साधना में भी स्त्री की प्रेरणा, उसक परामर्श और उसका सहयोग पुरुष का सहायक होता है। काम की साधन में स्त्री का सहयोग सृष्टि की अद्भुत विभूति है। पत्नी के सहयोग से धर्म सम्मत काम भगवत् गीता के अनुसार मनुष्य का दिव्य-धर्म बन जाता है।[३]

धर्मशास्त्रों की परम्परा के अनुरूप महाभारत में भी स्त्री को रक्षणीय माना गया है। शारीरिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से स्त्री की स्थिति ऐसी है कि अनेक रूपों में स्त्री के साथ पुरुष के अतिचार की आशंका हं सकती है। जनतन्त्र और स्वतन्त्रता के विकास के आधुनिक युग में भी प्रति दिन ऐसे अतिचारों के समाचार मिलते हैं। इसीलिए भारतीय धर्मशास्त्र वे आचार्यों ने स्त्री की रक्षा का भार पुरुष को सौंपा है। पुरुषों के द्वारा रक्षित होने पर ही इस पुरुष-तन्त्र समाज में नारी का शील और जीवन सुरक्षित रः सकता है। इस सुरक्षा के ही प्रसंग में धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री को स्वतन्त्रता के योग्य नहीं माना है। स्वतन्त्रता के अन्य रूपों से स्त्री को वंचित नहीं किय

२—धर्मार्थकामकालेषु भार्या पुंसः सहायिनी।
विदेशगमने चास्य सैव विश्वासकारिका।।
शान्तिपर्व—अध्याय १४५, श्लोक १३

३—बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।
श्री भगवद्गीता-अध्याय ७, श्लोक ११

गया है। पारिवारिक और सामाजिक जीवन में नारी को अनेक अधिकार प्राप्त हैं। धर्मशास्त्रकारों का अभिप्राय केवल इतना ही है कि पुरुष के अतिचारों से अपने शील और जीवन की रक्षा स्त्री स्वयं नहीं कर सकती। अतः उसकी रक्षा पुरुषों का उत्तरदायित्व है। धर्मशास्त्रों में स्त्री की रक्षा का यह भार आयु और सम्बन्ध के अनुसार क्रमशः पिता, पति, और पुत्र को सोंपा गया है। इस प्रसंग में महाभारतकार के शब्द[४] मनु[५] और याज्ञवल्क्य[६] के वचनों का स्मरण दिलाते हैं।

रक्षणीया होने के साथ-साथ स्त्री अवध्य भी है। स्त्री की अवध्यता भी उसकी रक्षणीयता का ही एक अंग है। महाभारत में अनेक प्रसंगों में स्त्री को अवध्य माना गया है। एक तपस्वी ब्राह्मण के शाप से पीड़ित वर्गा आदि अप्सराओं ने ब्राह्मण से क्षमा की याचना करते हुए यह प्रमाण उपस्थित किया था कि "धर्मात्मा पुरुष स्त्रियों को अवध्य मानते हैं।"[७] इसी प्रकार

४—पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वान्त्र्यमर्हति॥
विराटपर्व—अध्याय १६, श्लोक ४२-४३ के बीच का

५—पितारक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा व स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥
मनुस्मृति—अध्याय ६, श्लोक ३

६—रक्षेत्कन्यां पिता विन्नां पतिः पुत्रास्तु वार्द्धके।
अभावे ज्ञातयस्तेषां स्वातन्त्र्यं न क्वचित्स्त्रियाः॥
याज्ञवल्क्य स्मृति—अध्याय १, श्लोक ८५

जब कंस ने देवकी के पुत्र के हाथों अपनी मृत्यु की आकाशवाणी सुनी और देवकी के वध का प्रयत्न करना चाहा, तब वसुदेव ने कंस से कहा कि "पृथ्वीपते ! प्रायः सभी धर्मों में नारी को अवध्य कहा है।[८] हिडिम्बासुर को मारकर जब भीमसेन ने उसकी बहिन हिडिम्बा को मारना चाहा तब युधिष्ठिर ने भी भीमसेन को समझाया कि "क्रोध में स्त्री का वध नहीं करना चाहिए। शरीर की रक्षा की अपेक्षा धर्म की रक्षा श्रेष्ठ है।"[९] बकासुर की कथा के प्रसंग में जब असुर के भोजन के लिए एक ब्राह्मण की बारी आई तो पति की रक्षा के लिए उसकी स्त्री ने स्वयं असुर के पास जाने का प्रस्ताव रक्खा। उस समय ब्राह्मणी ने ब्राह्मण से कहा कि "धर्मज्ञ विद्वानों ने धर्म-निर्णय के प्रसंग में नारी को अवध्य बताया है। राक्षसों को भी लोग धर्मज्ञ कहते हैं। (राक्षस ने धर्म का विचार किया तो मेरे बच जाने की आशा है)"[१०] राक्षस से भी स्त्री की अवध्यता का आदर करने की आशा यह प्रमाणित करती है कि कितनी गम्भीरता के साथ भारतीय परम्परा में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।

८—अहिंस्यां प्रमदामाहुः सर्वधर्मेषु पार्थिव।
अकस्माद्बलां नारीं हन्तासीमामनागसीम् ॥
सभापर्व—अध्याय २२, श्लोक ३६ से आगे

९—क्रुद्धोऽपि पुरुषव्याघ्र भीम मा स्म स्त्रियं वधीः।
शरीरगुप्त्यभ्यधिकं धर्मं गोपाय पाण्डव ॥
आदिपर्व-अध्याय १५४, श्लोक २

१०. अवध्यां स्त्रियमित्याहुर्धर्मज्ञा धर्मनिश्चये।
धर्मज्ञान् राक्षसानाहुर्न हन्यात् स च मामपि ॥
आदिपर्व-अध्याय १५७, श्लोक ३१

भारतीय संस्कृति में स्त्रियों के लिए पातिव्रत धर्म का भी वड़ा महत्व है। प्राचीन काल में लड़के-लड़कियों के विवाह सम्बन्ध उनके कुल को देख कर किथे जाते थे, क्योंकि कुल का प्रभाव बच्चों के पालन-पोषण में प्रधान रूप से रहता है। यदि कन्या की माँ शीलवती, गुणवती तथा धर्म परायणा होगी तो उसकी पुत्री भी वैसे ही गुणों से सम्पन्न अवश्य होगी। इसीलिए विवाह सम्बन्ध कुलीन परिवार में होते थे। महाभारत में स्त्रियों के धर्म, पातिव्रत धर्म तथा स्त्रियों के कर्तव्यों के विषय में अनेक स्थलों पर वर्णन मिलते हैं। महाभारत में वकासुर वृत्त के प्रसंग में जब एक ब्राह्मण की बारी उस वकासुर के भोजन के लिए आती है तब वह बड़ा दुःखी होता है और उसकी स्त्री स्वयं अपने पति के स्थान पर भक्षण के लिए जाने को उद्यत होती है, तब ब्राह्मण अपनी स्त्री के गुणों को देखकर कहता है कि "कुलीन, सन्तानवती, सती साध्वी, नित्य पति के अनुकूल चलने वाली धर्मपत्नी हो, ये स्त्री का धर्म है।"[११] स्त्री के पातिव्रत धर्म के विषय में महाभारत में कण्व ऋषि ने पुत्री शकुन्तला की विदा के समय स्त्रियों के कर्तव्य तथा पतिव्रता के लक्षणों को भी बताया हैं। कण्वऋषि ने कहा है कि "भार्या वही हैं जो घर के कामकाज में कुशल हो, सन्तानवती हो, पति को प्राणों के समान प्रिय मानती हो तथा जो पतिव्रता हो।"[१२] भारतीय संस्कृति में स्त्रियों के लिए पति की सेवा से बढ़कर कोई कार्य श्रेष्ठ नहीं है। स्त्री के लिए पतिसेवा ही सब धर्म, यज्ञ, तीर्थों, तथा दानों का फल प्राप्त करा देती है। वकासुरवृत्त में ब्राह्मणी ने अपने पति से कहा है कि "जो स्त्री सदा अपने पति के प्रिय और हित कार्यों में लगी रहती है, यह उसके लिए बड़े-बड़े यज्ञों, तपस्याओं, नियमों

११-कुलीनां शीलसम्पन्नामपत्यजननीमपि ।
त्वामहं जीवितस्यार्थे साध्वीमनपकारिणीम् ॥
आदिपर्व—अध्याय १५६, श्लोक ३३

१२—सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ॥
आदिपर्व-अध्याय ७४, श्लोक ४०

और नाना प्रकार के दानों से भी बढ़कर है।"[13] महाभारत में कण्व ऋषि ने अपनी पुत्री शकुन्तला को स्त्रियों के धर्म के विषय में बताया है कि 'सती स्त्रियों को मन, वाणी, शरीर, और चेष्टाओं द्वारा निरन्तर पति की सेवा करनी चाहिए तथा पतिव्रतोचित आचार-व्यवहार से ही विशिष्ट शोभा प्राप्त करनी चाहिए।"[14] पतिव्रता स्त्री के कर्तव्यों का वर्णन करते समय महाभारत में भीष्म पितामह ने भी युधिष्ठिर से कहा है कि "पतिव्रता स्त्री वही है जो उत्तमव्रत का पालन करती है, बिना पति को भोजन कराये भोजन नहीं करती, पति को नहलाये बिना स्नान नहीं करती, पति के सो जाने पर शयन करती है, यही पतिव्रता के धर्म हैं।"[15] एक बार पार्वतीजी ने शिव से अध्यात्म-ज्ञान जानने की अपनी इच्छा प्रकट की, तब शिवजी ने उन्हें सम्पूर्ण अध्यात्म ज्ञान बता दिया। फिर शिवजी ने पार्वती से कहा कि अब मैं तुम से स्त्री-धर्म विषयक बातें जानना चाहता हूँ क्योंकि विशेषतः स्त्रियाँ ही स्त्रियों की परम गति हैं। ब्रह्माजी की पत्नी सावित्री साध्वी हैं, इन्द्र-पत्नी शची भी सती हैं, विष्णु की प्यारी पत्नी लक्ष्मी पतिव्रता हैं आदि इन समस्त पतिव्रता देवियों का तुमने सदा संग किया है, इसलिए तुम्हारे मुख से वर्णित नारी-धर्म सुनना चाहता हूँ। तब पार्वतीजी ने पतिव्रता नारी के लक्षण इस प्रकार बताये कि "जो हृदय के अनुराग के कारण स्वामी के आधीन रहती है, चित्त को प्रसन्न रखती है, देवता के समान पति की सेवा और परिचर्या करती है, पति

१३—यज्ञैस्तपोभिर्नियमैर्दानैश्च विविधैस्तथा।
विशिष्यते स्त्रिया भर्तुर्नित्यं प्रियहिते स्थितिः॥
आदिपर्व—अध्याय १५७, श्लोक २४

१४—पतिशुश्रूषणं पूर्वं मनोवाक्कायचेष्टितैः।
अनुज्ञाता मया पूर्वं पूजयैतद् व्रतं तव॥
आदिपर्व—अध्याय ७४, श्लोक ९-१० के मध्य का

१५—न भुङ्क्ते मय्यभुक्ते या नास्नाते स्नाति सुव्रता।
नातिष्ठत्युपतिष्ठेत शेते च शयिते मयि॥८॥
शान्तिपर्व—अध्याय १४५, श्लोक ८

भारतीय संस्कृति में स्त्रियों के लिए पातिव्रत धर्म का भी बड़ा महत्व है। प्राचीन काल में लड़के-लड़कियों के विवाह सम्बन्ध उनके कुल को देख कर किये जाते थे, क्योंकि कुल का प्रभाव बच्चों के पालन-पोषण में प्रधान रूप से रहता है। यदि कन्या की माँ शीलवती, गुणवती तथा धर्म परायणा होगी तो उसकी पुत्री भी वैसे ही गुणों से सम्पन्न अवश्य होगी। इसीलिए विवाह सम्बन्ध कुलीन परिवार में होते थे। महाभारत में स्त्रियों के धर्म, पातिव्रत धर्म तथा स्त्रियों के कर्तव्यों के विषय में अनेक स्थलों पर वर्णन मिलते हैं। महाभारत में बकासुर वृत्त के प्रसंग में जब एक ब्राह्मण की बारी उस बकासुर के भोजन के लिए आती है तब वह बड़ा दुःखी होता है और उसकी स्त्री स्वयं अपने पति के स्थान पर भक्षण के लिए जाने को उद्यत होती है, तब ब्राह्मण अपनी स्त्री के गुणों को देखकर कहता है कि "कुलीन, सन्तानवती, सती साध्वी, नित्य पति के अनुकूल चलने वाली धर्मपत्नी हो, ये स्त्री का धर्म है।"[११] स्त्री के पातिव्रत धर्म के विषय में महाभारत में कण्व ऋषि ने पुत्री शकुन्तला की विदा के समय स्त्रियों के कर्तव्य तथा पतिव्रता के लक्षणों को भी बताया हैं। कण्वऋषि ने कहा है कि "भार्या वही हैं जो घर के कामकाज में कुशल हो, सन्तानवती हो, पति को प्राणों के समान प्रिय मानती हो तथा जो पतिव्रता हो।"[१२] भारतीय संस्कृति में स्त्रियों के लिए पति की सेवा से बढ़कर कोई कार्य श्रेष्ठ नहीं है। स्त्री के लिए पतिसेवा ही सब धर्म, यज्ञ, तीर्थों, तथा दानों का फल प्राप्त करा देती है। बकासुरवृत्त में ब्राह्मणी ने अपने पति से कहा है कि "जो स्त्री सदा अपने पति के प्रिय और हित कार्यों में लगी रहती है, यह उसके लिए बड़े-बड़े यज्ञों, तपस्याओं, नियमों

११-कुलीनां शीलसम्पन्नामपत्यजननीमपि।
त्वामहं जीवितस्यार्थे साध्वीमनपकारिणीम्॥
आदिपर्व—अध्याय १५६, श्लोक ३३

१२—सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता॥
आदिपर्व-अध्याय ७४, श्लोक ४०

और नाना प्रकार के दानों से भी बढ़कर है।"[१३] महाभारत में कण्व ऋषि ने अपनी पुत्री शकुन्तला को स्त्रियों के धर्म के विषय में बताया है कि 'सती स्त्रियों को मन, वाणी, शरीर, और चेष्टाओं द्वारा निरन्तर पति की सेवा करनी चाहिए तथा पतिव्रतोचित आचार-व्यवहार से ही विशिष्ट शोभा प्राप्त करनी चाहिए।"[१४] पतिव्रता स्त्री के कर्तव्यों का वर्णन करते समय महाभारत में भीष्म पितामह ने भी युधिष्ठिर से कहा है कि "पतिव्रता स्त्री वही है जो उत्तमव्रत का पालन करती है, बिना पति को भोजन कराये भोजन नहीं करती, पति को नहलाये बिना स्नान नहीं करती, पति के सो जाने पर शयन करती है, यही पतिव्रता के धर्म हैं।"[१५] एक बार पार्वतीजी ने शिव से अध्यात्म-ज्ञान जानने की अपनी इच्छा प्रकट की, तब शिवजी ने उन्हें सम्पूर्ण अध्यात्म ज्ञान बता दिया। फिर शिवजी ने पार्वती से कहा कि अब मैं तुम से स्त्री-धर्म विषयक बातें जानना चाहता हूँ क्योंकि विशेषतः स्त्रियाँ ही स्त्रियों की परम गति हैं। ब्रह्माजी की पत्नी सावित्री साध्वी हैं, इन्द्र-पत्नी शची भी सती हैं, विष्णु की प्यारी पत्नी लक्ष्मी पतिव्रता हैं आदि इन समस्त पतिव्रता देवियों का तुमने सदा संग किया है, इसलिए तुम्हारे मुख से वर्णित नारी-धर्म सुनना चाहता हूँ। तब पार्वतीजी ने पतिव्रता नारी के लक्षण इस प्रकार बताये कि "जो हृदय के अनुराग के कारण स्वामी के आधीन रहती है, चित्त को प्रसन्न रखती है, देवता के समान पति की सेवा और परिचर्या करती है, पति

१३—यज्ञैस्तपोभिर्नियमैर्दानैश्च विविधैस्तथा।
विशिष्यते स्त्रिया भर्तुर्नित्यं प्रियहिते स्थितिः॥
आदिपर्व—अध्याय १५७, श्लोक २४

१४—पतिशुश्रूषणं पूर्वं मनोवाक्कायचेष्टितैः।
अनुज्ञाता मया पूर्वं पूजयैतद् व्रतं तव॥
आदिपर्व—अध्याय ७४, श्लोक ६-१० के मध्य का

१५—न भुङ्क्ते मय्यभुक्ते या नास्नाते स्नाति सुव्रता।
नातिष्ठत्युपतिष्ठेत शेते च शयिते मयि॥८॥
शान्तिपर्व—अध्याय १४५, श्लोक ८

के लिए सुन्दर वेष धारण करती है, प्रसन्नवदन रहती है तथा जो स्वामी के कठोर वचन कहने या दोषपूर्ण दृष्टि देखने पर भी प्रसन्नता से मुस्कराती रहती है वही स्त्री पतिव्रता है।"[१६] उमा ने फिर पतिव्रता के लक्षण इस प्रकार कहे कि "पति पत्नी को एक साथ रहकर धर्माचरण करना चाहिए, जो स्त्री मंगलमय दाम्पत्य धर्म को सुनकर धर्मपरायण हो जाती है वही पतिव्रता है।"[१७] स्त्रियों के लिए पति का महत्त्व बताते हुए सत्यभामा ने द्रौपदी से कहा है कि "पति के साथ रहना स्त्री का सनातन धर्म है, पति ही उनका देवता है, पति ही उनकी गति है तथा पति के सिवा स्त्री का दूसरा कोई सहारा नहीं है।"[१८] भारतीय संस्कृति में पति की सेवा के साथ अपने सास ससुर की सेवा तथा बड़ों का आदर करने की भावना रखना भी सती साध्वी स्त्रियों का कर्त्तव्य है। वन जाते समय रामचन्द्र जी ने भी सीताजी से अनुरोध किया था कि तुम घर पर रहो और अपने सास-ससुर की सेवा करना, इससे बढ़ कर दूसरा धर्म नहीं है। महाभारत में सास ससुर की सेवा के सम्बन्ध में भीष्म जी ने

१६—शुश्रूषां परिचारं च देवतुल्यं प्रकुर्वती।
वश्या भावेन सुमनाः सुव्रता सुखदर्शना।
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्मचारिणी॥
परुषाण्यपि चोक्ता या दृष्टा दुष्टेन चक्षुषा।
सुप्रसन्नमुखी भर्तुर्या नारी सा पतिव्रता॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १४६, श्लोक ४१, ४२

१७—श्रुत्वा दम्पतिधर्मं वै सहधर्मं कृतं शुभम्।
या भवेद् धर्मपरमा नारी भर्तृसमव्रता॥
अनुशासनपर्व—अध्याय १४६, श्लोक ३९

१८—पत्याश्रयो हि मे धर्मो मतः स्त्रीणां सनातनः।
स देवः सा गतिर्नान्या तस्य का विप्रियं चरेत्॥
वनपर्व—अध्याय २३३, श्लोक ३७

युधिष्ठिर जी से कहा है कि "सदा सास-ससुर की आज्ञा में रहने वाली, देवता, पितर तथा ब्राह्मणों की पूजा में सदा सावधान होकर संलग्न रहने वाली स्त्री ही पतिव्रता है।"[१९] प्राचीन काल में पतिव्रता स्त्रियाँ अपने पति की प्रसन्नता के लिए धर्म के प्रतिकूल कार्यों को करने के लिए भी उद्यत रहती थीं, क्योंकि वह पति को देवता तुल्य मानती थीं और उनके कहे हुए वचनों का वह उल्लंघन नहीं कर सकती थीं। एक वार पाण्डु ने कुन्ती से इसी प्रकार के धर्म के प्रतिकूल वचन कहे और कुन्ती ने उन वचनों का पालन स्त्री-धर्म समझकर किया। पाण्डु ने कहा कि "प्राचीन धर्म यही है कि पति अपनी पत्नी से जो बात कहे, वह धर्म के अनुकूल हो या प्रतिकूल, उसे अवश्य पूर्ण करना चाहिए।"[२०] एक वार सत्यभामा ने द्रौपदी से कहा कि आपने ऐसी कौनसी जड़ी वूटी इन पांडवों को खिला रक्खी है, जिससे ये सवके सव आपको वहुत प्रेम करते हैं। मैं भी उस औषधि से अपने श्यामसुन्दर को सदा अपने अधीन करना चाहती हूँ। तव द्रौपदी ने कहा कि ऐसी कोई जड़ी-वूटी या औषधि नहीं है जिससे कि पुरुषों को अपने अधीन किया जा सके। पुरुषों को अपने वश में करने का एक मात्र साधन सच्चा प्रेम, त्याग तथा सेवा है। मैंने सव पाण्डवों की सदा सेवा तथा उनके साथ जीवन भर त्याग किया है, उसी से प्रभावित होकर वे लोग मुझसे इतना प्रेम करते हैं तथा तुमको ऐसा लगता है कि सव मेरे वश में हैं। पुरुषों को प्रसन्न करने के लिए स्त्रियों को चाहिए कि वे उनके माता-पिता आदि वड़े लोगों का सदा आदर सम्मान करें तथा उनकी प्रेम से सेवा करें और उनकी आज्ञा का पालन करें, जिससे घर में सुख-शान्ति की वृद्धि हो और सव लोग आपस में प्रेम-भाव से रहें। अपने वड़ों की प्रसन्नता से पुरुष वड़े प्रसन्न रहेंगे

१९—देवतानां पितॄणां च ब्राह्मणानां च पूजने।
अप्रमत्ता सदा युक्ता श्वश्रूश्वशुरवर्तिनी॥
अनुशासन पर्व— अध्याय १२३, श्लोक १०

२०—धर्ममेवं जनाः सन्तः पुराणं परिचक्षते।
भर्ता भार्यां राजपुत्रि धर्म्यं वाधर्म्यमेव च॥
यद् ब्रूयात् तत् तथा कार्यमिति वेद विदो विदुः।
आदिपर्व—अध्याय १२१, श्लोक ४½

और वह अपनी स्त्री की सदैव प्रशंसा करेंगे तथा उन्हें वह स्वयं मान देंगे और उनके मन के सोचे हुए सारे कार्य पूर्ण होंगे। इस प्रकार सत्यभामा के पूछने पर द्रौपदी ने उसे स्त्रियों के कर्त्तव्य के बारे में इस प्रकार बताया कि "पतिव्रता स्त्रियाँ पति के शयन के बाद शयन करती हैं, भोजन, स्नान आदि सारे कार्य पति के बाद करती हैं, पति की इच्छा के विरुद्ध आभूषण नहीं पहनती, कभी किसी की निन्दा नहीं करतीं। ये ही उनके कर्त्तव्य हैं।"[२१] पतिव्रता स्त्रियों का भारतीय-शास्त्रों में शील गुण एक बड़ा श्रेष्ठ गुण है। शील एक प्रकार से नारी का आभूषण है। शीलवती स्त्रियाँ ही अपना तथा अपने परिवार का कल्याण करने वाली मानी जाती हैं। जिस परिवार में शीलवती स्त्रियाँ होती हैं, सुख-शान्ति उसी परिवार में निवास करती हैं। प्राचीन काल में विवाह-सम्बन्ध के समय कन्याओं का शील-गुण ही प्रायः देखा—पूछा जाता था। प्राचीन काल में विवाह में दहेज प्रथा नहीं थी और न शिक्षा की डिग्रियां थी, इसलिए कन्याओं का कुल और उनका शीलगुण ही अधिकतर देखा जाता था। शीलगुण के विषय में धृतराष्ट्र ने महाभारत में दुर्योधन से कहा है कि "मन वाणी और क्रिया द्वारा किसी भी प्राणी से द्रोह न करना, दया करना, यथाशक्ति दान देना आदि गुण 'शील' कहलाते हैं, जिसकी लोग प्रशंसा करते हैं।"[२२]

भारतीय धर्मशास्त्रों में स्त्री को पति के घर ही रहने का आदेश अधिक है। क्योंकि पति के घर में ही अधिक रहने से स्त्री का मान-मर्यादा बढ़ते हैं तथा गृहस्थी के सम्पूर्ण प्रबन्ध भी सुचारु रूप से स्त्री के ही रहने से चलते हैं। इसलिए स्त्रियों को अपने माता-पिता के घर अधिक दिन के लिए नहीं जाना चाहिए। स्त्रियों को अपने माता-पिता के यहाँ कुछ दिन के लिए किसी विशेष

२१-अहं पतीन् नातिशये नात्यश्ने नातिभूषये।
नापि श्वश्रू परिवदे सर्वदा परियन्त्रिता॥
वनपर्व—अध्याय २३४, श्लोक ३८

२२—अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते॥
शान्तिपर्व—अध्यय १२४, श्लोक ६६

लगी रहती है, उसका यह कार्य महान पुण्य, बड़ी भारी तपस्या और सनातन स्वर्ग का साधन है।"[२५] महाभारत में सुमना और शाण्डिली संवाद में स्त्रियों के सदाचार के विषय में अनेक बातें आईं है। सुमना पतिव्रत धर्म का पालन करती हुई स्वर्ग लोक में पहुँच गई थी, थोड़े समय बाद शाण्डिली भी अपने धर्म के प्रताप से स्वर्ग में पहुँची तो सुमना ने उससे कहा कि तुमने जो धर्म कार्य किये हैं, जिनसे तुम्हें स्वर्ग प्राप्त हुआ है, वह बताओ। वही संवाद भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि "सदाचार से जीवन बिताने वाली स्त्रियाँ स्वामी के परदेश या बाहर जाने पर आँखों में अंजन, ललाट पर गोरोचन तिलक, फूलों की माला, अंगों में अंगराग तथा शृंगार नहीं करती हैं।"[२६] भारतीय स्त्रियों का शृंगार भी पति के लिए ही होता है। जब उनके पति घर पर रहते हैं, तभी वह सब शृंगार करती हैं। कालिदास के शब्दों में स्त्रियों के सौन्दर्य की सार्थकता भी पति के प्रेम में ही है (प्रियेषु सौभाग्य फला हि चारुता कुमार सम्भव) भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "साध्वी स्त्रियों को पति के प्रति सदैव प्रियवचन बोलने चाहिए अहितकर कठोर वचन नहीं बोलने चाहिए।"[२७]

२५–पुण्यमेतत् तपश्चैतत् स्वर्गश्चैष सनातनः।
या नारी भर्तृपरमा भवेद् भर्तृव्रता सती॥
अनुशासनपर्व—अध्याय १४६, श्लोक ५४

२६—अंजनं रोचनां चैव स्नानं माल्यानुलेपनम्।
प्रसाधनं च निष्क्रान्ते नाभिनन्दामि भर्तरि॥
अनुशासनपर्व—अध्याय १२३, श्लोक १७

२७–अहितानि च वाक्यानि सर्वाणि परुषाणि च।
अप्रमत्ता च भर्तारं कदाचिन्नाहमब्रुवम्॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १२३, श्लोक ६

पति ही स्त्रियों के लिए देवता है ऐसा कहती हुई बकासुर संवाद में एक ब्राह्मणी ब्राह्मण से बोली कि "प्रियवर ! मुझे तो पति की सेवा से जो धर्म प्राप्त होता है वही प्रिय है। सम्पूर्ण देवताओं में ही पति मेरे सबसे बड़े देवता हैं।"[२८] भारतीय स्त्रियों की भावना सदैव ही पति को देवता मानने की रही है। पति को देवता मानकर ही भारतीय स्त्रियाँ उनकी इतनी प्रेम-भाव से सेवा करती रही हैं। कुन्ती ने सूर्यदेव से कहा कि "मैं अपने धर्म का लोप नहीं करूँगी। स्त्रियों के सदाचार में अपने शरीर की पवित्रता बनाये रखना ही प्रधान है।"[२९] सदाचार से रहने वाली भारतीय स्त्रियाँ अपने शरीर को मन से, वचन से तथा कर्म से सभी प्रकार से पवित्र रखती हैं। ऐसे पवित्र और ऊँचे विचार रखने वाली स्त्रियाँ ही सच्ची पतिव्रता होती हैं, उनका मन कभी स्वप्न में भी दूसरे पुरुष को नहीं देखता। भीष्म ने सदाचार से रहने वाली स्त्रियों के स्थान के बारे में युधिष्ठिर से कहा कि "जो स्त्री सदा सावधान रहकर धर्ममार्ग पर चलती है, वह नारियों में अरुन्धती के समान आदरणीय होती है, और स्वर्गलोक में भी विशेष प्रतिष्ठा पाती है।"[३०]

२८—पतिशुश्रूषया धर्मो यः स मे रोचते द्विज।
देवतेष्वपि सर्वेषु भर्ता मे दैवतं परम्॥
वनपर्व—अध्याय २०६, श्लोक ३०

२९—पिता माता गुरवश्चैव येऽन्ये
देहस्यास्य प्रभवन्ति प्रदाने।
नाहं धर्मं लोपयिष्यामि लोके
स्त्रीणां वृत्तं पूज्यते देहरक्षा॥
वनपर्व—अध्याय ३०६, श्लोक २३

३०—इमं धर्मपथं नारी पालयन्ती समाहिता।
अरुन्धतीव नारीणां स्वर्गलोके महीयते॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १२३, श्लोक २०

भारतीय धर्मशास्त्रों में पतिव्रता स्त्रियों के लिए केवल एक पति के वरण करने का ही नियम है। यदि उसके पति की मृत्यु हो भी जाय तब भी उसे दूसरा पति नहीं देखना चाहिए और नियम पूर्वक रहकर अपने बच्चों का पालन-पोषण करना चाहिए। पुरुष के लिए धर्मशास्त्रों में अनेक विवाह करने के अधिकार थे कि यदि किसी पुरुष की स्त्री की मृत्यु हो जाय तो वह फिर दूसरा विवाह करके अपने गृहस्थ का सुख प्राप्त कर सकता है। किन्तु स्त्रियाँ दूसरा विवाह नहीं कर सकती थीं। ऐसे ही विचारों से प्रभावित होकर ब्राह्मणी ने ब्राह्मण से कहा कि "स्त्रियों को अपने पूर्व पति का उल्लंघन करने पर बड़ा भारी पाप लगता है।"[३१] प्राचीन काल में स्त्रियाँ अपने पति की मृत्यु हो जाने पर उसके संग सती हो जाती थीं, किन्तु कभी कभी बच्चे छोटे होने के कारण उन्हें सती नहीं होने दिया जाता था। तब वह पति के पीछे अपने शरीर को सुखाती हुई समस्त स्वादिष्ट भोजनों का त्याग करके नियम से रहती थीं। पाण्डु की मृत्यु के पश्चात् तपस्वी ऋषियों ने कुन्ती और माद्री से कहा कि "जो स्त्रियाँ साध्वी होती हैं, वह अपने पति की मृत्यु के बाद ब्रह्मचर्य के पालन में अविचल रूप से लगी रहती हैं। यम ओर नियमों के पालन का क्लेश सहन करती हैं।'[३२] प्राचीन काल में पति के साथ सती हो जाने को बड़ा भारी पुण्य समझा जाता था। इसी विचार से प्रत्येक साध्वी स्त्री अपने पति के साथ सती होकर अपने को धन्य समझती थी। ऋषि कुमारों ने पाण्डु की मृत्यु के समय कुन्ती और माद्री से कहा कि "इसमें

३१—न चाप्यधर्मः कल्याण बहुपत्नीकृतां नृणाम् ।
स्त्रीणामधर्मः सुमहान् भर्तुः पूर्वस्य लङ्घने ॥

आदिपर्व—अध्याय १५७, श्लोक ३६

३२—मृते भर्तरि या साध्वी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता ।
यमैश्च नियमैः श्रान्ता मनोवाक्कायजैः शुभैः ॥

आदि पर्व—अध्याय १२४, श्लोक २८-२९ के मध्य का

तनिक भी सन्देह नहीं है कि पति के साथ मृत्यु स्वीकार करना पत्नी के लिए महान फलदायक है।"[३३]

सम्पूर्ण धर्मशास्त्रों की रचना पुरुषों ने की है, इसलिए उसमें स्त्रियों के लिए तो बहुत कर्तव्य लिखे हैं, किन्तु पुरुषों के लिए पालनीय कर्तव्यों का इतना महत्त्व और विस्तार नहीं है। इसलिए पुरुष स्त्रियों के प्रति अपना कोई कर्त्तव्य नहीं समझते। उन्हें जो अच्छा लगता है, वही कार्य स्वतन्त्रता से करते हैं क्योंकि स्त्रियों की भांति उनको अनुचित कार्यों से रोकने वाले नियम पुरुषों द्वारा रचित धर्मशास्त्रों में नहीं है। स्त्रियों का पालन-पोषण बचपन से ही ऐसे नियमों में होता है कि वह आरम्भ से ही शील और लज्जा धारण करती हैं। बचपन के पवित्र संस्कार ही स्त्रियों को आगे चलकर जीवन में ऊँचा स्थान प्राप्त कराते हैं। पवित्र संस्कारों के प्रभाव से ही स्त्रियाँ स्वयं तो शीलवती, परिवार का कल्याण करने वाली होती ही हैं, वह अपनी कन्याओं में भी वही संस्कार उत्पन्न करके अनेक परिवारों का कल्याण करने वाली बनाती हैं।

सती द्रौपदी से जब कीचक ने कुछ अनुचित व्यवहार किया था तब द्रौपदी ने कहा कि "अपनी स्त्री में अनुराग रखने वाला मनुष्य शीघ्र ही कल्याण का मार्गी होता है।"[३४] द्रौपदी के इस वचन में पुरुष के उस शील और सदाचार का संकेत है, जो धर्मशास्त्रों के अभीष्ट स्त्रियों के पातिव्रत का पूरक है। धार्मिक न्याय के अनुसार यदि पातिव्रत स्त्री का सर्वोत्तम धर्म है, तो पुरुषों के लिए भी एक पत्नीव्रत होना आवश्यक है। पुरुष के इस धर्म

३३—भर्त्रा तु मरणं सार्धं फलवन्नात्र संशयः।
युवाभ्या दुष्करं चैतद् वदन्ति दिजपुङ्गवाः॥
आदिपर्व–अध्याय १२४, श्लोक २८-२९ के मध्य का

३४—स्वेषु दारेषु मेधावी कुरुते यत्नमुत्तमम्।
स्वदारनिरतो ह्याशु नरो भद्राणि पश्यति॥
विराटपर्व–अध्याय १४, श्लोक ३४-३५ के मध्य में से

की ओर धर्मशास्त्रों ने बहुत कम ध्यान दिया है। द्रौपदी का उक्तवचन स्त्रियों के धर्म विधान से परिप्लुत धर्मशास्त्रों में अपवाद के समान है। फिर भी महाभारतकार ने इस ओर ध्यान दिया है, यह सन्तोष की बात है। पुरुष के इस कर्तव्य का संकेत स्त्री के मुख से होना नितान्त उचित और स्वाभाविक है। किन्तु ऐसे कुछ निर्देश यदि महाभारत में धर्म और नीति का उपदेश करने वाले महापुरुषों के मुख से होते तो अधिक उचित होता। उससे यह प्रमाणित होता कि वरिष्ठ पुरुष भी पुरुषों के इस कर्तव्य को पातिव्रत के समान ही महत्त्व देते हैं। "मातृवत् परदारेषु" के निर्देश धर्म और नीति के ग्रन्थों में अनेक जगह मिलते हैं। इनका उद्देश्य भी अन्य स्त्रियों का आदर और पत्नीव्रत का पालन ही है। अन्य स्त्रियों के शील के आदर के साथ-साथ अपनी स्त्री के प्रति निष्ठा और उदारता का भाव भी पुरुष का कर्तव्य है। पुरुष के इस कर्तव्य पर धर्मशास्त्रों में कहीं बल नहीं दिया गया है। इतिहास और संस्कृति की परम्परा में शिव और राम के चरित्र में एक पत्नीव्रत की निष्ठा का सर्वोत्तम उदाहरण मिलता है। कीचक के दुर्व्यवहार के जिस प्रसंग में द्रौपदी ने पुरुष के इस कर्तव्य का संकेत किया है वह समाज में प्रायः होने वाली घटनाओं का एक उदाहरण है। इसी स्थिति को ध्यान में रखकर स्त्री रक्षा का भार पुरुष पर सौंपा गया है। किन्तु स्त्रियों के शील की यह सुरक्षा तभी पूर्ण हो सकती है जब कि सामान्य रूप से पुरुष अपनी पत्नियों के प्रति निष्ठा रखें तथा पत्नीव्रत का पालन करें और अन्य स्त्रियों के शील का आदर करें।

अध्याय—१७

महाभारत में वानप्रस्थ-आश्रम

१—वानप्रस्थ का समय—

गृहस्थाश्रम में सामाजिक और सांस्कृतिक कर्तव्यों को पूर्ण करके वृद्धावस्था का आगमन देखकर वानप्रस्थ ग्रहण करना चाहिए। वानप्रस्थ का अर्थ 'वन को प्रस्थान करना' है। भारतीय आचार-शास्त्र नगर के निवास और गृहस्थ जीवन के प्रपंचों में ही सम्पूर्ण जीवन को बिताना उचित नहीं समझता। उसके अनुसार जीवन का प्रत्येक कर्त्तव्य पूर्ण करने से कृतकृत्यता होती है। भोग और कर्तव्य दोनों की अवधि है। प्रत्येक स्थिति से आगे एक नवीन स्थिति है। इस प्रकार पिछले कर्तव्यों को पूर्ण करके मनुष्य उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। गृहस्थ-आश्रम के बाद यह विकास अध्यात्म की ओर अधिक होता है। वानप्रस्थ में मनुष्य गृह और नगर को छोड़कर वन में सरल और सात्विक जीवन व्यतीत करता है। संन्यास में मनुष्य स्थायी निवास के बन्धन से तथा अन्य कर्तव्यों से मुक्त हो जाता है। यह मुक्ति ही जीवन का परम लक्ष्य है।

विधिपूर्वक गृहस्थाश्रम का पालन करके तथा वार्धक्य के लक्षण देखने पर मनुष्य वन को प्रस्थान करे। त्वचा का शिथिल होना और बालों का सफेद होना वृद्धता के लक्षण हैं। पुत्र का पुत्र होने पर भी गृहस्थआश्रम की पूर्णता और वन के प्रस्थान का समय मानते हैं। वानप्रस्थ-ग्रहण का समय बताते हुए व्यास जी ने ऐसा कहा कि "गृहस्थ पुरुष को जब अपने सिर के बाल सफेद दिखाई दें, शरीर में झुर्रियाँ पड़ जाँय और पुत्र को भी पुत्र की प्राप्ति हो जाय, तो अपनी आयु का तीसरा भाग व्यतीत करने के लिए वन में जाये और वानप्रस्थ-आश्रम में रहे। वन में रहकर वानप्रस्थाश्रम में भी उन्हीं अग्नियों का सेवन करे जिनकी गृहस्थाश्रम में उपासना करता था। प्रति दिन देवा-

साधन भी करता रहे ।।"[1] इसी प्रकार मनुस्मृति में भी मनु ने कहा है कि "गृहस्थाश्रम में द्विजों को विधिपूर्वक गृहस्थ का पालन करके तथा बुढ़ापे का आगमन जानकर मनुष्य को वन में रहना चाहिए। पुत्र का पुत्र होने पर भी गृहस्थ-आश्रम पूर्ण हो जाता है। इसके बाद गृहस्थ को वन में निवास करना चाहिए।"[2] वृद्धावस्था का आरम्भ होने तक मनुष्य को अपने अलौकिक और सामाजिक कर्म पूरे कर लेने चाहिए। ये कर्म जीवन के एक अंग मात्र हैं, जीवन का सर्वस्व नहीं हैं। उन्हें पूर्ण करके मनुष्य को अपनी अन्तिम वय में अध्यात्म की साधना करनी चाहिए। आत्म-साधना जीवन को अमृत और अभय तथा आनन्दमय बनाती है।

वानप्रस्थ-आश्रम पुरुषों के लिए तो आवश्यक है किन्तु स्त्रियों के लिए उसमें विकल्प है। यदि स्त्री चाहे तो पुरुष के साथ वन को प्रस्थान कर सकती है। किन्तु वन में वे गृहस्थ दम्पति की भांति नहीं रह सकते हैं। उन्हें त्याग और संयम से तपस्वियों की भांति रहना होगा। यदि स्त्री वन को न जाना चाहे तो पुरुष अपनी स्त्री का भार अपने पुत्रों को सौंप कर स्वयं वन को प्रस्थान करे। स्त्री के अतिरिक्त गृहस्थ जीवन के सभी उपकरण त्याग करके वन प्रस्थान करना उचित है। केवल अग्नि होत्र के लिए गृह्य अग्नि

१—गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं वनमेव तदाश्रयेत् ।।
तृतीयमायुषो भागं वानप्रस्थाश्रमे वसेत् ।
तानेवाग्नीन् परिचरेद् यजमानो दिवौकसः ।।
शान्तिपर्व–अध्याय २४४, श्लोक ४-५

२—एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ।।
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ।।
मनुस्मृति–अध्याय ६, श्लोक १-२

तथा यज्ञ के अन्य उपकरण वह अपने साथ ले जा सकता है। अग्नि का आदान आवश्यक है। वानप्रस्थ 'साग्नि' कहलाता है। 'संन्यासी' स्त्री, अग्नि और स्थान तीनों से मुक्त हो जाता है। यह वानप्रस्थी और संन्यासी में अन्तर है। मनुस्मृति में वानप्रस्थी के नियम बताते हुए मनु ने इस प्रकार कहा है कि "ग्राम का आहार त्याग कर पुत्र को अपनी पत्नी का भार सौंपकर या पत्नी चाहे तो साथ लेकर वन को चला जाये। अग्निहोत्र को लेकर और घर की अग्नि को लेकर ग्राम सेवन को जाय और इन्द्रियों को वश में रखे।"[3] इसी प्रकार याज्ञवल्क्य ने भी अपनी स्मृति में लिखा है कि "पुत्र को अपनी पत्नी का भार सौंपकर या स्त्री चाहे तो साथ लेकर वन को जाना चाहिए। वानप्रस्थी और ब्रह्मचारी को अग्नि साथ रखनी चाहिए, इसीलिए वानप्रस्थी को साग्नि कहते हैं।"[४] वानप्रस्थी के लिए सरल और सात्विक जीवन अभीष्ट है। अतः उसके लिए भिक्षा, यज्ञ, स्वाध्याय, भोजन, व्रत आदि के सम्बन्ध में शास्त्रों में नियमों का विधान है। नागरिक आहार और गृहस्थ उपकरणों का त्याग वानप्रस्थ का प्रथम कर्म है। वानप्रस्थ का जीवन बहुत कुछ ब्रह्मचारी के समान है। अतः उसके लिए भी मधु, मांस आदि वर्जित हैं। केवल वन्य अन्न, फल, मूल और भिक्षा से उसे अपना जीवन निर्वाह करना चाहिए। भिक्षा और भोजन केवल उसके शरीर निर्वाह के लिए हैं, सुख के लिए नहीं हैं। वानप्रस्थी को अल्पाहारी होना चाहिए, जटा धारण करनी

३—संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा॥
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्नि परिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसन्नियतेन्द्रियः॥
मनुस्मृति—अध्याय ६, श्लोक ३-४

४—सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वाऽनुगतो वनम्।
वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत्॥
याज्ञवल्क्य स्मृति–अध्याय ३, श्लोक ४५

चाहिए, अध्ययन, तप, व्रत आदि में लगा रहना चाहिए। काश, कुश, मृग-चर्म और वृक्षों की छाल से बने वस्त्रों से अपना शरीर ढके। नियत समय पर स्नान, बलि वैश्वदेव तथा अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान करे। धन का संग्रह न करे, शुद्ध एवं हितकर अन्नमात्र के इच्छुक होकर स्वाध्याय, तीर्थ-यात्रा, देश-दर्शन के निमित्त सारी पृथ्वी पर घूमे। भूमि पर बैठे, भूमि पर शयन करे। सदा शान्तचित्त से अपने नियमों का पालन करे।

२–वानप्रस्थी के धर्म—

गृहस्थाश्रम के पश्चात् तीसरा आश्रम उससे भी श्रेष्ठ परम उदार वानप्रस्थ आश्रम है। जो शरीर को सुखाकर अस्थिचर्मविशिष्ट कर देने वाले तथा वन में रह कर तपस्यापूर्वक शरीर को त्यागने वाले वानप्रस्थियों का आश्रय है। यह गृहस्थों से श्रेष्ठतम माना गया है। वानप्रस्थ के धर्म बताते हुए व्यासजी ने इस प्रकार कहा कि "वानप्रस्थी पुरुष नियम के साथ रहे, नियमानुकूल भोजन करे। दिन के छठे भाग अर्थात् तीसरे पहर में एक बार अन्न ग्रहण करे और प्रमाद से बचा रहे। गृहस्थाश्रम की ही भांति अग्निहोत्र वैसी ही गो-सेवा तथा उसी प्रकार यज्ञ के सम्पूर्ण अंगों का सम्पादन करना वानप्रस्थ का धर्म है।"[५] वानप्रस्थी के लिए भी गृहस्थ की भांति गो-सेवा तथा यज्ञ आदि कर्म करना आवश्यक है। वानप्रस्थी का जीवन भी नियमों से मुक्त नहीं होता है जैसा कि संन्यासी का होता है। वानप्रस्थ के धर्म बताते हुए ब्रह्मा जी ने महर्षिगणों से इस प्रकार कहा कि "वानप्रस्थ मुनि को सब प्रकार के संस्कारों के द्वारा शुद्ध होकर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए घर की ममता त्याग कर गाँव से बाहर निकल कर वन में निवास करना चाहिए।"[६] वानप्रस्थी को सदा वन में ही रहना चाहिए। गाँव में कभी

५—नियतो नियताहारः षष्ठभुक्तोऽप्रमत्तवान्।
तदग्निहोत्रं ता गावो यज्ञाङ्गानि च सर्वशः॥
शान्तिपर्व–अध्याय २४४, श्लोक ६

६—संस्कृतः सर्वसंस्कारैस्तथैव ब्रह्मचर्यवान्।
ग्रामान्निष्क्रम्य चारण्ये मुनिः प्रव्रजितो वसेत्॥
आश्वमेधिकपर्व अध्याय ४६, श्लोक ९

प्रवेश न करना चाहिए। प्रातः और सायंकाल के समय स्नान करे। वानप्रस्थ के धर्म बताते हुए महेश्वर ने उमा से कहा कि "वानप्रस्थ को सदा वन में ही रहना, वन में ही विचरना, वन में ही ठहरना, वन के ही मार्ग पर चलना और गुरु की भांति वन की शरण लेकर वन में ही जीवन-निर्वाह करना चाहिए। प्रतिदिन अग्निहोत्र और पंचमहायज्ञों का सेवन वानप्रस्थों का धर्म है। उन्हें विभागपूर्वक वेदोक्त पंचयज्ञों का निरन्तर पालन करना चाहिए।"[७] वानप्रस्थी को घने वन में अपना आश्रम बनाना चाहिए। वन में ही रहे, वन को ही अपना गुरु समझे और वन में जो कन्दमूल, फल-फूल आदि प्राप्त हो सकें, उन्हीं से अपना जीवन-निर्वाह करना चाहिए। वानप्रस्थी के लिए जो पाँच यज्ञ बताये हैं, वे गृहस्थ के पाँचयज्ञ ही हैं। (१) अध्ययन और अध्यापन 'ब्रह्मयज्ञ' है। (२) श्राद्ध, तर्पण आदि 'पितृयज्ञ' है। (३) होम 'देवयज्ञ' है। (४) जीवों को बलि देना 'भूतयज्ञ' है। (५) अतिथि सत्कार करना मनुष्य यज्ञ है। इस प्रकार वानप्रस्थी को भी पंचयज्ञ करने चाहिए। वानप्रस्थी के धर्म बताते हुए महेश्वर ने उमा से कहा कि "सदा वीरासन से बैठना और वेदी या चबूतरे पर सोना चाहिए। उन्हें सर्दी के मौसम में रात को जल में बैठना चाहिए या खड़े रहना, बरसात में खुले मैदान में सोना चाहिए और ग्रीष्मऋतु में पंचाग्नि का सेवन करना चाहिए।"[८] सर्दी में जल में बैठना एक कठोर तपस्या है तथा ग्रीष्म में चारों ओर अग्नि

७—वननित्यैर्वनचरैर्वनस्थैर्वनगोचरैः।
वनं गुरुमिवासाद्य वस्तव्यं वनजीविभिः॥
तेषां होमक्रिया धर्मः पंचयज्ञनिषेवणम्।
भागं च पंचयज्ञस्य वेदोक्तस्यानुपालनम्॥
अनुशासनपर्व—अध्याय १४२, श्लोक १३-१४

८—वीरासनरतैर्नित्यं स्थण्डिले शयनं तथा।
शीततोयाग्नियोगश्च चर्तव्यो धर्मबुद्धिभिः॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १४२, श्लोक १०

जलाकर बैठना तथा ऊपर से सूर्य की गर्मी पड़ना भी बड़ी कठिन तपस्या है। इतने कठोर व्रतों को पूर्ण करके ही वानप्रस्थी अपना परलोक सुधार लेता है। वानप्रस्थी को अपने शरीर से भी कोई मोह नहीं रहता है, इस लिए वह कठोर व्रतों और तपस्याओं से अपने शरीर को सुखाता है। वानप्रस्थी महात्मा एक स्थान पर आसन लगा कर बैठते हैं, तीनों काल सुबह, दोपहर और शाम को स्नान करते हैं तथा संध्या करते हैं। सदा स्वल्प भोजन करने वाले होते हैं। वानप्रस्थ का आश्रय लेकर कोई कन्द-मूल से और कोई कोई दृढ़ व्रत का पालन करते हुए फूलों से ही धर्मानुकूल जीविका चलाते हैं। वानप्रस्थ का श्रेष्ठ धर्म बताते हुए ययाति ने अष्टक से कहा कि "वानप्रस्थ मुनि का जो धर्म पालन है, वही सरलता है, वही समाधि है और वही श्रेष्ठ आचरण है।"[१] वानप्रस्थ मुनि का जीवन इतना कठोर व्रतों से पूर्ण होता है कि अन्य सब धर्म उसी में पूर्ण हो जाते हैं। उसको समाधि लगाने की आवश्यकता नहीं होती है। क्योंकि उसका जीवन स्वयं ही एक समाधि जैसा होता है। इसलिए वानप्रस्थ का कठोर तपपूर्ण जीवन सब धर्मों से श्रेष्ठ है।

३—वानप्रस्थ के कर्तव्य—

वानप्रस्थ के पालन करने वाले मनुष्य धर्म का अनुसरण करते हुए पवित्र तीर्थों, नदियों के किनारे, झरनों के आसपास घने वनों में विचरते रहते हैं। गृहस्थों के उपभोग में आने वाले सुन्दर वस्त्र, स्वादिष्ट भोजन और विषय भोगों का परित्याग करके वे जंगलों में होने वाले कन्द, मूल, पत्तों का आहार करते हैं तथा मृगचर्म अथवा वृक्षों की छाल से बने वस्त्र पहनते हैं। सिर के बाल, दाढ़ी, मूँछ, नख और रोम सदा धारण किये रहते हैं। नाना प्रकार के नियमों का पालन और सत्कर्मों का अनुष्ठान करते रहने से वे बड़े दुर्बल शरीर हो जाते हैं। ऐसे तपस्वियों के कर्त्तव्य बताते हुए ब्रह्माजी

१—अर्थोऽप्यनीशस्य तथैव राजं
स्तदार्जवं स समाधिस्तदार्यम्॥

आदिपर्व—अध्याय ९२, श्लोक ५

ने महर्षियों से इस प्रकार कहा कि "नित्य प्रति पहले देवता और अतिथियों को भोजन दे, उसके बाद मौन होकर स्वयं अन्न ग्रहण करे। किसी से स्पर्धा न करे, हल्का भोजन करे, देवताओं का सहारा ले। इन्द्रियों का संयम करे, सबके साथ मित्रता का बर्ताव करे, क्षमाशील बने और दाढ़ी, मूँछ तथा सिर के बालों को धारण किये रहे। समय पर अग्निहोत्र और वेदों का स्वाध्याय करे तथा सत्य-धर्म का पालन करे।"[१०] वानप्रस्थी को सदैव सत्य का पालन करना चाहिए तथा क्षमाशील होना चाहिए। सबके साथ सद्व्यवहार करना चाहिए, अपने धर्मों का पालन नियम से करना चाहिए। धर्म के पालन में कोई प्रमाद नहीं करना चाहिए। अतिथि सत्कार भी वानप्रस्थी के लिए परमावश्यक बताया है। अतिथि के सत्कार के विषय में ब्रह्माजी ने इस प्रकार कहा कि "अतिथि को आश्रय दे और समय पर उनका सत्कार करे। कोई अतिथि आजाय तो फल-मूल की भिक्षा देकर उसका सत्कार करे। कभी आलस्य न करे। जो कुछ भोजन अपने पास उपस्थित हो, उसी में से अतिथि को भिक्षा दे।"[११] वानप्रस्थी के पास किसी भी समय यदि कोई अतिथि आ जाय तो आलस्य छोड़कर शीघ्र ही उसकी पूजा-अर्चना करे और

१०—देवतातिथिपूर्वं च सदा प्राश्नीत वाग्यतः।
अस्पर्धितमनाश्चैव लघ्वाशी देवताश्रयः॥
दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः केशाञ्श्मश्रु च धारयन्।
जुह्वन् स्वाध्यायशीलश्च सत्यधर्मपरायणः॥

आश्वमेधिकपर्व अध्याय ४६, श्लोक १४-१५

११—अर्चयन्नतिथीन् काले दद्याच्चापि प्रतिश्रयम्।
समूलफलभिक्षाभिरर्चेदतिथिमागतम्।
यद् भक्ष्यं स्यात् ततो दद्याद् भिक्षां नित्यमतन्द्रितः॥

आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ४६, श्लोक १२–१३

साथ ही जो कुछ अपने पास कन्द, मूल, फल आदि हों उनको उसे खाने को दे। धर्मासन पर बैठे हुए शिष्ट पुरुषों द्वारा उसे धर्मार्थयुक्त कथायें सुननी चाहिए, पृथक आश्रम बनाना चाहिए। वह पृथ्वी पर सोये। वानप्रस्थी सदा व्रत और उपवास में तत्पर रहे, दूसरों पर क्षमा का भाव रक्खे, अपनी इन्द्रियों को वश में रखे। धर्म का चिन्तन करता रहे। वानप्रस्थी को शरीर को चिकना करने के लिए क्या लगाना चाहिए इस विषय में महेश्वर ने उमा से कहा कि "वानप्रस्थ को जीविका के लिए नीवार (तिन्नी का चावल) और फल-मूल का सेवन करना चाहिए तथा शरीर में स्निग्धता लाने या तेल से होने वाले कार्यों के निर्वाह के लिए इंगुद और रेड़ी के तेल का सेवन करना चाहिए। उन्हें योग का अभ्यास करके उसमें सिद्धि प्राप्त करनी चाहिए। काम और क्रोध को त्याग देना चाहिए। विशाल और घने वन में निवास करना चाहिए।"[१२] वन में रहते-रहते वानप्रस्थी का शरीर जब बहुत खुश्क हो जाता हो, तब उसे इंगुद या रेड़ी का तेल लगाना चाहिए अथवा अन्य किसी वस्तु में यदि तेल की आवश्यकता पड़े, तब भी इन्ही तेलों से काम लेना चाहिए। सदा योग का अभ्यास करना चाहिए तथा काम और क्रोध जैसे मनुष्य के शत्रुओं को त्याग देना चाहिए। क्रोध को त्यागे बिना योग-साधन कठिन है। वानप्रस्थी के व्रतों को बताते हुए महेश्वर ने उमा से कहाकि "अष्टमी तिथि को होने वाले अष्टका श्राद्धरूप यज्ञ में तत्पर रहना, चातुर्मास्य व्रत का सेवन करना, पौर्णमास और दर्शनादियज्ञ तथा नित्ययज्ञ का अनुष्ठान करना वानप्रस्थ मुनि का धर्म है।" [१३] चातुर्मास यज्ञ-वर्षाऋतु के चार महीनों

१२—नीवारग्रहणं चैव फलमूलनिषेवणम्।
इङ्गुदैरण्डतैलानां स्नेहार्थे च निषेवणम्॥
योगचर्याकृतैः सिद्धैः कामक्रोधविवर्जितैः।
वीरशय्यामुपासद्भिर्वीरस्थानोपसेविभिः॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १४२, श्लोक ७-८

१३—अष्टमीयज्ञपरता चातुर्मास्यनिषेवणम्।
पौर्णमासादयो यज्ञा नित्ययज्ञस्तथैव च॥
अनुशासनपर्व—अध्याय १४२, श्लोक १५

में कहीं भ्रमण न करे, एक जगह ही रहना चाहिए उसे चातुर्मास यज्ञ कहते हैं। वानप्रस्थी को वहते हुए जल, वायु आदि सव वन की वस्तुओं का ही सेवन करना चाहिए। वानप्रस्थ के कर्त्तव्य वताते हुए व्यासजी ने कहा कि "वन में फल-मूल खाकर रहे भारी तपस्या में तत्पर हो जाय, पुण्य तीर्थों में भ्रमण करे और किसी भी प्राणी की अपने द्वारा हिंसा न होने दे।"[१४] वानप्रस्थी को सव जीवों पर दया रखनी चाहिए। किसी भी जीव की हिंसा न करनी चाहिए। हिंसा न करना वानप्रस्थी के लिए वड़ा धर्म है। वानप्रस्थ के भोजन के विषय में वताते हुए महेश्वर ने उमा से कहा कि "वे वायु अथवा जल पीकर रहें। सेवार का भोजन करें। पत्थर से अन्न या फल को कुचल कर खायें अथवा दाँतों से चवाकर ही भक्षण करें। सम्प्रक्षाल के नियम से रहें अर्थात् दूसरे दिन के लिए आहार संग्रह करके न रक्खें।"[१५] वैसे वानप्रस्थी के लिए अन्न का भोजन वर्जित है, किन्तु यदि कहीं वन में ही अन्न पैदा हो जाये और वानप्रस्थी उसे खाना चाहे, तो उस अन्न को या तो पत्थर से पीसकर खा ले अथवा दाँतों से चवाकर खा लेना चाहिए। इसी प्रकार यदि कोई फल इतना कड़ा हो कि हाथ से न टूटे तो उसे भी पत्थर से अथवा दाँतों से तोड़कर खाना चाहिए। वैसे वानप्रस्थी के लिए वन में होने वाले समाँ के चावलों का ही उल्लेख है। वानप्रस्थी को एक ही दिन के लिए जितना भोजन आवश्यक हो, उतना ही भोज्य पदार्थ संग्रह करना चाहिए तथा वर्तनों को उसी दिन धो माँजकर साफ कर देना चाहिए। दूसरे दिन के लिए भोजन का प्रवन्ध न करना चाहिए यही वानप्रस्थी के लिए सम्प्रक्षाल का नियम है।

१४—वने मूलफलाशी च तप्यन् सुविपुलं तपः ।
पुण्यायतनचारी च भूतानामविहिंसकः ॥

शान्तिपर्व—अध्याय २४२, श्लो० ७

१५—अव्भक्षैर्वायुभक्षैश्च शैवलोत्तरभोजनैः ।
अश्मकुट्टैस्तथा दान्तैः सम्प्रक्षालैस्तथापरैः ॥

अनुशासनपर्व—अध्याय १४२, श्लो० ११

४—वानप्रस्थ की चार वृत्तियाँ—

वानप्रस्थ-आश्रम में गृहस्थ की भाँति जीवन निर्वाह के लिए तथा अतिथि-सत्कार और यज्ञकर्म के लिए अन्न संग्रह करने की आवश्यकता मानी जाती है। इस आश्रम में भी चार प्रकार से अन्न संग्रह करने का विधान है। वानप्रस्थी के अन्न संग्रह की वृत्तियाँ वताते हुए व्यास जी ने इस प्रकार कहा कि "वानप्रस्थ-आश्रम में भी चार प्रकार की वृत्तियाँ मानी गई हैं। कोई उतने ही अन्न का संग्रह करता है कि उसी दिन वना-खाकर वर्त्तन माँजकर साफ करले अर्थात् दूसरे दिन को अन्न न रखे। कुछ दूसरे लोग एक महीने के लिए अनाज का सग्रह करते हैं। कोई वर्ष भर के लिए और कोई बारह वर्षों के लिए अन्न का सग्रह करते हैं। उनका यह संग्रह अतिथि-सेवा तथा यज्ञकर्म के लिए होता है।"[१६] वानप्रस्थ-आश्रम में अधिकतर मुनि लोग अन्न का सग्रह नहीं करते हैं। वे लोग वन में उत्पन्न हुए फल, कन्द, मूल आदि ही खाकर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। विना जोती हुई पृथ्वी से पैदा हुआ धान, जौ, नीवार तथा विघस (अतिथियों को देने से बचे हुए) अन्नसे जीवन निर्वाह करते हैं। इन वन में उत्पन्न हुई वस्तुओं का संग्रह हो नहीं सकता, क्योंकि कन्द, मूल, फल तो नित्य तोड़कर ताजी ही खाये जा सकते हैं। वन में उत्पन्न समा का चावल आदि कुछ अन्न ऐसे होते हैं, जिनका संग्रह ये वनवासी मुनि कर सकते हैं। वर्षाऋतु में पंचयज्ञों के लिए अन्न की आवश्यकता को मुनि लोग संग्रह से ही पूर्ण करते होंगे। वर्षा में वनवासी लोगों को अन्न का बड़ा संकट होता होगा। उनको अपने भोजन के अतिरिक्त पंचयज्ञों के लिए अन्न की कठिनाई अवश्य होती होगी। उस कठिनाई को दूर करने के

१६—वानप्रस्थाश्रमेऽप्येताश्चतस्रो वृत्तयः स्मृताः
सद्यः प्रक्षालकाः केचित् केचिन्मासिकसंचयाः॥
वार्षिकं संचयं केचित् केचिद् द्वादशवार्षिकम्।
कुर्वन्त्यतिथिपूजार्थं यज्ञतन्त्रार्थमेव वा॥

शान्तिपर्व—अध्या० २४४, श्लो० ८-९

लिए अन्न का संग्रह करना वानप्रस्थी के लिए उचित ही था। अपना भोजन तो वानप्रस्थी एक बार ही करता था तथा वह भी बहुत स्वल्प, इसलिए वह अपना उदर तो फल-फूलों से भी भर सकता था किंतु पंचयज्ञों का बन्धन वानप्रस्थी के लिए अन्न संग्रह का कारण है।

५—वानप्रस्थ से स्वर्ग प्राप्ति—

वानप्रस्थी मुनि जब नियमपूर्वक रहकर अपने जीवन को सफल बनाते हैं, तो अन्त में अपने पुण्यों से उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वानप्रस्थी को मोक्ष कैसे मिलती है, इस विषय में ययाति ने अष्टक से कहा कि "वानप्रस्थ मुनि वन में निवास करे। आहार और विहार को नियमित रक्खे। अपने ही पराक्रम एवं परिश्रम से जीवन-निर्वाह करे, पाप से दूर रहे। दूसरों को दान दे और किसी को कष्ट न पहुँचावे। ऐसा मुनि परम मोक्ष को प्राप्त होता है।"[१७] जो वानप्रस्थी अपने ही परिश्रम से अन्न प्राप्त करके अपना जीवन निर्वाह करते हैं, तथा सदा पापकर्मों से दूर रहते हैं और पुण्यकर्मों में ही सदा अपना मन लगाते हैं, उनको अन्त में मोक्ष प्राप्ति होती है अर्थात् अपने कर्मों के पुण्यों से वे मुनि फिर इस असार संसार में जन्म धारण नहीं करते। उनकी आत्मा परब्रह्म में लीन हो जाती है। अपनी तपस्या के बल से वानप्रस्थी इस लोक पर तो विजय प्राप्त कर ही लेते हैं, अपना परलोक भी सुधार लेते हैं। परलोक पर विजय प्राप्त करने के विषय में बताते हुए ययाति ने अष्टक से इस प्रकार कहा कि "तपस्या से मांस-हड्डी तथा रक्त के क्षीण हो जाने पर जिसका शरीर कृश और दुर्बल हो गया है, वह वानप्रस्थी मुनि इस लोक को जीत कर परलोक पर भी विजय पाता है। जब वानप्रस्थ मुनि सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित एवं भलीभाँति मौनावलम्बी हो जाता है, तब

१७—स्ववीर्यजीवी वृजिनान्निवृत्तो
दाता परेभ्यो न परोपतापी।
तादृङ्मुनिः सिद्धिमुपैति मुख्यां
वसन्नरण्ये नियताहारचेष्टः॥

आदिपर्व—अध्याय ९१, श्लो० ४

इस लोक को ही जीतकर परलोक पर भी विजय पाता है ।"[१८]जो वानप्रस्थ मुनि अपनी घोर तपस्या से अपने ही शरीर को सुखा लेता है तथा सुख-दुःख का उसे कुछ भी ध्यान नहीं रहता है और उसके मन में रागद्वेप आदि बिल्कुल नहीं रहते ऐसे स्वच्छ मनवाला वानप्रस्थी अवश्य ही परलोक को जीतने वाला हो सकता है । सुख-दुःख का अनुभव न होना, किसी के प्रति रागद्वेष न होना, यहाँ तक कि अपने ही शरीर से कुछ मोह नहीं रह जाता तथा जो सदा मौन धारण किये रहता है अर्थात् जो मुनि सदा अपनी तपस्या में ही लगा रहता है, ऐसा मुनि मोक्ष प्राप्त करने योग्य हो जाता है और फिर इस संसार में जन्म नहीं लेता है । ऐसे तपस्वी मुनि का वर्णन करते हुए ययाति ने कहा कि "जो वानप्रस्थ मनुष्य पापकर्मों से नित्य भय करता है और सदा अपने धर्म का आचरण करता है, वह अत्यन्त सुखरूप मोक्ष को अनायास ही प्राप्त कर लेता है ।"[१९] मोक्ष की इच्छा रखने वाला वानप्रस्थ मुनि पापकर्मों से सदा डरता रहता है और अच्छे कर्मों में ही हरसमय लगा रहता है । अपने धर्म के आचरण में कभी प्रमाद नहीं करता है, उसको मोक्ष स्वयं ही प्राप्त ही जाती है । वानप्रस्थी को स्वर्ग प्राप्ति कैसे होती है, इस विषय में बताते हुए ब्रह्माजी ने महर्षियों से इस प्रकार कहा कि "शरीर को सदा पवित्र रखे । धर्म-पालन में कुशलता प्राप्त करे । सदा वन में रहकर चित्त को एकाग्र किए रहे । इस प्रकार उत्तम धर्मों का पालन करने वाला

१८—तपसा कर्शितः क्षामः क्षीणमांसास्थिशोणितः ।
स च लोकमिमं जित्वा लोकं विजयते परम् ॥
यदा भवति निर्द्वन्द्वो मुनिर्मौनं समास्थितः ।
अथ लोकमिमं जित्वा लोकं विजयते परम् ॥

आदिपर्व—अध्या० ९१, श्लो० १६-१७

१९—पापानां कर्मणां नित्यं बिभियाद् यस्तु मानवः ।
सुखमप्याचरन् नित्यं सोऽत्यन्त सुखमेधते ॥

आदिपर्व—अध्याय ९२, श्लो० ४

जितेन्द्रिय वानप्रस्थी स्वर्ग पर विजय पाता है। उत्तम गुणों से युक्त जितेन्द्रिय वानप्रस्थी पुरुष ही उत्तम लोकों पर विजय पाता है। वह उत्तम स्थान को पाकर फिर इस संसार में जन्म धारण नहीं करता।"[२०] वानप्रस्थी मुनि का मन सदा शान्त और एकाग्र रहता है। वह सदा धर्म के ही आचरण में लगा रहता है तथा सब इन्द्रियों को वश में रखता है, वही मुनि मोक्ष का अधिकारी होता है। अपनी तपस्या से तथा धर्मपूर्ण आचरण से वनवासी मुनि अपनी तो मोक्ष करते ही हैं, साथ में अपने पूर्वजों का भी उद्धार करते हैं, इस विषय में बताते हुए ययाति ने कहा कि "जो वनवासी मुनि वन में ही अपने पंचभूतात्मक शरीर का परित्याग करता है, वह दस पीढ़ी पूर्व के और दस पीढ़ी बाद के जाति-भाइयों को तथा इक्कीसवें अपने को भी पुण्यलोकों में पहुँचा देता है।"[२१] जो वानप्रस्थी मुनि तपस्या से अपने शरीर को सुखाकर अपने शरीर को वन में त्याग देता है, वह बड़ा पुण्यवान आदमी समझा जाता है। उस अकेले की तपस्या से वह अपनी तो मोक्ष करता ही है, साथ में अपने पूर्वजों और आने वाली पीढ़ियों का भी उद्धार करता है। तपस्या में बड़ा बल है।

२०—शुचिदेहः सदा दक्षो वननित्यः समाहितः।
एवं युक्तो जयेत् स्वर्गं वानप्रस्थो जितेन्द्रियः॥
एवं युक्तो जयेल्लोकान् वानप्रस्थो जितेन्द्रियः।
न संसरति जातीषु परमं स्थानमाश्रितः॥

आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ४६, श्लो० १६-८

२१—दशैव पूर्वान् दश चापरांश्च
ज्ञातीनथात्मानमथैकविंशम्।
अरण्यवासी सुकृते दधाति
विमुच्यारण्ये स्वशरीरधातून्॥

आदिपर्व—अध्या० ६१, श्लोक ७

प्राचीन युग में वानप्रस्थ धर्म का पालन एवं प्रसार करने वाले अनेक ऋषियों ने मोक्ष प्राप्त करली और स्वर्ग में जाकर हमेशा के लिए अमर हो गये। उनमें से अगस्त्य ऋषि, सप्तर्षिगण, मधुच्छन्द आदि अनेका ऋषि वानप्रस्थ के धर्म पालन से स्वर्ग में जाकर आकाश में नक्षत्र बन गये। नक्षत्र बने हुए वानप्रस्थियों की प्रशंसा करते हुए व्यास जी ने कहा कि "ये सब ब्राह्मण प्राय: उपवास आदि क्लेशदायक कर्म करने के कारण लौकिक सुख से रहित थे। सदा धर्म में तत्पर रहते और इन्द्रियों को वश में रखते थे। उन्हें धर्म के फल का प्रत्यक्ष अनुभव था। वे सब-के-सब वानप्रस्थी थे। इस लोक से जाने के बाद वे आकाश में नक्षत्र-भिन्न, दुर्धर्ष ज्योतिर्मय तारों के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।"[२२] वानप्रस्थ के धर्म पालन के कारण ही वे अनेक तपस्वी ब्राह्मण आकाश में जाकर नक्षत्रों से भिन्न अधिक प्रकाश वाले होकर हजारों वर्षों से चमक रहे हैं और आगे भी चमकते रहेंगे। यह प्रताप उनकी तपस्या का है। उनके त्याग और सत्यता तथा धर्मानुकूल आचरण से ही आज उन्हें इतना मान मिला हुआ है। धर्म के पालन से तथा त्यागमय तपस्या द्वारा आज भी इस कलियुग में जो भी मनुष्य चाहें स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं। स्वर्ग की प्राप्ति तो सत्कर्मों से प्राप्त हो जाती है। इसलिए स्वर्ग की इच्छा रखने वाले मनुष्य सत्कर्म करें, उनकी इच्छा पूर्ण होगी।

२२—कर्मभिस्ते निरानन्दाधर्मनित्याजितेन्द्रियाः।
गताः प्रत्यक्षधर्माणस्ते सर्वे वनमाश्रिताः॥
अनक्षत्रास्तवनाधृष्या दृश्यन्ते ज्योतिषां गणाः॥

शान्तिपर्व—अध्याय २४४ श्लो० २१½

अध्याय — १८

महाभारत में संन्यास-आश्रम

१--संन्यास का समय—

से सर्वदा दूर रहे। संन्यासी कभी किसी की निन्दा न सुने और अपनी निन्दा करने वाले की ओर आँख उठाकर देखे भी नहीं।

संन्यास-आश्रम को ग्रहण करने का समय वैसे तो शास्त्रानुसार करीब ७५ वर्ष पूर्ण होने के बाद का है। संन्यास ग्रहण करने वाले की उम्र इससे कुछ कम और कुछ अधिक भी हो सकती है। संन्यास का समय बताते हुए व्यास जी ने कहा कि "इस प्रकार वानप्रस्थ की अवधि पूरी कर लेने के बाद जब आयु का चौथा भाग शेष रह जाये, वृद्धावस्था से शरीर दुर्लभ हो जाये और रोग सताने लगें तो उस आश्रम का परित्याग कर दे (और संन्यास-आश्रम ग्रहण कर ले)। संन्यास की दीक्षा लेते समय एक दिन में पूरा होने वाला यज्ञ करके अपना सर्वस्व दक्षिणा में दे डालें।"[1] वानप्रस्थी का शरीर जब बहुत दुर्लभ हो जाय तथा उसमें अपने नियमों को पूर्ण करने की शारीरिक शक्ति न रहे, तथा अनेक प्रकार के रोग उसे सताने लगें, तब उस मनुष्य को वानप्रस्थ-आश्रम छोड़कर संन्यास-आश्रम ग्रहण कर लेना चाहिए। वानप्रस्थ-आश्रम में रहने वाले के पास अग्निहोत्र आदि कुछ वस्तुएँ होती है, उन सब वस्तुओं को उसे एक दिन का यज्ञ करके दान में दे देनी चाहिए और बिना किसी वस्तु के संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए। वानप्रस्थ में तप और व्रत पूर्ण करके संन्यास गृहण करना चाहिए। संन्यास-आश्रम सब व्रत-नियम के बन्धनों से मुक्त है। इसलिए संन्यास को ग्रहण करके मनुष्य अपना तन, मन, सब ईश्वराधान में ही लगा देता है। संन्यास-आश्रम मुक्ति का मार्ग है।

२—संन्यासी के लक्षण—

संन्यासी एकाकी होता है। वानप्रस्थ के समान वह स्त्री को साथ नहीं रख सकता। संन्यासी एक स्थान पर नहीं रहता, चारों ओर घूमता रहता है,

---

१—जरया च परिद्यूनो व्याधिना च प्रपीड़ितः ॥
चतुर्थे चायुषः शेषे वानप्रस्थाश्रमं त्यजेत्।
सद्यस्कारां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४४, श्लोक २२-२३

इसलिए उसे परिव्राजक कहते हैं। यज्ञ, जप, तप आदि सब कर्त्तव्य उसके लिए समाप्त हो जाते हैं। उनको पूर्ण करके ही वह संन्यास ग्रहण करता है। अतः अग्नि धारण उसके लिए आवश्यक नहीं है, इसलिए उसे 'अनग्नि' भी कहते हैं। गृहस्थ और वानप्रस्थ के कर्त्तव्यों को पूर्ण करके तथा देव, पितर और ऋषियों के तीन ऋणों को चुकाकर ही संन्यासी को मोक्ष में अपना ध्यान लगाना चाहिए। वानप्रस्थ मुनि को संन्यास के लिए क्या करना चाहिए इस विषय में व्यास जी ने कहा कि "वानप्रस्थ मुनि केश, लोम और नख कटाकर कर्मों से पवित्र हो वानप्रस्थ से संन्यास में प्रवेश करे।"[2] वानप्रस्थी के लिए जटा, लोम, नख आदि रखने का नियम है किन्तु वनवासी संन्यासी को उसका उल्टा है कि वह सिर के बालों को, नखों को कटवा रहे हैं। संन्यास का अर्थ ही यही है कि वह सर्वदा सिर मुड़ाकर रहे। संन्यासी को सब प्रकार के वस्त्रों को त्याग देना चाहिए, केवल मृगछाला से काम चलाना चाहिए। जो अग्नि और गृह को त्याग चुका है, जिसका गोत्र और चरण अर्थात् जाति आदि से भी सम्बन्ध नहीं रहा है, जो मौन रहता है तथा उतने ही वस्त्र की इच्छा रखता है जितने से लंगोटी और ओढ़ने का काम चल जाये। इसी प्रकार जितने अन्न से जीवन-निर्वाह हो सके, उतना ही अन्न ग्रहण करना चाहिए। संन्यासी के लिए कम से कम अन्न तथा कम से कम वस्त्र की भिक्षा लेनी चाहिए। संन्यासी के लक्षण बताते हुए ययाति ने अष्टक से कहा कि "जिस समय रूप, रस आदि विषय तुच्छ प्रतीत होने लगें, इच्छानुसार जीत लिए जाँय तथा उनके त्याग में ही सुख जान पड़े, उसी समय विद्वान् पुरुष मन को वश में करके समस्त संग्रहों का त्याग कर वनवासी होने का प्रयत्न करें।"[3] जब

२—केशलोमनखान् वाप्य वानप्रस्थो मुनिस्मतः।
आश्रमादाश्रमं पुण्यं पूतोगच्छति कर्मभिः॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४४, श्लोक २७

३—राज्या यथा वाभिजिताश्च लोका
भवन्ति कामाभिजिताः सुखाश्च॥
तामेव रात्रिं प्रयतेत विद्वा—
नरण्यसंस्थो भवितुं यतात्मा॥
आदिपर्व—अध्याय ६१, ६

मनुष्य का मन गृहस्थ की मोह-ममता से तथा वानप्रस्थ के सब धर्मों से पूर्ण हो जाये और उसे सांसारिक वस्तुओं से मोह न रहे। सब वस्तुएं व्यर्थ लगने लगें, तभी उसे संन्यासी हो जाना चाहिए और अपने जीवन का उद्धारक-मार्ग अपनाना चाहिए। जो मनुष्य वन में रहकर भी ग्राम की वस्तुओं से मोह नहीं छोड़ता, वह वनवासी होता हुआ भी ग्रामवासी ही बना रहता है, वनवासी होकर भी जिसकी इच्छाएें तृप्त नहीं होतीं, तो उसका संन्यास लेना व्यर्थ है, इससे तो उसे ग्राम में ही रहना चाहिए। जो मनुष्य रहता तो ग्राम में है किन्तु उसकी इच्छायें वनवासी जैसी हो जाती हैं, तो वह ग्राम में रहता हुआ भी वनवासी के समान है। संन्यासी के लक्षण बताते हुए व्यास जी ने शुकदेव जी से कहा कि "भिक्षापात्र एवं कमण्डलु रखे। वृक्ष की जड़ में सोये या निवास करे। जो देखने में सुन्दर न हो, ऐसा वस्त्र धारण करे। किसी को साथ न रखे और सब प्राणियों की उपेक्षा कर दे। ये सब संन्यासी के लक्षण हैं।"[४] संन्यासी को अपने साथ न तो मनुष्य रखना चाहिए और न कोई वस्तु रखनी चाहिए। उसे तो केवल भिक्षा मांगने के लिए एक भिक्षापात्र तथा जल पीने के लिये एक कमण्डल रखना चाहिये। उसको गेरुए रंग के असुन्दर वस्त्र धारण करने चाहिए। संसार के सब प्रकार के जीवों से प्रेम छोड़ दे और अपने को अकेला ही समझे। वृक्षों की जड़ों में रात्रि होने पर सो जाये। मनुष्य को जब ऐसी भावना पैदा हो जाये कि वह किसी के द्वारा निन्दा करने पर या प्रशंसा करने पर कुछ उत्तर न दे अर्थात् सब प्रकार की बातों को सुनकर जो बुरा या अच्छा नहीं मानता उसे संन्यास-आश्रम में प्रवेश करना चाहिए। संन्यासी को मठ या ग्रह न बनाना चाहिए, इस विषय में व्यासजी ने इस प्रकार कहा कि "संन्यासी कभी न तो अग्नि की स्थापना करे और न घर या मठ ही बनाकर रहे, केवल भिक्षा लेने के लिए ही गांव में जाय।"[५] संन्यासी को सदा अनिकेत रहना चाहिए। मकान या मठ बनाकर रहना संन्यासी के लिए अनुचित है। संन्यासी को गांव में भी

४—कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता।
उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद् भिक्षुलक्षम्॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४५, ७

५—अनग्निरनिकेश्च ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४५, ५

अधिक जाना निषेध है। उसे केवल भिक्षा मात्र के लिए गाँव में प्रवेश करना चाहिए। गांव में अधिक जाना तथा गृह या मठ बनाकर रहना संन्यासी के मोह का लक्षण प्रतीत होगा। ऐसा संन्यासी वास्तविक संन्यासी नहीं है और न वह आगे जीवन में मोक्ष को प्राप्त हो सकेगा संन्यासी के नियम बताते हुए ययाति ने अष्टक से इस प्रकार कहा कि "संन्यासी शिल्प कला से जीवन-निर्वाह न करे। शम, दम आदि श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न हो। सदा अपनी इन्द्रियों को वश में रखे। सबसे अलग रहे। गृहस्थ के घर में न सोये। परिग्रह का भार न ले, स्वयं स्वतन्त्र रहे।"[६] संन्यासी को जीवन-निर्वाह के लिए चित्रकला आदि दस्तकारी का सहारा नहीं लेना चाहिए, उसे तो केवल भिक्षा से जीवन यापन करना चाहिए। सब प्रकार के दुःखों को सहन करने की शक्ति होनी चाहिए तथा दूसरों के द्वारा कहे हुए अच्छे या निन्दात्मक शब्दों का कोई उत्तर न देने की भी शक्ति होनी चाहिए, तभी सच्चे शब्दों में संन्यासी माना जाता है। संन्यासी अपनी इन्द्रियों को सदैव वश में रखता है। संन्यासी कभी भी गृहस्थ के घर में न सोये। थोड़ा-थोड़ा चलता रहे, भ्रमणशील होकर रहे। किसी प्रकार की वस्तु को साथ न रक्खे, सदा अपरिग्रही बनकर रहे। संन्यासी के लक्षण बताते हुए ब्रह्माजी ने महर्षियों से इस प्रकार कहा कि "कभी सुवर्ण की इच्छा न करे। किसी से द्वेष न करे और उपदेशक न बने तथा संग्रहरहित रहे।"[७] किसी भी धन की इच्छा न करे, किसी को उपदेश न दे तथा सब संग्रहो का त्याग कर दे। ब्रह्माजी ने महर्षियों से कहा कि

६—अशिल्पजीवी गुणवांश्च व नित्यं
जितेन्द्रियः सर्वतो विप्रयुक्तः।
अनोकशायी लघुरल्पप्रचार—
श्चरन् देशानेकचरः सभिक्षुः॥
आदिपर्व—अध्याय ९१, श्लोक ५

७—न शिल्पजीविकां जीवेद्धिरण्यं नोत कामयेत्।
न द्वेष्टा नोपदेष्टा च भवेच्च निरुपस्कृतः॥
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ४६, श्लोक ३७

"मोक्ष-धर्म के ज्ञाता संन्यासी को उचित है, कि सदा पवित्र जल से काम लें। प्रतिदिन तुरन्त निकाले हुए जल से स्नान करे।"[८] कुँए से तुरन्त निकला हुआ जल ही संन्यासी के लिए श्रेष्ठ होता है। इसलिए उसे सदा तुरन्त निकला हुआ जल ही पीना तथा अन्य काम में लाना चाहिए, पहले से भरकर रक्खा हुआ पानी कभी काम में न लाए। संन्यासी को उचित है कि भविष्य के लिए विचार न करे, बीती हुई किसी भी प्रकार की घटनाओं का चिन्तन न करे और वर्तमान की भी उपेक्षा कर दे। केवल काल की प्रतीक्षा करता हुआ चित्तवृत्तियों का समाधान करता रहे। नेत्र से, मन से, और वाणी से कहीं भी दोषदृष्टि न करे। सबके सामने या दूसरों की आँख बचाकर कोई बुराई न करे। संन्यासी के आठ व्रत बताते हुए ब्रह्माजी ने महर्षियों से कहा कि "अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, सरलता, क्रोध का अभाव, दोष-दृष्टि का त्याग, इन्द्रियसंयम और चुगली न खाना—इन आठ व्रतों का सदा सावधानी के साथ पालन करे। इन्द्रियों को वश में रखे।"[९] संन्यासी को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये, हमेशा सत्य बोलना चाहिए, क्रोध कभी नहीं करना चाहिये, हमेशा सरलता से तथा शान्ति से रहना चाहिये, किसी के कार्य में कभी दोष, दृष्टि नही रखनी चाहिए, कभी किसी की चुगली नही खानी चाहिये, हमेशा इन्द्रियों को वश में रखना चाहिये, सब जीवों पर सदा दया रखनी चाहिये, ये संन्यासी के लिये महत्त्वपूर्ण व्रत हैं। इनको पालन करने वाला संन्यासी ही सही अर्थों में संन्यासी है। संन्यासी के सनातन धर्म बताते हुये कपिलजी ने कहा कि "सन्तोष ही जिसके सुख का मूल है, त्याग ही जिसका स्वरूप है,

---

८—पूताभिरद्भिर्नित्यं वै कार्यं कुर्वीत मोक्षवित्।
उपस्पृशेदुद्धृताभिरद्भिश्च पुरुषः सदा॥
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ४६, श्लोक २८½

९—अहिंसा ब्रह्मचर्यं च सत्यमार्जवमेव च॥
अक्रोधश्चानसूया च दमो नित्यमपैशुनम्।
अष्टस्वेतेषु युक्तः स्याद् व्रतेषु नियतेन्द्रियः॥
आश्वमेधिक पर्व-अध्याय ४६, श्लोक २९-३०

जो ज्ञान का आश्रय कहा जाता है, जिसमें मोक्षदायिनी बुद्धि — ब्रह्मसाक्षात्कार रूप वृत्ति नित्य आवश्यक है, वह संन्यास आश्रमरूप धर्म सनातन है।"[१०] जिस मनुष्य में सन्तोष का भाव आ जाता है, वह उसके लिए सुख का मूल समझा जाता है और सन्तोष ही सन्यासी के लिये परमावश्यक व्रत है। इसी प्रकार संन्यासी के लिये त्याग की भावना भी बहुत आवश्यक है। त्याग की भावना से ही मनुष्य इस असार संसार को व्यर्थ समझने लगता है और व्यर्थ समझने के कारण ही वह मोक्ष की इच्छा रखता है। संन्यास-आश्रम मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है। सब प्रकार की कामनाओं से रहित मनुष्य ही संन्यास को ग्रहण करता है और अन्त में मोक्ष को प्राप्त करता है। संन्यासी के धर्म बताते हुए व्यासजी ने भीष्म से कहा कि "आत्मा का ही यजन, आत्मा में ही रत होकर आत्मा में ही क्रीड़ा करे। सब प्रकार से आत्मा का ही आश्रय ले। अग्निहोत्र की अग्नियों को आत्मा में ही आरोपित करके सम्पूर्ण संग्रह-परिग्रह को त्याग दे।"[११] जब वानप्रस्थ आश्रम में रहकर मनुष्य के सब प्रकार के नियम, ध्यान आदि कर्म पूर्ण हो जायें और उसे आत्मा में ही आनन्द प्रतीत होने लगे, तभी उसे वानप्रस्थ छोड़ कर संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिये। संन्यासी का यज्ञ आत्मा ही हो, तथा सब प्रकार की क्रीड़ा आत्मा में रत होकर ही करे तो वह सच्चा संन्यासी मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी है। संन्यासी के धर्म बताते हुये व्यासजी ने शुकदेव से कहा कि "संन्यासी को चाहिए कि वह सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी को साथ न लेकर अकेला ही

१०—संन्तोषमूलस्त्यागात्मा ज्ञानाधिष्ठानमुच्यते ।
अपवर्गमतिर्नित्यो यतिधर्मः सनातनः ॥

शान्तिपर्व—अध्याय २७० श्लोक ३१

११ आत्मयाजी सो ऽऽत्मरतिरात्मक्रीडात्मसंश्रयः ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य त्यक्त्वा सर्वपरिग्रहान् ॥

शान्तिपर्व—अध्याय २४४, श्लोक २४

संन्यास-धर्म का पालन करे।"[१२] संन्यास-आश्रम में प्रवेश करते समय मनुष्य को अकेला ही रहना चाहिये किसी को साथ न रखे। अकेले मनुष्य का ध्यान ही सब तरफ से हठकर ब्रह्म में लीन हो सकता है अन्यथा बहुत कठिन है। संन्यासी का मन ब्रह्म में तभी लीन हो सकेगा जब वह सबसे दूर, सब को त्याग कर केवल ब्रह्म को ही अपना सब कुछ मानेगा। ब्रह्म में लीन होकर ही वह मोक्ष को प्राप्त होगा। आत्मतत्त्व का बोध करके जो एकाकी विचरता रहता है, वह कल्याण को प्राप्त होता है। संन्यासी के धर्म बताते हूये व्यासजी ने शुकदेव से कहा कि "संन्यासी किसी की निन्दा करने वाले पुरुषकी ओर आँख उठाकर नही देखे, कभी किसी का निन्दात्मक वचन सुने नहीं तथा विशेषतः ब्राह्मणों के प्रति किसी प्रकार न कहने योग बात न कहे। जिससे ब्राह्मणों का हित हो, वैसा ही वचन सदा बोले। अपनी निन्दा सुनकर भी चुप रह जाय—इस मौनावलम्बन को भव रोग से छूटने की दवा समझकर इसका सेवन करता रहे।"[१३] किसी के कहे हुए निन्दात्मक वचनों को सुनकर किसी प्रकार का प्रत्युत्तर न दे, सर्वदा मौन धारण करके रहे। ब्राह्मणों के प्रति न कहने योग्य बात न कहे, सदैव उनके सम्मान का ध्यान रखे। ब्राह्मणों के प्रति हितकारी वचन बोले। मौन रहना इस संसार रूपी सागर से पार होने का मार्ग है। इसलिए सदा शान्त चित्त रहकर मौन को धारण करे। संन्यासी के धर्म बताते हुए व्यासजी ने कहा कि "संन्यासी अपने चित्त को राग-द्वेष आदि दोषों से दूषित न होने दे। अपनी वाणी को निन्दा आदि दोषों से बचाये और पापों

१२—एक एव चरेद् धर्मं सिद्ध्यर्थमहायवान्।
शान्तिपर्व—अध्याय २४५, श्लोक ४

१३- नैव पश्येन्न शृणुयादवाच्यं जातु कस्यचित्।
ब्राह्मणानां विशेषेण नैव ब्रूयात् कथंचन॥
यद् ब्राह्मणस्य कुशलं तदेव सततं वदेत्।
तूष्णीमासीत निन्दायां कुर्वन् भैषज्यमात्मनः॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४५, श्लोक ९-१२

से मुक्त होकर सर्वथः शत्रुहीन हो जाय। किसी से भय न रहे।[१४] संन्यासी को कभी किसी से राग या द्वेष नहीं करना चापिये। राग-द्वेप सर्वदा किसी के प्रति प्रेम से अथवा किसी ने अपने विपय में कुछ निन्दात्मक शब्द कह दिये तो क्रोध के कारण उससे कुछ कहा सुनी हो गई और चलकर उससे द्वेप होने लगा। इसी प्रकार चित्त द्वेप के कारण हर समय अशान्ति रहने लगता है और उस मनुष्य से शत्रुता-सी होने लगती है। संन्यासी के लिए अशान्ति के कारण ही यह राग-द्वेप वर्जित हैं। उसे तो किसी के द्वारा कहे जाने वाले शब्दों पर ध्यान ही नहीं देना चाहिए, वह शब्द चाहे अपनी प्रशंसा के हों अथवा निन्दा के हों। क्योंकि ध्यान न देकर ही संन्यासी शान्त चित्त रह सकता है, नहीं तो उसको रास्ते चलते अनेक मनुष्यों से वाद-विवाद करना पड़ेगा। यह तो संसार है इसमें सब प्रकार के बुद्धिमान, मूर्ख, स्वार्थी, अहित-कारी आदि कई प्रकार के मनुष्य रहते हैं। संन्यासी को देखकर के कोई कुछ कहता है, कोई कुछ, इसलिए संन्यासी को तो किसी के वचन न सुनने चाहिये और न उनका प्रत्युत्तर देना चाहिये। संन्यासी के लिए मौन रहना इसलिए बताया है, जिससे उसका मन स्थिर और शान्त रहे। संन्यासी के जीवन मोह के विपय में बताते हुए व्यासजी ने शुकदेवजी से इस प्रकार कहा कि "संन्यासी न तो जीवन का अभिनन्दन करे और न मृत्यु की प्रतीक्षा ही। जैसे सेवक स्वामी के आदेश की प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार उसे भी काल की प्रतीक्षा करनी चाहिए।"[१५] संन्यासी को अपने जीवन से न तो मोह ही होना चाहिए और न बिल्कुल विरक्ति ही होनी चाहिये। उसे तो जब तक प्राण हैं, तब तक अपने धर्म का पालन करते रहना चाहिए और सदैव मृत्यु की प्रतीक्षा करनी

१४—अभ्याहतचित्तः स्यानभ्याहेतवाग् भवेत्।
निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यो निरमित्रस्य किं भयम्॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४५, श्लोक १६

१५—नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निदेशं भृतको यथा॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४५, श्लोक १५

चाहिए। संन्यासी को तो हमेशा अपने नियमों का पालन शान्तचित्त से करते रहना चाहिए, जो अन्त समय में उसके साथ रहेगा। अच्छे कर्म करना चाहिए तथा अहिंसा की ओर सदैव ध्यान रखना चाहिये। रास्ता चलते समय रास्ते में चींटी आदि छोटे कीड़े मिलें, उन पर सदा दयाभाव रखना चाहिये।

३—संन्यासी के नियम, दण्ड, कमण्डल—

जटा रहित सिर आदि संन्यासी के लक्षण हैं। संन्यासी के पात्र लकड़ी या मिट्टी के होते हैं। वे उसके लिए केवल जीवन-यात्रा के अवलम्ब हैं। ये उसके बाहरी उपलक्षण मात्र हैं। संन्यास का वास्तविक स्वरूप तो आन्तरिक आत्म-साधना है। बाहरी चिन्ह धर्म के कारण नहीं होते। संन्यासी के नियम बताते हुए व्यास जी ने शुकदेवजी से कहा कि "वह दूसरे दिन के लिए अन्न का संग्रह न करे। चित्त-वृत्तियों को एकाग्र करके मौनभाव से रहे। हलका और नियमानुकूल भोजन करे तथा दिन-रात में केवल एक ही बार अन्न ग्रहण करे।"[१६] संन्यासी को दिन में एक ही बार भोजन के लिए अन्न की भिक्षा माँगनी चाहिए, अधिक अन्न की भिक्षा न माँगे। संन्यासी की भिक्षा का समय बताते हुए ब्रह्मा जी ने महर्षियों से इस प्रकार कहा कि "प्रातःकाल का नित्यकर्म करने के बाद जब गृहस्थों के यहाँ रसोई-घर से धुँआ निकलना बन्द हो जाय, घर के सब लोग खा-पी चुकें और बर्तन धो माँजकर रख दिये गये हों, उस समय मोक्षधर्म के ज्ञाता संन्यासी को भिक्षा लेने की इच्छा करनी चाहिए।"[१७] संन्यासी को भिक्षा के लिए तब किसी गृहस्थ के घर जाना

१६—अश्वस्तनविधाता स्यान्मुनिर्भावसमाहितः।
लघ्वाशी नियताहारः सकृदन्ननिषेविता॥
शान्तिपर्व—अध्याय २४५, श्लो० ६

१७—कृत्वा प्राह्णे चरेद् भैक्ष्य विधू मे भुक्तवज्जने॥
वृत्ते शरावसम्पाते भैक्ष्य लिप्सेत् मोक्षवित्॥
आश्वमेधिकपर्व—अध्याय ४६, श्लो०

चाहिए, जब उसके यहाँ सब परिवार वाले भोजन कर चुके हों। इसका अभिप्राय यही है कि उसे बचा हुआ भोजन प्राप्त करना चाहिए, किसी के हिस्से का भोजन नहीं प्राप्त करना चाहिए। शेष बचा हुआ भोजन पूर्ण नहीं हो सकता। गृहस्थ में कभी केवल रोटी ही बच रहती है और कभी केवल तरकारी। शेष अन्न का यही अभिप्राय है कि जो कुछ रोटी या तरकारी मिल जाये, उसी को लेकर संन्यासी को पानी पी लेना चाहिए और अधिक अन्न की इच्छा नहीं रखनी चाहिए। संन्यासी जीवन-निर्वाह के लिए भिक्षा माँगे। उचित समय तक उसके मिलने की प्रतीक्षा करे। चित्त को एकाग्र किये रहे। अधिक सम्मान वाले स्थान पर भोजन न करे इस विषय में ब्रह्माजी ने कहा कि "साधारण वस्तुओं की प्राप्ति की भी इच्छा न करे। जहाँ अधिक सम्मान होता हो, वहाँ भोजन न करे। मान-प्रतिष्ठा के लाभ से संन्यासी को घृणा करनी चाहिए। वह खाये हुए तिक्त, कसैले तथा कड़वे अन्न का स्वाद न ले।"[१८] संन्यासी को भिक्षा मिल जाने पर हर्ष न होना चाहिए और न मिलने पर विषाद न होना चाहिए। भिक्षा जीवन-यात्रा के निर्वाह लिए जितनी आवश्यकता हो, उतनी ही लेनी चाहिए। भोजन करते समय मधुररस का भी आस्वादन न करे, प्राणधारणमात्र के लिए अन्न का आहार करे। जहाँ पर संन्यासी को प्रेमपूर्वक भोजन कराया जाये, वहाँ वह भोजन न करे। सम्मान और प्रेम से सदा दूर रहे। भिक्षा माँगते समय दाता के द्वारा दिये जाने वाले अन्न के सिवा दूसरा अन्न लेने की कदापि इच्छा न करे। पाप, शठता और कुटिलता से रहित होकर वर्ताव करना चाहिये। नित्यप्रति जो अन्न अपने आप प्राप्त हो जाये उसको ही ग्रहण करना चाहिए। उसके लिए भी मन में इच्छा नहीं रखनी चाहिए। मनमाना भोजन कभी नहीं करना चाहिए। किसी अच्छी वस्तु का उपयोग करके फिर उसके लिए लालयित न रहे। मिट्टी, जल, अन्न, पत्र, पुष्प और फल– ये वस्तुऐं यदि किसी के अधि-

---

१८—लाभं साधारणं नेच्छेन्न भुञ्जीताभिपूजितः ॥
अभिपूजितलाभाद्धि विजुगुप्सेत भिक्षुकः ।
भुक्तान्यन्नानि तिक्तानि कषायकटुकानि च ॥

आश्वमेधिकपर्व अध्याय ४६, श्लो० २१-२२

कार में न हों तो आवश्यकता पड़ने पर क्रियाशील संन्यासी इन्हें काम में ला सकता है। संन्यासी के नियम बताते हुए ब्रह्माजी ने महर्षियों से इस प्रकार कहा कि "खाने के लिए अन्न और शरीर ढकने के लिए वस्त्र के सिवा और किसी वस्तु का संग्रह न करे। बुद्धिमान संन्यासी को चाहिए कि दूसरों के लिए भिक्षा न माँगे तथा सब प्राणियों के लिए दयाभाव से संविभागपूर्वक कभी कुछ देने की इच्छा न करे। सबके साथ अमृत के समान मधुर वर्ताव करे, कहीं भी आसक्त न हो और किसी भी प्राणी के साथ परिचय न बढ़ाये।"[१९] संन्यासी के लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता है, इसलिए उसे दूसरों के लिये भिक्षा न माँगनी चाहिए, तथा न दया के कारण किसी को कोई वस्तु देनी चाहिए। संन्यासी को तो सब बन्धनों से मुक्त बताया है। उसे तो केवल अपने जीने मात्र के लिए भोजन ग्रहण करके जीवन-निर्वाह करना चाहिए। सबके साथ मधुरवाणी से व्यवहार करे, किसी से प्रेम न करे और न किसी के साथ परिचय बढ़ाये। संन्यासी के नियम बताते हुए ब्रह्माजी ने कहा कि "जितने भी कामना और हिंसा से युक्त कर्म हैं, उन सबका एवं लौकिक कर्मों का न स्वयं अनुष्ठान करे और न दूसरों से कराये।"[२०] संन्यासी को किसी प्रकार की कामना न करनी चाहिए। कामनाओं से, शून्य होने पर ही मनुष्य संन्यास-आश्रम ग्रहण करता है। यदि किसी मनुष्य की कामनायें तृप्त न हुई हों, तो उसे संन्यासी न होना चाहिये। संन्यासी को हिंसा से युक्त

१९—ग्रासादाच्छादनादन्यत्र गृह्णीयान् कथंचन ॥
परेभ्यो न प्रतिग्राह्यं न च देयं कदाचन ।
दैन्यभावाच्च भूतानां संविभज्य सदा बुधः॥
सुधावृत्तिरसक्तश्च सर्वभूतैरसविदम् ॥

आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ४६, श्लो० ३२-३४-३८

२०—आशीर्युक्तानि सर्वाणि हिंसायुक्तानि यानि च ।
लोकसंग्रहधर्मं च नैव कुर्यान्न कारयेत् ॥

आश्वमेधिकपर्व—अध्याय ४६, श्लो० ३९

भी कोई कार्य न करना चाहिए। उसे तो सब जीवों पर दयाभाव रखना चाहिए। उसे तो लौकिक कर्मों का किसी प्रकार का भी अनुष्ठान न करना चाहिए और न दूसरों से कराना चाहिए। संन्यासी के नियम बताते हुए ब्रह्माजी ने कहा कि "उसे अपने धर्म का प्रदर्शन न करना चाहिये। निर्जन स्थान में विचरते रहना चाहिये। रात को सोने के लिए सूने घर, जंगल, वृक्ष की जड़, नदी के किनारे अथवा पर्वत की गुफा का आश्रय लेना चाहिए। ग्रीष्मकाल में गाँव में एक रात से अधिक नहीं रहना चाहिए, किन्तु वर्षाकाल मे किसी एक ही स्थान पर रहना उचित है।"[२१] संन्यासी को कभी भी अपने धर्म का प्रदर्शन नहीं करना चाहिये। धर्म के प्रदर्शन से उसका अहङ्कार बढ़ेगा और उसकी मोक्ष प्राप्ति की साधना में वह बाधा बनेगा। इसलिए संन्यासी को कुछ भी न करना चाहिए और न कुछ कहना चाहिए। उसे तो मौनभाव से स्वतन्त्र रहना चाहिए। ग्रीष्मकाल में संन्यासी को एक रात से अधिक किसी भी गाँव में नहीं ठहरना चाहिए। उसे तो सुबह होते ही दूसरे गाँव को प्रस्थान कर देना चाहिए। वर्षाकाल में संन्यासियों के लिए चारमास तक एक ही स्थान पर ठहरने का नियम बताया है। क्योंकि वर्षा के समय गाँव के आस-पास के रास्ते, नदी या नालों में वर्षा के पानी के आ जाने के कारण बन्द हो जाते हैं और सबका आगमन प्रायः बन्द सा हो जाता है। जब वर्षाकाल में सभी का आवागमन बन्द रहता है, तो बेचारे संन्यासी को ही पानी में फिरने से क्या लाभ। इसीलिए संन्यासी के लिए चार-मास तक एक स्थान पर रुकने का नियम उचित है। संन्यासी के नियम बताते हुए ब्रह्माजी ने कहाकि "जैसे कछुआ अपने अङ्गों को सब ओर से समेट लेता है, उसी प्रकार इन्द्रियों को विषयों की ओर से हटा ले। इन्द्रिय मन और बुद्धि

२१—न संनिकाशयेद् धर्मं विविक्ते चारजाश्चरेत्।
शून्यागारमरण्यं वा वृक्ष मूलेनदी तथा॥
प्रतिश्रयार्थं सेवेत पार्वतीं वा पुनर्गुहाम्।
ग्रामैकरात्रिको ग्रीष्मे वर्षास्वेकत्र वा वसेत्॥

आश्वमेधिकपर्व—अध्याय ४६, श्लोक २५-२६

को दुर्बल करके निश्चेष्ट हो जाय। सम्पूर्ण तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करे।"[२२] संन्यासी के नियम बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि— "संन्यासी को चाहिए कि वह मन और इन्द्रियों को संयम में रखते हुए मुनि-वृत्ति से रहे। किसी वस्तु की कामना न करे। अपने लिए मठ या कुटी न बनवाये। निरन्तर घूमता रहे और जहाँ सूर्यास्त हो जाये वहीं ठहर जाये। प्रारब्धवश जो कुछ प्राप्त हो जाये, उसी से जीवन-निर्वाह करे।"[२३] संन्यासी को निरन्तर घूमते रहना चाहिए और जहाँ सूर्यास्त हो जाये वहीं रुक जाये। मन और इन्द्रियों को संयम में रखकर त्याग की भावना से रहे। ज्ञान के सम्पूर्ण तत्वों को जानने की इच्छा रखे और ज्ञान को ही प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहे। संन्यासी को चाहिए कि किसी एक स्थान में आसक्ति न रखे, एक ही ग्राम में न रहे तथा किसी एक ही किनारे पर सर्वदा शयन न करे। उसे सब प्रकार की आसक्तियों से मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरना चाहिए। अपने अन्तःकरण में ही परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। संन्यासी को मोक्षोपयोगी कर्म श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि के द्वारा समय व्यतीत करना चाहिए।

४—संन्यासी के प्रकार—

साधारणतया सब लोग एक प्रकार के ही संन्यासी को संन्यासी समझते हैं, क्योंकि आधुनिक युग में वे ही अधिक दिखाई देते हैं। जो भी मनुष्य गेरुए रंग के वस्त्र धारण कर लेता है सब लोग उसी को संन्यासी

२२—इन्द्रियाण्युपसंहृत्य कर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
क्षीणेन्द्रियमनोबुद्धिर्निरीहः सर्वतत्त्ववित्॥

आश्वमेधिकपर्व—अध्याय ४६, श्लो० ४४

२३—यत्रास्तमितशायी स्यान्निराशीरनिकेतनः।
यथोपलब्धजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः॥

शान्तिपर्व—अध्याय ६१, श्लो० ८

समझने लगते हैं। हमारे प्राचीन धर्मशास्त्रों में संन्यासी चार प्रकार के बताये गये हैं। महाभारत में उमा को बताते हुए महेश्वर ने कहा कि "संन्यासी चार प्रकार के होते हैं–कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।"[२४] धर्म-शास्त्रों में जो संन्यासियों का चतुर्विध विभाजन मिलता है, वह महाभारत के अनुशासनपर्व के इसी वचन के अनुसार है। वैखानस सूत्र में संन्यासियों के इन चार भेदों की व्याख्या इस प्रकार की गई है–

(१) "कुटीचक—उस संन्यासी को कहते हैं, जो संन्यास-आश्रम को ग्रहण करके वन में नहीं जाता। कुटीचक संन्यासी पुत्रों द्वारा निर्मित कुटी में निवास करता है। यह कुटी पुत्रों के घर के पास ही होती है, वन में नहीं। भिक्षा लेने के लिए भी कुटीचक नगर या गाँव में नहीं जाता है, वरन् भिक्षा माँगने वह अपने ही पुत्रों के घर या सम्बन्धियों के घर जाता हैं। कुटीचक शिखा, सूत्र, त्रिदण्ड और कमण्डल धारण करता है।

(२) बहूदक—उस संन्यासी को कहते हैं, जो गैरिक वस्त्र धारण करता है। त्रिदण्ड और कमण्डल साथ रखता है। सात श्रेष्ठ ब्राह्मणों के घर से भिक्षा मांगता है।

(३) हंस—हंस नामक संन्यासी वन में रहता है। ग्राम में एक रात्रि निवास करता है। नगर में पाँच रात्रि से अधिक निवास नहीं करता है। एक मास का व्रत करता है। चन्द्रायण व्रत करता है। पितामह के अनुसार एक दण्ड धारण करता है। केवल भिक्षा के लिए गाँव में जाता है। वृक्ष, कन्दरा, नदीतट पर निवास करता है।

(४) परमहंस—वृक्ष के नीचे या श्मशान में निवास करता है। केवल कौपीन धारण करता है या नग्न रहता है। धर्म-अधर्म, पवित्र-अपवित्र

२४—चतुर्विधा भिक्षवस्ते कुटीचकबहूदकौ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात् स उत्तमः॥
अनुशासनपर्व—अध्याय १४१, श्लो० ८९

से परे, आत्मनिष्ठ होता है। आत्मस्वरूप से सबको समान मानने वाला होता है। चारों वर्णों से भिक्षा लेते हैं।"[२५] इन चारों प्रकार के संन्यासियों में एक से एक श्रेष्ठ माने जाते हैं। ये चार प्रकार के संन्यासी मोक्ष प्राप्त करने की चार सीढ़ी के समान हैं। धर्मशास्त्रों में संन्यासी के चार प्रकार मनुष्य की बुद्धि और मन को संयम करने के लिए चार पाठ के समान है। आरम्भ में मनुष्य पुत्रों के द्वारा कुटी बनवाकर पुत्रों के ही अन्न से अपना जीवन व्यतीत करते हैं और अपनी मोक्ष प्राप्ति के लिए जो नियम ध्यान आदि हैं उनमें लीन रहते हैं। जब इस प्रकार ध्यान में और संन्यास में उनको आनन्द आने लगता है, तब वह दूसरे प्रकार के बहूदक संन्यासी हो जाते हैं। बहूदक गेरुए रंग के वस्त्र धारण करता है और सात श्रेष्ठ ब्राह्मणों के यहाँ से भिक्षा माँगता है। इस प्रकार पहले पुत्रों के अन्न से, फिर ब्राह्मणों से भिक्षा मांग कर मनुष्य नगर को छोड़ देता है। तीसरे प्रकार का संन्यासी हंस कहलाता है, जो अपना घर - नगर छोड़कर वन में विहार करता फिरता है। गाँव में एक रात ठहरता है तथा नगर में पाँच रात्रि ठहरता है। भ्रमण-शील रहता है। अनेक प्रकार के व्रत करके शरीर को दुर्बल कर लेता है।

२५--तत्र कुटीचका गौतमभारद्वाजयाज्ञवल्क्यहारीतप्रभृतीनामाश्रमेष्वष्टौः ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गतत्त्वज्ञा मोक्षमेव प्रार्थयन्ते।
बहूदकास्त्रिदण्डकमण्डलुकाषायधातुवस्त्रग्रहणवेषधारिणो ब्रह्मर्षिगृहेषु चान्येषु साधुवृत्तेषु मांसलवणपर्युषितान्नं वर्जयन्तः सप्तागारेषु भैक्षं कृत्वा मोक्षमेव प्रार्थयन्ते। हंसानाम ग्रामे चैकरात्रं नगरे पंचरात्रं वसन्तस्तदुपरि न वसन्तो गोमूत्रगोमयाहारिणो वा मासोपवासिनो वा नित्यचान्द्रायणव्रतिनो नित्यमुत्थानमेवप्रार्थयन्ते। परमहंसा नाम वृक्षैक-मूले शून्यागारे श्मशाने वा वासिनः साम्बरा वा दिगम्बरा वा।
न तेषां धर्माधर्मौ सत्यानृते शुद्धयशुद्धयादि द्वैतम्।
सर्वसमाः सर्वात्मानः समलोष्टकाञ्चनाः सर्ववर्णेषु भैक्षाचरणं कुर्वन्ति।

वैखानससूत्र—अध्याय ८-९

(शब्दकल्पद्रुम के अनुसार)

कहीं पर भी कुटी आदि बनाकर नहीं रहता। वृक्ष, कन्दरा या नदी तट पर रात्रि होने पर सो जाता है। वन में ही अधिक रहता है। गाँव में केवल एक वार दिन में भिक्षा लेने जाता है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए ही ध्यान करता रहता है। चौथे प्रकार का संन्यासी परमहंस कहलाता है। इसमें मनुष्य तीन सीढ़ी चढ़ चुकता है, तब इस तक आता है। यह मोक्ष प्राप्ति की अन्तिम सीढ़ी मानी गई है। इस संन्यासी को किस प्रकार का ध्यान नहीं रहता है। वह तो पूर्ण ब्रह्म में लीन अवस्था पर पहुँच जाता है। इसलिए न उसे वस्त्रों का ध्यान रहता है, न भोजन का, न धर्म का, न पवित्रता का। इस प्रकार का संन्यासी केवल एक कौपीन धारण करता है, चारों वर्णों में से जो भी उसे कुछ भिक्षा दे देता है, उसी को वह ग्रहण कर लेता है। सब जीवों को अपने समान मानने लगता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर संन्यासी श्रेष्ठ माना जाता है। परमहंस संन्यासी ही सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है, इस विषय में उमा से महेश्वर ने इस प्रकार कहा कि "इस परमहंस धर्म के द्वारा प्राप्त होने वाले आत्मज्ञान से बढ़कर दूसरा कुछ भी नहीं है। यह परमहंस ज्ञान किसी से निष्कृष्ट नहीं है। परमहंस ज्ञान के सम्मुख परमात्मा तिरोहित नहीं है। यह दुःख-सुख से रहित सौम्य अजर-अमर और अविनाशी पद है।"[२६] परमहंस संन्यासी सदैव अजर-अमर और अविनाशी हो जाता है। इसका अभिप्राय यही है कि उसकी आत्मा इतनी शुद्ध और पवित्र हो जाती है कि वह फिर जन्म नहीं लेता। उसका नश्वर शरीर यहाँ रह जाता है किन्तु उसकी आत्मा अजर-अमर हो जाती है अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाती है। सब कर्मों और बन्धनों से मुक्त होकर सर्वदा के लिए इस असार संसार से मुक्ति पा जाता है। फिर जन्म ग्रहण नहीं करता क्योंकि उसके कुछ कर्म शेष ही नहीं रह जाते हैं, सब कर्मों को पूर्ण करके मोक्ष को प्राप्त होता है। इसलिए परमहंस संन्यासी सबसे श्रेष्ठ संन्यासी होता है।

२६—अतः परतरं नास्ति नावरं न तिरोगतः।
अदुःखमसुखं सौम्यमजरामरमव्ययम्॥
अनुशासनपर्व—अध्या० १४१, श्लोक ८०

५—संन्यास के पालन से मोक्षप्राप्ति—

संन्यास-आश्रम में पहुँचते समय तक मनुष्य के लिये कोई कर्म शेष नहीं रह जाता है। वह पूर्ण स्वतन्त्रता की अवस्था है। यह स्वतन्त्रता ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। संन्यासी जीवन-यात्रा के लिए जो भी कर्म करता है, वे सब अनासक्ति होने के कारण बन्धन नहीं होते। संन्यासी के लिए जप, तप, यज्ञ आदि किसी कर्म का विधान नहीं है। ये कर्म भी वानप्रस्थ में पूर्ण हो जाते हैं। इन तपों से उपार्जित आत्म-विभूति और ब्रह्म-साधना में संन्यासी का स्वतन्त्र और गतिशील जीवन व्यतीत होता है। परिव्रजन स्वतन्त्रता का बाह्य लक्षण है। कृतकृत्य और मुक्त हो कर संन्यासी अभय और अमृत हो जाता है। कृतार्थता से उसका जीवन इतना पूर्ण और आनन्दमय हो जाता है कि वह न जीवन की लालसा करता है, न मृत्यु से डरता है और न मृत्यु की इच्छा करता है। कृतकृत्यता और स्वतन्त्रता के द्वारा मृत्युञ्जय अवस्था को प्राप्त होकर संन्यासी मोक्ष को प्राप्त करता है। संन्यासी को सिद्धि कैसे प्राप्त होती है इस विषय में ययाति ने अष्टक से इस प्रकार कहा कि "जो मुनि सम्पूर्ण कामनाओं को छोड़ कर कर्मों को त्याग चुका है और इन्द्रिय-संयमपूर्वक सदा मौन में स्थित है, ऐसा संन्यासी लोक में परम सिद्धि को प्राप्त होता है।"[२७] इसी प्रकार संन्यासी की मोक्षप्राप्ति के विषय में बताते हुए ययाति ने कहा कि "कामवृत्ति वाले गृहस्थों के बीच ग्राम में ही वास करते हुए भी जो जितेन्द्रिय और गृहरहित संन्यासी है, वही उन दोनों प्रकार के मुनियों में पहले ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है।"[२८] अष्टक ने

२७—यस्तु कामान् परित्यज्य त्यक्तकर्मा जितेन्द्रियः।
आतिष्ठेच्च मुनिर्मौनं सलोके सिद्धिमाप्नुयात्॥
आदिपर्व—अध्याय ९१' श्लो० १४

२८—अनिकेतो गृहस्थेषु कामवृत्तेषु संयतः।
ग्राम एव वसन् भिक्षुस्तयोः पूर्वतरं गतः॥
आदिपर्व—अध्या० ९१, श्लो० २

ययाति से वानप्रस्थ और संन्यास दोनों आश्रमों में रहने वाले मुनियों के विषय में पूछा कि कौन मुनि पहले ब्रह्मभाव को प्राप्त होता हैं। तब ययाति ने कहा कि जो संन्यासी गृहस्थों के बीच में रहते हुए भी जितेन्द्रिय और घर रहित हैं अर्थात् नगर में रहते हुए भी जो जितेन्द्रिय हैं, वे संन्यासी सबसे पहले ब्रह्म-भाव को प्राप्त होते हैं। वन में रहकर तो सब संन्यासी संयम कर सकते हैं, क्योंकि उन्हें वन से मन को मोहने वाली वस्तुएँ दिखाई ही नहीं देती। किंतु गृहस्थों के बीच में तथा नगर में विचरण करने वाले संन्यासी के लिए इन्द्रिय संयम बहुत कठिन तपस्या है। जो इस तपस्या को प्राप्त कर लेता है। वह सब मुनियों में श्रेष्ठ है और सबसे पहले ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। संन्यासी को स्वर्ग प्राप्ति कैसे होती है इस विषय में ब्रह्मा जी महर्षियों से कहा कि "जो मनुष्य इन्द्रिय, उनके विषय, पञ्चमहाभूत, मन, बुद्धि, अहङ्कार, प्रकृति और पुरुष इन सबका विचार करके इनके तत्त्व का यथावत् निश्चय कर लेता है, वह सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त होकर स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है।"[२९] जो मनुष्य तत्त्वों का ज्ञाता हो जाता है तथा एकान्त में बैठकर परमात्मा का ध्यान करता है, वह आकाश में विचरनेवाले वायु की भाँति सब प्रकार की आसक्तियों से छूटकर पञ्चकोशों से रहित, निर्भय तथा निराश्रय होकर मुक्त एवं परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। संन्यासी के मोक्ष के विषय में उमा को बताते हुए महेश्वर ने इस प्रकार कहा कि "जो युक्तचित्त होकर संन्यासी होता है और और मोक्षोपयोगी कर्मश्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि के द्वारा समय व्यतीत करता हुआ निराहार (विषय सेवन से रहित) और ठूठे काठ की भाँति स्थिर रहता है, उसको सनातन धर्म का मोक्षरूप धर्म प्राप्त होता

२९—इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च महाभूतानि पंच च ॥

मनो बुद्धिरहंकारमव्यक्तं पुरुषं तथा ।

एतत् सर्वं प्रसंख्याय यथावत् तत्त्वनिश्चयात् ॥

ततः स्वर्गमवाप्नोति विमुक्तः सर्वबन्धनैः ।

आश्वमेधिकपर्व—अध्या० ४६, श्लो० ५४-५५

है।"[३०] जो संन्यासी श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा समय व्यतीत करता है और आहार की भी चिन्ता छोड़ देता है। केवल वायुभक्षण से या केवल जल के पान से जीवन बिताता हुआ ब्रह्म की साधना में ही लीन हो जाता है। वह ही सच्चे अर्थ में मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी होता है। सच्चा संन्यासी अथवा परमहंस संन्यासी ही मोक्षप्राप्त करके सर्वदा के लिए जन्म-मरण के संकट से छूट जाता है और उसकी आत्मा अजर-अमर होकर ब्रह्म में लीन हो जाती है।

३०—स्थाणुभूतो निराहारो मोक्षदृष्टेन कर्मणा ।
परिव्रजेति यो युक्तस्तस्य धर्मः सनातनः ॥
अनुशासनपर्व—अध्या० १४१, श्लो० ८६

अध्याय—१९

महाभारत में-दिव्य-धर्म

१—सामाजिक धर्म और दिव्य-धर्म—

भारतीय धर्मशास्त्रों और महाभारत में धर्म के सामाजिक और मानवीय रूप की ही प्रधानता है। 'आत्मौपम्येन' और 'आत्मनः प्रतिकूलानि' के अनुरूप मानवीय समानता और उदार मानवीय भावना इस धर्म के मूल आधार हैं। धर्म का यह रूप भावना की दृष्टि से अत्यन्त मानवीय है तथा व्यवहार के प्रसंग में सामाजिक है। धर्मशास्त्रों और महाभारत में इस धर्म के अन्तर्गत जो लक्षण, गुण, कर्तव्य आदि बताये गये हैं, वे मनुष्यता की दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य के अमूल्य अलंकार हो सकते हैं। व्यवहार की दृष्टि से ये सामाजिक हैं। सामाजिक व्यवहार और सम्बन्ध में ही ये लक्षण और गुण चरितार्थ होते हैं। व्यक्ति के शील की दृष्टि से ये मनुष्य के व्यक्तित्व को गौरवमय बनाते हैं। इन गुणों का सामाजिक फल दूसरों को प्राप्त होता है। जिस प्रकार वृक्षों के फल दूसरों को लाभ देते हैं, उसी प्रकार धर्मशीलों के गुण भी दूसरों के उपकारक होते हैं। व्यक्तित्व का मानवीय गौरव और परोपकार ये दो धर्म की इस धारणा के मुख्य पक्ष हैं। परोपकार ही मानवीयता का मुख्य रहस्य है। दूसरों के प्रति उपकार की भावना धर्म के सभी लक्षणों में ओत-प्रोत है। इसी भावना से धर्म की इस धारणा में उदारता, दया आदि के मानवीय भाव उदित होते हैं। धर्म के सामान्य लक्षणों का विवेचन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के आरम्भिक छः अध्यायों में किया गया है। समाज की व्यवस्था के अनुसार धर्म के इस सामान्य रूप के अनेक विशेष रूप बन जाते हैं। प्राचीन समाज-व्यवस्था वर्णाश्रम पर अवलम्बित थी। अतः वर्णों और आश्रमों के विभाजन के अनुरूप ही धर्म के विशेष रूप निर्धारित हुए हैं। धर्म के इन विशेष रूपों का विवरण पिछले बारह अध्यायों में विस्तार के साथ किया गया है।

धर्म के ये सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकार के रूप मानवीय और सामाजिक हैं। यदि हम ईश्वर को दिव्य और अलौकिक मानें, तो धर्म के इन रूपों को लौकिक भी कह सकते हैं। धर्म के जिस रूप की महाभारत और धर्मशास्त्रों में प्रमुखता है, वह लौकिक, सामाजिक और मानवीय है। ईश्वर से उस धर्म का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। धर्म के प्रसंग में धर्मशास्त्रों और महाभारत में ईश्वर के नाम का उल्लेख नहीं है। धर्म का यह रूप मनुष्य के प्रति मनुष्य के भाव तथा मनुष्य के प्रति मनुष्य के सम्बन्ध एवं व्यवहार में चरितार्थ होता है। ईश्वर के प्रति मनुष्य के सम्बन्ध का इसमें कोई विशेष स्थान नहीं है। यदि ईश्वर के किसी विशेष रूप का आग्रह न करके ईश्वर को परम-आत्मा के रूप में मानें तो धर्मशास्त्रों और महाभारत के इस मानवीय धर्म को भी ईश्वरीय धर्म कहा जा सकता है। किन्तु यह ईश्वरीय धर्म मूलतः मानवीय ही रहता है। क्योंकि आत्मा दिव्य होते हुए भी मानवीयता का मूल आधार है। ईश्वरीय धर्म का यह रूप धर्म के उन रूपों से भिन्न है, जो भारतवर्ष के पश्चिम में विकसित हुए हैं तथा जिनमें ईश्वर, पैगम्बर, धर्म-ग्रन्थ, उपासना आदि के एक विशेष रूप को ही सत्य माना जाता है। ये धर्म अँगरेजी के रिलीजन के पर्याय हैं। भारतीय धारणा के अनुसार इनको सम्प्रदाय कहना अधिक उचित होगा। इनकी धारणा बहुत संकुचित है। दूसरी धारणाओं के विरोध तथा अपनी धारणाओं के आग्रह एवं प्रचार की दृष्टि से इन धर्म-सम्प्रदायों को अमानवीय भी कहा जा सकता है। स्वतन्त्रता और समानता मानवीयता के दो मूलमन्त्र हैं। इन धर्म-सम्प्रदायों में इन दोनों का खण्डन किया गया है। ये धर्म सम्प्रदाय अपने को अत्यन्त श्रेष्ठ मानते हैं। किन्तु इनके समर्थकों तथा आलोचकों में किसी ने भी मानवीयता के उक्त मर्म की दृष्टि से इनका मूल्यांकन करने का साहस नहीं किया। इस मौलिक आत्मविरोध को छोड़कर इन सम्प्रदायों में भी मानवीय और सामाजिक तत्व हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु भिन्न धारणा वालों के प्रति इनका दृष्टि-कोण इतना अनुदार है कि ये मानवीय तत्व निष्फल हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त सीमित अर्थ में मानवीय और सामाजिक होने के साथ-साथ इन सम्प्रदायों में ईश्वर और उपासना सम्बन्धी आग्रहों का प्रभुत्व है।

आन्तरिक एवं घनिष्ठ है। महाभारत के संचालक श्रीकृष्ण हैं। वे भगवान विष्णु के अवतार माने जाते हैं। डा० सुकथनकर का मत है कि महाभारत में सर्वत्र श्रीकृष्ण को भगवान माना गया है।[1] सभी पाण्डव और द्रौपदी उन्हें भगवान मानते हैं। श्रीकृष्ण की महिमा महाभारत में सर्वत्र व्याप्त है। नारायण की वन्दना करके ही महाभारत की कथा आरम्भ होती है।[2] श्रीकृष्ण की महिमा की दृष्टि से महाभारत में धर्म के दिव्य, अलौकिक और ईश्वरीय रूप का महत्त्व भी बहुत है, यद्यपि उसके अधिकांश विस्तार में सामाजिक धर्म का ही विवरण है। गीता को महाभारत का आन्तरिक अंग मान लेने पर ईश्वरीय धर्म का महत्व महाभारत में अधिक बढ़ जाता है। गीता में श्रीकृष्ण का भगवत् रूप अधिक स्पष्ट है। गीता में ईश्वर-भक्ति का महत्व भी बहुत है। महाभारत में अन्य स्थानों पर भी भक्ति की महिमा मिलती है। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य अवतारों की चर्चा भी महाभारत में आती है। अवतारों के अतिरिक्त शिव आदि अन्य देवताओं के प्रसंग भी महाभारत में आते हैं। ईश्वर, अवतार, और देवताओं के अतिरिक्त तीर्थ, व्रत आदि आचारों की चर्चा भी महाभारत में है। ये भी दिव्य अथवा ईश्वरीय धर्म के अंग हैं। इस प्रकार दिव्य अथवा ईश्वरीय धर्म का भी महाभारत में कुछ स्थान है, यद्यपि उसमें मानवीय और सामाजिक धर्म की ही प्रधानता है।

किन्तु महाभारत के इस दिव्य और ईश्वरीय धर्म में पश्चिमी धर्म-सम्प्रदायों के समान संकीर्णता और अनुदारता नहीं है। महाभारत का यह दिव्य धर्म उस सामाजिक धर्म के समान ही उदार और मानवीय है, जिसका विवरण पिछले अध्यायों में विस्तार के साथ किया गया है। दिव्य धर्म का यह रूप धर्म के उस सामान्य मानवीय सिद्धान्त के अनुरूप है, जो धर्मशास्त्रों

१—डा० सुथनकर : मीनिंग आव महाभारत—
पृष्ठ ६३-६७

२—नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
भारत का मंगलाचरण

और महाभारत में सामाजिक धर्म का मूल आधार माना गया है। यह सिद्धांत मानवीय स्वतन्त्रता और समानता का उदार सिद्धान्त है। इसके अनुरूप होने पर दिव्य धर्म अपनी अलौकिकता और आध्यात्मिकता में रहते हुए भी मानवीय बन जाता है। पश्चिमी धर्म-सम्प्रदायों की तुलना में महाभारत का दिव्य धर्म उनसे बहुत भिन्न है। पश्चिमी धर्म सम्प्रदायों में ईश्वर, पैगम्बर, धर्म-ग्रन्थ, उपासना आदि की एकरूपता का अनुरोध है। महाभारत के दिव्य धर्म में इस एकरूपता का अनुरोध नहीं है। उसमें अनेक देवताओं की उपासना को आदर दिया गया है। यह अनेकरूपता भारतीय दिव्य धर्म का सामान्य लक्षण है, जो महाभारत के दिव्य धर्म में भी पाया जाता है। इस अनेकरूपता का स्रोत सामाजिक धर्म के उस सामान्य सिद्धान्त में मिलता है, जो समानता और स्वतन्त्रता को आदर देता है। स्वतन्त्रता का आदर धार्मिक आचार में परोपकार बन जाता है। यह उदारता और सहिष्णुता को जन्म देता है, जिनके द्वारा समाज में ईश्वर तथा देवता और धर्मग्रन्थों की अनेकता सम्भव होती है। दिव्य धर्म के भारतीय रूपों में कहीं भी अपने प्रचार और दूसरों के विरोध का आग्रह नहीं है। इसी कारण वह दिव्य धर्म मानवीय भी है। दिव्यधर्म की यह मानवीयता मनुष्य और ईश्वर की उस आन्तरिक और आत्मिक एकता को चरितार्थ करती है, जो भारतीय दिव्य धर्म का एकमूल सिद्धान्त है तथा जो पश्चिमी धर्म सम्प्रदायों के मनुष्य और ईश्वर की भिन्नता के सिद्धान्त से भिन्न है।

फैलाते हैं। व्रत और तप धर्म के आन्तरिक पक्ष की पूर्ति करते हैं। नैतिक धर्म भी आचार है। दिव्य एवं आध्यात्मिक पक्ष में वह धर्म "साधना" बन जाता हैं। "तप" इस साधना का सामान्य रूप है। 'व्रत' भी साधना ही है। वह भी तप के समान त्यागमय होता है। किन्तु समय, देवता आदि के संयोग व्रतों के निमित्त बनाकर उन्हें सांस्कृतिक बना देते हैं। भगवान, तीर्थ और साधना की यह त्रिवेणी धर्म के रूप को पूर्ण बनाती है।

२–श्रीकृष्ण की महिमा—

महाभारत कौरव-पाण्डवों के युद्ध की कथा है, किन्तु उसके संचालक श्रीकृष्ण हैं। सारथी बनकर वे एक रूपक बन गये हैं। सारथी रथ का संचालन करता है, किन्तु महाभारत के नायक अर्जुन के सारथी बनकर श्रीकृष्ण महाभारत के युद्ध के संचालक बन गये हैं। वसुदेव के पुत्र होने के नाते श्रीकृष्ण को इतिहास पुरुष कहा जा सकता है। किन्तु भारतीय परम्परा में वे भगवान के अवतार बन गये हैं। वे विष्णु के पूर्ण अवतार माने जाते हैं। चरित्र के दिव्य गुणों की महिमा से श्रीकृष्ण भगवान बने। सौन्दर्य, शक्ति, ज्ञान, नीति, बल, अस्त्रविद्या, कला आदि सब में वे अतुलनीय थे। बाल्यकाल में ही कंस-चाणूर जैसे मल्लों का मर्दन किया था। गदा, धनुष, चक्र आदि के संचालन में उनके समान कोई नहीं था। इसके अतिरिक्त नृत्य, रास, वंशी आदि श्रीकृष्ण के चरित्र के कलात्मक पक्ष थे। इस प्रकार सर्वगुण सम्पन्न श्रीकृष्ण अपने अद्भुत और अद्वितीय गुणों से श्रीकृष्ण अपने सहज अधिकार से भगवान बने। पुराण आदि ग्रन्थों की धार्मिक परम्परा में श्रीकृष्ण को भगवान माना गया है। वे विष्णु के पूर्णावतार हैं। महाभारत में भी श्रीकृष्ण सर्वत्र ही भगवान के रूप में ही मान्य हैं। डा० सुकथनकर ने अपने ग्रन्थ में बड़े विश्वास के साथ कहा है कि महाभारत में कोई ऐसा श्लोक नहीं है जो श्रीकृष्ण को भगवान के अवतार के रूप में स्वीकार नहीं करता।[3] महाभारत

३–डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत-पृष्ठ ६२

के पाठ के आरम्भ में ही नारायण की वन्दना की जाती है।[४] आगे चलकर महाभारत में अनेक स्थानों पर यह बताया गया है कि अर्जुन और श्रीकृष्ण ही नर और नारायण हैं। महाभारत के अनेक पात्रों ने अनेक स्थानों पर श्रीकृष्ण के भगवत् स्वरूप का वन्दन किया है।

आदिपर्व के प्रथम अध्याय में सौति ने कहा है कि महाभारत में भगवान वासुदेव का कीर्तन किया गया है, जो शाश्वत ब्रह्म तथा परम ध्रुव ज्योति हैं।[५] हरिहर सुभाषित में श्रीकृष्ण के यश को भारतसरोवर का लीलामय हंस बताया गया है। उक्त सुभाषित का सुन्दर रूपक इस प्रकार है—व्यास की वाणी के अमृत से पूर्ण यह महाभारत नामक सरोवर सुशोभित हो रहा है। अनेक क्षत्रियकुल इसमें कमल के समान हैं। उनके बीच में श्रीकृष्ण का उज्ज्वल यश हंस के समान विलसित होता है।[६] आदि पर्व में ही श्रीकृष्ण के जन्म के प्रसंग में उनको जगत का कर्त्ता, स्वामी, ब्रह्म आदि कहा गया है।[७] खाण्डव वन के दाह के प्रसंग में ब्रह्माजी ने अग्नि को

४—नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
मंगलाचरण

५—भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।
शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनम्॥
आदिपर्व—अध्याय १, श्लोक २५६-२५९।

६—भारताख्यं सरो भाति व्यासवागमृतैर्वृतम्।
यत्र क्षत्रकुलाब्जेषु हंसीयति हरेर्यशः॥

७—अनुग्रहार्थं लोकानां विष्णुर्लोकनमस्कृतः।
अनादिनिधनो देवः स कर्ता जगतः प्रभुः॥
आदिपर्व–अध्याय ६३, श्लोक ९९, ९९२।

सम्बोधित करते हुए अर्जुन और श्रीकृष्ण को नर-नारायण बताया है।[८] आकाशवाणी के द्वारा भी इस तथ्य का समर्थन हुआ है।[९] आदिपर्व में ही कुन्ती ने गोविन्द को अनाथों का नाथ कहा है।[१०] सभा पर्व में भीमसेन ने भगवान श्रीकृष्ण से सनाथ होने के कारण जय की आशा की है।[११] सभापर्व में राजसूययज्ञ के प्रसंग में भी श्रीकृष्ण का भगवान के रूप में स्मरण किया गया है।[१२] राजसूययज्ञ के ही प्रसंग में जब आगत राजाओं के अभ्यर्थना का प्रसंग उठा, तो युधिष्ठिर ने भीष्मपितामह से पूछा कि सर्वप्रथम पूजा के योग्य कौन है, तब उन्होंने यही निर्णय दिया कि तेज, बल, पराक्रम आदि से

८—नरनारायणौ यौ तौ पूर्वदेवौ विभावसो।
अर्जुनं वासुदेवं च यौ तौ लोकोऽभिमन्यते॥
आदिपर्व–अध्याय २२३, श्लोक ८, ८$\frac{1}{2}$

९—वासुदेवार्जुनावेतौ निबोध वचनान्मम।
नरनारायणावेतौ पूर्वदेवौ दिविश्रुतौ।
आदिपर्व—अध्याय २२७, श्लोक १८

१०–त्वया नाथेन गोविन्द दुःखं तीर्णं महत्तरम्।
त्वं हि नाथस्त्वनाथानां दरिद्राणां विशेषतः॥
आदिपर्व—अध्याय २०६, श्लोक ५१ के बाद का

११–त्वद्बुद्धिबलमाश्रित्य सर्वं प्राप्स्यति धर्मराट्।
जयोऽस्माकं हि गोविन्द येषां नाथो भवान्सदा।
सभापर्व–अध्याय १५, श्लोक १३

१२–साक्षात् स विविधारिघ्नः क्षत्रे नारायणो विभुः।
हरिं नारायणं ध्यात्वा यज्ञैरीज्यंतमीश्वरम्॥
सभापर्व—अध्याय ३६, श्लोक १३–२०

श्रीकृष्ण ही तीनों लोकों में प्रथम पूजनीय हैं।[१३] इसी प्रसंग में भीष्मपितामह ने भगवान श्रीकृष्ण की महिमा का वर्णन विस्तार के साथ किया है और उन्हें सब लोकों में श्रेष्ठ बताया है।[१४] चीर-हरण के समय द्रौपदी ने भगवान के रूप में ही श्रीकृष्ण का स्मरण किया है। द्रौपदी ने श्रीकृष्ण को गोविन्द, रमानाथ, विश्वात्मन् आदि नामों से पुकारा है।[१५] वनपर्व में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से स्वयं कहा है कि मैं नारायण हूँ, तुम नर हो।[१६] वनपर्व में द्रौपदी ने भी श्रीकृष्ण से कहा है कि तुम धर्मशीलों की गति हो, तुम प्रभु हो। पृथ्वी,

---

१३–एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः॥
सभापर्व—अध्याय ३६, श्लोक २८

१४–ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव यावती जगतो गतिः।
सदेवकेषु लोकेषु भगवान् केशवो मुखम्॥
सभापर्व—अध्याय ३८, श्लोक २९

१५–गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्॥
सभापर्व—अध्याय ६८, श्लोक ४१-४२-४३

१६–नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम्।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी॥
वनपर्व—अध्याय १२, श्लोक ४६

सूर्य, आकाश सब तुममें प्रतिष्ठित हैं।[१७] द्रौपदी के ये वचन गीता के समानार्थक वचनों का स्मरण दिलाते हैं।[१८] वन में युधिष्ठिर के पूछने पर मार्कण्डेय ऋषि ने श्रीकृष्ण की महिमा का वर्णन किया है, उन्होंने श्रीकृष्ण को पुराणपुरुष, शाश्वत, निर्गुण, कर्त्ता आदि कहा है।[१९] वनपर्व में ही जब जयद्रथ ने गंगाद्वार में तपस्या करके शिव से वरदान माँगा, तब उन्होंने श्रीकृष्ण की महिमा का वर्णन किया।[२०] संजय ने भी धृतराष्ट्र से श्रीकृष्ण की की महिमा का वर्णन किया है।[२१] भीष्मपर्व में अर्जुन ने युधिष्ठिर से कहा

१७-सर्वधर्मोपपन्नानां त्वं गतिः पुरुषर्षभ ।
त्वं प्रभुस्त्वं विभुश्च त्वं भूतात्मा त्वं विचेष्टसे ।।
लोकपालाश्च लोकाश्च नक्षत्राणि दिशो दश ।
नभश्चन्द्रश्च सूर्यश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।
वनपर्व—अध्याय १२, श्लोक ५७-५८

१८-श्री भगवद्गीता-अध्याय ४ श्लोक ६-१०
वही—अध्याय ६, श्लोक ४-५

१९—हन्त ते वर्णयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयम्भुवे ।
पुरुषाय पुराणाय शाश्वतायाव्ययायच ।।
अव्यक्ताय सुसूक्ष्माय निर्गुणाय गुणात्मने ।
वनपर्व—अध्याय १८८, श्लोक १७-२१½

२०-देवदेवो ह्यनन्तात्मा विष्णुः सुरगुरुः प्रभुः ।
प्रधानपुरुषोऽव्यक्तो विश्वात्मा विश्वमूर्तिमान् ।।
वनपर्व—अध्याय २७२, श्लोक ३१

२१-कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गमस्थावरस्य च ।
ईसते भगवानेकः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।।
ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य चगतो हरिः ।
उद्योगपर्व—अध्याय ६८, श्लोक १३-१४

है कि अनन्ततेज वाले गोविन्द हमारे सहायक हैं, हमारी जय होगी। वे सनातन पुरुष हैं।[२२] शान्तिपर्व में भीष्म ने युधिष्ठिर को भगवान श्रीकृष्ण की शरण में जाने का उपदेश दिया है और उनको सर्वकारणों का कारण बताया है।[२३] अनुशासनपर्व में शिव ने श्रीकृष्ण की महिमा का वर्णन किया है।[२४] धर्मराज युधिष्ठिर के पूछने पर श्रीकृष्ण ने अनुशासन पर्व में स्वयं अपनी महिमा का वर्णन विस्तार से किया है।[२५]

२२–अनन्ततेजा गोविन्दः शत्रुपूगेषु निर्व्यथः।
पुरुषः सनातनमयो यतः कृष्णस्ततो जयः॥
भीष्मपर्व—अध्याय २१, श्लोक १४

२३–तस्माद् व्रज हृषीकेशं कृष्णं देवकिनन्दनम्।
एतमाराध्य गोविन्दं गता मुक्तिं महर्षयः।
एष कर्ता विकर्ता च सर्वकारणकारणम्॥
शान्तिपर्व–अध्याय २०७, श्लोक ४६ से आगे का

२४–पितामहादपि वरः शाश्वतः पुरुषो हरिः।
कृष्णो जाम्बूनदाभासो व्यभ्रे सूर्य इवोदितः॥
दशबाहुर्महातेजा देवतारिनिषूदनः।
श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः सर्वदैवतपूजितः॥
नायकः सर्वभूतानां सर्वदेवनमस्कृतः॥
अनुशासनपर्व—अध्याय १४७, श्लोक २-३-११

२५—यद् भूतं यद् भविष्यच्च तत् सर्वमहमेव तु॥
मया सृष्टानि भूतानि मन्मयानि च भारत।
मामेव न विजानन्ति मायया मोहितानि वै।
एवं हृष्टं जगदिदं सदेवासुरमानुषम्।
मत्तः प्रभवते राजन् मय्येव प्रविलीयते॥
आश्वमेधिक पर्व—अध्याय ९२, श्लोक ५३ से आगे

इस प्रकार महाभारत में सर्वत्र श्रीकृष्ण की दिव्य महिमा व्याप्त है। महाभारत में वे सर्वत्र भगवान के रूप में वन्दित हैं। पश्चिमी विद्वानों का मत है कि श्रीकृष्ण की प्रभुता को महाभारत में वाद में आरोपित किया गया है। श्री रमेशचन्द्रदत्त का भी ऐसा ही मत है। किन्तु महाभारत के वर्तमान रूप में श्रीकृष्ण की महिमा सर्वत्र व्याप्त है। श्रीकृष्ण के विना महाभारत की कल्पना नहीं की जा सकती। वे महाभारत की आत्मा हैं, जिस प्रकार कि वे जगत की आत्मा हैं। अतः महाभारत के वर्तमान रूप में श्रीकृष्ण की प्रभुता को स्वीकार करना ही उचित है। श्रीकृष्ण का चरित वर्तमान महाभारत का अभिन्न अंग है। श्रीकृष्ण की यह महिमा महाभारत में दिव्यधर्म के स्थान को महत्वपूर्ण वनाती है। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि भारतीय परम्परा में दिव्य अथवा ईश्वरीय धर्म भी धर्मशास्त्रों के मानवीय और सामाजिक धर्म के अनुकूल है। दिव्यधर्म में जिन रूपों में भगवान की वन्दना की गई है, उनमें न भगवान के एकरूप का आग्रह है और न कहीं भगवान के दूसरे रूपों को मानने वालों को विरोधी कहकर वध का अधिकारी वताया है। भारतीय परम्परा के अन्य ईश्वरीय धर्म सम्प्रदायों के समान ही महाभारत का श्रीकृष्ण की महिमा से ओतप्रोत दिव्यधर्म भी आग्रह, संकोच, प्रचार आदि के उन दोषों से मुक्त है, जो श्रेष्ठता के अभिमानी पश्चिमी धर्मों के कलंक हैं। श्रीकृष्ण के चरित्र और गुणों की श्रेष्ठ मानवीयता और उदारता इस दिव्य-धर्म को अत्यन्त मानवीय भी वनाती है। श्रीकृष्ण के चरित्र के सम्वन्ध में जो आक्षेप उठाये जाते है, उनका अनेक प्रकार से समाधान किया जाता है। कौरवों की गम्भीर अनीतियों की तुलना में श्रीकृष्ण की कूटनीति के कुछ मर्मस्थल व्यावहारिक नीति की सीमा के अन्तर्गत आते हैं।[२६]

३—अन्य अवतार और देवता—

महाभारत में श्रीकृष्ण की ही महिमा अधिक व्याप्त है, जैसा कि पिछले प्रकरण के प्रसंगों से विदित होता है। किन्तु श्रीकृष्ण के अतिरिक्त

२६—डा० सुकथनकर : मीनिंग आव महाभारत-पृष्ठ-१७

अन्य अवतारों और देवताओं की चर्चा भी महाभारत में मिलती है। विष्णु और उनके अवतारों के अतिरिक्त शिव, शक्ति तथा अन्य देवताओं का वर्णन भी महाभारत में मिलता है। देवताओं की चर्चा वेदों से ही मिलती है। वेदों में अनेक देवताओं की उपासना का वर्णन है। उनको एक ही सत्ता के भिन्न-भिन्न रूप भी बताया गया है।[२७] आगे चलकर पौराणिक युग में ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिपुटी तथा विष्णु के अवतारों की प्रतिष्ठा हुई। तेतीस देवताओं की चर्चा भी चलती रही। तेतीस देवताओं की गणना महाभारत में इस प्रकार मिलती है—आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य और दो अश्विन्।[२८] ब्रह्मा का प्रसंग महाभारत में कई स्थानों पर आता है।[२९] विष्णु और शिव दो प्रधान देवता हैं। विष्णु की महिमा भारतीय धर्म-परम्परा में बहुत रही है। विष्णु के अवतार भारतीय समाज के अत्यन्त लोकप्रिय देवता

२७—एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति—

२८—एकादशैते प्रथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ।।
इत्येते द्वादशादित्याः काश्यपेया इति श्रुतिः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ।
नासत्यश्चापि दस्रश्च स्मृतौ द्वावश्विनावपि ।।

अनुशासनपर्व—अध्याय-१५०, श्लो० १३, १५½, १७

२९—पाणिभ्यां प्रतिजग्राह तान्यश्रूणि पितामहः ।

द्रोणपर्व—अध्या० ५३, श्लो० २२½

बहुत्वं प्रेक्ष्य सर्पाणां प्रजानां हितकाम्यया ।।

आदिपर्व—अध्या० २०, श्लो० १०

है।[३०] शान्तिपर्व में अध्याय ३३९ में विष्णु के दशअवतारों का विस्तृत वर्णन किया गया है। ये दश अवतार इस प्रकार हैं—मत्स, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, बलराम, श्रीकृष्ण और कल्कि। महामुनि नारद से भगवान् ने कहा कि मेरा पहला अवतार मत्स्य रूप में होगा, जो महासागर में डूबते हुए लोकों और वेदों की भी रक्षा करेगा। दूसरा अवतार कूर्म अर्थात् कच्छप का होगा। जब देवता अमृत के लिए क्षीरसागर का मन्थन करेंगे, तब मैं अपनी पीठ पर मन्दराचल को धारण करूँगा। प्राणियों और समुद्र से घिरी हुई पृथिवी जब भारी भार से दब कर घोर महासागर में निमग्न हो जायेगी, उस समय मैं वराहरूप धारण करके पुनः इसे अपने स्थान पर ला दूँगा। उसी समय बल के घमण्ड में भरे हुए हिरण्याक्ष दैत्य का वध करूँगा। देवताओं के कार्य के लिये नरसिंह रूप धारण करके यज्ञ नाशक दितिनन्दन हिरण्यकशिपु का संहार करूँगा। विरोचन के बलवान् पुत्र बलि नामक दैत्य होगा, जो त्रिलोकी का अपहरण कर लेगा। देवता, असुर तथा सम्पूर्ण लोक भी उसे न मार सकेंगे, इन्द्र को राज्य से भ्रष्ट कर देगा। तब मैं कश्यपजी के अंश और अदिति के गर्भ से बारहवाँ आदित्य वामन बनकर प्रकट होऊँगा और बलि के यज्ञमण्डप में जाकर तीन पग भूमि माँगूँगा। तीन पगों से त्रिलोकी को नापकर सारा राज्य अमिततेजस्वी इन्द्र को समर्पित कर दूँगा, इस प्रकार सम्पूर्ण देवताओं को अपने-अपने स्थानों पर स्थापित कर दूँगा और दानव बलि पातालनिवासी बन जायेगा। फिर त्रेतायुग में भृगुकुलभूषण परशुराम के रूप में प्रकट होऊँगा और सेना तथा सवारियों से सम्पन्न क्षत्रिय-कुल का संहार कर डालूँगा। उसके बाद त्रेता और द्वापर की संध्या उपस्थित होगी, उस समय दशरथनन्दन राम के रूप में अवतार लूँगा और इन्द्र के तुल्य पराक्रमी वानरों की सहायता से भयंकर राक्षसराज रावण को गणों सहित मार डालूँगा। फिर द्वापर और कलि की संधि का समय बीतते-बीतते

३०—मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहश्च वामनः।
रामो रामश्च रामश्च कृष्णः कल्की च ते दश।
शान्तिपर्व—अध्याय ३३९, श्लो० ७६ से आगे

कंस का वध करने के लिए मथुरा में मेरा अवतार होगा। उस समय कंस, केसी, कालासुर, अरिष्टासुर, धेनुकासुर तथा वृषभरूपधारी अरिष्ट को मारकर, कालियनाग को वश में करके गोकुल में इन्द्र के वर्षा करते समय गौओं की रक्षा के लिए महान् पर्वत गोवर्धन को सात दिन-रात अपने हाथ से छत्र की भाँति धारण करूँगा। इसके बाद अनेक राक्षसों का संहार करके धर्मात्माओं का उद्धार करूँगा। धर्मपुत्र युधिष्ठिर के यज्ञ में शिशुपाल का वध करूँगा। अर्जुन मेरा सखा होगा। मैं राजा युधिष्ठिर सहित उनके भाइयों सहित पुनः राजपद पर प्रतिष्ठित करूँगा। "श्रीकृष्ण, बलभद्र, प्रद्युम्न और अनुरुद्ध-इन चार स्वरूपों का धारण करने वाला मैं असंख्य कर्म करके ब्रह्माजी के द्वारा सम्मानित अपने धाम को चला जाऊँगा।"[३१]

इनमें राम और कृष्ण तो भक्तों के परम आराध्य हैं। कृष्ण की महिमा तो महाभारत में सर्वत्र व्याप्त है। महाभारत में मिलने वाले श्रीकृष्ण के असंख्य प्रसंगों में कुछ मुख्य प्रसंगों का विवरण पिछले प्रकरण में किया गया है। श्रीराम की कथा वनपर्व में २७५ अध्याय से लेकर २९१ अध्याय तक मिलती है। विष्णु के अन्य अवतारों में परशुराम, वराह आदि के प्रसंग महाभारत में मिलते हैं। परशुराम की कथा कई प्रसंग में मिलती है। राम और परशुराम के युद्ध का वर्णन वनपर्व के ९९वें अध्याय में मिलता है। राम के दिव्य रूप का वर्णन इसी प्रसंग में बड़े विराट रूप में मिलता है,[३२] जो गीता के विश्वरूप दर्शन का स्मरण दिलाता है। महाभारत में राम को

३१—कर्माण्यपरिमेयाणि चतुर्मूर्तिधरो ह्यहम् ।
कृत्वा लोकान् गमिष्यामि स्वानहं ब्रह्मसत्कृतान् ॥
शान्तिपर्व—अध्याय ३३९, श्लो० १०२

३२—वनपर्व—अध्याय ९९, श्लो० ५६ से ६० तक

विष्णु का अवतार ही माना गया है।[३३] परशुराम के चरित्र के अन्य प्रसंग भी वनपर्व में अध्याय ११६ में मिलते हैं। वराह अवतार की कथा शान्तिपर्व के २०९ अध्याय में मिलती है। इसमें वराह को विष्णु का अवतार बताया गया है।[३४]

शिव की महिमा भी महाभारत में अनेक स्थानों पर गाई गई है। अनुशासन पर्व में शिव ने श्रीकृष्ण को वरदान दिया है।[३५] अनुशासनपर्व के १७वें अध्याय में शिव का सहस्रनाम भी दिया गया है। शिव की स्तुति करते हुए उपमन्यु ने शिव को सब देवताओं में श्रेष्ठ बताया है। अर्जुन आदि ने शिव से अस्त्र भी प्राप्त किये हैं। लिंग रूप में शिव की पूजा के संकेत भी महाभारत में मिलते हैं। द्रोणपर्व में लिखा है कि शिव के अन्य रूपों की अपेक्षा लिंगरूप से शिव की पूजा करना अधिक महत्त्व का और अधिक फलवान है। लिंग की पूजा करने वाला मनुष्य महती सम्पत्ति को प्राप्त करता है।[३६]

३३—ततः स भगवान् विष्णुस्तं वै बाणं मुमोच ह।
वनपर्व—अध्या० ९९, श्लो० ६१

३४—एतस्मिन्नन्तरे विष्णुर्वाराहं रूपमास्थितः।
शान्तिपर्व—अध्या० २०९, श्लो० ३०

३५—नास्ति शर्वसमो देवो नास्ति शर्वसमः गतिः।
नास्ति शर्वसमो दाने नास्ति शर्वसमो रणे॥

अनुशासनपर्व—अध्या० १५, श्लो० ११

३६- पूजयेद् विग्रहं यस्तु लिंग चापि महात्मनः।
लिङ्गं पूजयिता नित्यं महतीं श्रियमश्नुते॥

द्रोणपर्व—अध्याय २०२, श्लो० १४०

शिव के साथ शक्ति का वर्णन भी महाभारत में मिलता है। युद्ध के आरम्भ में श्रीकृष्ण के आदेश से अर्जुन ने दुर्गा की स्तुति की है। भीष्म पर्व के अध्याय ३३ में यह दुर्गा स्तोत्र मिलता है। इसमें दुर्गा के पराक्रमों का दिग्दर्शन है तथा दुर्गासप्तशती के अनुरूप श्री और सरस्वती के साथ उनका एकताभाव दिखाया गया है। विराटपर्व के आरम्भ में भी दुर्गा का स्तोत्र है। उसमें दुर्गा को विन्ध्यवासिनी और महिषासुरमर्दिनी कहा गया है।[३७]

शिव के पुत्र गणेश और स्कन्द का वर्णन भी महाभारत में है। गणेश तो महाभारत के लेखक ही हैं। आदिपर्व के आरम्भ में उनका प्रसंग आता है।[३८] स्कन्द का वर्णन महाभारत में दो स्थानों पर मिलता है। वनपर्व के २३६ अध्याय में स्कन्द की उत्पत्ति का वर्णन है और अगले अध्यायों में उनके पराक्रमों का वर्णन है। इनमें महिषासुर वध मुख्य है। अनुशासनपर्व के अध्याय ८३ में तारकासुर वध की कथा है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक देवताओं की चर्चा महाभारत में मिलती है। तीनों देवताओं की समष्टि के रूप में दत्तात्रेय का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। वनपर्व के ११५ अध्याय में ऐसा वर्णन मिलता है कि सहस्रार्जुन को दत्तात्रेय के प्रसाद से एक स्वर्णिम विमान प्राप्त हुआ था। शान्तिपर्व के अध्याय ४९ में यही कथा है। अनुशासनपर्व के ९१ अध्याय में दत्तात्रेय को अत्रि का पुत्र बताया है।[३९] किन्तु महाभारत

३७—विन्ध्ये चैव नगश्रेष्ठे तव स्थानं हि शाश्वतम् ।
त्रैलोक्यरक्षणार्थाय महिषासुरनाशिनि ।

विराटपर्व—अध्या० ६, श्लो० १७,१५

३८—लेखको भारतस्यास्य भव त्वं गणनायक ।

आदिपर्व—अध्या० १, श्लो० ७६½

३९—स्वायम्भुवोऽत्रिः कौरव्य परमर्षिः प्रतापवान् ।
तस्य वंशे महाराज दत्तात्रेय इति स्मृतः ॥
अनुशासनपर्व—अध्याय ९१, श्लो० ४

में दत्तात्रेय के जन्म की कथा नहीं है। इनके अतिरिक्त इन्द्र, अग्नि आदि वैदिक देवताओं के प्रसंग भी महाभारत में आते हैं। महाभारत के इस बहु-देववाद का मूल वैदिक बहुदेववाद में ही मिलता है। इन अनेक देवताओं को एक ही परम सत्ता के विभिन्न रूप माना जाता है। ऋग्वेद का 'एक सद्-विप्रा बहुधा वदन्ति' का सूत्र भारतीय दिव्य-धर्म का मूल सूत्र रहा है। यह सूत्र अनेक देवताओं की कल्पना को एकसूत्रता देता रहा है। इसके साथ-साथ यह भारतीय एकेश्वरवाद को कठोरता से बचाकर उदार बनाता रहा है। भारतीय धर्म की यह उदारता पश्चिमी एकेश्वरवादों की आग्रहपूर्ण कठोरता और अनुदारता से तुलनीय है। अनेक देवताओं की कल्पना उपासना की स्वतन्त्रता प्रदान करती है। महाभारत आदि में जहाँ इन देवताओं की महिमा का वर्णन है, वहाँ कोई कठोर आग्रह नहीं है तथा अन्य देवताओं के उपासकों की निन्दा नहीं की गई है और उन्हें अधार्मिक नहीं कहा गया है। एक ही सत्ता के अनेक रूपों के प्रतिनिधि अनेक देवता भारतीय धर्म को समृद्ध, उदार और अभिनन्दनीय बनाते हैं।

४—महाभारत में तीर्थ—

देवताओं और अवतारों के तीर्थ नैतिक तथा दिव्य धर्म का संगम सम्भव बनाते हैं। तीर्थों की प्रतिष्ठा से धर्म का संस्कृति और समाज में भी समन्वय होता है। इसीलिये भारतीय धर्म-परम्परा में तीर्थों की महिमा बहुत है। जिस प्रकार देवता और अवतार अनेक हैं, उसी प्रकार तीर्थ भी अनेक हैं। एक देवता और एक अवतार के अनेक तीर्थ देश में फैले हुये हैं। इन तीर्थों के द्वारा वैकुण्ठ की दिव्य विभूति भारत की पवित्र भूमि पर अवतीर्ण होती है।

के उद्गम होने के कारण पर्वत भी धर्म और संस्कृति के पीठ बन गये हैं। हिमालय के शीतल अंचल में अनेक मुनियों के आश्रम थे। पर्वत और नदी-तटों के सघन और शान्तिपूर्ण क्षेत्र अध्यात्म की साधना के पीठ और धर्म की आराधना के तीर्थ बने। भारतवर्ष में देवताओं और सम्प्रदायों की विपुलता का कारण धर्म पर संस्कृति का ही प्रभाव है। ये देवता प्रकृति के असंख्य पीठों में असंख्य रूपों में प्रतिष्ठित हुए। प्रकृति के अंचल में प्रत्येक सम्प्रदाय का तीर्थ बना। इन तीर्थों की यात्रा धार्मिक उपासना और आराधना का आवश्यक अंग बन गई। नागरिक सभ्यता के क्षेत्र प्रकृति के इन तीर्थों से दूर होते गये। नदियों के मैदानों में कृषि का विस्तार हुआ तो असंख्य ग्राम बस गये और वे ग्राम भी नगरों की भाँति इन प्रकृति के पीठों से दूर हो गये। दूर और दुर्लभ होने के कारण प्रकृति के इन तीर्थों का महत्व और बढ़ गया। दूसरी ओर ग्रामीण और नागरिक सभ्यता के क्षेत्र में भी अनेक उपयुक्त स्थानों पर धर्म के मन्दिर बन गये और निकट होने के कारण इन तीर्थों की यात्रा सुगम हो गई। इस प्रकार धर्म और देवताओं की अनेक रूपता के प्रकाश में भारतवर्ष के विशाल भू-भाग में विभिन्न प्रकार के स्थानों पर असंख्य तीर्थों की स्थापना हुई। अवकाश और सुविधा के समय में इन तीर्थों की यात्रा धार्मिक पुण्य के साथ-साथ लौकिक आनन्द भी बन गई। लोग समूहों में यात्रा के लिए जाते हैं और पैदल यात्रा करके धर्म के पुण्य के साथ-साथ मानसिक आनन्द भी प्राप्त करते हैं।

पुराणों की भाँति महाभारत में भी अनेक धार्मिक तीर्थों का वर्णन है। जनमेजय के पूछने पर वैशम्पायनजी ने तीर्थों का वर्णन करते हुए भारत के चारों दिशाओं में स्थित तीर्थों का वर्णन किया। धौम्य ऋषि ने युधिष्ठिर से पूर्व दिशा के तीर्थों का वर्णन इस प्रकार किया कि "देवर्षि-सेवित प्राची दिशा में नैमिष नामक तीर्थ है, जहाँ देवर्षिसेवित परम रमणीय पुण्यमयी गोमती नदी है। देवताओं की यज्ञभूमि और सूर्य का यज्ञपात्र वहाँ विद्यमान है।"[४०] प्राची दिशा में ही पुण्य पर्वत श्रेष्ठ गय है तथा वहाँ कल्याणमय

४०—तस्यां देवर्षिजुष्टायां नैमिषं नाम भारत।
यत्र सा गोमती पुण्या रम्या देवर्षिसेविता।
यज्ञ भूमिश्च देवानां शामित्रं च विवस्वतः॥
वनपर्व—अध्याय ८७, श्लोक ५½, ७

ब्रह्मसरोवर है। यहीं पर गया तीर्थ स्थान हैं, जहाँ पितरों के लिए दिया हुआ अन्न अक्षय होता है। वहीं फल्गु नामावाली पुण्य सलिला महानदी है, वहीं पर तपोधन विश्वामित्र ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए थे। पूर्व दिशा में ही पुण्य नदी गंगा वहती है, जिसके तट पर राजा भगीरथ ने प्रचुर दक्षिणा वाले वहुत से यज्ञों का अनुष्ठान किया था। गंगा और यमुना का परम उत्तम पुण्यमय पवित्र संगम सम्पूर्ण जगत में विख्यात है और वड़े-वड़े महर्षि उसका सेवन करते हैं। ब्रह्माजी ने वहीं पर प्रकृष्टयाग किया था इस यज्ञ के नाम से उस स्थान का नाम 'प्रयाग' हो गया।"[४१] वहीं पर महर्षि अगस्त्य का श्रेष्ठ आश्रम है। कालिंजर पर्वत पर हिरण्यविन्दु नाम से प्रसिद्ध महान् तीर्थ वताया गया है। आगस्त्यपर्वत वहुत ही रमणीय, पवित्र, श्रेष्ठ एवं कल्याण स्वरूप है। महात्मा भार्गव का निवास स्थान महेन्द्र पर्वत है, वहाँ पर ब्रह्माजी ने पूर्वकाल में यज्ञ किया था। वहीं पर पुण्यसलिला भागीरथी गंगा सरोवर में स्थित थी। वहीं महात्मा मतंगऋषि का महान् एवं उत्तम आश्रम केदारतीर्थ है। कुण्डोद नामक रमणीय पर्वत वहुत फल-मूल और जल से सम्पन्न है। वहीं तपस्वीजनों से सुशोभित पवित्र देववन नामक पुण्यक्षेत्र है, जहाँ पर्वत के शिखर पर वाहुदा और नन्दा नदी वहती हैं। इस प्रकार पूर्व दिशा के तीर्थ, नदी तथा पर्वतों का वर्णन करके ऋषिजी ने दक्षिण दिशा के तीर्थों का वर्णन किया।

दक्षिण दिशा में पुण्यमयी गोदावरी नदी वहुत प्रसिद्ध है। वहुत से तपस्वी उसका सेवन करते हैं तथा वह सवके लिए कल्याण स्वरूपा है।

४१—गंगा यत्र नदी पुण्या यस्यास्तीरे भगीरथः।
अयजत् तत्र वहुभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः॥
पवित्रमृषिभिर्जुष्टं पुण्यं पावनमुत्तमम्।
गंगायमुनयोर्वीर संगमं लोकविश्रुतम्॥
प्रयागमिति विख्यातं तस्माद् भरतसत्तम॥
वनपर्व—अध्याय ८७-श्लोक १४, १८, १९

"वेणा और भीमरथी—ये दो नदियाँ भी दक्षिण में ही हैं, जो समस्त पापभय का नाश करने वाली हैं। उसके दोनों तट अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों से व्याप्त और तपस्वीजनों के आश्रमों से विभूषित हैं।"[४२] राजा नृग की नदी पयोष्णी भी उधर ही है, जो रमणीय तीर्थ भी है। "जहाँ भगवान शंकर का स्वयं ही अपने लिए बनाया हुआ शृंगनामक वाद्य विशेष स्वर्ग से भी ऊँचा और निर्मल है, उसका दर्शन करके मरणधर्मा मानव शिवधाम में चला जाता है।"[४३] दक्षिण में पवित्र माठर-वन है। वहाँ वरुणस्रोतस नामक पर्वत पर माठर का विजयस्तम्भ सुशोभित होता है। यह स्तम्भ प्रवेणी-नदी के उत्तर, वर्ती मार्ग में कण्व के पुण्यमय आश्रम में है। शूर्पारक क्षेत्र में महात्मा जमदग्नि की वेदी है, वहीं पर रमणीय पाषाणतीर्थ और पुनश्चन्द्रा नामक तीर्थ विशेष हैं। उसी क्षेत्र में अशोक तीर्थ, अगस्त्य तीर्थ और वारुणतीर्थ है। पाड्यदेश के भीतर पवित्र कुमारी कन्यायें (कन्याकुमारी तीर्थ) कही गई हैं। ताम्रपर्णी नदी मोक्ष दायिनी है। वहाँ मोक्ष पाने की इच्छा से देवताओं ने आश्रम में रहकर बड़ी भारी तपस्या की थी। वहाँ का गोकर्ण तीर्थ तीनों लोकों में विख्यात है। देवसम नामक पर्वत ही वह आश्रम है। वहाँ परम सुन्दर मणिमय वैदूर्यपर्वत है, जो शिवस्वरूप है। उसी पर महर्षि अगस्त्य का आश्रम है।

महाभारत में सौराष्ट्र के तीर्थों का वर्णन इस प्रकार है कि सुराष्ट्र में ही समुद्र के तट पर प्रभास क्षेत्र है, जो देवताओं का तीर्थ कहा गया है।

४२—वेणा भीमरथी चैव नद्यौ पापभयापहे।
मृगद्विजसमाकीर्णे तापसालयभूषिते॥

४३—स्वर्गादुत्तुङ्गममलं विषाणं यत्र शूलिनः।
स्वमात्मविहितं दृष्ट्वा मर्त्यः शिवपुरं व्रजेत्॥
वनपर्व—अध्याय ८८, श्लोक ३-८

वहीं पर पिंडारक नामक तीर्थ है। उधर ही उज्जयन्त नामक महान् पर्वत शीघ्र सिद्धि प्रदान करने वाला है। उसके विषय में नारदजी द्वारा कहा गया एक श्लोक सुना जाता है कि "सुराष्ट्र देश में मृगों और पक्षियों से सेवित उज्जयन्त नामक पुण्यपर्वत पर तपस्या करने वाला पुरुष स्वर्गलोक में पूजित होता है। उज्जयन्त के ही आस-पास पुण्यमयी द्वारिकापुरी है, जहाँ साक्षात् पुराणपुरुष मधुसूदन निवास करते हैं, वे ही सनातन धर्मस्वरूप हैं।"[४४]

धौम्य ऋषि द्वारा पश्चिम दिशा के तीर्थों का वर्णन इस प्रकार किया गया है, पश्चिम दिशा में पुण्यमयी नर्मदा नदी प्रवाहित होती है। त्रिलोकी में जो-जो पुण्यतीर्थ, मन्दिर, नदी, वन, पर्वत, ब्रह्मा आदि देवता, सिद्ध, ऋषि, चारण एवं पुण्यात्माओं के समूह हैं, वे सब सदा नर्मदा के जल में स्नान करने के लिए आया करते हैं। यहाँ पर विश्रवा का पवित्र आश्रम है, जहाँ पर धनाध्यक्ष कुबेर का जन्म हुआ था। वैदूर्यशिखर नामक पवित्र पर्वत भी नर्मदा के तट पर है, उस पर्वत पर एक पुण्य सरोवर है, देवता और गन्धर्व उस पुण्यतीर्थ का सेवन करते हैं। इस पर्वत पर राजर्षि विश्वामित्र की तपस्या से प्रकट हुई एक पुण्यमयी नदी है, जो परम तीर्थ मानी जाती है। उसी के तट पर नहुषनन्दन राजा ययाति स्वर्ग से साधु पुरुषों के बीच में गिरे थे और पुनः सनातन धर्ममय लोकों में चले गये थे। वहाँ पुण्यसरोवर, विख्यात मैनाक पर्वत और असित नामक पर्वत है। उसी पर्वत पर कच्छसेन का पुण्यदायक आश्रम है। महर्षि च्यवन का सुविख्यात आश्रम भी वहीं है। पश्चिम दिशा

४४—पुण्ये गिरौसुराष्ट्रेषु मृगपक्षिनिषेविते।
उज्जयन्ते स्म तप्ताङ्गो नाकपृष्ठे महीयते ॥
पुण्या द्वारवती तत्र यत्रासौ मधुसूदनः।
साक्षाद् देवः पुराणोऽसौ स हि धर्मः सनातनः ॥
वनपर्व—अध्याय ८८, श्लोक २३-२४

में ही जम्बूमार्ग है, जहाँ महर्षियों का आश्रम है। उधर ही सदा तपस्वी जनों से भरे हुए पुण्यतम तीर्थ–केतुमाला, मेध्या और गंगाद्वार [हरिद्वार] हैं। द्विजों से सेवित सुप्रसिद्ध सैन्धवारण्य भी उधर ही है। "ब्रह्माजी का पुण्यदायक सरोवर भी पश्चिम दिशा में ही है, जो वानप्रस्थों, सिद्धों और महर्षियों का प्रिय आश्रम है। जहाँ पर निवास करने से मनुष्यों के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं तथा स्वर्गलोक में आनन्द भोगते हैं।"[४५]

युधिष्ठिर से पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण के तीर्थों का वर्णन करने के बाद महर्षि धौम्य मुनि ने उत्तर दिशा के तीर्थों का वर्णन इस प्रकार किया कि उत्तर दिशा में तीर्थों की पंक्ति से सुशोभित सरस्वती नदी बड़ी पुण्यदायिनी है। समुद्र में मिलने वाली महावेगशालिनी यमुना भी उत्तर दिशा में ही है। उधर ही परम पुण्यमय प्लक्षावतरण नामक मंगलकारक तीर्थ है। उधर ही अग्निशिर नामक दिव्य, कल्याणमय, पुण्यतीर्थ है। इस तीर्थ में सहदेव (राजासृञ्जय के पुत्र) ने यमुना तट पर लाख स्वर्ण मुद्राओं की दक्षिणा देकर अग्नि की उपासना की थी। वहीं महायशस्वी चक्रवर्ती राजा भरत ने पैंतीस अश्वमेधयज्ञों का अनुष्ठान किया था। परमपुण्यमयी दृषद्वती नदी भी उधर ही है। जहाँ न्यग्रोध, पुण्य, पांचाल्य, दाल्भ्यघोष और दाल्भ्यये पाँच आश्रम है तथा अनन्तकीर्ति एवं अमित तेजस्वी महात्मा सुव्रत का पुण्य आश्रम भी उत्तराखण्ड में ही है। गिरिश्रेष्ठ हिमालय किरातों और किन्नरों का निवास स्थान है। गंगाजी अपने वेग से उस शैलराज को फोड़कर जहाँ प्रकट हुई हैं, वह पुण्यद्वार गंगाद्वार (हरिद्वार) के नाम से विख्यात है। उस तीर्थ का

४५–पितामहसरः पुण्यं पुष्करं नाम नामतः।
वैखानसानां सिद्धानामृषीणामाश्रमः प्रियः॥
मनसाप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः।
विप्रणश्यन्ति पापानि नाकपृष्ठे च मोदते॥
वनपर्व—अध्याय ८९, श्लोक १६-१८

ऋषिगण सदा सेवन करते हैं। पुण्यमय कनखल में पहले सनत्कुमार ने यात्रा की थी। वहीं पुरु नाम से प्रसिद्ध पर्वत है, जहां पूर्वकाल में पुरुरवा ने यात्रा की थी। जिस महान् पर्वत पर भृगु ने तपस्या की थी, वह भृगुतुङ्ग आश्रम के नाम से विख्यात है। "भूत, भविष्य और वर्तमान जिनका स्वरूप है, जो सर्वव्यापी, सनातन एवं पुरुषोत्तम नारायण हैं, उन अत्यन्त यशस्वी श्रीहरि की पुण्यमयी विशालापुरी वदरीवन के निकट है। वह नर-नारायण का आश्रम कहा जाता है, वह पुण्यप्रद वदरिकाश्रम तीनों लोकों में विख्यात है।[४६]" पूर्वकाल से ही विशाला वदरी के समीप गंगा कहीं गर्म जल तथा कहीं शीतल जल प्रवाहित करती है, उसकी वालू सुवर्ण की भाँति चमकती है। वह वदरिकाश्रम पुण्य क्षेत्र और परब्रह्मस्वरूप है। वही तीर्थ है, वही तपोवन है, वही तपोवन है, वही सम्पूर्ण भूतों का परमदेव परमेश्वर है। वहीं देवर्षि सिद्ध और समस्त तपोवन महात्मा निवास करते हैं। जहाँ महायोगी आदिदेव भगवान मधुसूदन विराजमान हैं, वह स्थान पुण्यों का भी पुण्य है।

भारतीय लोगों के मन में गंगासागर, अयोध्या, चित्रकूट, प्रयाग, हरिद्वार, पुष्कर, द्वारिकापुरी, वदरीनाथ, रामेश्वर, गया आदि प्राचीन तीर्थों के लिए विशेष श्रद्धा आजतक वर्तमान है। भारतीय धर्म-परम्परा में इन तीर्थों का बड़ा महत्त्व है। ये तीर्थ संख्या में इतने अधिक हैं कि समस्त भारत भूमि तीर्थमयी जान पड़ती है। हिमालय से कन्याकुमारी तक और हिंगलाज से कामाक्षी तक देश में चतुर्दिक ये तीर्थ फैले हुए हैं। सागर, नदीतट, वन, पर्वतशिखर आदि विविध प्रकार के प्राकृतिक स्थानों पर स्थित इन तीर्थों की विविधता धार्मिक जीवन में सुन्दरता उत्पन्न करती है। निकट और दूर के

४६-यः स भूतं भविष्यञ्च भवच्च भरतर्षभ।
नारायणः प्रभुर्विष्णुः शाश्वतः पुरुषोत्तमः॥
तस्यातियशसः पुण्यां विशालां वदरीमनु।
आश्रमः ख्यायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः॥
वनपर्व—अध्याय ९०, श्लोक २४,२५

सुगम और कठिन तीर्थों की यात्रा से धार्मिक जीवन में एक तारतम्य पैदा होता है। वर्ष के विभिन्न कालों में इन तीर्थों की यात्रा वर्ष के कालक्रम की एकरूपता में पर्वों के समान सौन्दर्य का संचार करती है। तीर्थयात्रा के पर्व भी सांस्कृतिक पर्वों की भाँति जीवन में उल्लास भरते हैं। इन तीर्थों का सम्बन्ध अनेक देवताओं से है। देवताओं की अनेकता भारतीय धर्म-परम्परा को उदार बनाती है। तीर्थों की अनेकता इस उदारता को प्राकृतिक और व्यावहारिक आधार प्रदान करती है। अनेक देवताओं और तीर्थों के सेवन के सम्बन्ध में मनुष्य को पूर्ण स्वतंत्रता है। यह स्वतंत्रता धर्म-शास्त्रों की मानवीय भावनाओं के अनुरूप है तथा धर्म शास्त्रों के सामाजिक धर्म की भाँति दिव्य धर्म को भी उदार एवं मानवीय बनाता है। पश्चिम के एकेश्वरवादी धर्मों के तीर्थों की विरलता और एकरूपता से भारतीय धर्म-परम्परा की विविधता के समान ही तीर्थों की अनेकता भी महत्त्वपूर्ण है। अवतार, देवता, तीर्थ आदि कई प्रकार की अनेकताओं से विभूषित भारतीय धर्म-परम्परा उदार और कलात्मक धर्म का सर्वोत्तम उदाहरण है।

५—महाभारत में व्रत और तप—

तीर्थों और पर्वों की भाँति व्रत भी भारतीय धर्म और संस्कृति के महत्वपूर्ण अंग हैं। प्रतिमास में अथवा प्रतिपक्ष में कई छोटे-बड़े व्रत आते हैं। उपनयन, विवाह आदि के कुछ बड़े संस्कार ऐसे हैं, जिनमें उत्सव की विपुलता होते हुए भी व्रत का अंश कम नहीं होता। विशेष रूप से विवाह के अवसर पर वर और कन्या उसके माता-पिता अन्य बड़े लोगों को कई बार पूरे दिन का निराहार व्रत करना होता है। इस व्रत के साथ ही संस्कारों की कई विधियाँ सम्पन्न होती हैं। दूसरी ओर सभी व्रतों को थोड़ी बहुत मात्रा में पर्व के उल्लास की भावना कुछ उत्सव का रूप देती है। जन्माष्टमी, रामनवमी, अनन्तचतुर्दशी, शिवरात्रि आदि के व्रत ऐसे ही पर्व हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक 'व्रत' उपवास आदि की तपोमय भावना से पूर्ण हैं। तप का त्यागमय भाव सभी व्रतों में व्याप्त रहता है। व्रत के समान मानसिक संकल्प और त्याग की अपेक्षा तप में भी होती है। देवता, समय आदि का निमित्त न रहने पर त्यागमयी भावना का सामान्य रूप तप कहा जा सकता है। तप और व्रत धर्म-साधना के व्यक्तिगत और आन्तरिक पक्ष

है। वे धर्म की आध्यात्मिकता के साधक हैं। महाभारत में तीर्थों की भांति अनेक व्रतों और तपों का भी वर्णन है।

युधिष्ठिर ने जब भीष्म जी से व्रतों का नियम पूछा तब भीष्मजी ने प्राचीनकाल में जो व्रत के विषय में सुन रखा था, वह इस प्रकार बताया कि ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए तीन रात उपवास करने का विधान है। वैश्यों और शूद्रों के लिए चौथे समय तक के भोजन का त्याग करने का विधान है। व्रत के फल को बताते हुए अंगिरा जी ने युधिष्ठिर से कहा कि "यदि मनुष्य पंचमी, षष्ठी और पूर्णिमा के दिन अपने मन और इन्द्रियों को काबू में रखकर एक वक्त भोजन करके दूसरे वक्त उपवास करे, तो वह क्षमावान्, रूपवान् और विद्वान् होता है। वह बुद्धिमान् पुरुष कभी सन्तानहीन या दरिद्र नहीं होता।"[४७] "जो पुरुष भगवान की आराधना का इच्छुक होकर पंचमी, षष्ठी, अष्टमी तथा कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को अपने घर पर ब्राह्मणों को भोजन कराता है और स्वयं उपवास करता है, वह रोगरहित और बलवान् होता है। मार्गशीर्ष मास को एक समय भोजन करके बिताता है, वह रोग और पापों से मुक्त हो जाता है। जो पौष मास में एक वक्त भोजन करके बिताता है, वह सौभाग्यशाली, दर्शनीय और यश का भागी होता है। जो माघमास को नियमपूर्वक एक समय के भोजन से व्यतीत करता है, वह धनवान् कुल में जन्म लेकर अपने कुटुम्बीजनों में महत्त्व को प्राप्त होता है। फाल्गुन का व्रत करने से स्त्रियों का प्रिय होता है और स्त्रियाँ उसके अधीन रहती हैं। जो चैत्र का एक समय का व्रत करता है वह सुवर्ण, मणि और मोतियों से सम्पन्न महान कुल में जन्म लेता है। जो स्त्री अथवा पुरुष इन्द्रिय संयमपूर्वक

४७—पंचम्यां दापि षष्ठ्यां च पौर्णमास्यां च भारत।
उपोष्य एकभक्तेन नियतात्मा जितेन्द्रियः॥
क्षमावान् रूपसम्पन्नः श्रुतवांश्चैव जायते।
नानपत्यो भवेत् प्राज्ञो दरिद्रो वा कदाचन॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १०६, श्लोक १४-१५

एक समय भोजन करके वैसाख मास को पार करता है, वह सजातीय वन्धुओं में श्रेष्ठता को प्राप्त होता है। एक समय भोजन करके जेष्ठ मास बिताता है, उसे अनुपम श्रेष्ठ ऐश्वर्य प्राप्त होता है। जो आषाढ़ मास में आलस्य छोड़ कर एक समय भोजन करके रहता है, वह धन-धान्य और पुत्रों से सम्पन्न होता है। जो मन और इन्द्रियों को संयम में रखकर श्रावण मास में एक समय भोजन करता है वह विभिन्न तीर्थों में स्नान करने के पुण्य-फल को प्राप्त होता है। जो मनुष्य भाद्रपद मास में एक समय भोजन करता है, वह गोधन से सम्पन्न, समृद्धिशील तथा अविचल ऐश्वर्य का भागी होता है। जो आश्विन मास को एक समय भोजन करके बिताता है, वह पवित्र, नाना प्रकार के वाहनों से सम्पन्न तथा अनेक पुत्रों से युक्त होता है। जो मनुष्य कार्तिक मास में एक समय भोजन करता है, वह शूरवीर अनेक भार्याओं से संयुक्त और कीर्तिमान् होता है।"[४८] "जो पूरे एक वर्ष तक दो-दो दिन पर भोजन करके रहता है तथा साथ ही अहिंसा, सत्य और इन्द्रियसंयम का पालन करता है, वह वाजपेय यज्ञ का फल पाता है और दस हजार वर्षों तक स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है। जो एक साल तक छठे समय अर्थात् तीन-तीन दिनों पर भोजन करता है वह मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल पाता है। वह चक्रवाकों द्वारा वहन किये हुए विमान से स्वर्गलोक में जाता हैं और वहाँ चालीस हजार वर्षों तक आनन्द भोगता है।"[४९] व्रत की महिमा बताते हुए अंगिरा ऋषि ने युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि "धर्म से बढ़कर कोई उत्कृष्ट लाभ नहीं है तथा उपवास से बढ़कर कोई तपस्या नहीं है। जैसे इस लोक और परलोक में ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों से बढ़कर कोई पावन नहीं है, उसी प्रकार

४८—महाभारत में, अनुशासन पर्व—अध्याय १०६, श्लोक १६ से ३० तक

४९— महाभारत : अनुशासन पर्व—अध्याय १०६, श्लोक ४१ से ४४ तक

उपवास के समान कोई तप नही है।"[५०] देवताओं ने विधिवत् उपवास करके ही स्वर्ग प्राप्त किया है तथा ऋषियों को भी उपवास से ही सिद्धि प्राप्त हुई है।

युधिष्ठिर ने भीष्मजी से द्वादशी व्रत के फल के विषय में पूछा तब भीष्मजी ने भगवान् विष्णु द्वारा बताये गये द्वादशी के व्रत के फल के विषय में जो बताया है, वह इस प्रकार कहा कि 'मार्गशीर्ष की द्वादशी तिथि का उपवास करके भगवान केशव की पूजा-अर्चा करके मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल पाता है। पौष मास की द्वादशी का व्रत करने से वाजपेय यज्ञ का फल प्राप्त होता है। माघ मास की द्वादशी का व्रत करने से राजसूय यज्ञ का फल प्राप्त होता है। फाल्गुन मास की द्वादशी का व्रत करने से अतिरात्र यज्ञ का फल प्राप्त होता है और मृत्यु के पश्चात् सोमलोक में जाता है। चैत्रमास की द्वादशी का उपवास करके मनुष्य पौण्डरीक यज्ञ का फल पाता है और देवलोक में जाता है। वैसाख मास की द्वादशी का व्रत करने से अग्निष्टोम यज्ञ का फल पाता है और सोमलोक में जाता है। ज्येष्ठमास की द्वादशी का उपवास करके भगवान त्रिविक्रम की पूजा करके गोमेधयज्ञ का फल पाता है और अप्सराओं के साथ आनन्द भोगता है। आषाढ़ मास की द्वादशी का उपवास करके वामन नाम से भगवान की पूजा करके पुरुष नरमेध यज्ञ का फल पाता है और महान् पुण्य का भागी होता है। श्रावणमास की द्वादशी का उपवास करके भगवान श्रीधर की आराधना करके पंचमहायज्ञों का फल पाता है और विमान पर बैठ कर सुख भोगता है। भाद्रपद की द्वादशी का व्रत करके

५०—न धर्मात् परमो लाभस्तपो नानशनात् परम्॥
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति पावनं दिवि चेह च।
उपवासैस्तया तुल्यं तपः कर्म न विद्यते॥
च्यवनो जमदग्निश्च वसिष्ठो गौतमोभृगुः।
सर्व एव दिवं प्राप्ताः क्षमावन्तो महर्षयः॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १०६, श्लोक ६५-६६, ६९

हृषीकेश नाम से भगवान की पूजा करके मनुष्य सौत्रामणि यज्ञ का फल पाता है और पवित्रात्मा होता है। आश्विन मास की द्वादशी का व्रत करके पद्मनाभ नाम से भगवान की पूजा करके मनुष्य सहस्रगोदान का पुण्यफल पाता है। कार्तिक मास की द्वादशी का व्रत करके भगवान दामोदर की पूजा करके मनुष्य या स्त्री गो-यज्ञ का फल पाते हैं।"[५१] जो प्रति दिन इसी प्रकार भगवान विष्णु की पूजा करता है, वह विष्णु भाव को प्राप्त होता हैं। यह व्रत समाप्त होने पर ब्राह्मणों को भोजन कराये अथवा उन्हें घृतदान करे। इस उपवास से बढ़ कर दूसरा कोई उपवास नहीं है। "इस प्रकार जो एक वर्ष तक कमलनयन भगवान् विष्णु का पूजन करता है, वह पूर्वजन्म की बातों का स्मरण करने वाला होता है और उसे बहुत सी सुवर्णराशि प्राप्त होती है।"[५२]

रूप-सौन्दर्य और लोकप्रियता की प्राप्ति के लिए मार्गशीर्ष मास में चन्द्र व्रत करना चाहिए। युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्मजी ने चन्द्रव्रत के व्रत का वर्णन इस प्रकार किया कि "मार्गशीर्ष मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को मूल नक्षत्र से चन्द्रमा का योग होने पर चन्द्र सम्वन्धी व्रत आरम्भ करे। पौर्णमासी को व्रत समाप्त होने पर वेदों के पारंगत विद्वान् ब्राह्मण को घृत

५१—अनुशासन पर्व—अध्याय १०९, श्लोक ३ से १४ तक

५२—अर्चयेत् पुण्डरीकाक्षमेवं संवत्सरं तु यः।
जातिस्मरत्वं प्राप्नोति विन्द्याद् वहु सुवर्णकम् ॥
अनुशासन पर्व—अध्याय १०९, श्लोक १५

दान करे। ऐसा करने से मनुष्य पूर्णिमा के चन्द्रमा की भांति परिपूर्ण सौभाग्यशाली, दर्शनीय तथा ज्ञान का भागी होता है।"[५३]

उपवास की जो विधि लिखी है, उसमें वर्णन है कि उपवास एक दिन का, दो दिन का, लगातार तीन दिन का, इस तरह बढ़ाते-बढ़ाते वर्ष भर करना चाहिए। ब्राह्मण और क्षत्रिय, तीन दिन का उपवास करे और वैश्य तथा शूद्र एक दिन से अधिक उपवास न करें। यह एक महत्त्व की आज्ञा है, जिस पर ध्यान देना चाहिए कि वैश्य और शूद्र तीन दिन का उपवास कभी न करें। क्योंकि उनके पेशे के हिसाब से अधिक उपवास करना उनके लिए सम्भव नहीं। दिन में एक ही बार भोजन करने को एक भक्त कहते हैं और यह भी उपवास में माना गया है। तीन दिन का उपवास करके भोजन करे, यह मुख्य उपवास विधि है। इसके आगे पक्ष भर का उपवास करने का वर्णन है। जो पुरुष वर्ष भर, एक पक्ष तक तो उपवास करता है और दूसरे पक्ष में भोजन करता है, उसका षण्मास अनशन हो जाता है, यह अंगिरा ऋषि का मत बतलाया है।

महाभारत में पंचमी, षष्ठी और कृष्ण पक्ष की अष्टमी तथा चतुर्दशी तिथियों के उपवास का जो वर्णन है, वे तिथियाँ अब उपवास में नहीं मानी जाती हैं। आजकल जो एकादशी, द्वादशी उपवास की तिथियाँ हैं, वे महाभारत में इस काम के लिए निर्दिष्ट नहीं हैं। ये तिथियाँ विष्णु और शिव की उपासना की हैं। एकादशी की व्रत वैष्णव लोग करते हैं और द्वादशी

५३—मार्गशीर्षस्य मासस्य चन्द्रे मूलेन संयुते।
समाप्ते तु घृतं दद्याद् ब्राह्मणे वेदपारगे॥
सुभगो दर्शनीयश्च ज्ञानभाग्यय जायते।
जायते परिपूर्णाङ्गः पौर्णमास्येव चन्द्रमाः॥
अनुशासनपर्व—अध्याय ११०, श्लोक २½, ६-१०

का व्रत शिव के भक्त शैव करते हैं, द्वादशी का ही प्रदोष का व्रत भी कहा जाता है। इसका प्रयोजन प्रदोष काल में अर्थात् संध्याकाल में शिव की पूजा करके एक समय रात्रि को भोजन करने से है। स्मृतिशास्त्रों में वर्णित चान्द्रायण और सान्तपन आदि के जो व्रत हैं, उनका नाम तो महाभारत में प्रसङ्गानुसार आ गया है किन्तु उनका वर्णन नहीं है। तप की विधि में व्रतों के यही भेद पाये जाते हैं। जैनों में उपवास करने की प्रथा भी बहुत कठोर है। उनके यहाँ ४२ दिन तक का व्रत एक साथ किया जाता है। उपवास में हर प्रकार का अन्न वर्ज्य है। पानी पीने तक की मनाही है। व्रत भी एक प्रकार से तप ही हैं।

कौरवों से राज्य प्राप्ति करके युधिष्ठिर को बड़ा दुःख हुआ कि अपने सब सम्बन्धी युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हो गये तथा सब की विधवायें, मातायें, स्त्रियाँ तथा पुत्रवधुयें अब क्या करती होंगी। इस दुःख का विचार करके दुःखी मन युधिष्ठिर ने भीष्म जी से कहा कि मैं अब अपने शरीर को कठोर तपस्या के द्वारा सुखाना चाहता हूँ। इसलिए आप मुझे तप के विषय में कुछ उपदेश दें तथा उससे मिलने वाले फल का भी वर्णन करें। तब भीष्मजी ने इस प्रकार कहा कि "तपस्या से स्वर्ग मिलता है, सुयश की प्राप्ति होती है तथा बड़ी आयु, ऊँचा पद और उत्तमोत्तम भोग प्राप्त होते हैं।"[५४] ज्ञान, विज्ञान, आरोग्य, रूप, सम्पत्ति तथा सौभाग्य भी तपस्या से प्राप्त होते हैं। मनुष्य तप करने से धन पाता है। मौनव्रत के पालन से दूसरों पर हुक्म चलाता है। वन में फल-मूल खाकर रहने वाले के विषय में भीष्मजी ने इस प्रकार कहा कि "फल-मूल खाकर रहने वालों को राज्य और पत्ता चबाकर तप करने वालों को स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती है। दूध पीकर रहने वाला

५४—तपसा प्राप्यते स्वर्गस्तपसा प्राप्यते यशः।
आयुः प्रकर्षो भोगाश्च लभ्यन्ते तपसा विभो॥
अनुशासनपर्व—अध्याय ५७, श्लोक ८

मनुष्य भी स्वर्ग को जाता है।"[५५] मिट्टी की वेदी या चबूतरों पर सोने वालों को घर और शय्याएँ प्राप्त होती हैं। चीर और वल्कल के वस्त्र पहनने से उत्तमोत्तम वस्त्र और आभूषण प्राप्त होते हैं। रसों का परित्याग करने से मनुष्य यहाँ सौभाग्य का भागी होता है। मांस-भक्षण का त्याग करने से दीर्घायु सन्तान उत्पन्न होती है। तृण खाकर रहने वालों के विषय में भीष्म जी ने इस प्रकार कहा कि "जो केवल साग खाकर रहने का नियम लेता है, वह गोधन से सम्पन्न होता है। तृण खाकर रहने वाले मनुष्यों को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। तीनों काल में स्नान करने से बहुत-सी स्त्रियों की प्राप्ति होती है और हवा पीकर रहने से मनुष्य को यज्ञ का फल प्राप्त होता है। मरु की भावना-जल का परित्याग करने वाले यथा निराहार रहने वाले को स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है।"[५६] जो जल में निवास करता है वह राजा होता है। सत्यवादी मनुष्य स्वर्ग में देवताओं के साथ आनन्द भोगता है। यज्ञ और उपवास करने से मनुष्य स्वर्गलोक में जाता है। योगयुक्त तपोधन को शय्या, आसन और वाहन प्राप्त होते हैं। नियमपूर्वक अग्नि में प्रवेश कर जाने पर जीव को ब्रह्मलोक में सम्मान प्राप्त होता है। श्रेष्ठ गति की प्राप्ति बताते हुए भीष्मजी ने इस प्रकार युधिष्ठिर से कहा कि "पृथ्वीनाथ ! बारह वर्षों तक सम्पूर्ण भोगों का त्याग, दीक्षा (जप आदि नियमों का ग्रहण) तथा तीनों

५५-फलमूलाशिनां राज्यं स्वर्गः पर्णाशिनां भवेत् ॥ ११
पयोभक्षो दिवं याति ॥ १२

५६-गवाढ्यः शाकदीक्षाभिः स्वर्गमाहुस्तृणाशिनाम्
स्त्रियस्त्रिषवणं स्नात्वा वायुं पीत्वा क्रतुं लभेत्॥१३
मरुं साधयतो राजन् नाकपृष्ठमनाशके ॥१४
अनुशासनपर्व—अध्याय ५७, श्लोक ११, १२, १३, १४

समय स्नान करने से वीर पुरुषों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है ।"[५७]

तप का एक प्रधान अङ्ग अथवा स्वरूप जप है। किसी कामना से जप करने वाला उस लोक या कामना को प्राप्त होता है; परन्तु जो फल की रत्तीभर भी इच्छा न करके जप करता है, वह सब फलों से श्रेष्ठ ब्रह्मलोक को जाता है। जप के सम्बन्ध में दो-तीन अध्याय शान्तिपर्व में भी हैं। उनका तात्पर्य यह ध्वनित करता है कि जप है तो महाफल का देनेवाला, परन्तु ज्ञानमार्ग से घटकर है। जप करना योग का मार्ग है। इसमें भी किसी फल की इच्छा न करके जप करना सब में श्रेष्ठ है। किसी कामना से जप करना निकृष्ट कहा जाता है। गायत्री के जप से बड़े-बड़े साधक अपना जीवन सफल बनाते हैं तथा अन्तकाल में मोक्ष के अधिकारी होते हैं। तपस्या मनुष्य की आत्मा की शुद्धि का लक्षण है। शुद्ध आत्मा वाला मनुष्य ही इस संसार सागर से सरलता से पार हो जाता है। तपस्या अनेक प्रकार की होती हैं। जिसको जो तप उचित जचे या जिससे जो तप करना सम्भव हो सके, वही उसके लिए श्रेष्ठ है तथा अन्तकाल में मुक्तिदायक होता है।

व्रत और तप धर्म-साधना के आन्तरिक और आध्यात्मिक पक्ष हैं। तीर्थों के सामाजिक पक्ष की तुलना में व्रत और तप को धर्म-साधना का व्यक्तिगत पक्ष कहा जा सकता है। भारतीय धर्म अपने स्वरूप में सांस्कृतिक, व्यवहार में सामाजिक और साधना में व्यक्तिगत है। धर्म की सांस्कृतिकता और सामाजिकता उसे जीवन से संगत बनाती है। धर्मशास्त्रों के अनुरूप धर्म के जिन सामाजिक रूपों का विवरण प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के पिछले बारह अध्यायों में किया गया है, उसके अनेक कर्त्तव्यों और आचारों में सांस्कृतिक

५७—उपवासं च दीक्षां च अभिषेकं च पार्थिव।
कृत्वा द्वादशवर्षाणि वीरस्थानाद् विशिष्यते ॥
अनुशासनपर्व—अध्याय ५७, श्लोक २४

सौन्दर्य का समावेश है। गृहस्थ के कर्म सामाजिक संस्कृति के मुख्य अंग हैं। अनेक अवतारों और देवताओं का दिव्य धर्म भी अवतारों के चरित तथा तीर्थों के योग से सामाजिक बन गया है। इस प्रकार सामाजिक और दिव्य दोनों रूपों में धर्म की परस्पर संगति है। पिछले अध्यायों में अनेक वार कहा जा चुका है कि भारतीय धर्म की भावना स्वतन्त्र, मानवीय और उदार है। दोनों ही रूपों में धर्म की सामाजिकता, संगठन, प्रचार आदि का साधन नहीं बनी है, जैसी कि वह पश्चिम के एकेश्वरवादी धर्मों में बनी है। व्रत और तप की व्यक्तिगत साधना एक ओर धर्म को आध्यात्मिक आधार प्रदान करती है तथा दूसरी ओर धर्म की उदारता एवं स्वतन्त्रता का संरक्षण करती है। व्रत और तप का इतना महत्व तथा स्वतन्त्रता एवं उदारता के साथ धर्म की इतनी सफल संगति कदाचित् ही किसी अन्य धर्म-परम्परा में मिल सकेगी।

अध्याय—२०

उपसंहार

१—अध्ययन के निष्कर्ष—

पिछले उन्नीस अध्यायों में महाभारत और महाभारत में धर्म से सम्बन्ध रखने वाले मुख्य विषयों का क्रम-क्रम से विवेचन किया गया है। आरम्भ के अध्यायों में महाभारत की महिमा और महाभारत की आधुनिक आलोचना का संक्षिप्त परिचय देने के बाद महाभारत में धर्म के स्थान, धर्म के रूप, धर्म के स्वरूप आदि का विवेचन किया गया है। उसके बाद बारह अध्यायों में वर्णों और आश्रमों के विभाजन के अनुसार धर्म के विशेष रूपों का विवरण एवं विवेचन है। धर्म का यह रूप सामाजिक और मानवीय है। अन्त में एक अध्याय में धर्म के ईश्वरीय और दिव्य रूप का विवेचन किया गया है। महाभारत और 'महाभारत में धर्म' से सम्बन्ध रखने वाले विविध विषयों का विवेचन करने के बाद उपसंहार में इस विवेचन के निष्कर्षों का आकलन अपेक्षित है। पिछले अध्यायों का यह विवेचन अध्ययन और तर्क के आधार पर किया गया है। महाभारत के ग्रन्थ तथा महाभारत सम्बन्धी आलोचना के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के आवश्यक उद्धरणों से पुष्ट किया गया है। इसके साथ-साथ विचार और तर्क के द्वारा महाभारत सम्बन्धी तथ्यों और अभिमतों की मीमांसा की गई है। इस मीमांसा के निष्कर्ष भी पिछले अध्यायों और प्रकरणों में यथास्थान दिये गये हैं। फिर भी अनेक अध्यायों और प्रकरणों में बिखरे होने के कारण कदाचित् इन निष्कर्षों में एकसूत्रता न दिखाई दे। अतः इस उपसंहार में इन निष्कर्षों का एकत्र आकलन किया गया है।

२—महाभारत एक अनुपम ग्रन्थ है—

पिछले अध्यायों के अध्ययन और विवेचन का सबसे पहला निष्कर्ष यह है कि महाभारत एक अनुपम ग्रन्थ है। महाभारत के समान विशाल, महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय ग्रन्थ संसार में दूसरा नहीं है। एक लाख श्लोकों की महाभारत संहिता संसार के अन्य महाकाव्यों से कई गुनी बड़ी है। आकार की विशालता की दृष्टि से तो महाभारत संसार के साहित्य में अतुलनीय है ही. किन्तु इसके साथ-साथ विषय की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। एक ओर उसके विषय व्यापक और दूसरी ओर वे विषय महत्त्वपूर्ण भी हैं।विषयों की व्यापकता के कारण 'यन्न न भारते तन्न न भारते' तथा 'व्यासोच्छिष्टं-जगतसर्वम्' की उक्तियाँ प्रसिद्ध हुईं। व्यापक होने के साथ ये विषय जीवन की गहराइयों में प्रवेश करते हैं। जीवन के अनेक विध सम्बन्धों, संघर्षों, संकटों और कर्त्तव्यों का गम्भीर अवगाहन करके मनुष्य की समुचित गति का मार्ग प्रकाशित करते हैं। महाभारत की विशाल कथा में ही इन विषयों के प्रतिपादन के अनेक अवसर आ गये हैं। वनपर्व, शान्तिपर्व आदि के अवकाशों में चर्चा और उपदेश के द्वारा अन्य अनेक विषयों की मीमांसा की गई है। इस प्रकार महाभारत जीवन के अखिल विषयों का विशाल महासागर बन गया है। इसीलिए वह पंचमवेद माना जाता है। कथा के महत्व और काव्य के सौन्दर्य ने महाभारत की महिमा को और बढ़ा दिया है। हजारों वर्षों से महाभारत जनता में लोकप्रिय रहा है महाभारत की लोकप्रियता की तुलना केवल गीता, भागवत तथा अन्य सम्प्रदायों के धर्मग्रन्थों से की जा सकती है। किन्तु अन्य सम्प्रदायों के धर्मग्रन्थ संगठित प्रचार के द्वारा लोकप्रिय बनाये गये हैं। स्वतन्त्ररूप में लोकप्रिय बनने वाले गीता, भागवत्, महाभारत आदि ग्रन्थ ही हैं। इनमें आकार की विशालता को देखते हुए महाभारत की लोकप्रियता आश्चर्यजनक है। इतना विशाल, इतना तत्वपूर्ण और इतना लोकप्रिय ग्रन्थ संसार में दूसरा नहीं है।

३—महाभारत की ऐतिहासिक आलोचना निष्प्रयोजन है—

भारतीय परम्परा में महाभारत एक धर्मग्रन्थ माना जाता है। विषय की दृष्टि से भी वह धर्मग्रन्थ ही है। उसका धार्मिक अंश उसके कथा भाग से

कई गुना अधिक है। किन्तु पश्चिमी आलोचकों ने महाभारत को मूल रूप में कौरव-पाण्डवों के युद्ध की कथा का काव्य माना है। वे सूतों और चारणों के प्राचीन आख्यानों और वीर-काव्यों में इसका मूल खोजते रहे हैं तथा महाभारत के धार्मिक अंशों को निकालकर उसके मूलकाव्य का रूप निर्धारित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। उनकी आलोचना का दृष्टिकोण ऐतिहासिक और विकासवादी है। वे महाभारत को कई लेखकों की प्रति मानते हैं। उनके अनुसार जय, भारत महाभारत के तीन संस्करणों में महाभारत का वर्तमान रूप विकसित हुआ है। कई विद्वानों ने महाभारत के धार्मिक अंशों को निकालकर उसके मूल काव्य का उद्धार करने का भी प्रयत्न किया है। किन्तु ये प्रयत्न सफल और मान्य नहीं हो सके। महाभारत के वर्तमान रूप में धार्मिक अंश ऐसे घुलमिल गये हैं कि उनको अलग करना कठिन है। महाभारत की ऐतिहासिक आलोचना निष्प्रयोजन जान पड़ती है। इस आलोचना की ऊहायें अनेक प्रकार की हैं। इनमें बहुत सी अनर्गल और परस्पर विरोधी भी हैं। इस ऐतिहासिक आलोचना के अधिकांश निष्कर्ष निषेधात्मक हैं। वे काल आदि की अर्वाचीन अवधि निर्धारित करते हैं। इसके अतिरिक्त यह आलोचना महाभारत की रचना, उसके काल आदि के सम्बन्ध में कोई भावात्मक निर्णय नहीं कर पाती।

भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य के सम्बन्ध में अनर्गल और परस्पर विरोधी कल्पनाओं के अतिरिक्त ऐतिहासिक आलोचना कोई आदरणीय निर्णय कर भी नहीं सकतीं। इतने प्राचीन साहित्य के सम्बन्ध में निर्णय प्रमाण मिलना कठिन है। अतः महाभारत तथा अन्य प्राचीन भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में ऐतिहासिक आलोचना निष्प्रयोजन है। यह आलोचना अपने प्राचीन साहित्य के सम्बन्ध में भारतीयों की आस्था का उच्छेद करने में अवश्य सफल हुई। सरल भारतीय मृग के समान इस आलोचना के जाल में फँस गये हैं।

४--महाभारत का वर्तमान रूप ही मान्य है—

आवश्यक प्रमाणों के अभाव में वह अपने इस प्रयास में सफल नहीं हो सकी। पर्याप्त प्रमाण न होते हुए भी पश्चिमी आलोचक महाभारत के सम्बन्ध में मनमानी कल्पनायें करते रहे हैं। यह आलोचनायें निश्चित प्रमाणों के अभाव में महाभारत की रचना, और उसके विकास का माननीय मत स्थापित नहीं कर सकी हैं। किन्तु महाभारत के वर्तमान रूप के प्रति भारतीयों की श्रद्धा का उन्मूलन अवश्य करती रही हैं। यह उन्मूलन किसी अंश तक पश्चिमी विद्वानों की साम्राज्यवादी प्रेरणाओं और ईसाई मत के अनुरोध से प्रेरित हो सकता है। किन्तु निश्चित प्रमाणों के अभाव में अनर्गल आलोचनाओं का कोई मूल्य नहीं है। डा०सुकथनकर ने अपने भाषणों में पश्चिमी विद्वानों की महाभारत सम्बन्धी आलोचना का खण्डन किया है तथा उनके दुराग्रहों और उनकी असमर्थताओं का उद्घाटन किया है। उन्होंने यह मत प्रकट किया है कि ऐतिहासिक आलोचना लक्ष्य से दूर चली जाती है। हमें महाभारत के वर्तमान रूप को स्वीकार कर इसी रूप में उसका अध्ययन भारतीय दृष्टिकोण से करना चाहिए। पश्चिमी आलोचकों ने भी यह स्वीकार किया है कि महाभारत का वर्तमान रूप २००० वर्ष से भारतवर्ष में मान्य है। यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि ईसा के पहले कितनी शताब्दियों से महाभारत इसी रूप में चला आ रहा है। ईसवी सदी के आरम्भ से पहले महाभारत का जो वर्तमान रूप स्थिर हो चुका था, उसे आलोचना के द्वारा खण्डित करना उचित नहीं है। डा० सुकथनकर के अनुसार महाभारत के वर्तमान रूप में कोई विशेष असंगति नहीं है। महाभारत का यही रूप दो हजार वर्ष से भारतीय साहित्य और परम्परा में मान्य रहा है। हमें महाभारत के इसी रूप को मानकर इसी के आधार पर महाभारत के सम्बन्ध में अपने मत स्थिर करने चाहिए।

५—धर्म ही महाभारत का मर्म है—

महाभारत के वर्तमान रूप में लगभग एक लाख श्लोक हैं। इसीलिये उसे शतसहस्री संहिता कहते हैं। इसी रूप में वह दो हजार से अधिक वर्षों से प्रसिद्ध है। महाभारत के इस रूप में धार्मिक अंश अधिक हैं। यह धार्मिक अंश कथा भाग से कई गुना है। कथाप्रसंग में छोटे और बड़े उपदेशों के रूप में यह मिलता है। धार्मिक अंश की अधिकता के कारण ही महाभारत को धर्मग्रन्थ माना जाता है। पश्चिमी विद्वानों ने अपनी ऐतिहासिक आलोचना के

द्वारा इस धार्मिक अंश को मूल काव्य का प्रक्षेप बताकर उसका महत्त्व कम करने का प्रयत्न किया है। किन्तु डा० सुकथनकर का मत है कि यह धार्मिक अंश महाभारत के अभिन्न अंग हैं, इन्हें महाभारत से अलग नहीं किया जा सकता। इन अंशों से युक्त महाभारत में पर्याप्त एकसूत्रता है। यह धार्मिक अंश महाभारत की आत्मा है, इनको अलग करने पर महाभारत निष्प्राण हो जायेगा। ये धार्मिक अंश महाभारत के कथाकाव्य के भी अनुकूल हैं। महाभारत की कथा को रूपक न मानने पर भी वह अपने सरल रूप में ही धार्मिक उद्देश्य से ओतप्रोत है। कौरवों-पाण्डवों का युद्ध धर्मयुद्ध है। रूपक के बिना भी पाण्डवों का पक्ष धर्म का पक्ष है। युधिष्ठिर धर्मराज हैं और कुरुक्षेत्र को भी धर्मक्षेत्र कहा गया है। कथा भाग की धार्मिकता प्रसंगतः आये हुए अनेक धार्मिक उपदेशों तथा श्रीकृष्ण के अवतार-रूप की प्रभुता से परिपुष्ट हो गई है। इस प्रकार सम्पूर्ण महाभारत नैतिक आचार और अध्यात्म दोनों ही अर्थों में धार्मिक भावना से ओतप्रोत है। धर्म ही महाभारत का धर्म है। कथाकाव्य होते हुए भी वह एक धर्मशास्त्र है। इतिहास और काव्य की दृष्टि से भी उसका अध्ययन अपेक्षित है किन्तु धर्म की दृष्टि से उसका विशेष अध्ययन कम महत्वपूर्ण नहीं है।

६—धर्म का मर्म मानवीयता है—

धर्म के अनेक रूप हैं। इनका विवरण चौथे अध्याय में किया गया है। ईश्वर के विशेष रूपों को मानने वाले सम्प्रदायों को भी 'धर्म' कहा जाता है। पश्चिमी सम्प्रदायों के प्रभाव से 'धर्म' अँगरेजी के 'रिलीजन' का पर्याय बन गया है। धर्मशास्त्रों और महाभारत में 'धर्म' का रूप सामाजिक, नैतिक और मानवीय है। वह किसी रूढ़ि से सीमित नहीं है। वह मनुष्य मात्र का धर्म है। अहिंसा, सत्य, दया, दान आदि उदार और मानवीय गुण उस धर्म के मुख्य तत्व हैं। ईश्वर के प्रति मनुष्य के सम्बन्ध की अपेक्षा मनुष्य के प्रति मनुष्य का सम्बन्ध इस धर्म में अधिक महत्वपूर्ण है। मनुष्य के प्रति मनुष्य के सम्बन्धों में जो उदार भावना रहती है, वही मानवीयता का सार है। स्वार्थ और अभिमान से विनय और परोपकार की ओर बढ़ना ही मानवीयता का मार्ग है। धर्मशास्त्रों और महाभारत में धर्म के जितने गुण बताये गये हैं उनमें

स्वार्थ और अहंकार के लिये कहीं अवकाश नहीं है। वे सभी गुण दूसरों के प्रति उदार भावना से ओत-प्रोत हैं। मनुष्य को अपने समान और मनुष्य मानकर उसके प्रति उदार व्यवहार करना ही धर्म का मुख्य मर्म है। महाभारत में मनुष्य को सबसे बढ़ कर माना गया है (न हि मानुषात् परं किंचित्) एक गहन आत्मिक आस्था से यह मानवीयता प्रेरित होती है। परोपकार के साथ-साथ इसमें अपना भी गौरव है, यद्यपि इस गौरव के लिये संकट भी उठाने पड़ते हैं। पांडवों में सत्य और धर्म के रूप में यह आस्था मिलती है। यह मानवीयता ईश्वरीय धर्मों के लिये भी मान्य है, यद्यपि मत के संकोच, आग्रह, और प्रचार के कारण कुछ धर्म इसका खण्डन करते रहे हैं। भारत के ईश्वरीय सम्प्रदाय मानवीय भावना से भी ओत-प्रोत हैं। उन्होंने ईश्वर को भी मानवीय बना दिया है। अवतारवाद तथा सख्यभाव, वात्सल्यभाव आदि की उपासनायें ईश्वरीय धर्म को अत्यन्त मानवीय बनाती हैं।

७—मानवीयता के मुख्य तत्व समानता और स्वतंत्रता है—

धर्म की मानवीयता अहिंसा, सत्य, दया आदि उदार मानवीय गुणों में प्रकट होती है। ये उदार गुण धर्म के कल्पतरु के पुष्प और फल हैं। धर्म के वृक्ष का मूल समानता और उसका स्तम्भ स्वतन्त्रता है। इन्हीं पर धर्म का वृक्ष स्थिर रहता है। समानता ही मानवीयता का आधार है। सभी मनुष्यों को अपने समान मानना उनके सुख-दुःख को अपने सुख-दुःख के समान मानना यही मानवीयता का सिद्धान्त है। जैसा हमारा सुख-दुःख हमारे लिये है, वैसा ही दूसरों का सुख-दुःख उनके लिये है, यही समानता का भाव है। यह समानता का भाव ही अहिंसा, करुणा, दया आदि धर्म-लक्षणों का स्रोत है। दूसरों को अपने समान मानकर हम उन पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं कर सकते। श्रेष्ठता के अभिमानी जो ईश्वरीय धर्म-सम्प्रदाय अपने प्रचार के लिये अन्य धर्मावलम्बियों पर जो आक्रमण और अत्याचार करते रहे हैं वे धर्म के मूल-तत्व (समानता) का खण्डन करते हैं। स्वतन्त्रता भी समानता से फलित होती है। हम सब अपने विचार, विश्वास आदि में स्वतन्त्रता चाहते हैं। अतः दूसरों की स्वतंत्रता को भी हमें मानना होगा। समानता को

धर्म का मूल मानने पर स्वतंत्रता धर्म का स्तम्भ बन जाती है। स्वतंत्रता को मानने पर हम किसी पर किसी प्रकार का आरोपण नहीं कर सकते। धार्मिक आग्रह, आरोपण, प्रचार आदि को मानने वाले इस स्वतंत्रता के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं, यद्यपि यह करते हुये भी वे अपने धर्मो की श्रेष्ठता का ढोल पीटते रहे हैं। ज्ञान, विज्ञान आदि की तार्किक परख के अभिमानी आधुनिक युग में भी धर्म की इस विडम्बना को अनावृत करने का साहस अथवा सत्य-प्रेम नहीं दिखाई दे रहा है। किन्तु कुछ धर्म-सम्प्रदायों के द्वारा खण्डित किये जाने पर भी यह सत्य खण्डित नहीं होता कि स्वतंत्रता मनुष्य-जीवन और मनुष्य धर्म की सबसे बड़ी विभूति है। समानता उसका आधार है। धर्म-शास्त्रों और महाभारत के सामाजिक एवं मानवीय धर्म में समानता और स्वतन्त्रता का आधार सर्वत्र माना गया है। उदार परोपकार की भावना से ओत-प्रोत धर्म-लक्षणों में इनके खण्डन का स्थान नहीं है। भारतीय धर्म-सम्प्रदायों में भी धर्म-शास्त्रों की इस आस्था के कारण समानता और स्वतंत्रता का आदर रहा है। इन सम्प्रदायों में कहीं भी आरोपण और प्रचार का लेश नहीं है। धार्मिक सहिष्णुता इन सम्प्रदायों का एक विशेष गुण है। श्रेष्ठता के अभिमानी पश्चिमी धर्म-सम्प्रदायों को भी इस सहिष्णुता, उदारता, समानता और स्वतंत्रता की दृष्टि से परखना चाहिये।

८–धर्म का आधार आध्यात्मिक है—

भारतीय परम्परा में धर्म के सभी रूपों का आधार आध्यात्मिक है। आत्मा ही इस धर्म का आधार है। आत्मा सभी जीवों में समान है। गीता में भगवान् ने कहा है कि 'मैं सब भूतों में समान हूँ' (समोऽहं सर्वभूतेषु-गीता अध्याय ९ श्लोक २९)। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सम्पत्ति आदि अनेक दृष्टियों से मनुष्यों में भिन्नता हो सकती है। किन्तु आत्मा की दृष्टि से सब समान हैं। आत्मा ही चेतना का स्रोत है। सुख-दुःख आदि की चेतना सबमें समान होती है और इसलिये सबके दुःख-सुख का महत्व बराबर है। इसी आधार पर समानता का भाव धर्म का मूल तत्व बन गया है। 'आत्मौपम्येन' और 'आत्मनः प्रतिकूलानि' में इसी समानता के भाव की अभिव्यक्ति हुई है। आत्मा इस समानता का आधार है। उसका तात्त्विक अवगाहन कितना ही

कठिन हो किन्तु आत्मा के समान और उदार भाव के अनुकूल व्यवहार से सभी को आनन्द मिलता है। यही आत्मा का भाव भारतीय धर्म के सभी रूपों में ओत-प्रोत है। धर्म-शास्त्रों में धर्म के जो लक्षण बताये हैं, वे सब इसी आत्मभाव पर आश्रित हैं। याज्ञवल्क्य ने तो 'आत्म-दर्शन' को 'परम-धर्म' कहा है। भारतीय दर्शनों में भी आत्मा का अनुसन्धान बहुत हुआ है। ईश्वरीय धर्म-सम्प्रदाय भी ईश्वर को परमात्मा के रूप में मानते हैं। आत्मा को ईश्वर और मनुष्य की एकता का आधार भी माना जाता है। यह एकता पश्चिम के एकेश्वरवादी धर्मों में पाप समझी जाती है। आरम्भिक भाव से ओत-प्रोत होने के कारण ही भारतीय धर्म-सम्प्रदाय तथा धर्मशास्त्रों और महाभारत का धर्म उदार मानवीय भावना से ओत-प्रोत है।

६—धर्म और रिलीजन में अन्तर है—

हिन्दी के वर्तमान व्यवहार में 'धर्म' शब्द का प्रयोग अंगरेजी के 'रिलीजन' के पर्याय के रूप में होता है। वास्तव में अंगरेजी का 'रिलीजन' ईश्वरीय आस्था के एक विशेष रूप का वाचक है। ईश्वर-सम्बन्धी धारणायें होते हुये भी भारतीय परम्परा में उनकी विशेषता का आग्रह नहीं है। जिस विशेष रूप में ईश्वर को हम मानते हैं, वही ईश्वर का एक मात्र सही रूप है तथा अन्य ईश्वर सम्बन्धी धारणायें गलत हैं, ऐसा आग्रह भारतीय परम्परा में नहीं रहा। किन्तु पश्चिमी परम्परा में ऐसा आग्रह प्रबल रहा है। पश्चिमी धर्म-सम्प्रदायों के प्रचार और विस्तार का इतिहास इसी अनुदार आग्रह से प्रेरित है। ईश्वर के एक विशेष रूप में विश्वास तथा एक विशेष पैगम्बर, एक विशेष धर्म ग्रन्थ तथा अन्य विशेष विधियों का कठोर आग्रह इन धर्मों की विशेषता है, जिन्हें अँगरेजी में 'रिलीजन' कहा जाता है। यहूदी, ईसाई और इस्लामी सम्प्रदाय इनमें मुख्य हैं। इन सभी में अपनी विशेष मान्यताओं का आग्रह तथा अपने से भिन्न मान्यताओं का विरोध है। इस दृष्टि से ये संकीर्ण, संकुचित और सहिष्णुता से रहित हैं। इस नाते इनको 'सम्प्रदाय' कहना अधिक उचित है, यद्यपि सम्प्रदाय में भी संकीर्णता और असहिष्णुता होना आवश्यक नहीं है। भारतीय सम्प्रदाय भी उदार और सहिष्णु हैं। अतः धर्म शास्त्रों की धर्म-सम्बन्धी उदार एवं मानवीय धारणा से इन भारतीय सम्प्रदायों

की समुचित संगति है। किन्तु पश्चिमी सम्प्रदायों में जिन्हें रिलीजन कहा जाता है, ऐसी उदारता नहीं है। उनमें कुछ नैतिक गुण अवश्य माने जाते हैं, किन्तु ईश्वर सम्बन्धी धारणाओं का आग्रह इन गुणों को खण्डित कर प्रचार, आरोपण आदि के अमानवीय और अधार्मिक कर्मों में प्रकट होता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'रिलीजन' संगठन का वाचक है तथा 'धर्म' मनुष्य की मनुष्यता के रक्षण का वाचक है। अतः 'धर्म' को 'रिलीजन' से भिन्न मानना ही उचित है। धर्म-शास्त्रों और महाभारत का धर्म तो ईश्वर-सम्बन्धी मान्यताओं से मुक्त तथा मुख्य रूप से सामाजिक एवं मानवीय होने के कारण 'रिलीजन' से और भी अधिक भिन्न है।

१०–धर्म और सम्प्रदाय में विरोध आवश्यक नहीं है–

जिस रूप में धर्म-सम्प्रदाय पश्चिमी परम्परा में प्रवर्तित और प्रतिष्ठित हुये हैं, उस रूप में सम्प्रदाय धर्म की उस धारणा से दूर रह जाते हैं, जिस धारणा की भावना धर्म-शास्त्रों के 'धर्म' में तथा भारतीय सम्प्रदायों में व्याप्त है। ऊपर के प्रकरण में संकेत किया जा चुका है तथा प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के आरम्भिक अध्यायों में उसका विवरण किया गया है कि धर्म-शास्त्रों और महाभारत का धर्म उदार और मानवीय धर्म है। इसके विपरीत पश्चिम के धर्म-सम्प्रदाय संकुचित और असहिष्णु हैं। इनका आग्रह, आरोपण और प्रचार उदारता एवं स्वतंत्रता का खण्डन करता है। इसी कारण ऊपर के प्रकरण में धर्म और रिलीजन में अन्तर करने की चेष्टा की गई हैं। किन्तु धर्म और रिलीजन अथवा धार्मिक सम्प्रदाय में कोई विरोध होना आवश्यक नहीं है। धर्म-शास्त्रों और महाभारत का धर्म मुख्यतः सामाजिक एवं मानवीय अवश्य है तथा ईश्वर आस्था के किसी विशेष रूप से उसका आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। फिर भी ईश्वर की आस्था का कोई विशेष रूप अपने स्वरूप में इस मानवीय धर्म का विरोधी नहीं होता। ईश्वर की आस्था के विशेष रूप का आग्रह, आरोपण और प्रचार उसे मानवीय धर्म का विरोधी बनाता है। ईश्वर सम्बन्धी अन्य आस्थाओं का अपमान इस विरोध को और बढ़ाता है। ईश्वर-सम्बन्धी आस्था के विशेष रूप के आग्रह, आरोपण और प्रचार के कारण तथा अन्य आस्थाओं का अपमान करने के कारण पश्चिमी धर्म-

सम्प्रदाय महाभारत के मानवीय धर्म के विपरीत जान पड़ते हैं। किन्तु यह विरोध अथवा वैपरीत्य आवश्यक नहीं है। ईश्वर-सम्बन्धी किसी विशेष आस्था का अनुदार, संकीर्ण, असहिष्णु, आरोपवादी आदि होना आवश्यक नहीं है। वह उदार, सहिष्णु और स्वतंत्र भी हो सकती हैं। भारतीय परम्परा के धर्म-सम्प्रदाय उदार और सहिष्णु हैं। अतः धर्म और सम्प्रदाय का विरोध आवश्यक नहीं है। किन्तु अनेक सम्प्रदायों को उदारता-पूर्वक तथा आदर-पूर्वक स्वीकार करने पर ही यह विरोध दूर हो सकता है। मानवीय धर्म तो सिद्धांत और सार के रूप में सर्वत्र एक और सार्वभौम हो सकता है। किन्तु ईश्वर-सम्बन्धी आस्थायें अनेक होंगी। उदारता और सहिष्णुता ही इस अनेकता का मानवीय धर्म से सामंजस्य कर सकती है। सम्प्रदायों की अनुदारता और असहिष्णुता का दोष ईश्वर अथवा ईश्वर-सम्बन्धी आस्था को नहीं दिया जा सकता। यह उन सम्प्रदायों के प्रवर्तकों और अनुयायियों की मनोवृत्ति का दोष है।

११—धर्म शास्त्रों और महाभारत का धर्म मुख्यतः मानवीय और सामाजिक है—

धर्म-शास्त्रों और महाभारत में धर्म के जिस रूप की प्रधानता है, वह मुख्यतः मानवीय और सामाजिक है। धर्म के मर्म के रूप में मानवीयता का संकेत अभी ऊपर किया जा चुका है। यह मानवीयता मनुष्यता की भावना है, जो अहिंसा, दया आदि के उदार गुणों में व्यक्त होती है। यह भावना मनुष्य के प्रति भावपूर्ण आदर से प्रेरित होती है तथा ओत-प्रोत रहती है। आध्यात्मिकता इस धर्म का आधार है। आत्मा सभी मनुष्यों में समान है। अन्य बातों में मनुष्यों में भेद हो सकता है, किन्तु आत्मा की समानता का अनुभव होने पर ये अन्य बातें अन्याय और अतिचार का आधार नहीं बन सकतीं। इसी कारण भारतीय इतिहास में भारतवर्ष के द्वारा अन्य देशों पर आक्रमण के उदाहरण नहीं मिलते। इसी कारण भारतवर्ष में विकसित होने वाले ईश्वरीय धर्म-सम्प्रदाय पश्चिमी धर्म-सम्प्रदायों की भांति धर्म-प्रचार और धर्म-परिवर्तन में विश्वास नहीं करते। स्वतन्त्रता और समानता मानवीयता के मूल सिद्धान्त हैं। धर्म-प्रचार और धर्म-परिवर्तन इनको खण्डित करते हैं।

ईश्वर को मानते हुए भी भारतीय धर्म-सम्प्रदाय मानवीय भावना से ओतप्रोत हैं। इसका कारण धर्म-शास्त्रों के सामाजिक धर्म की मौलिक मानवीयता की प्रेरणा है। धर्मशास्त्रों और महाभारत का धर्म भावना की दृष्टि से ही मानवीय नहीं है, वरन् क्षेत्र और सम्वन्ध की दृष्टि से भी मानवीय और सामाजिक है। उसमें ईश्वर का प्रसंग आवश्यक नहीं है। धर्म के लक्षणों में उदार मानवीय गुणों की ही गणना की गई है, उसमें ईश्वर की पूजा का नाम नहीं है। अध्यात्म का आधार इस धर्म को दिव्यता का कुछ प्रकाश अवश्य देता है, फिर भी यह धर्म मुख्यतः लौकिक और सामाजिक है। यह मनुष्य के साथ मनुष्य के सम्बन्धों में ही सम्पन्न होता है। इस दृष्टि से धर्म का यह रूप ईश्वर की अलौकिकता में केन्द्रित धर्म-सम्प्रदायों से भिन्न है।

१२–महाभारत के अनुसार अविरोध इस धर्म की कसौटी है—

ईश्वर अलौकिक और अज्ञात है। ईश्वर को जानने का अभिमान पैगम्बरों और भक्तों का अभिमान है। एक अध्यात्म का ही रूप ऐसा है, जिसमें कि ईश्वर का कुछ आभास मनुष्य को हो सकता है। यह अध्यात्म मनुष्य और ईश्वर की मौलिक एकता की ओर ले जाता है। किन्तु मनुष्य और ईश्वर की इस एकता को पश्चिम के ईश्वरवादी धर्म-सम्प्रदाय पाप मानते हैं। मनुष्य और ईश्वर की एकता का आध्यात्मिक आधार न मानने पर ईश्वर अलौकिक बन जाता है। अलौकिक होने के कारण वह अज्ञेय भी हो जाता है। आध्यात्मिक आधार के बिना अज्ञेय ईश्वर के बारे में मनुष्य की कल्पनायें अनधिकार हैं। इस ईश्वर के सन्देश और आदेश ही संदिग्ध हैं। ईश्वर के अलौकिक होने के कारण उन संदेशों की यथार्थता की परीक्षा नहीं की जा सकती। इसीलिए उनमें मतभेद होता है, जैसा कि आध्यात्मिक धर्म में सम्भव नहीं है। ईश्वरीय धर्म-सम्प्रदायों में अनेक मानवीय गुणों का मान है, फिर भी ये सम्प्रदाय धर्म-प्रचार, धर्म-परिवर्तन आदि के द्वारा स्वतंत्रता, समानता, उदारता, सद्भावना आदि मानवीय गुणों का खण्डन करते रहे हैं। यह इन धर्म-सम्प्रदायों का एक अद्भुत आत्मविरोध है, जिसकी ओर विद्वानों ने उचित ध्यान नहीं दिया हैं। इसके विपरीत धर्म-शास्त्रों और महाभारत का मानवीय और सामाजिक धर्म अपनी आध्यात्मिकता के कारण अत्यन्त

उदार और संगत है। अध्यात्म में विरोध संभव नहीं है, क्योंकि अध्यात्म के भाव मनुष्य के अनुभव के अन्तर्गत हैं। वे अलौकिक ईश्वर के आदेशों की भाँति मनुष्य से अतीत नहीं हैं। अविरोध बुद्धि की मांग और बुद्धि का लक्षण है, किन्तु भाव में भी इसका विस्तार होता है। मानवीयता, समानता, स्वतंत्रता, उदारता आदि के खण्डन से भाव के विरोध की परख हो जाती है। महाभारत में भाव और व्यवहार के अविरोध को धर्म की कसौटी माना गया है। 'आत्मनः प्रतिकूलानि' और 'आत्मौपम्येन' में भी भाव के अविरोध की धारणा अन्तर्निहित है। धर्म के लक्षण के रूप में इस अविरोध का विवेचन पाँचवें अध्याय के पहले प्रकरण में (पृष्ठ ११७) किया गया है। इस अविरोध की कसौटी पर खरा उतरने पर ही कोई भी धर्म मानव-समाज का कल्याण कर सकता है।

१३—धर्म की आध्यात्मिकता और मानवीयता उदार नैतिक गुणों में व्यक्त होती है—

धर्म-शास्त्रों और महाभारत में धर्म का स्वरूप मुख्यतः मानवीय और सामाजिक माना गया है। उसके आध्यात्मिक आधार के संकेत याज्ञवल्क्य के 'आत्मदर्शन', महाभारत के 'आत्मौपम्येन' और देवल के 'आत्मनः प्रतिकूलानि' में मिलते हैं। धर्म के इन आध्यात्मिक आधारों का अधिक विस्तार और विवेचन धर्म-शास्त्रों में नहीं किया गया है। किन्तु जिन उदार नैतिक गुणों में धर्म का आध्यात्मिक तत्व व्यक्त होता है, ये गुणशील की दृष्टि से व्यक्तिगत हैं अर्थात् वे मनुष्य के व्यक्तित्व को सम्पन्न बनाते हैं। किन्तु इन गुणों की अभिव्यक्ति सामाजिक है। सामाजिक व्यवहार में इन गुणों का सौरभ फैलता है और ये फलित होते हैं। धर्म-शास्त्रों में और महाभारत में ऐसे अनेक मुख्य गुणों की गणना की गई है। इन गुणों को धर्म का लक्षण बताया गया है। ये गुण धर्म के आध्यात्मिक आधार और व्यवहार के सेतु हैं। ये उनका सम्बन्ध बनाते है। इन गुणों के द्वारा व्यवहार में व्यक्त होकर धर्म सार्थक और सफल होता है। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में अहिंसा, सत्य, क्षमा, दया आदि गुणों को धर्म का लक्षण बताया गया है। महाभारत में भी अहिंसा, दया, शौच, दम आदि की धर्म के लक्षणों में गणना की गई है। धर्म

के इन गुणों का विवरण पाँचवे अध्याय के तीसरे प्रकरण में तथा छठे अध्याय में किया गया है। ये गुण अनेक हो सकते हैं और इनकी गणना पूर्ण नहीं हो सकती। अतः महाभारत में अहिंसा, सत्य, क्षमा, दया आदि गुणों में प्रत्येक को कहीं परमधर्म और कहीं सनातन धर्म बताया गया है। आध्यात्मिक आधार की समता, स्वतंत्रता और उदारता, अहिंसा, सत्य, दया आदि में व्यक्त होती है। अतः एक मुख्य गुण से अनेक गुण घटित हो सकते हैं। अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, दया आदि में भी अहिंसा का भाव अन्तर्निहित रहता है। सामान्य और विशेष के भेद से धर्म के ये लक्षण और गुण सभी आध्यात्मिक और मानवीय हैं। सामान्य गुण अधिक व्यापक हैं। विशेष गुण अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि की भाँति कुछ विशेष विषयों में अथवा दया, क्षमा, अक्रोध आदि की भाँति कुछ विशेष परिस्थितियों में सीमित हो जाते हैं। किन्तु सभी रूपों में ये गुण समाज में धर्म का सौरभ फैलाते हैं। इन गुणों में धर्म की आध्यात्मिकता और मानवीयता के सिद्धान्त सामाजिक जीवन में चरितार्थ होते हैं।

१४—वर्ण और आश्रम धर्म के विधान के भारतीय अवलम्ब हैं—

धर्मशास्त्रों और महाभारत में धर्म की प्रतिष्ठा चार अथवा पाँच भूमियों में की गई है। धर्म की सबसे पहली भूमि आध्यात्मिक है, जिसका संकेत याज्ञवल्क्य के 'आत्मदर्शन' तथा गीता के 'आत्मौपम्येन' में मिलता है। धर्म की दूसरी भूमि अहिंसा, सत्य आदि के सामान्य गुण हैं तथा तीसरी भूमि अस्तेय, अक्रोध आदि के विशेष गुण हैं। इन सामान्य और विशेष गुणों के द्वारा धर्म की आध्यात्मिक विभूति का विस्तार समाज में होता है। ये दोनों ही प्रकार के गुण मनुष्यमात्र के लिए वांछनीय हैं। अतः धर्म का यह रूप सामान्य और व्यापक अर्थ में मानवीय है। किन्तु मनुष्य का सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन जटिल और अनेक-रूप है। केवल सामान्य गुणों के द्वारा धर्म का पूर्ण व्यवहार सम्भव नहीं हो सकता। सामाजिक जीवन की जटिलताओं में विशेष परिस्थितियों में सबके कर्त्तव्य एकसे नहीं हो सकते। ऐसी एकरूपता में समाज और व्यक्ति दोनों का जीवन सुन्दर नहीं बन

सकता। धर्म की सफलता और जीवन की सुन्दरता के लिए धर्मशास्त्रों और महाभारत में समाज का विभाजन चार वर्णों में और जीवन का विभाजन चार आश्रमों में किया गया है तथा इसके अनुसार धर्म का विधान किया गया है। यह धर्म मनुष्य के कर्त्तव्य के रूप में है। विद्या, रक्षा, व्यवसाय और सेवा के अनुरूप चार वर्ण बनाये गये हैं और उनके अलग-अलग कर्त्तव्य बताये गये हैं। इसी प्रकार चार आश्रम माने गये हैं और उनके अलग-अलग कर्त्तव्य बताये गये हैं। वर्णों और आश्रमों के अनुसार धर्म की जो व्यवस्था की गई है, उसे धर्म की प्रतिष्ठा की चौथी और पाँचवी भूमि कह सकते हैं। इन भूमियों में धर्म का मूल आध्यात्मिक आधार और धर्म के सामान्य लक्षण विशेष सामाजिक परिस्थितियों तथा आयु की विशेष अवस्थाओं के साथ संगत होता है। वर्णों और आश्रमों की यह व्यवस्था भारतवर्ष की एक निराली विशेषता है। यह अन्य देशों में नहीं पाई जाती। अन्य देशों में भी समाज में वर्ग मिलते हैं, किन्तु भारतवर्ष का जैसा व्यवस्थित विधान नहीं मिलता। आश्रम-व्यवस्था की कल्पना तो कहीं नहीं मिलती। वर्ण-व्यवस्था में कुछ दोष भी उत्पन्न हो गये, यद्यपि उसका मूल उद्देश्य समाज में श्रम का विभाजन था। आश्रम-व्यवस्था जीवन का ऐसा विभाजन है, जो सर्वकाल में उपयोगी हो सकता है। आश्रमों के विभाजन में भारतीय ऋषियों ने जीवन की एक बड़ी सुन्दर और सफल योजना प्रस्तुत की है। हजारों वर्षों तक वर्णों और आश्रमों की व्यवस्था भारतीय धर्म और संस्कृति का आधार बनी रही। महाभारत में वर्ण और आश्रमों के कर्त्तव्यों के रूप में धर्म का विधान विस्तार के साथ किया गया है। धर्म के इसी रूप का विवेचन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय है। यह विवेचन सातवें अध्याय से लेकर १८वें अध्याय तक है।

१५—वर्णों की व्यवस्था में कुछ सामाजिक विषमता अवश्य उत्पन्न हुई किन्तु उसका मूल उद्देश्य विषमता नहीं वरन् समाज का सामंजस्य तथा कर्त्तव्य विभाजन है—

आधुनिक विचारकों ने वर्ण-व्यवस्था की बहुत कुछ आलोचना की है तथा उसमें सामाजिक विषमता के बीज बताये है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह सत्य

है कि वर्ण-विभाजन के कारण भारतीय समाज में कुछ विषमतायें उत्पन्न हुईं। किन्तु यह विषमता वर्ण-व्यवस्था का मूल उद्देश्य नहीं थी। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में विराट पुरुष के मुख, बाहु, उरु और चरण से चारों वर्णों की उत्पत्ति बताई गई है। इससे विदित होता है कि चारों वर्ण समाज पुरुष के अंग हैं। शरीर के अंगों में विरोध नहीं, वरन् सामंजस्य अभीष्ट होता है। ऐसा ही सामंजस्य वर्णव्यवस्था का सामाजिक उद्देश्य है। वर्ण-व्यवस्था के कारण जो विषमतायें उत्पन्न हुईं, उनका दोष इस व्यवस्था को नहीं, वरन् मनुष्य स्वभाव को देना चाहिए। वह विषमतायें अन्य देशों के समाज में भी मिल सकती हैं, जहाँ वर्ण-व्यवस्था नहीं है। भारत के इतिहास में वर्णों के आधार पर ऐसे विरोध के उदाहरण नहीं मिलते, जैसे विरोध पश्चिम के ईश्वरी धर्मों ने पैदा किये हैं। वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में एक जन्माधिकार की बात ही आपत्तिजनक है। यह जन्माधिकार वैदिककाल में नहीं था। जन्माधिकार के अतिरिक्त वर्ण-व्यवस्था आधुनिक समाज में भी श्रम-विभाजन और सामंजस्य का आधार बन सकती है। विद्या, रक्षा, व्यवसाय और सेवा के कर्म आधुनिक समाज में भी बहुत कुछ विभाजित हैं। इनमें न्याय और सामंजस्य अपेक्षित है। इनका उल्लंघन वर्ण-व्यवस्था के विधायकों का भी उद्देश्य नहीं था।

१६—द्विजों की श्रेष्ठता और शूद्रों की हीनता सामाजिक परिस्थिति के परिणाम हैं :—

वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में द्विजों की श्रेष्ठता और शूद्रों की हीनता सबसे अधिक आपत्तिजनक मानी जाती है। द्विज शब्द ब्राह्मण के अर्थ में भी रूढ़ि हो गया है। किन्तु सामान्यरूप से वह तीन उच्च वर्णों का वाचक है। संस्कारों के द्वारा तीनों वर्णों का दूसरा जन्म होता है। अतः उन्हें द्विज कहते हैं। इस प्रसंग में उपनयन का विशेष महत्व है। उपनयन विद्या का द्वार है। विद्या में विशेष रूप से रत रहने के कारण द्विज शब्द ब्राह्मण के अर्थ में रूढ़ि हो गया। किन्तु सामान्य अर्थ में तीनों ही उच्च वर्ण द्विज कहलाते हैं तथा वे शूद्रों से श्रेष्ठ माने जाते हैं। श्रम और सेवा की तुलना में विद्या, रक्षा और व्यवसाय की श्रेष्ठता इसका कारण है। इसमें सन्देह नहीं कि शूद्रों के साथ कुछ अधिक अन्याय हुआ है किन्तु श्रमिकों और सेवकों की हीनता दूसरे देशों

में भी रही है और वर्तमान समाज में भी है। प्राचीन भारतीय समाज में भी थी। प्राचीन भारतीय समाज में सामाजिक परिस्थितियों और कर्मभेद से वर्णों का विभाजन हुआ। महाभारत में तो यह कहा गया है कि प्राचीनकाल में वर्णों का भेद नहीं था और सभी ब्राह्मण थे। कालान्तर में स्वभाव और कर्म से वे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बन गये (शान्तिपर्व—अध्या० १८८, श्लो० १०-१३, देखिए पीछे पृष्ठ–१६८)। विद्या की श्रेष्ठता भारतीय समाज की एक अनुपम विशेषता थी। प्राचीन समाज की अरक्षित स्थिति में ब्राह्मणों, स्त्रियों तथा अन्य प्रजा की रक्षा के लिए क्षत्रियों को विशेष मान दिया गया। धर्म और संस्कृति की परम्परा में आचार की स्वच्छता और पवित्रता को विशेष महत्व दिया गया। मलिन कर्म के कारण शूद्रों को हीन समझा गया। यह परिस्थितियाँ समाज की परम्परा में रूढ़ि हो गईं। इतना मानना होगा कि शूद्रों के प्रति अन्याय का निराकरण धर्मशास्त्रों में नहीं किया गया।

१७—ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का कारण प्राचीन समाज में विद्या, यज्ञ आदि के महत्व तथा तप, त्याग, पवित्रता, सरलता आदि का आदर था—

वर्ण-व्यवस्था में द्विजों को श्रेष्ठ और द्विजों में ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। कुछ आधुनिक विचारक इसे ब्राह्मणों का अपने प्रति पक्षपात भी मानते हैं। धर्मशास्त्रों की रचना ब्राह्मणों ने ही की है। उन्होंने धर्मविधान में अपने लिए गौरव और सुविधा दी है। किन्तु अपने विधान के द्वारा कोई श्रेष्ठ नहीं बन सकता। भारतीय समाज में विद्या, यज्ञ, तप, त्याग आदि का विशेष आदर होने के कारण ही ब्राह्मणों का विशेष आदर हुआ। उनके अध्यापन के द्वारा विद्या की परम्परा बनी रही तथा उनके याजन के द्वारा सांस्कृतिक यज्ञ-कर्म आदि चलते रहे। स्वतन्त्र भारत में इन दोनों का तीव्रता से ह्रास हो रहा है, यह वर्ण-व्यवस्था के आलोचकों के लिए विचारणीय है। धर्मशास्त्रों में भी विद्याहीन ब्राह्मणों की निन्दा की गई है। विद्या, तप संस्कृति आदि की श्रेष्ठता किसी भी सभ्य समाज के लिए आदरणीय हो सकती है। धर्मशास्त्रों में ब्राह्मणों के लिए जिनकर्त्तव्यों का विधान किया गया है, उन कर्त्तव्यों का पालन करने वाला वर्ग किसी भी समाज के लिए गौरव का कारण हो सकता है।

१८—क्षत्रियों की श्रेष्ठता का कारण रक्षा का महत्व है—

वर्ण-व्यवस्था में क्षत्रियों को भी बहुत मान दिया गया है। कहीं-कहीं क्षात्रधर्म को सर्वश्रेष्ठ भी माना गया है। रक्षक होने के कारण वह अन्य धर्मों का धारक है। प्राचीन अरक्षित समाज में रक्षा का बड़ा महत्व था। दुर्बलों की रक्षा में तत्पर क्षत्रिय-समाज विद्यारत ब्राह्मणों के समान ही किसी भी समाज के लिए गौरवपूर्ण हो सकता है। आज भी ऐसे रक्षकों की आवश्यकता है।

१९—प्रजापालन और प्रजा की रक्षा राजा के मुख्य-धर्म हैं:—

क्षत्रिय-धर्म के उक्त दृष्टिकोण ने ही धर्मशास्त्रों के राजधर्म को निर्धारित किया है। पुरुषसूक्त में क्षत्रियों को 'राजन्य' कहा है। प्रायः क्षत्रिय ही राजा होते थे। वे शक्ति बल से राज्य का शासन करते थे। धर्मशास्त्रों में प्रजा की रक्षा, प्रजा का पालन विशेष रूप से राजा का धर्म बताया है। महाभारत में विशेषतः शान्तिपर्व में राजधर्म का विशेष वर्णन हैं। शक्ति, बल, नीति, विद्या, धर्म आदि से युक्त लोकरंजक और लोकरक्षक राजा की कल्पना धर्मशास्त्रों की एक विशेषता है। अनेक राजाओं ने इस कल्पना को इतिहास में सत्य बनाया है।

२०—वैश्यों के आर्थिक व्यवसाय में भी दान आदि के द्वारा श्रेय का सामंजस्य किया गया है—

आर्थिक दृष्टि से वैश्यधर्म अन्य वर्णों के धर्म की अपेक्षा लाभप्रद है। एकमर्यादा के भीतर आर्थिक व्यवसाय भी समाज की सेवा है। अधिक धन-संग्रह अवश्य अनर्थकारी हो जाता है। इसी के सन्तुलन के लिए महाभारत में अनेक स्थानों पर वैश्यों के लिए न्यायपूर्वक धन संचय तथा दान का विधान किया गया है। कृषि और गोरक्षा को भी वैश्य का कर्त्तव्य माना

गया है। यद्यपि वैश्यों ने इन कर्त्तव्यों को त्याग दिया। ये कर्त्तव्य अर्थसंचय के प्रतिबन्धक और समाज के रक्षक हैं। अर्थसंग्रह करते हुए भी वैश्यवर्ग धर्म, कर्म, दान आदि को वहुत कुछ ध्यान देता रहा है।

२१—शूद्रों के साथ वर्णव्यवस्था में निश्चित रूप से अन्याय हुआ है और उसका संशोधन आवश्यक है-

शूद्रों के प्रति अन्याय के कारण वर्णव्यवस्था की बहुत आलोचना की जाती है, चाहे इसका कारण सामाजिक परिस्थिति और स्वच्छता का उच्चादर्श हो, फिर भी यह सत्य है कि शूद्रों की दशा भारतीय सम.ज में शोचनीय रही है। धर्मशास्त्रों में इसका कोई प्रतिकार नहीं किया गया है। बुद्ध से लेकर कबीर, नानक, दादू आदि सन्तों ने इसके संशोधन का कुछ प्रयत्न किया, किंतु ये प्रयत्न धार्मिक क्षेत्र में ही सीमित रहे। गाँधी जी के प्रयत्न कुछ सामाजिक क्षेत्र में भी सफल हुए हैं। किन्तु इस क्षेत्र में और अधिक सक्रिय संशोधन की आवश्यकता है।

२२—आश्रम-व्यवस्था जीवन की एक अत्यन्त सुन्दर योजना है-

वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ आपत्तियाँ भी हो सकती हैं, किन्तु आश्रम-व्यवस्था भारतीय प्रतिभा की एक अद्भुत कल्पना है। आश्रम-व्यवस्था के पीछे काल का गतिमान सत्य है। सफल और सुन्दर जीवन के लिए काल एवं अ यु की गति के साथ जीवन के लक्ष्य और कर्त्तव्य भी बदलने चाहिए। आश्रम व्यवस्था में यही योजना की गई है। ब्रह्मचर्य आश्रम में शक्ति और विद्या का संचय जीवन के निर्माण की नींव बनाता है। गृहस्थाश्रम में जीवन के प्राकृतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक धर्म सफल होते हैं। वानप्रस्थ स्वतन्त्र और आनन्दमय जीवन का सेतु है, जिसे संन्यास का नाम दिया गया है। निवास, साधना, कर्म, जीवनचर्या आदि की दृष्टि से विविधता से पूर्ण आश्रम-व्यवस्था जीवन की एक अत्यन्त सुन्दर और परिपूर्ण योजना है।

२३—ब्रह्मचर्य सफल और पूर्ण जीवन की सुदृढ़ नींव है—

आश्रम-व्यवस्था में ब्रह्मचर्य की कल्पना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। अविवाहित जीवन और इन्द्रिय-संयम की कल्पना अन्य धर्मसम्प्रदायों में भी की गई है, किन्तु सम्पूर्ण समाज के सामान्य अनुशासन के रूप में ब्रह्मचर्य की व्यवस्था अन्य किसी भी परम्परा में नहीं मिलती। ब्रह्मचर्य का इतना मान भी कहीं नहीं है। हनूमान, भीष्म आदि के समान ब्रह्मचारियों के आदर्श भी अन्य कहीं पूजित नहीं हैं। भारतीय परम्परा में विद्या और अध्यात्म का अत्यधिक मान ही ब्रह्मचर्य के महत्त्व का मुख्य कारण है। आधुनिक सभ्यता की गति और मनोविज्ञान की मान्यतायें ब्रह्मचर्य के अनुकूल नहीं हैं। किन्तु विद्या और स्वास्थ्य के हित के लिए ब्रह्मचर्य का महत्त्व सदा मानना होगा। आश्रमों की व्यवस्था के सिद्धान्त ही अधिक महत्वपूर्ण हैं। इन सिद्धान्तों के पालन के व्यावहारिक रूप समयानुसार बदल सकते हैं। धर्म-शास्त्रों और महाभारत में भी इन्द्रियसंयम, स्वाध्याय आदि को ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों में अधिक महत्त्व दिया गया है।

२४—गृहस्थाश्रम सब धर्मों का पोषक है तथा जीवन की प्राकृतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सफलता के द्वारा मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है—

२५— स्त्री की रक्षा और स्त्री का आदर समाज का गौरव है, सेवा और पातिव्रत गृहस्थ जीवन को सुखी और शान्तिपूर्ण बनाते हैं -

धर्मशास्त्रों और भारतीय समाज में स्त्री के स्थान की प्रायः आलोचना की जाती है। मनु ने स्त्रियों को स्वतन्त्रता की अधिकारिणी नहीं माना है, किन्तु उद्देश्य स्त्री को अतिचारियों से सुरक्षित बनाना रहा है। महाभारत में भार्या के रूप में स्त्री को बड़ा महत्त्व दिया गया है। उसे पुरुष का सर्वोत्तम बन्धु और सहायक बताया गया है। स्त्रियों को अवध्य भी माना है। गृह और पति की सेवा पातिव्रत स्त्री के मुख्य धर्म माने गये हैं। अतिथि सेवा और पातिव्रत स्त्री के अत्यन्त मांगलिक शील हैं। इनसे गृह और समाज दोनों में शांति और सुख का विस्तार होता है। जिस प्रकार अन्य किसी समाज में ब्रह्मचर्य का इतना व्यापक महत्त्व नहीं है, उसी प्रकार पातिव्रत को भी भारतवर्ष के समान महत्त्व नहीं दिया गया है। ब्रह्मचारियों के समान पतिव्रताओं के ऐसे उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलते। आधुनिक सभ्यता ब्रह्मचर्य के समान पातिव्रत की भी उपेक्षा कर रही है। किन्तु ब्रह्मचर्य के बिना स्वस्थ जीवन सम्भव नहीं है और पातिव्रत के बिना स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध शान्तपूर्ण और आनन्दायक नहीं हो सकता।

२६—वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम-व्यवस्था को तथा जीवन को पूर्ण बनाते हैं—

इन्द्रिय-संयम और पातिव्रत का महत्त्व कुछ सीमा तक अन्य समाजों में भी माना गया है किन्तु वानप्रस्थ और संन्यास की ऐसी परिपूर्ण कल्पना अन्यत्र नहीं की गई है। कुछ साधु संन्यासी दूसरे देशों में भी होते रहते हैं, किन्तु वानप्रस्थ और संन्यास का इतना व्यापक विधान कहीं नहीं मिलता। भारतवर्ष में वानप्रस्थ और संन्यास का बहुत कुछ पालन भी किया गया। राजा भी पुत्र के युवक होने पर पुत्र का अभिषेक करके वन चले जाते थे, ऐसे उदाहरण अन्य किसी देश में नहीं मिलते। इसी कारण राजगद्दी के लिए

युद्ध भारतवर्ष में नहीं हुए हैं। अन्य देशों में और आधुनिक समाज में गृहस्थ-जीवन की एकरूपता में ही जीवन को पूर्ण माना जाता है। किंतु प्रायः इस एकरूपता में जीवन खिन्न और उदासीन बन जाता है। वानप्रस्थ और संन्यास की कल्पना में प्रौढ़ जीवन को गृहस्थ-आश्रम की उदासीनता से निकाल कर एक नवीन आध्यात्मिक दिशा का उद्घाटन किया गया है। संन्यास की बाह्य स्वच्छंदता और आत्मिक स्वतन्त्रता जीवन की एक ऐसी अनुपम परिणति है,जिसकी कल्पना कदाचित् अन्य कोई समाज नहीं कर सका है। वानप्रस्थ संन्यास का सेतु है। महाभारत में वानप्रस्थी और संन्यासियों के भोजन, भिक्षा, निवास, आचार आदि के नियम धर्मशास्त्रों के ही समान हैं। त्याग, संयम और स्वतन्त्रता इन नियमों के मूलतत्व हैं।

२७--मानवीय और सामाजिक धर्म से दिव्यधर्म का आवश्यक विरोध नहीं हैं--

भारतीय धर्मशास्त्रों में धर्म के सामाजिक रूप की प्रधानता है। धर्म के अन्तर्गत जो लक्षण, गुण, कर्त्तव्य आदि बताये गये हैं, वे प्रत्येक मनुष्य के अलंकार हो सकते हैं तथा समाज का कल्याण कर सकते हैं। यदि ईश्वर को दिव्य और अलौकिक मानें, तो धर्म का यह रूप लौकिक कहा जा सकता है। ईश्वर से इस धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। पश्चिमी देशों में ईश्वर के नाम से जो धर्म प्रचलित हुए हैं, उनके प्रचार, आरोपण, धर्म-परिवर्तन सम्बन्धी सिद्धान्तों ने मानवीय समता और स्वतन्त्रता का खण्डन किया है। किन्तु यह ईश्वर का दोष नहीं, उसके पुत्र और पैगम्बर बनने वालों का दोष है। भारतीय परम्परा में जो धर्म विकसित हुए हैं, उनमें ये दोष नहीं हैं। मानवीय-धर्म और दिव्य-धर्म का विरोध आवश्यक नहीं है। ईश्वर के सही रूप को समझने पर यह दोष नहीं रह सकता। ईश्वर को परमात्मा के रूप में मानने पर धर्मशास्त्रों के सामाजिक और मानवीय धर्म को एक आध्यात्मिक आधार मिल जाता है। भगवान का अवतार लौकिक और अलौकिक जीवन का सेतु बन जाता है। श्रीकृष्ण को महाभारत में सर्वत्र माना गया है। उनके द्वारा महाभारत की नीति का संचालन लौकिक और दिव्य-जीवन को एकसूत्रता प्रदान करता है।

२८—देवताओं, तीर्थों और व्रतों की त्रिवेणी धर्म के रूप को पूर्ण बनाती है–

परमात्मा के रूप में ईश्वर मानवीय और सामजिक धर्म को एक अलौकिक एवं आध्यात्मिक अवलम्ब प्रदान करता है। अवतार और देवताओं के रूप में यह अवलम्ब अधिक स्पष्ट और आश्चर्यणीय बन जाता है। भगवान की दिव्य सत्ता धर्म में विश्वास को प्रेरित करती है। भगवान, अवतार और इष्टदेवता एक पूर्ण आदर्श के रूप में मनुष्य को धर्म की प्रेरणा देते हैं। महाभारत में श्रीकृष्ण की साक्षात् उपस्थिति सम्पूर्ण कथा और जीवन को ईश्वरीय प्रेरणा से ओत-प्रोत करती है। भारतीय परम्परा में तीर्थ धर्म के दिव्य तत्व और प्रभाव को भूमि पर स्थायी बनाते हैं। 'तीर्थ' धर्म के दिव्य स्थल हैं। देवताओं की प्रतिष्ठा से वे पुण्य विभूति से विभूषित होते हैं। महाभारत में तीर्थों का भी वर्णन है। ये तीर्थ ईश्वर और मनुष्य तथा वैकुण्ठ और पृथिवी के बीच सेतु का कार्य करते हैं। व्रत और तप धर्म की साधना के आध्यात्मिक एवं व्यक्तिगत उपाय हैं। जन-संगम के द्वारा तीर्थ धर्म के सामाजिक प्रभाव को फैलाते हैं। व्रत और तप धर्म के आन्तरिक पक्ष की पूर्ति करते हैं। नैतिक धर्म भी आचार है। दिव्य एवं आध्यात्मिक पक्ष में वह धर्म 'साधना' बन जाता है। 'तप' उस साधना का सामान्य रूप है। 'व्रत' भी साधना ही है। वह भी तप के समान त्यागमय होता है। किन्तु समय, देवता आदि के संयोग व्रतों के निमित्त बनकर उन्हें सांस्कृतिक बना देते हैं। भगवान, तीर्थ और साधना की यह त्रिवेणी धर्म के रूप को पूर्ण बनाती है।

२९—महाभारत भारतीयों के लिए सदा पठनीय है–

दो हजार वर्षों से महाभारत भारतीय जनता में एक पवित्र धर्मग्रन्थ के रूप में लोकप्रिय रहा है। महाभारत की कथा देव-मन्दिरों में गाई जाती थी, इसके प्राचीन प्रमाण भी मिलते हैं। महाभारत की कथाओं ने अनेक संस्कृत काव्यों को विषय प्रदान किये हैं। महाभारत के चरित्र भारतीय जनता को प्रेरित करते रहे हैं। महाभारत के धार्मिक उपदेश भारतीय समाज के दीप स्तम्भ हैं। महाभारत की नीतियों में सनातन सत्य के तत्व

हैं। महाभारत भारतीय धर्म, नीति, संस्कृति आदि का विपुल भाण्डार है। इसीलिए उसे पंचम वेद का पद मिला। श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक प्रसंग तथा युधिष्ठिर आदि के धार्मिक प्रतीकों के कारण वह शाश्वत जीवन का प्रतीक भी बन गया है। इतिहास, काव्य और धर्मशास्त्र आदि तीनों ही दृष्टियों से वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। युगों के प्रभाव से उसका महत्त्व कम नहीं हुआ है। महाभारत का महान ग्रन्थ महान् भारत का शाश्वत गौरव रहेगा तथा भारतीय जनता के लिए वह सदा श्रद्धा के साथ पठनीय है।

३०—महाभारत का साहित्यिक स्रोत काव्य के अनेक भगीरथों का आमन्त्रण करता है

महाभारत भारतीय इतिहास, परम्परा और संस्कृति का विश्वकोष है। कौरव-पाण्डवों के युद्ध की कथा के अतिरिक्त उसमें अनेक अन्तर्कथायें समाहित हो गई हैं। कौरव-पाण्डवों के चरित की कथायें भी अनेक एव रोमांचकारी है। इन कथाओं तथा अन्तर्कथाओं के आधार पर संस्कृत साहित्य में अनेक काव्य एवं नाटक रचे गये हैं। इन रचनाओं की सूची परिशिष्ट —ख में दी गई है। इनमें कुछ ग्रन्थ उत्तम भी हैं। अन्य अनेक साधारण कृतियों का कथानक महाभारत से ही लिया है। किन्तु हिन्दी साहित्य में रामकथा तथा कृष्ण भक्ति का ही काव्य अधिक मिलता है। महाभारत की मूल कथा तथा अन्तर्कथाओं के आधार पर बहुत कम रचनायें हुई हैं।

संस्कृत में महाभारत के आधार पर जो काव्य अथवा नाटक रचे गये हैं, उनके अतिरिक्त अन्य अनेक रचनायें संस्कृत हिन्दी में महाभारत के आधार पर रची जा सकती हैं। महाभारत का यह अक्षय साहित्यिक स्रोत काव्य के अनेक भगीरथों का आमन्त्रण करता है, जो महाभारत की मूल कथा एवं अन्तर्कथाओं के आधार पर उत्तम काव्यों की रचना कर अपनी साधना को सफल बनायें तथा साहित्य का भाण्डार सम्पन्न बनायें।

३१—महाभारत हमारी धार्मिक एवं सांस्कृतिक आस्था का सुदृढ़ अवलम्ब बन सकता है।

नवीन साहित्यिक रचनाओं की विषय-वस्तु और प्रेरणा का स्रोत बनने के अतिरिक्त महाभारत हमारी धार्मिक एवं सांस्कृतिक आस्था का

सुदृढ़ अवलम्ब भी बन सकता है। हमाराधर्म सांस्कृतिक है तथा हमारी संस्कृति धार्मिक पवित्रता से ओत-प्रोत है। महाभारत में धर्म और संस्कृति के तत्व विपुल परिमाण में मिलते हैं। धर्म-शास्त्रों के धर्म के सिद्धांत महाभारत में प्रतिपादित एवं पल्लवित हुये हैं। अनेक अन्तर्कथायें आदर्शों को चरितार्थ करती हैं। व्रत, तीर्थ आदि धार्मिक विषयों का विवरण भी महाभारत में बहुत मिलता है। संस्कृति की अनेक परम्पराओं के प्रसंगतः महाभारत में आदर का स्थान मिला है। धर्म और संस्कृति के विषय से सम्पन्न महाभारत भारतीय जीवन और परम्परा का प्रतिनिधि बन गया है। धार्मिक पाठ एवं साहित्यिक उपयोग के अतिरिक्त महाभारत का अनुशीलन हमारी धार्मिक एवं साहित्यिक आस्था को सुदृढ़ बनाने में सहायक हो सकता है। कौरव-पाण्डवों का गृह-युद्ध अनुकरणीय नहीं है। किन्तु उसके दुष्परिणामों से भी हम बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। मूल कथा के सूत्र पर गुम्फित अन्य धार्मिक प्रसंगों एवं कथाओं तथा सांस्कृतिक विषयों को लोक-मानस में पुनः पुनः प्रकाशित कर समाज की धार्मिक और सांस्कृतिक आस्था को सुदृढ़ बनाया जा सकता है।

धर्म, संस्कृति, साहित्य आदि की अपार निधि से सम्पन्न महाभारत का पंचम वेद हमारी वर्तमान एवं भावी आस्था का शास्त्र बना रह सकता है। यह इस प्राचीन काव्य की सनातन महिमा का प्रमाण है।



दो परिशिष्ट

परिशिष्ट-१——सहायक पुस्तकों की सूची।

परिशिष्ट-२——महाभारत में प्राप्त कथानकों पर आश्रित काव्य, नाटक और चम्पू ग्रन्थों की सूची।

परिशिष्ट—क

सहायक पुस्तकों की सूची

1—महाभारत—गीता प्रेस का संस्करण
2—मनुस्मृति
3—याज्ञवल्क्य स्मृति
4—चिन्तामणि विनायक वैद्य : महाभारत मीमांसा
5—डा० फतहसिंह : भारतीय समाज शास्त्र
6—डा० फतहसिंह : वैदिक दर्शन
7—डा० राधाकृष्णन् : हिन्दुओं का जीवन दर्शन
8—आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक
9—नलिन विलोचन शर्मा : साहित्य का इतिहास-दर्शन
10—प्रोफेसर शिवदत्त ज्ञानी : भारतीय संस्कृति
11—R. C. Dutt : Mahabharata
12—Channing Arnold : The Mahabharata
13—P. V. Kane : History of Dharmsastra Vol. II, Part I, II
14—Thadani : Mysteries of Mahabharata.
15—V. S. Sukthankar : On the Meaning of the Mahabharata.
16—S. K. Maitra : The Ethics of the Hindus
17—Sir P. S. Sivaswamy Aiyer : Evolution of The Hindu Moral Ideals.
18—Radhakrishnan : Religion and Society
19—Arthur A. Macdonell : History of Sanskrit Literature
0—V. Varadachari : A History of the Sanskrit Literature
21—Prof. V. V. Dixit : Relation of the Epics to the Brahmana Literature
22—Krishna Chaitanya : A New History of Sanskrit Literature

ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम
१७. धनञ्जय व्यायोग	कंचन पंडित
१८. किरातार्जुनीय व्यायोग	वत्सराज
१९. नैषधीय चरित	श्रीहर्ष
२०. नल विलास	रामचन्द्र
२१. निर्भयभीम	रामचन्द्र
२२. बाल भारत	अमरचन्द्र
२३. पाण्डव चरित	देव प्रभा सूरि
२४. सहृदयानन्द	कृष्णानन्द
२५. बाल भारत	अगस्त्य
२६. पार्थ पराक्रम	प्रह्लादनदेव
२७. भीम विक्रम	मोक्षादित्य
२८. सौगन्धि आहरणम्	विश्वनाथ
२९. युधिष्ठिर विजय	वासुदेव
३०. नलोदय	वासुदेव
३१. नलाभ्युदय	वामन भट्टबाण
३२. भारत चम्पू	अनन्त भट्ट
३३. भैमीपरिणय	श्रीनिवास दीक्षित
३४. भारत चम्पू	राजचूड़ामणि दीक्षित
३५. सुभद्राधनंजय	गुरुराम
३६. द्रौपदी परिणय चम्पू	चक्रकवि
३७. नल चरित	नीलकण्ठ दीक्षित
३८. सुभद्रा परिणय	नल्ला कवि
३९ सुभद्रा हरण	मध्व

परिशिष्ट--ख

महाभारत में प्राप्त कथानकों पर आश्रित काव्य, नाटक और चम्पू ग्रन्थों की सूची

ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम
१. पंचरात्र	भास
२. दूतवाक्य	भास
३. मध्यम व्यायोग	भास
४. दूतघटोत्कच	भास
५. कर्ण भार	भास
६. उरुभंग	भास
७. अभिज्ञान शाकुन्तल	कालिदास
८. किरातार्जुनीय	भारवि
६. वेणीसंहार	भट्ट नारायण
१०. शिशुपाल वध	माघ
११. सुभद्रा-धनञ्जय	कुलशेखर वर्मन
१२. कीचक-वध	नीति वर्मन
१३. बाल भारत	राजशेखर
१४. नैषधानन्द	क्षेमीश्वर
१५. नल चम्पू	त्रिविक्रम भट्ट
१६. भारत मंजरी	क्षेमेन्द्र

ग्रन्थ का नाम	लेखक का नाम
१७. धनञ्जय व्यायोग	कंचन पंडित
१८. किरातार्जुनीय व्यायोग	वत्सराज
१९. नैषधीय चरित	श्रीहर्ष
२०. नल विलास	रामचन्द्र
२१. निर्भयभीम	रामचन्द्र
२२. बाल भारत	अमरचन्द्र
२३. पाण्डव चरित	देव प्रभा सूरि
२४. सहृदयानन्द	कृष्णानन्द
२५. बाल भारत	अगस्त्य
२६. पार्थ पराक्रम	प्रह्लादनदेव
२७. भीम विक्रम	मोक्षादित्य
२८. सौगन्धि आहरणम्	विश्वनाथ
२९. युधिष्ठिर विजय	वासुदेव
३०. नलोदय	वासुदेव
३१. नलाभ्युदय	वामन भट्टबाण
३२. भारत चम्पू	अनन्त भट्ट
३३. भैमीपरिणय	श्रीनिवास दीक्षित
३४. भारत चम्पू	राजचूड़ामणि दीक्षित
३५. सुभद्राधनंजय	गुरुराम
३६. द्रौपदी परिणय चम्पू	चक्रकवि
३७. नल चरित	नीलकण्ठ दीक्षित
३८. सुभद्रा परिणय	नल्ला कवि
३९. सुभद्रा हरण	मध्व